अर्हम्

पण्डितशुभशीलगणिविरचितं

श्रीविक्रमचरित्रम्।

वळावास्तव्येन सुश्रावकहर्षचन्द्रात्मजेन पंडितभगवानदासेन संशोधितं प्रकाशितं च।

वीर सं. २४६६ प्रतयः ५०० वि. सं. १९९६

पानकोरनाकासमीपवर्तिनि श्रीशारदामुद्रणालये तदधिपतिना देवचंद्रात्मजेन सुश्रावकहीरालालेन मुद्रितम्।

मूल्यं ५-०-०

प्रस्तावना

आ विक्रमचरित्रना कर्ता प्रसिद्ध आचार्य मुनिसुन्दरसूरिना शिष्य शुभशील गणि छे. मुनिसुन्दरसूरिनो जन्म वि. सं. १४३६मां, दीक्षा १४४३ मां, उपाध्यायपद १४६६ मां, आचार्यपद १४७८ मां अने तेमनो स्वर्गवास १५०३ मां थयो हतो. तेओ विद्वान हता. तेमने 'कृष्णसरस्वती' बिरुद मळ्युं हतुं. तेमणे अध्यात्मकल्पद्रुम, गुर्वावली अने संतिकरं स्तोत्र वगेरे ग्रन्थोनी रचना करी छे. ते मुनिसुन्दरसूरिना शिष्य शुभशील गणिए वि. सं. १४९९ मां विक्रमचरित्रनी रचना करी छे. तेना अन्ते प्रशस्तिमां लख्युं छे के–

"निधाननिधिसिंध्विन्दुवत्सराद् विक्रमार्कतः । शुभशीलयतिश्चक्रे चरित्रं विक्रमोष्णगोः" ॥

एम क, ख अने ग संज्ञावाळी त्रणे प्रतिओनी प्रशस्तिमां उपर कह्या मुजब विक्रमचरित्रनो रचनाकाळ वि. सं. १४९९ जणाव्यो छे. परन्तु वीरना उपाश्रयना ज्ञान भंडारनी घ संज्ञावाळी प्रतिनी प्रशस्तिमां तेनो रचनाकाळ वि. सं. १४९० कह्यो छे. तेनो पाठ नीचे मुजब छे.

"श्रीमद्विक्रमकालाच्च खं–निधिं–रत्नसंज्ञके । वर्षे माघे सिते पक्षे शुक्लचतुर्दशीदिने ॥
पुष्ये रवौ स्तम्भतीर्थे शुभशीलेन पंडिता (?) । विदधे चरितं ह्येतद् विक्रमार्कस्य भूपतेः" ॥

अर्थात् विक्रमना काळथी १४९० ना माह शुदि चतुर्दशी, पुष्य नक्षत्र अने रविवारना दिवसे खंभात तीर्थमां पंडित शुभशील-गणिए विक्रमचरित्रनी रचना करी.

ए प्रमाणे बे भिन्न भिन्न प्रशस्तिवाळी प्रतिओ उपरथी तेनो रचनासमय चोकस जाणी शकातो नथी, परन्तु एटलुं निश्चित छे के वि. सं. १४९० के १४९९ मां आ ग्रन्थनी पूर्णाहुति करवामां आवेल छे.

आ ग्रन्थना संपादनमां पांच प्रतिओनो उपयोग करवामां आव्यो छे. तेमां प्रथमनी डहेलाना उपाश्रयना ज्ञानभंडारनी क-ख-ग संज्ञावाळी प्रतिओ लगभग सरखी छे, अने तेमां बहु पाठभेद नथी, पण ग्रन्थनो मोटो भाग छपाइ गया पछी पाछळ कढावेली घ संज्ञावाळी वीरना उपाश्रयनी प्रति अने डहेलाना उपाश्रयनी प्रतिमां पूर्वोक्त प्रतिओ करतां पुष्कळ पाठभेद, रचनाभेद अने अर्थसंदर्भमां तफावत छे. एकंदर उपरनी पांच प्रतिओमां प्रथमनी त्रण प्रतिओ लगभग सरखी होवाथी प्रथम वर्गमां मूकी छे अने बीजी बे प्रतिओमां तेथी घणी भिन्नता होवाथी तेने बीजा वर्गमां मूकवामां आवी छे प्रथम वर्ग अने बीजा वर्गनी प्रतिओमां घणी विशेषताओ अने पुष्कळ पाठभेद जोवामां आवे छे एटलुं ज नहि, पण प्रथम वर्गनी प्रतिओमां विक्रमादित्यने लगता केटलाक कथाप्रबन्धो छे ते बीजा वर्गनी प्रतिओमां नथी. आ पुस्तकमां प्रथम वर्गनी प्रतिओने अनुसरी पाठ राखवामां आवेल छे. प्रथम वर्ग अने बीजा वर्गनी प्रतिओमां जे पुष्कळ विशेषताओ छे, तेमांनी केटलीक स्थूल विशेषताओ नीचे मुजब छे—

प्रथम वर्गनी प्रतिओ	बीजा वर्गनी प्रतिओ
प्रथम सर्ग	**प्रथम सर्ग**
विक्रमादित्यनी उत्पत्ति गन्धर्वसेनथी अने पक्षान्तरे गर्दभिल्लथी वर्णवी छे.	गन्धर्वसेननी हकीकत आपवामां आवी नथी.
छट्ठो सर्ग	**छट्ठो सर्ग**
वलतारतम्यविषये कथा श्लो. १–२४	[1] × × × ×
दान विषे पुलिन्द्रप्रबन्ध छे.	× × × ×

१ ज्यां × आवा प्रकारनुं चिह्न छे त्यां ते कथाप्रबन्ध के हकीकत नथी एम समजवुं.

नवमो सर्ग

आ सर्गमां पंचदंडछत्रनी कथा संक्षेपमां आपी छे.

प्रारंभमां—

अन्येद्युर्विक्रमादित्यः क्रीडां कृत्वा बहिर्वने।
आगच्छन् स्वगृहे राजमार्गे गान्छिकपाटके॥
तत्रैव पाटके नागदमन्यास्तनयाऽनघा।
देवदमन्यभिधा बाला विद्यते रूपशालिनी॥

सर्ग ९ श्लो० १–२

देवदमनी परिणयन संबन्धना श्लो० ११७ छे अने त्यारबाद पांच आदेशनो निर्देश करवामां आव्यो छे.

प्रथम आदेश तामलिप्ती नगरीथी रत्ननो पेटी लाववा संबन्धे छे. श्लो० ११८–२४८

गान्छिका प्राह भो भूप! कार्यं चेद् विद्यते तव।
तदा त्वं प्रथमं मामकीनत्वत्सदनान्तरे॥
संलग्नां पद्यकां चार्वीं कारयित्वा घनैर्घनैः।

नवमो सर्ग

पंचदंडछत्रकथा सविस्तर आपवामां आवी छे अने रचना तद्दन जुदी ज छे.

प्रारंभमां—

एकदा विक्रमो राजा पाटिकायां चतुष्पथे।
गच्छन् गान्छिकवाटस्य मध्ये सौधोपरिस्थिताम्।
काञ्चिद् नारीं सशृंगारां जल्पन्तीमशृणोदिति।
देहि रे दासि! वेगेन सन्मार्जनीं गृहाङ्गणे॥

हस्तलिखित प्रति सर्ग ९ श्लो० १–२

देवदमनीपरिणयन रूप प्रथम आदेश छे. तेना श्लो० १९६ छे, अने त्यारबाद बीजा चार आदेशोनो निर्देश छे.

तुष्टाऽहं तव राजेन्द्र! पञ्चादेशान् कुरुष्व मे।
यथा भवति ते छत्रं पवित्रं पञ्चदण्डजम्॥
प्रथमादेशतः पुत्रीं जित्वा मे विवाहय।

मत्सुतां सारिपाशेन त्रिर्वारं लघुलाघवात् ॥
विजित्य परिणीयाशु पुत्र्या विनयपूर्वकम् ।
सद्यो विक्रमभूपाल! पश्चादेशान् करिष्यसि ॥

सर्ग ९ श्लो० २०–२२

वीजो आदेश सोपारक पुरमां सोमशर्मा ब्राह्मणनी स्त्री उमादेवीनुं चरित्र जाणी तेनी पासेथी सर्वरसदंड अने वज्रदंडनो प्राप्ति संवन्धे छे. श्लो० २४९–४२४

त्रीजो आदेश मतिसार मन्त्रीने देशनिकाल करवा संवन्धे छे श्लो० ४२५–५१३

चोथो आदेश रत्नपुर जइने मतिसार नामना मन्त्रीने सन्मानपूर्वक पाछा लाववा अने सदा फळ आपनार आम्रवीजनी प्राप्ति संवन्धे छे. श्लो० ५१४–५६०

पांचमो आदेश सत्पात्रने दान आपवा अने विषापहार, भूमिस्फोटक अने मणिदंडनी प्राप्ति संवन्धे छे. श्लो० ५६१–६३३

दसमो सर्ग

छट्ठा सर्गनी शरुआतमां वलतारतम्य परीक्षा विषयक आ कथाप्रवन्ध आवी गयेलो छे, अहीं नथी.

पश्चात् शेषांस्तथाऽऽदेशांश्चतुरः क्रियतां (?) नृप! ॥

हस्तलिखित प्रति सर्ग ९ श्लो० ३९–४०

वीजो आदेश सोपारकपुरमां सोमशर्मा ब्राह्मणनी पत्नी उमादेवीनुं चरित्र जाणी तेनी पासेथी सर्वसिद्धिप्रद दंड तथा विजयदंडनी प्राप्ति संवन्धे छे. श्लो० १–४२५

त्रीजो आदेश स्तभनपुर तीर्थमां जयकर्ण राजानी पासेथी रत्ननी पेटी लाववा संवन्धे छे. श्लो० १–४९०

चोथो आदेश उज्जयिनी नगरीमां धन्य शेठनी पत्नी काममंजरीनुं चरित्र अवलोकन करीने सर्वार्थकामप्रद अने सर्वव्याधिहर दंडनी प्राप्ति संवन्धे छे. श्लो० १–४२१

पांचमो आदेश विश्वरूप पुरोहितने दान आपवा वावत अने विषापहार दंडनी प्राप्ति संवन्धी छे. श्लो० १–४६४

दसमो सर्ग

वलतारतम्य परीक्षाविषये कथाप्रवन्ध अहीं आपवामां आव्यो छे.

उपकारविषये कथाप्रवन्ध श्लो० २९२-३१०

सत्त्वौदार्यन्यायमार्गपालनविषये कथाप्रवन्ध. श्लो० ३११-३३८

अघटकुमारमिलनप्रवन्ध. श्लो० ५०५-६६५

अगियारमो सर्ग

सदृशपत्नीमाननविषये कथा

औदार्ये विक्रमादित्य

स्त्रीचरित्रवीक्षण संवन्धे कथा

कुशीलिनी स्त्रीविषये छाहडभार्यासंवन्ध अने वदान्यत्वे विक्रमार्कभूपसंवन्ध.

धूर्तजनवीक्षण संवन्ध.

औदार्ये स्त्रीराज्यगमन संवन्ध

बारमो सर्ग

अहीं विक्रमादित्य संवन्धे चार चामरधारिणीए कहेली कथाओ छे.

द्वितीय चामरहारिणी प्रोक्त कथा

तृतीय चामरहारिणी प्रोक्त कथा

चतुर्थ चामरहारिणी प्रोक्त कथा

× × ×

× × ×

× × ×

अगियारमो सर्ग

× × ×

× × ×

आ कथा थोडा फेरफार साथे नवमा सर्गमां पंचदंडछत्र कथाना चोथा आदेशमां आवेली छे.

× × ×

× × ×

× × ×

बारमो सर्ग

अहीं विक्रमादित्य संवन्धे बे चामरधारिणीए कहेली बे कथा छे

× × ×

× × ×

द्वितीय चामरहारिणी प्रोक्त कथा

उपर जणाव्या मुजब प्रथम वर्ग अने वीजा वर्गनी प्रतिओमां घणो तफावत छे. ए सिवाय कथाओनी हकीकतमां पण थोडो घणो फेरफार छे. पहेला वर्गनी प्रतिओमांना घणा प्रवन्धो वीजा वर्गनी प्रतिओमां नथी प्रथम अने वीजा वर्गनी प्रतिओमां पंचदंड-छत्र कथानी रचना तद्दन भिन्न छे, एटलुंज नहि पण प्रथम वर्गनी प्रतिओमां पंचदंडछत्र कथाना श्लोको ६३३ छे त्यारे वीजा वर्गनी प्रतिओमां पंचदंडछत्र कथाना श्लोको १९९६ छे, अने कथाना स्वरूपमां पण मोटो भेद छे. ते उपर वन्ने वर्गनी प्रतिओनी सरखामणीमां दर्शाविलो छे. तेथी वीजा वर्गनी प्रतिओमां आवेल पंचदंडछत्रनी कथाना कर्ता भिन्न होवा जोइए. अने ते पंचदडकथा मूळ ग्रन्थ साथे जोडी दीधी होय एम संभवे छे. कदाच चरित्रकारे पोते ज पंचदंडछत्र कथानी सविस्तर जुदी स्वतंत्र रचना करी होय अने तेटलो भाग पाछळथी लेखकोए मूळ चरित्रनी पंचदंडनी कथाने वदले मूक्यो होय एम मानवुं पण वरोवर नथी, कारण के जो वन्ने कथाओना एक कर्ता होय तो वन्ने वर्गनी प्रतिओना पंचदंड कथाना स्वरूपमां मोटो फेरफार छे ते न होय. तेथी एम मानवुं वधारे सयुक्तिक लागे छे के वीजा वर्गनी प्रतिओमां आवेल पंचदड कथानी रचना करनार जुदा ज होय अने पाछळथी तेने मूळ ग्रन्थ साथे जोडी देवामां आवी होय. गमे तेम होय तो पण विक्रमचरित्रनी वधारे प्रतो मेळवी आ संवन्धे वधारे गवेषणा करवानी आवश्यक्ता छे.

विक्रमादित्यना संवन्धमां पुरातत्त्वविदोमां अनेक मत-मतान्तरो प्रचलित छे, अने तेमां अत्यारे उतरवानी आवश्यकता नथी. परन्तु आ चरित्रमां अवन्तीमां गर्दभिल्ल नामनो राजा राज्य करतो हतो अने तेनो परोपकारी पुत्र विक्रमादित्य हतो. मतान्तरे विक्रमादित्यने गन्धर्वसेननो पण पुत्र जणावेल छे तेणे श्री सिद्धसेन दिवाकरना उपदेशथी जैनधर्म ग्रहण कर्यो अने पृथ्वी ऋणरहित करी पोताना नामनो संवत्सर चलाव्यो. ते वुद्धिमान्, साहसिक, दानव्यसनी, परोपकारी अने विद्वानोना आश्रय रूप हतो आ चरित्रमां तेना संवन्धे वधा कथाप्रवन्धो कहेवामां आव्या छे. तेणे प्रतिष्ठानपुरना शालिवाहन राजानी पुत्री सुकोमलानुं पाणिग्रहण कर्युं हतुं अने तेनाथी देवकुमार नामे पुत्र थयो, जेनुं वीजुं नाम विक्रमचरित्र हतुं. विक्रमादित्यना संवन्धमां वधी कथाओ अने हकीकतो

नो संग्रह ग्रन्थकारे पहेलाना ग्रन्थो अने सांभळेली लोककथाओना आधारे कर्यो हशे.

पुरातत्त्वविदोनी एक एवी मान्यता छे के उज्जयिनीना गर्दभिल्ले कालकाचार्यनी भागनी साध्वी सरस्वतीनुं अपहरण कर्युं अने आचार्ये तेने घणुं समजाववा छतां ते न मान्यो एटले तेमणे शकोनी मदद लइ गर्दभिल्लनो पराजय कर्यो अने सरस्वती साध्वीने छोडावी. त्यारबाद उज्जयिनीमां शकोनुं राज्य थयुं. पछी गर्दभिल्लना पुत्र विक्रमादित्ये मालव देशना लोकोनी मददथी शकोने हांकी काढ्या अने मालवाना लोकोए तेना विजयना स्मारक तरीके मालव संवत्‌नी शरुआत करी अने पाछळथी तेज संवत् विक्रमसंवत् तरीके प्रसिद्ध थयो. वळी बीजो मत एवो छे इ. स. चोथा शतकमां शकोने नसाडनार विक्रमादित्यनुं बिरुद धारण करनार चंद्रगुप्त बीजो ज विक्रमार्क छे अने ते दानवीर हतो, अने तेमणे ज प्रचलित मालव संवतने विक्रमसंवत तरीके चालु कर्यो.

सिद्धसेन दिवाकरे विक्रमादित्यने प्रतिबोध करी जैन कर्यो ए हकीकत आ चरित्रमां आवे छे एटले विक्रमादित्यना समकालीन सिद्धसेनदिवाकर विक्रमनी प्रथम शताब्दीमां थया एम मानवुं पडे छे, परन्तु बीजी रीते विचार करीए तो आ मान्यतामां वांधो आवे छे. सिद्धसेनदिवाकरना गुरु वृद्धवादी माथुरी वाचनाना प्रणेता आर्यस्कंदिलना शिष्य होवानुं प्रभावक चरित्रमां जणाव्युं छे अने आर्य-स्कंदिलनो समय वि. सं. ३५७ थी ३७० सुधीनो छे एटले सिद्धसेन दिवाकरनो समय ते पछीनो मानी शकाय. तेथी सिद्धसेन दिवाकरनो समय वि. सं. चोथा शतकना अन्ते जाय छे. तेथी संवत्सर प्रवर्तक विक्रमादित्यनी साथे सिद्धसेन दिवाकरना समयनो मेळ कोइपण रीते घटी शकतो नथी, माटे विक्रमादित्यनी उपाधि धारण करनार गुप्तवंशी बीजो चन्द्रगुप्त सिद्धसेन दिवाकरनो समकालीन होय एम संभवित छे-एम केटलाक पुरातत्त्वविदोनी मान्यता छे. कारण के ते पण शकोनो नाश करनार अने घणो दानी हतो.

मालवामां विक्रमादित्य राज्य करतो हतो, त्यारे दक्षिणमां सातवाहन राजानुं राज्य हतुं अने तेणे युद्धमां विक्रमादित्यनो पराभव कर्यो हतो. आ हकीकत आ चरित्रमां आवेली छे. विक्रमादित्यनी पहेला अने पछी पण दक्षिणमां आन्ध्रोनुं राज्य घणा वर्षो सुधी हतुं अने आन्ध्रो सातवाहन कहेवाता एटले विक्रमादित्यना समकालीन सातवाहनने मानवामां खास वांधो नथी.

कवि कालिदासना प्रवन्धमां कालिदास अने वररुचिने विक्रमादित्यना समकालीन गणाव्या छे. कारण के विक्रमना नव रत्नोमां कालिदासनी साथे वररुचि अने वराहमिहिरनुं नाम छे, परन्तु आ श्रुतपरंपरा प्रामाणिक नथी, कारण के विक्रमनी छट्ठी शताब्दीमां थयेला वराहमिहिरने पण विक्रमना समकालीन ठरावेल छे. कालिदासनो समय अद्यापि निश्चित थयो नथो, परन्तु ते विक्रमनी प्रथम शताब्दीथी मांडी चोथी शताब्दी सुधीमां थयेलो होवानी भिन्न भिन्न मान्यता छे.

[1]हिमवंतस्थविरावलीमां महावीरना निर्वाण पछी विक्रमना राज्यारंभ सुधी ४१० वर्षनी कालगणना नीचे मुजव आपवामां आवेल छे.

कोणिक तथा उदायी	६०	विन्दुसार	२५	वलमित्र–भानुमित्र	६०
नव नन्दो	९४	अशोक	३५	नभोवाहन	४०
चन्द्रगुप्त	३०	संप्रति	४९	गर्दभिल्ल अने शक	१६
		०	१		४१६

भगवान् महावीरना निर्वाण पछी ३१ वर्ष वीत्या वाद कोणिकना पुत्र उदायीए पाटलिपुत्र नगर वसाव्युं अने तेने मगधनी राजधानी करी त्यां राज्य करवा लाग्यो. ते जैन धर्ममां दृढ श्रावक थयो. त्यां तेने जैन साधुवेशधारी कोइ दुश्मने कपटथी मारी नांख्यो.

महावीरप्रभुना निर्वाण पछी ६० वर्ष वीत्या वाद नन्द नामे नापितपुत्र पाटलिपुरना राज्यसिंहासने बेठो. तेना वंशमां अनुक्रमे नव नंद थया. तेओए ९४ वर्ष सुधी राज्य कर्युं. त्यारवाद महावीर निर्वाण पछी १५४ मा वर्षे चाणक्यनी सहायथी मौर्य चंद्रगुप्ते नवमा नंदने पाटलिपुत्रनी राज्यगादी उपरथी काढी मूकीने पोते मगधनो राजा थयो. ते चाणक्यना उपदेशथी जैनधर्मनो दृढ श्रावक थयो. अति पराक्रमी ते राजाए पोताना राज्यनो विस्तार कर्यो अने मौर्य संवत् शरु कर्यो. ते राज्यगादी उपर त्रीश वरस रह्यो.

१ आ हकीकत श्रीमान् मुनिश्री कल्याणविजयजीना जैनकालगणनाना लेखमाथी लेवामा आवेल छे.

महावीर निर्वाण बाद १८४ मा वरसे चंद्रगुप्तनो स्वर्गवास थयो अने तेनो पुत्र बिन्दुसार राज्यासन उपर बेठो. तेणे २५ वरस सुधी राज्य कर्युं. ते जैनधर्मनो आराधक परम श्रावक हतो. त्यारबाद बिन्दुसारनो पुत्र अशोक महावीर निर्वाणथी २०९ मा वरसे पाटलिपुत्रना राज्यासन उपर बेठो. ते पहेलां जैन धर्मनो अनुयायी हतो, पण राज्यप्राप्ति पछी चार वरसे बौद्ध थयो. अशोकनो पुत्र कुणाल हतो, परन्तु ते अन्ध थयो होवाथी राज्यनो उत्तराधिकारी संप्रति थयो. महावीर निर्वाण बाद २४४ मा वरसे अशोक परलोकवासी थयो.

वीर निर्वाण संवत् २४४ मां संप्रतिनो पाटलिपुत्रमां राज्याभिषेक थयो, परन्तु त्यां ते पोताना दुश्मनोथी शंकित थइने पाटलिपुत्रनो त्याग करी उज्जयिनी जइ राज्य करवा लाग्यो. तेणे आर्य सुहस्तिना उपदेशथी जैन धर्म स्वीकार्यो अने भारत वर्षमां उपदेशको द्वारा जैन धर्मनो प्रचार कर्यो एटलुं ज नहि, पण अनार्य देशोमां उपदेशको मोकली जैनधर्मनो प्रचार कर्यो तथा अनेक जैनमन्दिरो अने जैन प्रतिमाओथी पृथ्वी अलंकृत करी.

महावीरनिर्वाणथी २९३ मा वरसे संप्रतिनो स्वर्गवास थयो, परन्तु तेने पुत्र नहि होवाथी उज्जयिनीनुं राज्यासन अशोकना पुत्र तिष्यगुप्तना पुत्र बलमित्र अने भानुमित्रने प्राप्त थयुं. ते बन्ने भाइओ जैनधर्मना परम उपासक हता, ते वीरनिर्वाण बाद २९४ मा वरस पछी उज्जयिनीनी राज्यगादी उपर बेठा अने वीरनिर्वाण ३५४ वरस पछी तेनो स्वर्गवास थयो. त्यारबाद बलमित्रनो पुत्र नभोवाहन उज्जयिनीना राज्यासन पर बेठो. नभोवाहन पण जैनधर्मी हतो. ते महावीरनिर्वाणथी ३९४ मा वरसे परलोकवासी थयो. त्यारबाद नभोवाहननो पुत्र गर्दभिल्ल उज्जयिनीना राज्यासन उपर बेठो. त्यां तेणे कालकाचार्यनी बहेन साध्वी सरस्वतीनुं अपहरण कर्युं. तेथी कालकाचार्य सिन्धमां सामन्त नामे शक राजा राज्य करतो हतो तेनी पासे गया अने तेनी मददथी उज्जयिनी उपर चढाइ करी. तेमां गर्दभिल्ल मरायो. त्यारबाद त्यां शकोनुं राज्य थयुं.

त्यारबाद गर्दभिल्लना पुत्र विक्रमादित्ये शकोने जीती पोते उज्जयिनीनी राजगादी उपर बेठो. तेमणे ६० वरस सुधी राज्य कर्युं.

विक्रमादित्यनुं मरण महावीरनिर्वाणथी ४७० वरस वीत्या बाद थयुं. एटले महावीरनिर्वाण अने विक्रमादित्यना मरणनुं अन्तर ४७० वरसनुं छे.

आ चरित्रमां विक्रमादित्यना साहस, दान, परोपकार इत्यादि गुणो संबन्धे चमत्कारी अद्भुत कथा प्रबन्धो कहेवामां आव्या छे. अने विक्रमादित्यना पुत्र देवकुमारनुं पण वृत्तान्त आपेलुं छे.

आ चरित्रमां प्रसंगोपात्त बहारना घणा सुभाषितो अने दुहाओ आवे छे अने ते प्रसंगे उपदेश आपवानी शैलीने अनुसरी ग्रन्थकर्ताए मूकेला छे. तेमां बधी प्रतिओमां तेनी संख्या एक सरखी नथी. चरित्रकारे केटलाएक सुभाषितो तो मूक्या हशे अने वांचनारने ज्यां ज्यां बीजा सुभाषितो वधारवानी जरुर लागी त्यां तेणे वधारो पण कर्यो हशे.

एकंदर आ कथा मनोरंजक अने बोधप्रद छे, तेनुं ऐतिहासिक मूल्य केटलुं छे तेनी चर्चा अहीं करवी अप्रस्तुत छे.

प्रथम आ पुस्तक हेमचद्राचार्य ग्रन्थमाळा तरफथी प्रकाशित थयुं हतुं, परन्तु अत्यारे तेनी छापेली नकलो नहि मळवाथी शुद्ध करी फरीथी तेने छापवामां आव्युं छे. प्रथम आवृत्तिमां जे श्लोको अपूर्ण आपवामां आव्या हता तेने वांचनारवो सवड खातर आ बीजी आवृत्तिमां पूरा आपवामां आव्या छे. अने वारंवार जे श्लोको आवे छे तेना सर्ग अने श्लोकनो अंक आपवामां आव्यो छे. तेथी प्रथम आवृत्ति करतां बीजी आवृत्ति घणी उपयोगी थशे.

आ पुस्तकनुं काळजीपूर्वक संशोधन करवामां आव्युं छे छतां दृष्टिदोषथी प्रेसमां छापतां अनुस्वार अने मात्रा वगेरे उडी जवाथी के अज्ञानथी जे कंइ अशुद्धि रही होय ते सुज्ञ वाचकोने सुधारी लेवा विनति छे.

शारदाभवन
जैन सोसाइटी १५—अमदावाद.
सं. १९९६ आषाढशुक्ल पूर्णिमा

भगवानदास हरखचंद दोशी

विषयानुक्रमः

चतुर्थः सर्गः

पञ्चमः सर्गः

षष्ठः सर्गः

सप्तमः सर्गः

अष्टमः सर्गः

नवमः सर्गः

दशमः सर्गः

एकादशः सर्गः

मुद्रितपुस्तके पाठः	हस्तलिखितद्वितीयवर्गप्रतौ पाठः		
चलितः स ना	धावितः स ना	७९-२	८
हलिन्या	हल्यन्यो	,,	१०
तदाऽकस्मान्निराकृतः	प्रपन्नः शरणं द्रुतम्	,,	,,
आयातं	आयान्तं	,,	१४

४८तमे पत्रे ४१६तमश्लोकपादस्य संपूर्णोऽयं श्लोकः पश्चात् समुपलब्धः । स चायम्—

दट्ठूण परकलत्तं, किहि दा पत्थेइ निग्घिणो जीवो। ण य तत्थ किं पि सुक्खं, पावदि पावं च अज्जेदि ॥

मूलाराधना गा० ९२४

ॐ अर्हम्

श्रीशुभशीलगणिविरचितं

श्रीविक्रमचरितम् ॥

यस्याग्रेऽणुतुलां धत्ते प्रद्योतः पुष्पदन्तयोः ।
जीयात् तत् परमं ज्योतिर्लोकालोकप्रकाशकम् ॥१॥

राज्यं येन वितन्वता प्रथमतः सन्दर्शितानि क्षितौ,
लोकाय व्यवहारपद्धतिरलं दानं च दीक्षाक्षणे ।
ज्ञाने मुक्तिपथश्च नाभिवसुधाधीशोरुवंशाम्बर-
त्वष्टा[1] श्रीवृषभप्रभुः प्रथयतु[2] श्रेयांसि भूयांसि नः ॥२॥

माद्यद्दन्ति-समीरजित्वरहय[3]-प्रोद्यन्मणि-काञ्चन-
स्वर्नारीसमरूपभूरिवनिता[4]-प्रोल्लासिचक्रिश्रियम् ।
त्यक्त्वा यस्तृणवल्ललौ व्रतरमां तीर्थंकरः षोडशः,
स श्रीशान्तिजिनस्तनोतु भविनां शान्तिं नताखण्डलः ॥३॥

आनम्रानेकदेवाधिप-नृपतिशिरःस्फारकोटीरकोटिः[5],
कल्याणाङ्कूरकन्दो यदुकुलतिलकः कज्जलाभाङ्गदीप्तिः ।
लोकालोकावलोकी मधुमधुरवचाः प्रोज्झितोदारदारः,
श्रीमान् श्रीउज्जयन्ताचलशिखरमणिर्नेमिनाथोऽवताद्वः ॥४॥

---

१ त्वष्टा=सूर्य । २ स दिशतु क । ३ -समीरजेतृतुरग-ख । ४ जितरूप-ख । ५ कोटिर =मुकुटम् ।

स्वामिन् ! मामुग्रसेनक्षितिपकुलभवां सानुरागां सुरूपां,
बालां त्यक्त्वा कथं त्वं बहुमनुजरतां मुक्तिनारीमरूपाम् ।
वृद्धां मूकामकुल्यां करपदरहितामीहसेऽशेषवित् श्राग्[1],
इत्युक्तो राजिमत्या यदुकुलतिलकः श्रेयसे सोऽस्तु नेमिः ॥५॥

कस्तूरीकृष्णकायच्छविरतनुफणारत्नरोचिष्णुभाली,
विद्युच्छाली गभीरानघवचनमहागर्जिविस्फूर्जितश्रीः ।
वर्षन् तत्त्वाम्बुपूरैर्भविजनहृदयोर्व्यां लसद्बोधिबीजा-
ङ्कूरं श्रीपार्श्वमेघः प्रकटयतु शिवानर्घ्यसस्याय शश्वत् ॥६॥

बाल्ये निर्जरनाथसंशयभिदे गीर्वाणशैलः पदा-
ङ्गुष्ठस्पर्शनमात्रतोऽजनि महे येनार्हता चालितः ।
व्योमव्यापितनुः सुरः शठमतिः कुब्जीकृतो मुष्टिना,
स श्रीवीरजिनस्तनोतु सततं कैवल्यशर्माङ्गिनाम् ॥७॥

लभते भाग्यतो बह्वीः सुष्ठु श्री-धी-यशस्ततीः ।
श्रीविक्रमार्क भूपाल इव देही सुपुण्यतः ॥८॥ तथाहि-

युगादिजिनपुत्रेणावन्तिना वासिता पुरी ।
अवन्तीत्यभवन्नाम्ना जिनेन्द्रालयशालिनी ॥९॥

मालवावनितन्वङ्गी-भास्वद्भालविभूषणम् ।
अवन्ती विद्यते वर्या पुरी स्वर्गपुरीनिभा ॥१०॥

तत्र श्रीजिनराजशासनरमासीमन्तिनी साम्प्रतं,
सौभाग्यं भजतां कथं न भुवनव्यामोहनप्रत्यलम् ? ।
यस्यां मौक्तिकहारवल्लिविदुरः शृङ्गारयत्युच्चकैः,
श्रीसर्वज्ञलसन्निकेतनततिर्गङ्गातरङ्गोज्ज्वला ॥११॥

यत्र धर्मं दयामूलं कुर्वन् पौरजनोऽखिलः ।
अर्थकामाविहाप्नोति परत्र च शिवश्रियम् ॥१२॥ यतः-

धर्मसिद्धौ ध्रुवं सिद्धिर्द्युम्न-प्रद्युम्नयोरपि[3] ।
दुग्धोपलब्धौ सुलभा सम्पत्तिर्दधि-सर्पिषोः ॥१३॥

तत्रैव न्यायमार्गेण पालयन् जनताः सदा ।
भूपो गन्धर्वसेनोऽभूज्जिताशेषद्विषच्चयः ॥१४॥

१ श्राक्-शीघ्रम् ।

२ तति-कैलासशैलोपमा' ख । ३ अर्थकामयोरपि ।

अन्यदोज्जयिनीपार्श्व–ग्रामे लक्ष्मीपुराभिधे।
ब्राह्मणीं विधवां वर्यां वीक्ष्य रागी नृपोऽभवत् ॥१५॥
लोभयित्वा धनाद् भर्तृहरपुत्रसमन्विताम्।
अङ्गीचकार गन्धर्वसेनो भूमिपतिस्तदा ॥१६॥
ब्राह्मणी मेदिनीनाथ–पत्नी भूत्वा क्रमात् प्रिया।
असूत तनयं सूर्यस्वप्नसंसूचितं वरम् ॥१७॥
जन्मोत्सवं नृपः कृत्वा सूनोर्विस्तरतस्तदा।
सूर्यस्वप्नाद् ददौ नाम विक्रमार्क इति श्रुतम् ॥१८॥

अथवा एवम्—

तत्र न्यायाध्वना सर्वा जनताः पालयन् सदा।
गर्दभिल्लो नृपो राज्यं चकार स्वर्गिनाथवत् ॥१९॥ यतः–
"शत्रूणां तपनः सदैव सुहृदामानन्दनश्चन्द्रवत्,
पात्रापात्रनिरीक्षणे सुरगुरुर्दीनेषु कर्णोपमः।
नीतौ रामनिभो युधिष्ठिरसमः सत्ये श्रिया श्रीपतिः,
स्वीयान्येष्वपि पक्षपातसुभगः स्वामी यथार्थो भवेत्" ॥२०॥
धीमती श्रीमतीत्याह्वे द्वे पत्न्यौ तस्य सुन्दरे।
अभूतां पञ्चबाणस्य रतिप्रीत्याविव क्रमात् ॥२१॥
दधाना धीमती गर्भं सुन्दरस्वप्नसूचितम्।
शुभेऽह्नि सुषुवे पुत्रं पूर्ववार्के स्फुरद्द्युतिम् ॥२२॥
जन्मोत्सवं नृपः कृत्वाऽऽकार्य सज्जनबान्धवान्।
ददौ भर्तृहरेत्याख्यं पुत्रस्य मुदिताशयः ॥२३॥
वर्द्धमानः क्रमाद् भर्तृहरिपुत्रो दिने दिने।
मातापित्रोर्ददौ मोद–मब्धेरिन्दुरिवानिशम् ॥२४॥ यतः–
"उत्पतन् निपतन् रिङ्खन् हसन् लालावलीर्वमन्।
कस्याश्चिदेव धन्यायाः क्रोडमाक्रमते सुतः ॥२५॥
शर्वरीदीपकश्चन्द्रः प्रभाते रविदीपकः।
त्रैलोक्ये दीपको धर्मः सुपुत्रः कुलदीपकः" ॥२६॥
दधाना श्रीमती गर्भं सुस्वप्नोदयसूचितम्।

दान-शील-तपो-भाव-देवार्चादिपराऽभवत् ॥२७॥
रजनीप्रान्तसमये श्रीमत्या सुखसुप्तया ।
दृष्टोऽर्को विलसद्दीप्तिः स्वप्ने वृद्धिं व्रजन् स्फुटम् ॥२८॥
सम्प्राप्तसमये हारि-वासरेऽर्कोदयक्षणे ।
श्रीमती सुपुवे पुत्रं निधानमिव मेदिनी ॥२९॥
गर्दभिल्लः क्षमापालः कृत्वा जन्मोत्सवं मुदा ।
विक्रमार्केति नामादात् सूनोरर्कविलोकनात् ॥३०॥
सूर्योदयस्य वेलायां जायते यस्य जन्म तु ।
तस्य दीर्घं भवेदायुः पश्चाया उदयः पुनः ॥३१॥
स्तन्यपानादिना पञ्च-धात्रीभिस्तनयः क्रमात् ।
पाल्यमानोऽभवन्माता-पित्रोर्हर्षोदयप्रदः ॥३२॥
पुत्रौ द्वावपि सद्रूप-लावण्यगुणशालिनौ ।
अभूतामश्विनीपुत्राविव क्षोणिपतेः क्रमात् ॥३३॥
भर्तृहरोऽन्यदाऽनङ्गसेनां भीमनृपाङ्गजाम् ।
गर्दभिल्लेन भूपेन सोत्सवं परिणायितः ॥३४॥
गर्दभिल्लो नृपोऽन्येद्युर्लसद्वलसमन्वितः ।
साधयामास निःशेषान् विद्वेषिमेदिनीपतीन् ॥३५॥ यतः-

"उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥३६॥

उद्यमं साहसं धैर्यं वलं बुद्धिः पराक्रमम्(मः) ।
षडेते यस्य विद्यन्ते तस्य दैवं पराङ्मुखम्" ॥३७॥

सन्मार्गेण सदा न्यायी पालयन् सकलाः प्रजाः ।
स्मारयामास सर्वेषां रामराज्यस्थितिं जने ॥३८॥
अन्येद्युः शूलरोगेण गर्दभिल्लमहीपतिः ।
मृत्वाऽकस्मान्मरुद्धाम जगाम धर्मतत्परः ॥३९॥
मृत्युकृत्यादिके कार्ये कृते मन्त्रीश्वरादयः ।

सदुत्सवं व्यधुर्भर्तृहरे राज्याभिषेचनम् ॥४०॥ यतः—
"सर्वाः सम्पत्तयः सद्यो जायन्ते तस्य जन्मिनः ।
प्राग्भवोपार्जितं यस्य पुण्यद्रविणमूर्जितम्" ॥४१॥
[1]भूपेन विक्रमादित्योऽपमानं गमितोऽन्यदा ।
एकाकी खड्गमादाय ययौ देशान्तरे क्वचित् ॥४२॥ यतः—
"माणे[2] पणट्ठइ जइ न तणु तो देसडा चइज्ज ।
मा दुज्जणकरपल्लवेहिं दंसिज्जंत भमिज्ज ॥४३॥"
पुर्यवन्त्यां द्विजो निःस्व एको नारायणाभिधः ।
आरराधामरीं पूजोपहारैर्भुवनेश्वरीम् ॥४४॥
बीजपूरं सुरी तुष्टा बहुजीवितदायकम् ।
ददौ द्विजन्मने तस्मै सदाकारं रसान्वितम् ॥४५॥
फलं लात्वा द्विजोऽवादीत् देव्यनेन फलेन किम् ? ।
इदानीं मम दुःस्थस्य दीनस्येह द्विजन्मनः ॥४६॥
लक्ष्मीं विना नृणां भूरि जीवितव्यमपि स्फुटम् ।
जायते दुःखदं बाढं मृत्योरप्यधिकं स्फुटम् ॥४७॥ यतः—
"वरं रेणुर्वरं भस्म नष्टश्रीर्न पुनर्नरः ।
मुक्त्वैनं दृश्यते पूजा क्वापि पर्वणि पूर्वयोः ॥४८॥
जीवन्तो मृतकाः पञ्च श्रूयन्ते किल भारते ।
दरिद्रो व्याधितो मूर्खः प्रवासी नित्यसेवकः ॥४९॥
वरं वनं व्याघ्रगणैर्निषेवितं जलेन हीनं बहुकण्टकाकुलम् ।
तृणैश्च शय्या वसनं च वल्कलं न बन्धुमध्ये निधनस्य जीवितम्"॥
देवी प्रोवाच ते विप्र ! भाग्यं तादृग् न दृश्यते ।
यादृशेन रमा बह्वी भविष्यति तवालये ॥५१॥
गच्छ स्वस्थः स्वकस्थाने किञ्चिद् धनं भविष्यति ।
[3]श्रुत्वा तद्वाडवो देवीं नत्वाऽचालीत्फलान्वितः ॥५२॥
गत्वा गृहे कृतस्नान—देवपूजाक्रमो द्विजः ।
उपविष्टः फलं भोक्तुं चित्ते चिन्तितवानिति ॥५३॥

---

१ नृपेण ख । २ माने प्रनष्टे यदि न तनुस्ततो देशस्त्यज्यते । मा दुर्जनकरपल्लवैर्दर्श्यमानो भ्राम्यतु ॥ ३ श्रुत्वैतद् ख ।

[1]ममानेन दरिद्रस्य जीवितेनाधिकेन किम् ? ।
दीयते च नृपस्यास्य तदा स्याज्जगतः सुखम् ॥५४॥ यतः—
"आपन्नस्यार्त्तिहरणं शरणागतरक्षणम् ।
त्यागः पुण्यानुरागश्च राज्यलक्ष्मीलताऽम्बुदाः ॥५५॥
दुर्बलानामनाथानां बालवृद्धतपस्विनाम् ।
अन्यायैः परिभूतानां सर्वेषां पार्थिवो गतिः" ॥५६॥
[2]ध्यात्वेति वाडवो भर्तृहराय प्रददौ फलम् ।
उक्त्वा तन्महिमाद्यास—धनश्च स्वगृहं ययौ ॥५७॥
भोक्तुमिच्छन् फलं दध्यौ भूपतिर्नाद्म्यहं खलु ।
जीवितेन मया किं स्यात् पट्टराज्ञीं विना च ताम् ॥५८॥
विचिन्त्येति फलं राज्यै ददौ स्नेहेन भूपतिः ।
राज्यादाय फलं ध्यातं किं स्यात् जीवितया मया ॥५९॥
जीवन्त्यां मयि चेत्पूर्वं मृत्युं हस्तिपको गमी ।
अहं तर्हि हतैवेति मत्वा तस्मै[3] फलं ददौ ॥६०॥

ध्याला च पूर्ववत् तेन[4] दत्तं नगरयोषिति ।
नीचाऽहमिह मत्वेति वेश्याऽदात् भूभुजे च तद् ॥६१॥
तदेव फलमुर्वीशो ज्ञात्वा चागमकारणम् ।
तदा च प्राप्तवैराग्यो भूपश्चिन्तितवानिदम् ॥६२॥
"यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता,
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः ।
अस्मत्कृते च परितुष्यति[5] काचिदन्या,
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥६३॥
सम्मोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति
निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति ।
एताः प्रविश्य सदयं हृदयं नराणां
किं नाम वामनयना न समाचरन्ति ॥६४॥
अश्वप्लुतं माधवगर्जितं च स्त्रीणां चरित्रं भवितव्यता च ।

१ ममार्थिनो द– ख । २ 'यास्तेजस्वी तेजस्वी०' खपुस्तकेऽधिक॰ पाठ॰ । ३ साऽस्मै ख । ४ तेन=हस्तिपकेन । ५ परिखिद्यति क ।

अवर्पणं चाप्यतिवर्पणं च देवा न जानन्ति कुतो मनुष्याः ॥६५॥
अहो संसारवैरस्यं वैरस्यकारणं स्त्रियः।
दोलालोला (च) कमला रोगा भोगा देहं गेहम् ॥६६॥
धन्यानां गिरिकन्दरे निवसतां ज्योतिः परं ध्यायता–
मानन्दाश्रुजलं पिबन्ति शकुनाः निःशङ्कमङ्केशयाः।
अन्येषां तु मनोरथैः परिचितप्रासाद–वापीतट–
क्रीडा–काननकेलि–मण्डनजुषामायुः परं क्षीयते ॥६७॥
ध्यात्वेति भर्तृहरभूमिपतिर्विरक्तः,
संसारतः परमचिद्–जलमग्नचेताः[1]।
राज्यं विमुच्य तृणवत् वरकुम्भिताक्ष्य–
सिद्धान्तसारमभजत् वरयोगमाशु ॥६८॥ यतः—
"[2]जह चयइ चक्कवट्टी पवित्थरं तत्तियं मुहुत्तेण।
न चयइ तहा अहन्नो दुब्बुद्धी खप्परं दमओ ॥६९॥

गत्वा भर्तृहरोपान्ते जगुर्मन्त्रीश्वरा इति।
स्वामिंस्त्वया विनेदानीं राज्यं सर्वं विनङ्क्ष्यति ॥७०॥
जगौ भर्तृहरो राज्यं कस्येदं कस्य बान्धवाः।
आत्मीयार्थं जनाः सर्वे मिलन्ति द्रुमपक्षिवत् ॥७१॥
माता–पितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च।
संसारेऽत्र व्यतीतानि कस्याहं कस्य बान्धवाः ॥७२॥
सहस्रशो मया राज्य–लक्ष्मीः प्राप्ता भवान्तरे।
वैराग्यश्रीर्न कुत्रापि लब्धा स्वर्गापवर्गदा ॥७३॥
भर्तृहरकृतवैराग्यशता(तका)वतारादिसम्बन्धोऽत्र ज्ञातव्यः ॥
यतीनां कुर्वतां चिन्तां गृहस्थानां मनागपि।
जायते दुर्गतौ पातः क्षयश्च तपसः पुनः ॥७४॥ यतः–
"[3]थोवोवि गिहिपसंगो जइणो सुद्धस्स पंकमावहइ।
जह सो वारत्तरिसी हसिओ पज्जोयनरवइणा ॥७५॥

---

१ परमचित्प्रतिमग्न–क। २ यथा त्यजति चक्रवर्ती प्रविस्तर तावन्मुहूर्तेण। न त्यजति तथाऽधन्यो दुर्बुद्धि कर्पर द्रमक ॥
३ स्तोकोऽपि गृहिप्रसङ्गो यते· शुद्धस्य पङ्कमावहति। यथा स वास्तऋषिर्हसित प्रद्योतनरपतिना ॥

सब्भावो वीसम्भो, नेहो रइवइयरो य जुवइजणे।
सयणघरसंपसारो तव-सील-वयाइं फेडिज्जा ॥७६॥
जोइस-निमित्त-अक्खर-कोउ-आएस-भूइकम्मेहिं।
करणाणुमोअणाहि अ साहुस्स तवक्खओ होइ ॥७७॥
जह जह कीरइ संगो, तह तह पसरो खणे खणे होइ।
थोवो वि होइ वहुओ न य लहइ धिइं निरुंभंतो ॥७८॥
एवं भर्तृहरो जल्पन् मणि-तृणसमाशयः।
जगाम विपिने कर्तुं तपस्तीव्रं तमश्छिदे ॥७९॥
इतो राज्यं तदा शून्यं वह्निवेतालिकोऽसुरः।
मत्वाऽधिष्ठाय तस्थौ स क्रूरात्मा तत्क्षणात्तदा ॥८०॥
श्रीपतिं क्षत्रियं मत्वा कुलीनं मन्त्रिणस्ततः।
राज्ये भर्तृहरस्याशु स्थापयामासुरादरात् ॥८१॥

जघान श्रीपतिं रात्रौ वह्निवेतालिको मरुत्।
दृष्ट्वा भूपं मृतं प्रातर्मन्त्रिणो दुःखिनोऽभवन् ॥८२॥
एवं यं यं नृपं तत्र स्थापयन्ति स्म धीसखाः।
तं तं रात्रौ सदा वह्निवेतालो हन्ति दुष्टधीः ॥८३॥
मन्त्रिणः सततं भूरि-बलिं कुर्वन्ति शान्तये।
तथापि स सुरो दुष्टो नैव शान्तिमुपेयिवान् ॥८४॥
खलः सत्क्रियमाणोऽपि ददाति कलहं सताम्।
दुग्धधौतोऽपि किं याति वायसः कलहंसताम् ॥८५॥
दुज्जणजण-बब्बूलवण जइ सिंचीइ अमिएण।
तोइ ति कंटाफाटणाजातिहिं तेणइं गुणेण ॥८६॥ यतः—
"सद्भिः संसेव्यमानोऽपि शान्तवाक्यैर्जलैरिव।
प्लुष्टपाषाणवद् दुष्टः स्वाभिप्रायं न मुञ्चति ॥८७॥

१ सद्भावो विश्रम्भ स्नेहो रतिव्यतिकरो युवतिजने। स्वजनगृहसंप्रसार: तपः-शील-व्रतानि स्फेटयेत् ॥
२ ज्योतिष-निमित्ता-क्षर-कौतुकादेश-भूतिकर्मभि। करणानुमोदनाभ्या च साधो: तप:क्षयो भवति ॥
३ यथा यथा क्रियते संगस्तथा तथा प्रसर क्षणे क्षणे भवति। स्तोकोऽपि भवति वहुर्न च लभते धृति निरुन्धन् ॥ ४ तणुइं ख।

स्नेहेन भूरिदानेन[1] कृतः स्वस्थोऽपि दुर्जनः ।
दर्पणश्चान्तिके तिष्ठन् करोत्येकमपि द्विधा ॥८८॥
दर्शयित्वाऽन्यदा भट्टमात्राह्वो नैगमः कलाम् ।
कस्यचिन्नगरोपान्ते विक्रमस्यामिलत् क्रमाद् ॥८९॥
द्रविणार्थमतो भट्टमात्रयुग् विक्रमो भ्रमन् ।
रोहणाद्रिसमीपस्थ-ग्रामे सायं क्वचिद्ययौ ॥९०॥
भट्टोऽप्राक्षीन्नरं कञ्चिद् कथमत्राप्यते मणिः ।
स प्राहेह खनीमध्यमध्यास्येति प्रजल्पते ॥९१॥
हस्तं दत्त्वाऽलिके स्वीये हहा दैवेत्युदीरयन् ।
यो घातं ददते तस्मै रोहणो ददते मणिम् ॥९२॥
विक्रमार्को जगावेवं यः पुमानित्युदीरयन् ।
गृह्णाति रोहणाद्रत्नं कातरः स निगद्यते ॥९३॥
रोहणो यदि हा दैवशब्दं विनाऽधुना ध्रुवम् ।
दत्ते मह्यं मणिं ग्राह्यस्तदा स नान्यथा मया ॥९४॥ यतः—

उद्योगिनं नरं लक्ष्मीः समायाति स्वयंवरा ।
दैवं दैवमिति प्रोच्चैर्वदन्ति कातरा नराः ॥९५॥
विक्रमार्कस्ततो भट्टमात्रयुक्तो गिरौ ययौ ।
यतते विक्रमं दैन्यं भट्टो वाचयितुं नृपम् ॥९६॥
विक्रमार्को ददत् घातं गिरौ दैन्यं न जल्पति ।
भट्टोऽवददवन्तीतः समेतोऽवक् पुमानिति ॥९७॥
विक्रमार्क ! त्वदीयाम्बा रोगेण मृत्युमागमत् ।
श्रुत्वेति विक्रमो दैन्यं जल्पन् भालं जघान सः ॥९८॥
तावत् खनित्रघातेन सपादलक्षमूल्यकम् ।
प्रादुरासीन् मणिर्दीप्तिप्रद्योतितदिगन्तरः ॥९९॥
भट्टमात्रो मणिं लात्वा विक्रमार्कंशयेऽमुचत् ।
ततश्च भवतो माता कुशलिन्यस्ति सोऽवदत् ॥१००॥
श्रुत्वैतत् कुशलोदन्तं मातुर्विक्रमभानुमान् ।
हर्षं ततान पाथोदध्वनेर्मयूरवत्तदा ॥१०१॥ यतः—

---

१ भूतिदा—क ।

"दयैव धर्मेषु गुणेषु दानं प्रायेण चान्नं प्रथितं प्रियेषु।
मेघः पृथिव्यामुपकारकेषु तीर्थेषु माता तु मता नितान्तम् ॥
तीर्थे धर्मे च देवे च विवादो विदुषां बहुः।
मातुश्चरणचर्चा तु सर्वदर्शनसंमता ॥१०३॥
गङ्गास्नानेन यत्पुण्यं नर्मदादर्शनेन च।
तापीस्मरणमात्रेण तन्मातुः पदवन्दनात् ॥१०४॥
आदिगुणेषु विनयः सर्वशास्त्रेषु मातृका।
सृष्टौ जलं दया धर्मे तीर्थेषु जननी मता ॥१०५॥"
एवं ध्यात्वा तदा श्रीमद्विक्रमार्कमहीपतिः।
क्षेप्तुं रत्नं खनीमध्ये श्लोकमेकं जगाविति ॥१०६॥
धिग् रोहणगिरिं दीनदारिद्र्यव्रणरोहणम्।
दत्ते हा दैवमित्युक्ते रत्नान्यर्थिजनाय यः ॥१०७॥
इत्युक्त्वा रत्नमुत्सृज्य तत्रैव विक्रमार्यमा।
अवधूतस्य वेषेण तापीतीरमुपाययौ ॥१०८॥

श्रुत्वा शिवारवं भट्टमात्रोऽवक् तटिनीतटे।
भूषणैर्भूषिता नारी मृताऽस्तीत्यत्र वक्ति सा ॥१०९॥
शब्दानुसारतस्तत्र गत्वा विक्रमभानुमान्।
दृष्ट्वा तथास्थितां नारीं प्राह सत्यं वचस्तव ॥११०॥
अहं नास्याः स्त्रिया लामि भूषणानि मनागपि।
रोचते यदि ते त्वं तु गृहाण मित्र ! तानि वा ॥१११॥
भट्टमात्रो जगौ नो चेत् त्वं लास्यस्या विभूषणम्।
अहं चाण्डालिकं कर्म न कुर्वे साम्प्रतं सुहृत् ॥११२॥ यतः—
"क्षुत्क्षामोऽपि जराकृशोऽपि शिथिलप्रायोऽपि कष्टां दशा-
मापन्नोऽपि विपन्नदीधितिरपि प्राणेषु गच्छत्स्वपि।
मत्तेभेन्द्रविशालकुम्भदलनव्यापारबद्धस्पृहः,
किं जीर्णं तृणमत्ति मानमहतामग्रेसरः केसरी" ॥११३॥
पुनः शिवारवं श्रुत्वा भट्टमात्रो जगावदः।
इयं वक्ति तवावन्तीराज्यं मासे भविष्यति ॥११४॥

ततो भुवि भ्रमन् श्रुत्वाऽवन्त्या राज्यस्य शून्यताम् ।
तपस्याग्रहणं भर्तृहरस्य च महीपतेः ॥११५॥
तदा विक्रममार्त्तण्डोऽवधूतवेषभृद् जगौ ।
अहं तत्र पुरे राज्यकृते यास्यामि साम्प्रतम् ॥११६॥
भविष्यति ममावन्त्याः राज्यं चेद्धि कदाचन ।
भट्टमात्र त्वयाऽवन्त्यामागन्तव्यं सुहृत्तम ! ॥११७॥
मयि राज्यं वितन्वाने न्यायमार्गेण सर्वतः ।
त्वामहं मन्त्रिणां मध्ये धुरि कुर्वे सुहृद्वरम् ॥११८॥ यतः–
"ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति ।
भुङ्क्ते भोजयते नित्यं षड्विधं प्रीतिलक्षणम्" ॥११९॥
मुत्कलाप्य तदा भक्त्या विक्रमं भट्टमात्रकः ।
स्मरन् मित्रगुणान् स्वीयनगरं समुपागमत् ॥१२०॥
ततो भ्रमन् महीपीठमवन्त्यामेत्य विक्रमः ।
राज्यशून्यस्वरूपं च पप्रच्छ मन्त्रिणोऽन्तिके ॥१२१॥

मन्त्रीश्वरा जगुर्भर्तृहरभूमिपतेः पदे ।
यो यश्च स्थाप्यते तं तं हन्ति भूपतिमन्त्रिकः ॥१२२॥
विक्रमार्को जगौ मह्यं राज्यं ददत चेद्यदि ।
तदा दुष्टान्निहत्याशु सज्जनान् पालयाम्यहम् ॥१२३॥ यतः–
"दुष्टस्य दण्डः स्वजनस्य पूजा, न्यायेन कोशस्य सदैव वृद्धिः ।
अपक्षपातोऽर्थिपुराष्ट्ररक्षा, पञ्चैव धर्माः कथिता नृपाणाम्" ॥
सत्त्वं तस्य निरीक्ष्याशु दत्त्वा राज्यं च मन्त्रिणः ।
हृष्टा ययुर्निजं स्थानं ततो भूपो व्यधादिदम् ॥१२५॥
मूटकत्रयपक्वान्न–सत्पुष्पप्रकरैर्भृशम् ।
पुरप्रतोलिका–राजशय्या–गेहान्तरावनीम् ॥१२६॥
स्थाने स्थाने महीपालो राजमार्गं स्वसेवकैः ।
तलिकातोरणाद्यैश्च भूषयामास वेगतः ॥१२७॥
ततः खड्गसखैकाकी पल्यङ्कस्योपरि स्थितः ।
उन्निद्रो विक्रमादित्यो निर्भयो निशि सत्त्ववान् ॥ यतः—

"सीह सउण न चंदबल विजोइ धण रिद्धि ।
एकल्लो लक्खहिं भिडइ जिहां साहस तिहां सिद्धि ॥१२९॥
इतो बीभत्सरूपाङ्गभृद्वेतालो सुराधमः ।
पुरगोपुरमार्गेणाचालीद्राजगृहं प्रति ॥१३०॥
राजशय्यागृहेऽभ्येत्य खड्गं लात्वा नवं नृपम् ।
हन्तुं सद्योऽग्निवेतालो दधावे रौद्ररूपभृत् ॥१३१॥
भूपोऽवग् वह्निवेताल ! शयनेऽहं स्थितोऽधुना ।
पूर्वं लाहि बलिं पश्चाद् गृहाण मम विग्रहम् ॥१३२॥
मनोऽभीष्टं बलिं प्रात्वाऽग्निवेतालो महीपतेः ।
वचोऽभयं निशम्येति दध्यावेषो हि सत्त्ववान् ॥१३३॥ यतः—
"देवोऽपि शङ्कते तेभ्यः कृत्वा विघ्नशतानि च ।
विघ्नैरस्खलितोत्साहाः प्रारब्धं न त्यजन्ति ये ॥१३४॥
सदाचारस्य धीरस्य धर्मतो दीर्घदर्शिनः ।
न्यायप्रवृत्तस्य सतः सन्तु वा यान्तु वा श्रियः ॥१३५॥
एकोऽहमसहायोऽहं कृशोहमपरिच्छदः ।
स्वप्नेऽप्येवंविधा चिन्ता मृगेन्द्रस्य न जायते" ॥१३६॥
श्रुत्वा धैर्यवचस्तस्य विक्रमार्कस्य सात्त्विकम् ।
भाग्यं प्रवर्द्धमानं च विज्ञायावधितस्तदा ॥१३७॥
प्राह तुष्टोऽग्निवेतालः पुरः स्थित्वा महीपतेः ।
कुरु राज्यं प्रजा न्यायमार्गेण शाधि सन्ततम् ॥१३८॥
एवंविधो बलिर्वर्यो मह्यं देयस्त्वया सदा ।
ओमित्युक्ते महीशेनाग्निवेतालस्तिरोदधे ॥१३९॥
प्रभाते मन्त्रिणो भूपं जीवन्तं वीक्ष्य हर्षिताः ।
नत्वा प्रोचुरहो सत्त्वाधिकं त्वं जयताच्चिरम् ॥१४०॥
पुरमध्ये ततो नानातलिकातोरणादिभिः ।
मन्त्रिणः कारयामासुः स्थाने स्थाने सदुत्सवम् ॥१४१॥
एवं द्वित्रिदिनान् कृत्वा बलिं भूपो जगौ निशि ।
भो वेताल ! कियद् ज्ञानं कियती शक्तिरस्ति ते ॥१४२॥

१ न वह्निवेताल ईश्विवान् क ।

वेतालः प्राह यदहं ध्यायामि तत्करोम्यहम्[1] ।
सर्वं जानामि सर्वत्र गच्छामि दूरतः स्वयम् ॥१४३॥
राजा प्राह कियन्मानं ममायुर्विद्यते वद ।
वेतालोऽवक् च वर्षाणां शतमायुः समस्ति ते ॥१४४॥
नृपोऽवक्[2] शून्ययुग्मं मे पतितं जीवितेऽत्र यत् ।
तन्नैव शोभते शून्यसंगवज्जल्पनाङ्गने ॥१४५॥ यतः—
"शून्यं गृहं वनं शून्यं शून्यं चैत्यं महत्पुनः ।
नृपशून्यं वलं नैव भाति शून्यमिव स्फुटम् ॥१४६॥
तेन त्वमग्निवेताल ! ममायुषः शरच्छतात् ।
एकस्य कर्षणात् क्षेपाच्छून्ययुग्ममपाकुरु ॥१४७॥
वेतालः प्राह केनापि देवेन दानवेन वा ।
तवायुः[3] शक्यते न्यूनाधिकं कर्त्तुं न जातुचित् ॥१४८॥
राजा प्राहाग्निवेताल ! त्वमहं स्वैः[4] सुखं चिरम् ।
ततोऽखिलाः[5] सुखिन्यश्च जनता अपि भूतले ॥१४९॥
भूपवाचं निशम्याथाग्निवेतालः प्रमोदितः ।
गतः स्थानं निजं भूमीपतिः सुष्वाप निर्भयम् ॥१५०॥
उन्निद्रोऽथ[6] प्रगे भूपः कृत्वा प्राभातिकीं क्रियाम् ।
दिनं नीत्वोत्सवै रात्रौ सुष्वाप शयनालये ॥१५१॥
अकृत्वा वलिमुर्व्वीशः द्वितीयेऽह्नि पुरान्तरे ।
सुप्तं वीक्ष्याग्निवेतालः क्रुद्धः प्राहेति भूपतिम् ॥१५२॥
रे रे दुष्ट महीपाल ! ममाकृत्वा वलिं पुरे ।
सुप्तं त्वामसिघातेन[7] हन्मि जागृहि सम्प्रति ॥१५३॥
श्रुत्वाऽकस्माद्[8] वचस्तस्य भूपोऽरुणविलोचनः ।
यमजिह्वासमं कोशादाकृष्यासिं जगाविति ॥१५४॥
रे रे दुष्ट ! न केनापि ममायुस्त्रोट्यते यदि ।
तदा वलिं कथं तुभ्यं दास्येऽहं भूरिशः सदा ॥१५५॥

---

१ —म्यथ क । २ नृप प्रोवाच मे शून्यं ख । ३ कदाचित् क्रियते न्यूनमधिकं वा तवायुपि क । ४ च ख । ५ तिष्ठावो राज्यतो नूनं विलसन्तौ महीतले ख । ६ प्रगे जागरितो भू० क । ७ ०मभिघाते० । ८ श्रुत्वा तस्य वचस्तादृग् समुत्थाय महीपतिः ख ।

शक्तिर्यद्यस्ति ते योद्धुमागच्छ मम सम्मुखम् ।
बहुकालान्मदीयोऽसिर्बाढमस्ति बुभुक्षितः ॥१५६॥
नो चेन्मुक्त्वा द्रुतं देहबलाहङ्कारमात्मनः ।
सेवां मम पदोपान्ते कुरु किङ्करवत्सदा ॥१५७॥
दृढसत्त्वेन भाग्येन भूपतेरग्निकस्तदा ।
तुष्टः प्राह वरं सद्यस्त्वं च मार्गय वाञ्छितम् ॥१५८॥ यतः—
"अमोघा वासरे विद्युत् अमोघं निशि गर्जितम् ।
नारीबालवचोऽमोघममोघं देवदर्शनम्" ॥१५९॥
राजाऽवग् यदि तुष्टोऽसि सत्त्वेन मम निर्जर ! ।
स्मराम्यहं यदा त्वां चागन्तव्यम् भवता तदा ॥१६०॥
मदुक्तं चाखिलं कार्यं कर्त्तव्यं भवता सदा ।
ममोपर्यसुर ! स्नेहो दातव्यः पितृवद् भृशम् ॥१६१॥
वेतालोऽवग् महीपाल ! निःशङ्कं राज्यमन्वहम् ।
कुर्वन् तिष्ठ सुखेन त्वं साहाय्यान्मरुतो मम ॥१६२॥

एतदुक्त्वा महीपालं नत्वा भक्त्याऽग्निकस्तदा ।
सन्तुष्टः सपदि स्थानं निजं स प्रययौ निशि ॥१६३॥
ततो नैशं महीपालो वृत्तान्तं तत्कृतं प्रगे ।
मन्त्रिणामग्रतः प्राह हृष्टा जाताश्च ते भृशम् ॥१६४॥
मुक्त्वाऽवधूतनेपथ्यं पूर्ववेषं ललौ नृपः ।
यावत् तावत्समेत्यत्र भट्टमात्रो नमन् मुदा ॥१६५॥
आलाप्य भूभुजा भट्टमात्रः स कुशलादि च ।
पृष्टः [3]प्राहाहमस्म्येष कुशली सकुटुम्बकः ॥१६६॥
स्मारं स्मारं तवानर्घ्यान् गुणौघांस्तादृशान् सदा ।
मिलितुं च समायातः पुरेऽत्र विक्रमार्यमन् ! ॥१६७॥
भट्टमात्रो जगौ मन्त्रीश्वराश्च श्रूयतामयम् ।
भूपतेर्गर्दभिल्लस्य सुतो विक्रमभानुमान् ॥१६८॥
श्रुत्वैतन्मन्त्रिणः सम्यगुपलक्ष्य च तत्क्षणात् ।
हर्षाद्वैतं ययुः पूर्णनिशाकरमिवाब्धयः ॥१६९॥

१ प्रपन्नवान् ख । २ इतोऽभ्येत्य नृपं भट्टमात्रो नत्वाऽग्रतः स्थितः ख । ३ प्राहाहमाकर्ण्य राज्यप्राप्ति तवागमम् ख ।

श्रीमती जननी श्रुत्वा समायातं[1] सुतं तदा।
यावद्बभूव रोमाञ्चकञ्चुकीभूतविग्रहा ॥१७०॥
तावदुत्थाय भूपालो विष्टरान्मातृवत्सलः।
यात्वा गृहे पदोपान्तं मातुर्भक्त्या ननाम सः ॥१७१॥
श्रीमती निजपुत्रस्य निशम्य चरितं तदा।
हृष्टाऽतीवाभवत्पुत्रराज्यप्राप्त्युदयाद् भृशम् ॥१७२॥ यतः—
"ते पुत्रा ये पितुर्भक्ताः स पिता यस्तु पोषकः।
तन्मित्रं यत्र विश्वासः सा भार्या यत्र निर्वृतिः ॥१७३॥
आस्तन्यपानाज्जननी पशूनामादारलम्भावधि चाधमानाम्।
आगेहकर्मावधि मध्यमानामाजीवितात्तीर्थमिवोत्तमानाम् ॥
शृण्वन्ति पितुरादेशं ते केऽपि विरला सुताः।
आदिष्टं ये तु कुर्वन्ति सन्ति ते यदि पञ्चषाः ॥१७५॥
एकेन वनवृक्षेण पुष्पितेन सुगन्धिना।
वासितं तद्वनं सर्वं सुपुत्रेण कुलं यथा" ॥१७६॥

मन्त्रिभिर्विक्रमादित्यनृपस्य सुमहोत्सवम्।
अकारि मुदितैः पट्टाभिषेको विपुलस्तदा ॥१७७॥ यतः—
"धर्मोऽयं धनवल्लभेषु धनदः कामार्थिनां कामदः,
सौभाग्यार्थिषु तत्प्रदः किमपरं पुत्रार्थिनां पुत्रदः।
राज्यार्थिष्वपि राज्यदः किमथवा नानाविकल्पैर्नृणां,
तत्किं यन्न ददाति किञ्च तनुते स्वर्गापवर्गावपि" ॥१७८॥
न्यायमार्गेण पृथिवीं पालयन् विक्रमार्यमा।
ददते सततं दानमर्थिभ्योऽभीप्सितं मुदा ॥१७९॥ यतः—
"केऽपि सहस्रम्भरयो लक्षंभरयश्च केऽपि केऽपि नराः।
नात्मम्भरयः केचित् फलमेतत्सुकृतदुष्कृतयोः" ॥१८०॥
प्रातः सदा पदौ मातुः प्रपूज्य कुसुमोत्करैः।
अन्यद्राज्यादिकं कार्यं चकारावनिनायकः ॥१८१॥ यतः—
"उपाध्यायाद्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितुर्माता गौरवेणातिरिच्यते" ॥१८२॥

1 समायान्तम् क।

अङ्ग–वङ्ग–तिलङ्गादिदेशप्रत्यर्थिभूपतीन् ।
ग्राहयामास भूपालः स्वीयाज्ञां विक्रमार्यमा ॥१८३॥
अन्येद्युः श्रीमती रोगव्याप्ता सद्धर्मतत्परा ।
वैद्यैश्चिकित्स्यमानाऽपि स्वर्ययौ जीवितक्षये ॥१८४॥ यतः–
"बद्धा येन दिनाधिपप्रभृतयो मञ्चस्य पादे ग्रहाः,
सर्वे येन कृताः कृताञ्जलिपुटाः शक्रादिदिक्पालकाः ।
लङ्का यस्य पुरी समुद्रपरिखा सोऽप्यायुषः संक्षये ।
कष्टं विष्टपकण्टको दशमुखो दैवाद् गतः पञ्चताम्" ॥
मृत्युकृत्यं नृपो मातुः कृत्वा शेषं यथाविधि ।
अमुञ्चन्तं शुचं प्रेक्ष्य बोधयन्तीति मन्त्रिणः ॥१८६॥ यतः–
"धर्म–शोक–भया–हार–निद्रा–काम–कलि–क्रुधः ।
यावन्मात्रा विधीयन्ते तावन्मात्रा भवन्त्यमी ॥१८७॥
तित्थयरा गणहारी सुरवइणो चक्किकेसवा रामा ।
संहरिआ हयविहिणा सेसेसु जीएसु का गु(ग)णणा ॥१८८॥
इत्यादि शोकहृद्वाक्यं श्रुत्वा भूपोऽथ मन्त्रिणः ।
शोकं त्यक्त्वा नयाद्राज्यं कुर्वन्नासीद् भृशं सुखी" ॥१८९॥
इतो लक्ष्मीपुरे वैरिसिंहस्य मेदिनीपतेः ।
पत्नी पद्माऽभिधाऽसूत सुतां पूर्वेव रोहिणीम् ॥१९१॥
वहुपुत्रोर्ध्वजातत्वात् हृष्टो भूमिपतिस्तदा ।
कृत्वा जन्मोत्सवं तस्याः कमलेत्यभिधां व्यधात् ॥१९२॥
वर्द्धमाना क्रमात्प्राप्त–यौवना कमला सुता ।
पित्रा[2] दत्ताऽन्यदा पाणौ गृहीता विक्रमांशुना ॥१९३॥
तनुश्रीजितकन्दर्प्पप्रिया शीलगुणान्विता ।
भूपस्य कमला जाता वल्लभा श्रीर्हरेरिव ॥१९४॥
अन्या अपि प्रिया बह्वीः परिणीय सदुत्सवम् ।
विक्रमादित्यभूपालः कुरुते राज्यमन्वहम् ॥१९५॥
भूपचित्तानुवर्त्तित्वात् शीलसौभाग्यसद्गुणैः ।
अतीव वल्लभा भूमिनाथस्य कमलाऽभवत् ॥१९६॥ यतः–

१ सूताङ्गजां क । २ परिणीताऽन्यदा पितृदत्ता विक्रमभानुना ख ।

“आदौ धर्मधुरा कुटुम्बनिचये क्षीणे च सा धारिणी ।
विश्वासे च सखी हिते च भगिनी लज्जावशाच्च स्नुषा ॥
व्याधौ शोकपरिवृते च जननी शय्यास्थिते कामिनी ।
त्रैलोक्येऽपि न विद्यते भुवि नृणां भार्यासमो बान्धवः” ॥
भट्टमात्रो महामात्यस्तस्यासीत्तीक्ष्णधीर्नयी ।
गम्भीरो लोभरहितो राजभक्तो गुणाम्बुधिः ॥१९८॥
साहसेन वशीभूतोऽग्निवेतालाभिधः सुरः ।
सर्वकार्येषु सान्निध्यं चकार तस्य भूपतेः ॥१९९॥
एतत्सर्वं महीशस्य राज्यादि क्रमतोऽभवत् ।
भट्टमात्राऽग्निवेतालौ सान्निध्यं[1] चक्रतुर्भृशम् ॥ यतः–
“पत्नी प्रेमवती सुतः सुविनयो भ्राता गुणालङ्कृतः,
स्निग्धो बन्धुजनः सखाऽतिचतुरो नित्यं प्रसन्नः प्रभुः ।
निर्लोभोऽनुचरः स्वबन्धुसुयतिप्रायोपभोग्यं धनं,
पुण्यानामुदयेन सन्ततमिदं कस्यापि सम्पद्यते” ॥२०१॥

विक्रमार्कोऽन्यदा भ्रातृविरहाद् दुःखितो भृशम् ।
प्रेष्य भृत्यान् द्रुतं भर्तृहरमानीतवान् पुरम् ॥२०२॥
प्रणम्य चरणौ तस्य कृशत्वं वीक्ष्य भूपतिः ।
दध्यावित्थमहो चित्ते दुष्करं विद्यते तपः ॥२०३॥ यतः–
“धन्यानां गिरिकन्दरे निवसतां ज्योतिः परं ध्यायता–
मानन्दाश्रुजलं पिबन्ति शकुना निःशङ्कमङ्केशयाः ।
अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासाद–वातीतट–
क्रीडाकानन–केलि–कौतुकजुषामायुः परिक्षीयते” ॥२०४॥
लगित्वा पदयोस्तस्य विक्रमार्को जगाविति ।
राज्यमङ्गीकुरुष्व त्वं प्रसद्य भगवन् ! मम ॥२०५॥
भर्तृहरो जगौ राज्यादिकलक्ष्मीं नरोत्तमाः ।
भुक्त्वा न[2] पुनरिच्छन्ति जातु गन्धनसर्प्पवत् ॥२०६॥
ततो भूपो जगावत्र स्थेयमत्र त्वया सदा ।
ऋषिः प्राह न युज्येत साधोः स्थातुं चिरं पुरे ॥२०७॥

---

१ सेवा च च० ख ।

२ नैव तदिच्छ० क ।

विक्रमार्को जगौ मामकीने गेहे त्वया सदा।
आहारोऽभ्येत्य लातव्यः प्रसद्य च ममोपरि ॥२०८॥
ऋषिः प्राह न साधूनामाहारमेकसद्मनि।
ग्रहीतुं युज्यते भूरिदोषाणां सम्भवान्नृप! ॥२०९॥
राजा प्राह तथाऽप्येकवारं मम निकेतने।
आगन्तव्यं त्वया लातुमाहारं दोषवर्जितम् ॥२१०॥
मानिते ऋषिणा भूपोऽभ्येत्य प्राह प्रियां प्रति।
ऋषेरस्य प्रदातव्य आहारो नित्यशस्त्वया ॥२११॥
ततो नृपगृहे गच्छन्नन्यदा स च तापसः।
वीक्ष्य स्नानपरां भूपगेहिनीं ववले द्रुतम् ॥२१२॥
समुत्थाय[2] तथाऽवस्था भूपपत्नी कृतत्वरा।
पृष्ठौ तस्य ऋषेर्गत्वा प्रोवाचेति स्फुटाक्षरम् ॥२१३॥
भवता विजितं बाह्येन्द्रियजालमशेषतः।
अन्तरङ्गं[3] पुनर्नैव जितमीदृग्विधानतः ॥२१४॥ यतः—
"शत्रौ मित्रे तृणे स्त्रैणे स्वर्णेऽश्मनि मणौ मृदि।
मोक्षे भवे भविष्यामि निर्विशेषमतिः कदा" ॥२१५॥
ध्यानमौनपरो भर्तृहराह्वस्तापसस्तदा।
बोधितुं पृथिवीपीठं जगामान्यत्र नीवृति ॥२१६॥

इति श्रीमत्तपागच्छनायकश्रीसोमसुन्दरसूरिपट्टालङ्कार—गच्छनायक—परमगुरुविद्यमानश्रीमुनिसुन्दरसूरिशिष्य—पण्डितशुभशीलगणिविरचिते श्रीविक्रमादित्यचरिते श्रीविक्रमादित्यराज्यप्राप्ति—भट्टमात्रा—ग्निवेताल-सेवकोत्पत्तिवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः समाप्तः ॥

१ कुर्वाणा सवनं भूपपत्नी वीक्ष्याचलद् वहि ख। २ तथाविधा समुत्थाय ख। ३ वर्गम० ख।

द्वितीयः सर्गः ।

अन्येद्युर्विक्रमादित्यः सभायां समुपाविशत् ।
पुरोधा–मन्त्रि–सामन्त–महेभ्यालीनतक्रमः ॥१॥
देहप्रमाणमादर्शं भासुरं सूर्यबिम्बवत् ।
दिवाकीर्त्तिर्दधौ कश्चिदेत्य भूमिपतेः पुरः ॥२॥
तन्मध्ये निखिलां देहच्छायां स्वीयां मनोरमाम् ।
विलोकयन्महीपालो यावच्चित्ते चमत्कृतः ॥३॥
भूपं चमत्कृतस्वान्तं जगौ प्रेक्ष्येति नापितः ।
राजन्! सुरूपमात्मीयं विलोक्याचिन्ति यत्त्वया ॥४॥
तदेते मन्त्रिणो विज्ञाः कथयन्त्वधुना चिरात् ।
नो चेदहं जडोऽप्यत्र कथयामि तवाग्रतः ॥५॥
पृष्टा भूमिभुजा सर्वेऽमात्या दध्युरिति स्फुटम् ।
वाक्सारोऽयं नरः प्रायो दृश्यते साम्प्रतं ननु ॥६॥

एवं परस्परं सर्वे ध्यात्वाऽमात्या जगुस्तदा ।
राजन्नयं महामानी पृच्छयतां म्लानिहेतवे ॥७॥ यतः—
"मानिनो हतदर्पस्य लाभोऽपि न सुखावहः ।
जीवतो मानमूलं हि माने म्लाने कुतः सुखम्" ॥८॥
भूपपृष्टो दिवाकीर्त्तिरिति जजल्प शिष्टवाग् ।
महीमध्येऽधुना कोपि मत्तुल्यो नास्ति मानवः ॥९॥
एवं गर्वं न कुर्वन्ति महान्तो मनुजाः कदा[1] ।
यतश्च विद्यते तारतम्यं सर्वशरीरिषु ॥१०॥
राजा प्राह दिवाकीर्त्ते! किं दृष्टं भवताऽद्भुतम् ।
तत्सर्वं मत्पुरः सद्यो भवान् जल्पतु निर्भयम् ॥११॥
नापितोऽवक् प्रतिष्ठान–पुरे स्वर्गिपुरोपमे ।
सालवाहनभूपालः शशास न्यायतो भुवम् ॥१२॥

१ सदा ख ।

तस्यासीद् विजयाभार्याभवा पुत्री सुकोमला।
प्रसरद्रूपलावण्यशालिनी सत्कलाकला ॥१३॥
जातिस्मृत्या भवान् सप्त पूर्वान् वीक्ष्य निजांश्च सा।
नृद्विष्टा लकुटैर्घ्नन्ती नरं दृष्टिपथागतम् ॥१४॥
नरनामश्रुतेः स्नानं कुर्वती सततं मुहुः।
इत्ते[1] सुखासनासीना नर्मणे बाह्यकानने ॥१५॥
(त्रिभिर्विशेषकम्)

सुकोमलातनुप्रोद्यद्दीप्तिपुञ्जपुरो नृप[2]!।
तव च त्वद्गृहीतीनां देहदीप्तिरणूयते ॥१६॥
तस्या बाह्यवनं सर्वऋतुपुष्पफलाढ्यकम्।
सच्छायं विद्यते मेरुवनवत्सुन्दरं श्रिया ॥१७॥
तत्रास्ति क्षीरवन्नीर-पूरपूर्णं सरोवरम्।
स्वर्णबद्धतलस्वर्ण-पालिसोपानसुन्दरम् ॥१८॥
तयो रक्षां करोति स्म मार्जारीरूपभृत्सुरी।
तृण-कचर-काष्ठानां पुञ्जापनयनादिना ॥१९॥
विक्रमोऽवग् महाभाग! सत्यं प्रोक्तं त्वयाऽधुना।
यतो हि विद्यते रूप-तारतम्यं त्वयोदितम् ॥२०॥
श्रुत्वैतद्दापयामास यावत्तस्मै नृपो धनम्।
लक्षैरप्रमितं कोशादानीय सचिवान्तिकात् ॥२१॥
तावत्स पुरुषः स्वर्णं सप्तकोटिमितं स्फुरत्।
प्रकटीचकार भूपस्य पुरस्ताच्चित्रकारकम् ॥२२॥
दृष्ट्वा सुन्दरै रत्नपुञ्जं भूपादयो जनाः।
चमत्कृता बभूवुस्ते गतगर्वाः स्वचेतसि ॥२३॥
अहमल्पधनो मूर्खो दध्यौ यावदिलेडिति[3]।
तावद्दिव्यतनुर्दीव्यत्-कुण्डलः स सुरोऽभवत् ॥२४॥
दीव्यद्रूपतनुं देवं भूपाद्या वीक्ष्य मन्त्रिणः।
चित्ते चमत्कृता बाढं बभूवुस्तत्र संसदि ॥२५॥

---

१ क्रीडायै ख। २ मनाक् ग अतुमाद् क-घ। ३ इलेट्-भूप.।

राज्ञा पृष्टं कुतः स्थानात् कस्त्वं किमर्थमीयिवान् ?।
स प्राहाहमगां स्वर्गाद्देवनत्यै[1] सुराचले॥२६॥
तत्र[2] ते साहसं गीयमानं श्रुत्वा खगाननात्।*
प्रणम्य च जिनान् भूमिं वीक्षितुं चलितोऽस्म्यहम्॥२७॥
प्रतिष्ठानपुरेऽपश्यं भूपपुत्रीं सुकोमलाम्।
स्मृत्वा तां वीक्षितुं भूमिपतेऽहं चलितस्ततः॥२८॥
त्वत्परीक्षाकृतेऽत्रागाम् देवोऽहं सुन्दराभिधः।
त्वत्साहसेन तुष्टोऽस्मि वरं मार्गय वाञ्छितम्॥२९॥
विक्रमोऽवग् न मे कार्यं केनचिद्वस्तुनाऽधुना।
यतोऽस्ति सदनं सर्वं समीहितरमान्वितम्॥३०॥
ततो देवो बलाद्दिव्यरूपकृद्गुटिकां तदा।
दत्त्वा हृष्टो महीशाय विद्युदिव तिरोदधे॥३१॥ यतः—
"सन्तुष्टानाममर्त्यानां दर्शनं जातमङ्गिनाम्।
अमोघं जायते नैव निशागर्जितवत्कदा" ॥३२॥
भट्टमात्रोऽन्यदा भूपं दीनं दृष्ट्वेति पृष्टवान्।
किमर्थं कुत्र ते स्वामिन्! बाधते ते मनो वद॥३३॥
विक्रमोऽवक् सुरोक्तायाः कन्यायाः सालभूभुजः।
पाणिग्रहं विना नास्ति जानीहि मम जीवितम्॥३४॥ यतः—
"अक्खाणसणी[3] कम्माण मोहणी तह वयाण बम्भवयं।
गुत्तीण य मणगुत्ती चउरो दुक्खेण जिप्पंति॥३५॥
दिवा पश्यन्ति नो घूका काको नक्तं न पश्यति।
अपूर्वः कोऽपि कामान्धो दिवा नक्तं न पश्यति" ॥३६॥
मन्त्री प्राह ततस्तस्या नृद्वेषिण्या हि योषितः।
तव पाणिग्रहोऽनर्थहेतोर्मूलं भविष्यति॥३७॥
नराणां मरणायैवंविधा स्युर्योषितः खलु।
न युज्यते विभो! पाणिग्रहं कर्तुं च[4] तेन ते॥३८॥

---

१ नुत्यै ख—ग। २ "नत्वा तत्र जिनान् भूमिमण्डलेऽहं भ्रमन् पुन।"—एतत्स्थानेऽयं श्लोकार्धः खपुस्तके।* "किन्नराणा मुखाद् गीयमानं तावकसाहसम्"। —अयमुत्तरार्धं खपुस्तकेऽधिकः। ३ अक्षाणामशनी (जिह्वा) कर्मणा मोहनीयं तथा व्रताना ब्रह्मचर्यम्। गुप्तीना मनोगुप्तिश्चत्वारि दु खेन जीयन्ते॥ ४ ततस्तव ख।

राजाऽऽह जीवितव्येन मदीयेन प्रयोजनम् ।
यदि स्याद्भवतस्तत्र क्रियतां यातुमुद्यमम् ॥३९॥
मन्त्री प्राह प्रतिष्ठानपूर्वासिपणयोपितः ।
स्वकीये मदना–कामकेल्यौ विज्ञे पणाङ्गने ॥४०॥
अत्रैव वसतस्ताभ्यां सह संकेतपूर्वकम् ।
गम्यते चेत्तदा कार्यं सिद्ध्यते नान्यथा पुनः ॥४१॥ (युग्मम्)
ते द्वे वेश्ये समाकार्य पृष्टे इति महीभुजा ।
प्रतिष्ठानपुरे काऽस्ति स्वीया नगरनायिका ? ॥४२॥
ताभ्यामुक्तं लसद्रूपा रूपश्रीर्मे सहोदरा ।
सुकोमला पुरो नृत्यं सन्ततं कुरुतेऽद्भुतम् ॥४३॥
राजा प्राह प्रतिष्ठानपुरे यास्याम्यहं द्रुतम् ।
तत्रास्माभिः पुरे वर्ये युवां सार्द्धं समेष्यथः ॥४४॥
ताभ्यामुक्तं समेष्यावो राजन् ! आवां समं त्वया ।
ततो राज्ञाऽग्निवेतालः स्मृतस्तत्रागमत् क्षणात् ॥४५॥

राज्यरक्षाकृते बुद्धिसागरं सचिवं तदा ।
मुक्त्वा तत्र प्रतिष्ठासुरभूद् विक्रमभूपतिः ॥४६॥
भट्टमात्राऽग्निवेतालपुरनारीद्वयान्वितः ।
चलितुं तुरगान्पञ्चानाययामास भूपतिः ॥४७॥
मिथो विचार्य पञ्चाश्वारूढाः पञ्चापि ते तदा ।
पश्यन्तोऽद्रिपुरग्रामवनानि चेलुरध्वनि ॥४८॥
प्रतिष्ठानपुरोद्यानागतान् पञ्च निरीक्ष्य तान् ।
उच्चैश्चकार मार्जारी फेत्कारत्रितयं तदा ॥४९॥
फेत्कारत्रयवृत्तान्तः पृष्टो भूमीभुजा तदा ।
महामात्रो जगावित्थं चतुर्णामग्रतः स्फुटम् ॥५०॥
आयास्यति महीपालपुत्री विद्वेषिणी नृषु ।
हनिष्यति नरान् स्त्रीश्चेत्येवं सूचयति स्म सा ॥५१॥
श्रुत्वैतद् विक्रमः प्राह स्पष्टं पण्याङ्गने प्रति ।
उपायो विद्यते कोऽत्र स्वात्मनो रक्षणेऽधुना ॥५२॥ यतः—

१ च तदा क–ग–घ । २ सिद्धिमद् ना० ख ।

"अमेध्यमध्ये कीटस्य सुरेन्द्रस्य सुरालये।
समाना जीविताकाङ्क्षा समं मृत्युभयं द्वयोः ॥५३॥
म्रियस्वेत्युच्यमानोऽपि देही भवति दुःखितः।
मार्यमाणः प्रहरणैर्दारुणैः स कथं भवेत्? ॥५४॥
जीवन् भद्राण्यवाप्नोति जीवन् धर्मं करोति च।
जीवन्नुपकृतिं कुर्यात् जीवतः किं न जायते?" ॥५५॥
वेश्याऽऽह वनितारूपं कृत्वा मत्स्वजनालयम्।
यामो यद्यविलम्बेन तदेष्टं ते भविष्यति ॥५६॥
ततः पञ्चापि स्त्रीरूपधराः पण्याङ्गनौकसि।
प्रययुर्यावता तावत् हृष्टा सैव पणाङ्गना ॥५७॥
सम्पृष्टकुशलोदन्ता हृष्टचित्ता पणाङ्गना।
अन्नपानादिना तासां व्यधाद् गौरवमादरात् ॥५८॥ यतः—
"पानीयस्य रसः शान्तः परान्नस्यादरो रसः।
आनुकूल्यं रसः स्त्रीणां मित्रस्यावञ्चनं रसः" ॥५९॥

ततः सुकोमलापार्श्वे यान्तीं वेश्यां च नर्त्तितुम्।
दृष्ट्वा ता वनिताः प्रोचुरिति प्रीतिपुरस्सरम् ॥६०॥
यदि पृच्छति भूपालपुत्री ह्युत्सूरकारणम्।
तदानीमिति जल्पेस्त्वमवन्तीतो महीपतेः ॥६१॥
आययुः पञ्च नर्त्तक्यो गीतगानविचक्षणाः।
कुर्वत्या गौरवं तासामुत्सूरोऽजनि तेन मे ॥६२॥ (युग्मम्)
प्रतिपद्येति रूपश्रीर्नर्त्तितुं पणभामिनी।
कृतत्वरा ययौ यावत्तावत्प्राहेति भूपसूः ॥६३॥
उत्सूरागमने हेतुं पृष्टेत्यऽवक् पणाङ्गना।
अवन्त्याः पञ्च भूपस्य नर्त्तक्योऽत्र समाययुः ॥६४॥
अन्नपानादिना तासां कुर्वत्या गौरवं मम।
उत्सूरोऽजनि तेनात्र क्षम्यतां स्वामिनि! द्रुतम् ॥६५॥
ततः सुकोमला प्राह त्वं पश्चाद् व्रज सम्प्रति।
ममाग्रे नर्त्तितुं शीघ्रं ता एव प्रेषयाधुना ॥६६॥

१ गम्यते क-ग।

"नवं नवं सदा गीतनृत्यग्रामपुरादिकम् ।
पश्यतो जायते पुंस आश्चर्यं मानसे भृशम्" ॥६७॥
सुकोमलोक्तमादायागतां रूपश्रियं गृहे ।
निरीक्ष्य विक्रमा प्राह किं त्वं तत्क्षणमागता ? ॥६८॥
रूपश्रीः प्राह भूपालपुत्री वक्तीति मन्मुखात् ।
अवन्तीपुरनर्त्तक्यो नृत्यन्त्वद्य पुरो मम ॥६९॥
श्रुत्वैतन्मदनाकामकेल्याविति प्रजल्पतुः ।
आवां नृत्यं करिष्यावो गीतादि कः करिष्यति ? ॥७०॥
ततोऽवग् विक्रमाऽहं तु गास्यामि मधुरस्वरम् ।
भट्टमात्रो वसन्तादिरागं रङ्गं करिष्यति ॥७१॥
वह्निवेतालिका वीणां विधिवद्वादयिष्यति ।
गम्यतां मदनाकामकेल्यौ तत्राशु तत्कृते ॥७२॥
दीव्यद्दुकूलवसनाभरणा स्वदेह-
च्छायाविनिर्जितसुरासुरनारीरूपाः ।
स्वच्छानघाम्बुविशदीकृतसर्वगात्राः
पश्चापि ता द्रुतमगुर्नृपपुत्रिकाग्रे ॥७३॥
सुकोमलारूपरमामनर्घ्यां निरीक्ष्य दध्यौ हृदि विक्रमेति ।
पातालकन्या किमु किन्नरी वा देवाङ्गना वा वसुधामियाय ॥७४॥
पश्चापि तास्तथारूपा दृष्ट्वा दध्यौ सुकोमला ।
यस्याग्रेऽमूः सदा नृत्यं कुर्वन्ति सोऽद्भुतो नृपः ॥७५॥
नर्त्तनं मदनाकामकेल्यौ यद्वत्प्रचक्रतुः ।
तद्वत् गीतादिकं चक्रुर्विक्रमाद्याः पणाङ्गनाः ॥७६॥
गीतमाकर्ण्य कर्णाप्यं विक्रमायाः सुकोमला ।
दध्यावियं दिवः कन्या किं वा पातालकन्यका ॥७७॥
सुकोमला जगौ चैवं विक्रमे ! वरवर्णिनि ।
किं त्वमेकाकिनी गीतं रात्रौ गास्यामि मत्पुरः ॥७८॥
विक्रमा प्राह गास्यामि रैलक्षं यदि दास्यसि ।
सुकोमला जगौ स्वर्णलक्षं दास्याम्यहं तव ॥७९॥

ततश्च विक्रमा दध्यावियं भूपतिपुत्रिका।
औदार्यधैर्यदाक्षिण्यादिकप्रोद्यद्गुणान्विता ॥८०॥
बहुप्रपञ्चकरणान्नृद्वेषं त्यक्ष्यति क्रमात्।
भविष्यति सदाचारा सतीयं राजनन्दिनी ॥८१॥
सत्कृतास्तास्तया वस्त्रादिना पण्याङ्गना गृहे।
गत्वा सायं च वैकालं चक्रुरद्धिर्गतश्रमाः[1] ॥८२॥
विक्रमार्को जगौ भट्टमात्रादीन् प्रति मोदितः।
सिद्धं समीहितं सर्वं गच्छतस्तत्र मेऽधुना ॥८३॥
दिव्यवेषाद्यलङ्कारा तत्रागाद् विक्रमा निशि।
यावत्तावन्महीपालपुत्री स्नानार्थमुत्थिता ॥८४॥
गत्वा दासी जगौ गातुं विक्रमाऽऽगात्सुकोमले।
राजसूः प्राह स्नानार्थं मत्पार्श्वे तां समानय ॥८५॥
पश्चादेत्य जगौ दासी विक्रमे! स्वामिनी मम।
त्वामाकारयति स्नानकृते तत्र कृतत्वरा ॥८६॥

विक्रमा च जगौ साभिज्ञानं कञ्चुकबन्धनम्।
स्वस्वामिनीकृतं छोटयिष्याम्यहं मनाग् यदि ॥८७॥
पञ्चाशत्कम्बिकाभिर्मां स्वामिनी तुदते तदा।
तेन स्नानकृते नैव वक्तव्यं साम्प्रतं त्वया ॥८८॥
गत्वा तत्रेति जल्प त्वं त्वत्स्वामिन्याः पुरो द्रुतम्।
यात्वा[2] दासी जगौ सद्यो विक्रमोक्तमशेषतः ॥८९॥
कृत्वा स्नानं समेत्यावग् भूपपुत्रीति तां प्रति।
आवामेकत्र भोक्ष्यावोऽधुनेत्येवं रुचिर्मम ॥९०॥
विक्रमाऽवग् द्वयोर्नार्योर्नैकत्राभाति भोजनम्।
जेमनं शोभते बाढं कुर्वतोः पुरुषस्त्रियोः ॥९१॥
भूपभूः प्राह नो नाम पुरुषस्य पुरो मम।
प्रवक्तव्यं मनाग् वत्से! भवत्या मदभीष्टया ॥९२॥
विधाय भोजनं राजपुत्री सद्यः सुकोमला।
गीतं श्रोतुं तदा चित्रशालायां समुपाविशत् ॥९३॥

[1] गतक्रमा. ग।

[2] गत्वा ग।

आलाप्यालाप्य गायन्त्या विक्रमाया मनोहरम् ।
सुकोमलां विना निद्रायितः परिकरोऽखिलः ॥९४॥
दृष्ट्वैतद् विक्रमा गीतं नृस्त्रीमिश्रं जगाविति ।
ईश्वरः सततं शोभां पार्वत्या लभतेऽद्भुताम् ॥९५॥
विष्णुः श्रिया हरिः शच्या रत्या प्रीत्या च मन्मथः ।
रोहिण्या चन्द्रमा रत्नादेव्या सहस्रदीधितिः ॥९६॥(युग्मम्)
"एकं ध्याननिमीलितं मुकुलितं चक्षुर्द्वितीयं पुनः,
पार्वत्या विपुले नितम्बफलके शृङ्गारभारालसम् ।
अन्यत्क्रूरविकृष्टचापमदनक्रोधानलोद्दीपितं,
शम्भोर्भिन्नरसं समाधिसमये नेत्रत्रयं पातु वः ॥९७॥
कृष्णात्प्रार्थय मेदिनीं धनपतेर्बीजं बलेर्लाङ्गलं,
प्रेतेशान् महिषो वृषश्च भवतः फालं त्रिशूलादपि ।
शक्ताऽहं तव भैक्षदानकरणे स्कन्दोऽपि गोरक्षणे,
दग्धाऽहं तव भिक्षया कुरु कृषिं गौर्या वचः पातु वः ॥९८॥

मेघश्याम श्रीमन्नेमे ! विद्युन्मालावन्मां मुक्त्वा ।
का ते शोभा भूभृच्छृङ्गे राजीमत्येत्युक्तो जीयाः" ॥९९॥
श्रुत्वैतद् भूपभूः प्राह गृह्णतीं पुरुपाभिधाम् ।
वारिताऽपि कथंकारं वक्षि तां दुखदां मम ॥१००॥
विक्रमा प्राह देवानां नाम गृह्णाम्यहं न तु ।
भूपभूः प्राह नामापि न ग्राह्यमसतां त्वया ॥१०१॥
सर्वजातिजजीवानां पुलिङ्गाह्वयधारिणाम् ।
विद्वेषो विद्यते मेऽत्र सप्तपूर्वभवस्मृतेः ॥१०२॥ यतः—
"यस्मिन् दृष्टे मनस्तोषो द्वेषश्च प्रलयं व्रजेत् ।
स विज्ञेयो मनुष्येण बान्धवः पूर्वजन्मनः" ॥१०३॥
यस्मिन् दृष्टे मनोद्वेषस्तोषश्च प्रलयं व्रजेत् ।
स विज्ञेयो मनुष्येण प्रत्यर्थी पूर्वजन्मनः ॥१०४॥
जजल्प विक्रमा ब्रूहि भवान् पूर्वान् सुकोमले ! ।
येनेदानीं मम ज्ञानव्यक्तिरपि भविष्यति ॥१०५॥

१ परिजनोऽ–ग ।

ततः सुकोमला पूर्वान् भवान् सप्त सविस्तरम्।
विक्रमायाः पुरः प्राह रञ्जिता तद्गुणालिभिः ॥१०६॥ तथाहि—
इतश्च सप्तमे पूर्वे भवे लक्ष्मीपुरेऽनघे।
आसीच्छ्रेष्ठी धनो नाम्ना तस्याहं श्रीमती प्रिया ॥१०७॥
तयोर्बभूव सत्स्वप्नसूचितस्तनयोऽन्यदा।
कृत्वा जन्मोत्सवं चक्रे कर्मणेत्यभिधां पिता ॥१०८॥
व्यवसायं वितन्वानो बभूव धनवान् धनः।
पुण्ये स्तोकं धनमपि व्ययति स्म तनौ न हि ॥१०९॥
मलक्लिन्नानि जीर्णानि वासांसि सकुटुम्बकः।
धनः परिदधत् स्नेहरिक्तं भुङ्क्ते स्म भोजनम् ॥११०॥ यतः—
"दृढतरनिबद्धमुष्टेः कोशनिषण्णस्य[2] सहजमलिनस्य।
कृपणस्य कृपाणस्य केवलमाकारतो भेदः ॥१११॥
सङ्ग्रहैकपरः प्राप समुद्रोऽपि रसातलम्।
दातारं जलदं पश्य समुद्रोपरि गर्जति" ॥११२॥
अन्यदा प्रियया प्रोक्तं स्वामिन्! स्वीयरमां खलु।
दीनोद्धरणधर्मेषु सफलीकुरु भावतः ॥११३॥ यतः—
"अधः क्षिपन्ति कृपणा वित्तं तत्र यियासवः।
सन्तश्च गुरुचैत्यादौ तदुच्चैः[3] फलकाङ्क्षिणः ॥११४॥
मा मंस्थाः क्षीयते वित्तं दीयमानं कदाचन।
कूपारामगवादीनां ददतामेव सम्पदः ॥११५॥
अस्ति जलं जलराशौ क्षारं तत्किं विधीयते तेन।
लघुरपि वरं स कूपो यत्राकण्ठं जनः पिबति" ॥११६॥
श्रुत्वैतद्वचनं पत्न्याः कृत्वा भ्रकुटिमञ्जसा।
उत्पाट्य लकुटं हन्तुं दधावे तां धनस्तदा ॥११७॥
मृत्युभीता तदा नंष्ट्वा गताऽहं पितृसद्मनि।
दारिद्र्यभावतो दुःखं कियत्कालं स्थिता पुनः ॥११८॥ यतः—

१ गाढतरनि—क। २ निषणस्य ख निष्पलस्य क।
३ समुच्चै ख।

पंथसमा नत्थि जरा खुहासमा वेअणा नत्थि ।
मरणसमं नत्थि भयं दारिद्दसमो वेरिओ नत्थि ॥११९॥
गतायां मयि तातस्य सदने धननैगमः ।
बभूव दुःखितो बाढं रन्धनादिकचिन्तया ॥१२०॥
तत्रागत्यान्यदा चाटुवचोभिः शठशेखरः ।
मां सन्मान्यानयामास धनः स्वीयनिकेतने ॥१२१॥ यतः—
"मुखं पद्मदलाकारं वाचा चन्दनशीतला ।
हृदयं कर्त्तरीतुल्यं त्रिविधं धूर्त्तलक्षणम्" ॥१२२॥
मयाऽन्येद्युर्जिनेन्द्रौकोगतया सखियुक्तया ।
एकलोहडिकस्यैव पुष्पैर(रा)र्चि जिनाधिपं(पः) ॥१२३॥
श्रुत्वा कस्यचिदास्यात् स एक लोहडिकव्ययम् ।
मूर्च्छितः पतितो भूमिपीठे निश्चेष्टकाष्ठवत् ॥१२४॥ यतः—
"न दातुं नोपभोक्तुं वा शक्नोति कृपणः श्रियम् ।
किन्तु स्पृशति हस्तेन नपुंसक इव स्त्रियम् ॥१२५॥
प्राप्तामपि न लभन्ते भोक्तुं भोगान् स्वकर्म्मभिः कृपणाः ।
किल भवति चञ्चुपाको द्राक्षापाकेषु काककुले" ॥१२६॥
शीतोपचारकरणैर्यावत् सज्जीकृतो मया ।
तावदेवं जगौ दन्तान् पिंपन् मां प्रति कर्कशम् ॥१२७॥
रे! रे! दुष्टाशये! पापे! व्ययन्तीति धनं मम ।
स्तोकैरेव दिनै रिक्तीकरिष्यति निजं गृहम् ॥१२८॥
कारुण्यादधुना मुक्ता जीवन्ती त्वं मया प्रिये!।
मनागपि धनं नैव त्वया देयं क्वचित्कदा ॥१२९॥
कर्मणस्तनयोऽन्येद्युर्द्रम्ममेकं जिनालये ।
व्ययित्वा सदने यावदाययौ मुदिताशयः ॥१३०॥
श्रुत्वैतन्मूर्च्छितः श्रेष्ठी पपात पृथिवीतले ।
शीतोपचारतः स्वस्थीकृतः प्राहेति कर्कशम् ॥१३१॥
रे! रे! कुपुत्र! मल्लक्ष्मीं व्ययन्नेवं त्वमन्वहम् ।
धान्यस्वर्णादिना रिक्तं मद्गेहं किं करिष्यसि ॥१३२॥

१ पथसमा नास्ति जरा क्षुत्समा वेदना नास्ति । मरणसमं नास्ति भयं दारिद्र्यसमो वैरिको नास्ति ॥

श्रुत्वैतत् तनयस्तातवचनं कर्कशं तदा।
मौनमाधाय रहसि व्ययति स घनं धनम् ॥१३३॥ यतः—
"कुम्भः परिमितमम्भः पिबति पयःकुम्भसम्भवोऽम्भोधिम्।
अतिरिच्यते सुजन्मा कश्चिज्जनकाद् निजेन चरितेन ॥१३४॥

शत्रुञ्जये युगादीशं नन्तुं सद्यो व्रजन् बहुः।
दृष्टो मया पुनः पृष्टो भर्त्ता यात्राभिलापया ॥१३५॥
स्वामिन्! शत्रुञ्जये नन्तुं जिनं यान्ति घना जनाः।
त्वमादिशाधुना देवनुत्यै शीघ्रं व्रजाम्यहम् ॥१३६॥
श्रुत्वैतद्वचनं प्राह रे! प्रिये! मत्कृतं पुरा।
विस्मृतं स्मारयिष्यामि कुशाघातादिताडनैः ॥१३७॥
ततोऽहं निशि निर्गत्य श्रीसङ्घसहिता रहः।
शत्रुञ्जयोज्जयन्तादियात्रां विस्तरतो व्यधाम् ॥१३८॥
शत्रुञ्जयगिरौ श्रीमद्गुरूणामाननान्मया।
तीर्थयात्राफलं ह्येवं श्रुतमेकाग्रचित्तया ॥१३९॥ यतः—

"आरम्भाणां निवृत्तिर्द्रविणसफलता सङ्घवात्सल्यमुच्चै–
नैर्मल्यं दर्शनस्य प्रणयिजनहितं जीर्णचैत्यादिकृत्यम्।
तीर्थौन्नत्यं प्रभावं (वः) जिनवचनकृतिस्तीर्थकृत्कर्मकृत्यं,
सिद्धेरासन्नभावः सुरनरपदवी तीर्थयात्राफलानि ॥१४०॥

स्पृष्ट्वा शत्रुञ्जयं तीर्थं नत्वा रैवतकाचलम्।
स्नात्वा गजपदे कुण्डे पुनर्जन्म न विद्यते ॥१४१॥
पल्योपमसहस्रं तु ध्यानाद् लक्षमभिग्रहात्।
दुष्कर्म क्षीयते मार्गे सागरोपमसञ्चितम् ॥१४२॥"
कृत्वा यात्रामहं यावदागां हृष्टा स्वसद्मनि।
तावद् दुष्टाशयः कान्तो मां दृष्ट्वाऽभूत्क्रुधाऽरुणः ॥१४३॥
उत्थितो भृकुटीं कृत्वा जल्पन्नेवं पुनः पुनः।
रे दुष्टे! मे धनं सर्वं व्ययित्वाऽत्रागताऽसि यत् ॥१४४॥
तत्फलं तत्क्षणात्तुभ्यं दर्शयिष्यामि साम्प्रतम्।
लगुडानां महाघातैर्यमदण्डसहोदरैः ॥१४५॥

जल्पन्नेवं महापापो लगुडैर्मां दृढं तथा ।
जघानाहं यथा प्राणैः सर्वैर्मुक्ता क्षणादपि ॥१४६॥
ततोऽहं विशदध्यानात् गतासुः षष्ठके भवे ।
चम्पापुर्यां मधुक्षोणिपतेः पद्मा सुताऽभवम् ॥१४७॥ यतः–
आर्त्ते तिर्यग्गतिस्तथा गतिरधो ध्याने तु रौद्रे सदा,
धर्मे देवगतिः शुभं च हि फलं शुक्ले तु जन्मक्षयः ।
तस्माद् व्याधिरुगन्तके हितकरे संसारनिस्तारके,
ध्याने शुक्लवरे रजःप्रमथने कुर्यात्प्रयत्नं बुधः ॥१४८॥"
वर्द्धमाना क्रमात्प्राप्ताऽखिलचारुकलागमा ।
अहं प्रापं मनोहारि यौवनं मोहनं नृणाम् ॥१४९॥
मधुना मेदिनीशेन जितशत्रोः सदुत्सवम् ।
दत्ता कल्याणमत्तेभतुरङ्गमणिसंयुता ॥१५०॥
जितशत्रुर्महीशो मां परिणीय सदुत्सवम् ।
गत्वा पुरे ददौ मह्यं सप्तभूमिगृहं महत् ॥१५१॥
ममोपर्यन्यदा लक्ष्मीपुरेशधनभूपतेः ।
सुता मदीयकान्तेन परिणिन्ये कलावती ॥१५२॥
अन्यदा श्रीपुराधीशो रत्नसारमहीपतिः ।
कुण्डले प्राभृतीचक्रे राज्ञे चन्द्रपुरेशितुः ॥१५३॥
मया मुहुर्मुहुर्बाढं कुण्डले मार्गिते अपि ।
जितशत्रुर्नवीनायै जायायै सादरं ददौ ॥१५४॥
"प्रायेण मनुजो वस्तु पराचीनं लसत्तमम् ।
मुक्त्वा वस्तुनि सततं नवीने कुरुते रुचिम् ॥१५५॥
स्वाधीने च कलत्रे नीचः परदारलम्पटो भवति ।
[1]संपूर्णेऽपि तटाके काकः कुम्भोदकं पिबति ॥१५६॥
अष्टापदादितीर्थेषु गच्छन्तं मेदिनीपतिम् ।
कलावतीयुतं वीक्ष्यागदमित्थं नृपाग्रतः ॥१५७॥
विवन्दिषा चिरं मेऽस्ति नन्तुमष्टापदेऽर्हताम् ।
तेन त्वां पूरय स्वामिन् ! सार्धं नयनतोऽधुना ॥१५८॥ यतः–

१ स्वच्छोदके क.

"कर्त्तुः स्वयं कारयितुः परेण, तुष्टेन [1]भावेन तथाऽनुमन्तुः ।
साहाय्यकर्त्तुश्च शुभाशुभेषु, तुल्यं फलं तत्त्वविदो वदन्ति ॥१५९॥
राजा निरुत्तरीकृत्य मां नव्यगृहिणीयुतः ।
अष्टापदादितीर्थेषु यात्रां कृत्वाऽऽगमद् गृहम् ॥१६०॥
नवीनान्यन्यदा सर्वाभरणानि महीपतिः ।
अकारयत्कलावत्या नचैकमपि मे तदा ॥१६१॥
सपत्न्या भूषणान्येक्ष्य प्रोक्तं पत्युः पुरो मया ।
ममापि कारय स्वामिन् ! भूषणानि नवानि च ॥१६२॥
श्रुत्वैतत् भृकुटीं कृत्वा जजल्पेति महीपतिः ।
एतत्त्वया न वक्तव्यं वाञ्छत्या हितमात्मनः ॥१६३॥
एवं कलावतीसक्तमानसेन महीभुजा ।
कदापि पूरितस्तस्मिन् भवे मे न मनोरथः ॥१६४॥ यतः—

"[2]हत्थी दम्मइ संवच्छरेण मासेण दम्मइ तुरगो ।
महिलाए किर पुरिसो दमए एगेण दिवसेण ॥१६५॥
जे नामंति न सीसं कस्स वि भुवणे वि जे महासुहडा ।
रागंधा गलिअबला रुलंति महिलाण चरणतले ॥१६६॥
मरणे वि दीणवयणं माणधरा जे नरा न जंपंति ।
ते वि हु कुणंति लल्लिं बालाणं नेहगहगहिला ॥१६७॥
हरिहरचउराणणचंदसूरखंदाइणो वि जे देवा ।
नारीण किंकरत्तं कुणंति धि द्धी विसयतण्हा" ॥१६८॥
आर्त्तध्यानपरैवाहम[3]पूर्णेच्छा मृता ततः ।
पञ्चमके भवेऽभूवं मृगी मलयपर्वते ॥१६९॥
आर्त्ते तिर्यग्गतिस्तथा गतिरधो ध्याने तु रौद्रे सदा,
धर्मे देवगतिः शुभं बत फलं शुक्ले तु जन्मक्षयः ।

---

१ चित्तेन क। २ हस्ती दम्यते संवत्सरेण मासेन दम्यते तुरग.। महिलया किल पुरुषो दम्यते–एकेन दिवसेन ॥ ये नामयन्ति न शीर्षं कस्यापि भुवनेऽपि ये महासुभटा । रागान्धा गलितबला लुठ्यन्ते महिलाना चरणतले ॥ मरणेऽपि दीनवचनं मानधरा ये नरा न जल्पन्ति । तेऽपि खलु करोति लल्लिं (चाटु) बालानां स्नेहग्रहग्रहिला: ॥ हरिहरिचतुराननचन्द्रसूरस्कन्दादयोऽपि ये देवा.। नारीणा किंकरत्वं कुर्वन्ति धिक् धिक् विषयतृष्णा ॥ ३ मपूर्णेच्छा ख ।

तस्माद् व्याधिरुगन्तके हितकरे संसारनिस्तारके,
ध्याने शुक्लवरे रजः प्रमथने कुर्यात् प्रयत्नं बुधः ॥१७०॥
तत्राप्येको मृगो मेऽभूत् पतिर्दुष्टतराशयः ।
यद् यदहं तदाऽवोचं तत्तदङ्गीचकार न ॥१७१॥ यतः—
"[1]जं चिअ विहिणा लिहिअं तं चिअ परिणमइ सयललोअस्स ।
इअ जाणेविणु धीरा विहुरे वि न कायरा हुंति ॥१७२॥"
चरन्ती विपिनेऽन्येद्युर्निरीक्ष्य मुनिमेककम् ।
शान्तं दान्तं तदाऽभूवं जातिस्मृत्या युता चिरात् ॥१७३॥
ततोऽहं भावतो नित्यं वितन्वाना नुतिं मुनेः ।
अवोचमिति मे पत्युः कुरङ्गस्य पुरोऽन्यदा ॥१७४॥
स्वामिन् ! अस्मिन्वने साधुरेकस्तिष्ठति शान्तिमान् ।
तस्य प्रणामतः पापं याति पूर्वभवार्जितम् ॥१७५॥
"साधूनां दर्शनं श्रेष्ठं तीर्थभूता हि साधवः ।
तीर्थं पुनाति कालेन सद्यः साधुसमागमः ॥"१७६॥
तेन त्वं व्रज तत्रैव वन्द्यते स मुनीश्वरः ।
इत्युक्तः स क्रुधा प्राह रक्तनेत्रश्च मां प्रति ॥१७७॥
रे ! दुष्टे ! पण्डितंमन्ये एवं मम पुरोऽधुना ।
उपदेशं ददन्ती(दाना) त्वं निर्लज्जे किं न लज्जसे ? ॥१७८॥
इत्युक्त्वाऽहं हता तुर्यभवे तेन दुरात्मना ।
सुध्यानात्प्रथमे स्वर्गेऽभूवं देवी विभावसोः ॥१७९॥
[2]ठाणं उच्चुच्चयरं मज्झं हीणं च हीणतरगं वा ।
जेण जहिं गंतव्वं चिट्ठा वि से तारिसी होइ ॥१८०॥
विभावसुः सुरः सोऽपि पूर्वपत्नीवचोरतः ।
मदीयोक्तं मनाग् नैव मन्यतेऽत्यन्तदुष्टहृत् ॥१८१ ॥यतः—

१ यदेव विधिना लिखितं तदेव परिणमति सकललोकस्य । इति ज्ञात्वा धीरा विधुरेऽपि न कातरा भवन्ति ॥

२ स्थानमुच्चोच्चतरं मध्यं हीनं च हीनतरकं वा । येन यत्र गन्तव्यं चेष्टाऽपि तस्य तादृशी भवति ॥

"[1]ईसा–विसाय–मय–कोह–माया–लोभेहिं एवमाईहिं।
देवा वि संमभिभूआ तेसिं कुत्तो सुहं नाम" ॥१८२॥
मयोक्तमन्यदा स्वामिन्! ममास्ति शाश्वतार्हतः।
नन्तुमिच्छा च तेन त्वं तां च पूरय सम्प्रति ॥१८३॥
तेनेति धर्षिता वाढमहं दुष्टात्मना तदा।
अतः परं न वक्तव्यं भवत्यैवं मया सह ॥१८४॥
ततोऽहं मौनमाधाय निन्दन्ती कर्मणः स्थितिम्।
स्वर्गायुर्निखिलं पूर्ण्यकार्यं दुःखेन पूरिता ॥१८५॥ यतः–
"जं विहि करइ स होइ होइ न जं जीअ चिंतवइ।
ईमई चिंति पडेइ आहट दोहट केवला" ॥१८६॥
ततश्च्युत्वा तृतीयेऽहं भवे पद्मपुरे पुरे।
मुकुन्दाह्वद्विजप्रीतिपत्नीगर्भे समागमम् ॥१८७॥
प्रीतिः पूर्णदिनेऽसूत सुखेन तनयां तदा।
कृत्वा जन्मोत्सवं पित्रा दत्तं नाम मनोरमा ॥१८८॥
क्रमेण वर्द्धमानाऽहं पाठिताः सकलाः कलाः।
तथाऽभूवं लसद्धर्म्मकर्मशास्त्रविशारदा ॥१८९॥ यतः–
[2]जाएण जीवलोए दो चेव नरेण सिक्खिअव्वा।
कम्मेण जेण जीवइ जेण मओ सुग्गइं जाइ ॥१९०॥
शेषाभिधपुरे देवशर्म्मणश्च द्विजन्मनः।
सदुत्सवमहं दत्ता तातेन हितकाङ्क्षिणा ॥१९१॥
निरन्तरं द्विजः सोऽपि रात्रिभोजनतत्परः।
स्नानादिना जलं भूरि क्षिपन् हन्ति च पूतरान् ॥१९२॥
संहारं कुरुते [3]कुन्थुकीटिकादितनूमताम्।
भूयो भूरिपयःपूरप्लावितावनिमण्डलात् ॥१९३॥
मयोक्तं कान्त! सन्धानानन्तकायादिभक्षणात्।

१ इर्ष्याविपादमदक्रोधमायालोभैरेवमादिभि। देवा अपि समभिभूतास्तेषा कुत. सुख नाम॥
२ जातेन जीवलोके द्वे एव नरेण शिक्षितव्ये। कर्मणा येन जीवति येन मृतो सुगति याति॥ ३ कम्थु–क।

जीवहिंसाविधानाच्च लभन्ते कुगतिं जनाः ॥१९४॥
यतः पुराणेऽप्युक्तम्—
"कूपेषु अधमं स्नानं वापीस्नानं च मध्यमम्।
तटाके वर्जयेत् स्नानं नद्यां स्नानं न शोभनम् ॥१९५॥
गृहे चैवोत्तमं स्नानं जलं चैव च शोधितम्।
तथा त्वं पाण्डवश्रेष्ठ! गृहे स्नानं समाचर ॥१९६॥
आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा, सत्यावहा शीलतटा दयोर्मिः।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र! न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ॥
चित्तम(स्था)न्तर्गतं पापं तीर्थस्नानैर्न शुद्ध्यति।
शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचि ॥१९८॥
संवत्सरेण यत्पापं कैवर्तस्य च जायते।
एकाहेन तदाप्नोति अपूतजलसङ्ग्रही ॥१९९॥
दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतं वदेद्वाक्यं मनःपूतं समाचरेत् ॥२००॥

चत्वारो नरकद्वारा प्रथमं रात्रिभोजनम्।
परस्त्रीगमनं चैवं सन्धानानन्तकायिके ॥२०१॥
पुत्रमांसं वरं भुक्तं न तु मूलकभक्षणम्।
भक्षणान्नरकं गच्छेद् वर्जनात् स्वर्गमाप्नुयात् ॥२०२॥
अस्तंगते दिवानाथे आपो रुधिरमुच्यते।
अन्नं मांससमं प्रोक्तं मार्कण्डेन महर्षिणा" ॥२०३॥ इत्यादि।
एवमुक्तोऽपि बहुशो दुष्टात्मा जीवमर्दनात्।
विरराम मनाग् नैवाभव्यजीव इव द्विजः ॥२०४॥ यतः—
"वज्रलेपस्य मूर्खस्य नारीणां मर्कटस्य च।
एकाग्रहस्तु[1] मीनानां नीलीमद्यपयोस्तथा" ॥२०५॥
अन्येद्युः कुत्रचित् ग्रामादानीता शाटिकाऽद्भुता।
मार्गितापि भृशं नैव तेन मह्यं ददे तदा ॥२०६॥
एवं दुरात्मनाऽपूरि तेन मे न मनोरथः।
यावज्जीवं ततो जाता दुःखयुक्ताऽहमन्वहम् ॥२०७॥ यतः—

१ एकग्रहसुमीनाना क एको ग्रहस्तु ख।

"चिन्तातुराणां न सुखं न निद्रा, क्षुधातुराणां न वपुर्न तेजः।
अर्थातुराणां न सुहृन्न वन्धुः, कामातुराणां न भयं न लज्जा ॥
दुर्ध्यानेन ततो मृत्वा मलयाचलकानने।
शुकी भार्या शुकस्याहं द्वितीयतो भवेऽभवम् ॥२०९॥
मयोक्तं प्रसवानेहा वर्त्तते कान्त! साम्प्रतम्।
तेन नीडं क्वचिद् वृक्षे क्रियते सुखहेतवे ॥२१०॥
एवमुक्तोऽपि नो वक्ति सोऽलसो यावता भृशम्।
ततो मया कृतं नीडं यत्नतश्च शमीतरौ ॥२११॥
तत्रावयोः क्रमाज्जातमपत्यद्वितयं वने।
आनीयाहं फलाद्यम्बु वर्द्धयामासिवान् तदा ॥२१२॥
एकदोक्तं मया स्वामिन्! भक्ष्यं किञ्चित्समानय।
वहूक्तोऽप्यलसः सोऽपि जगाम नैव कुत्रचित् ॥२१३॥
अत्रान्तरे वने वंशघर्षोत्पन्नविभावसुः।
दहन् वृक्षान् तृणादीनि नीडासन्नं समाययौ ॥२१४॥

मया प्रोक्तमयं ज्वालाजटालो दहनोऽभितः।
आयात्यत्र ततोऽपत्यमेकैकं गृह्यते करे ॥२१५॥
एवमुक्तोऽपि वहुशः स शुकोऽलसशेखरः।
मौनमाधाय नोत्तस्थौ तावत्तत्रागतोऽनलः ॥२१६॥
उत्थाय स शुको दूरं दुष्टात्मा जग्मिवान् क्वचित्।
गृह्णानाऽहं करेऽपत्ये दग्धा तेन दवाग्निना ॥२१७॥ यतः—
"किं करोति नरः प्राज्ञः प्रेर्यमाणः स्वकर्म्मभिः।
प्रायेण हि मनुष्याणां बुद्धिः कर्मानुसारिणी" ॥२१८॥
ततः पूर्वार्जितश्रेयः—प्रभावादिह सं(सद्)गतौ।
सालवाहनभूपस्य सुताऽभूवं सुकोमला ॥२१९॥
श्रीयुगादिजिनागारे चित्रस्थं विशदं शुकम्।
यत्नतो मम पश्यन्त्या जातिस्मृतिरजायत ॥२२०॥
ततः पूर्वभवान् सप्त जातिस्मृत्याऽवगम्य च।
जाताऽहं द्वेषिणी पुंसु साम्प्रतं विक्रमाङ्गने! ॥२२१॥ यतः—

"सुख-दुःख-मद-द्वेपा-हंकार-सरलतादयः।
सर्वं शिष्टमशिष्टं च जायते पूर्वकर्म्मतः" ॥२२२॥
विक्रमाऽवग् महाभागे! सत्यमेतत्त्वयोदितम्।
यो यस्मिन् कुरुते द्वेपं द्वेष्यस्तस्य स जायते ॥२२३॥

तत्र श्रवःसुखकरं विनिशम्य तस्याः,
गीतप्रपञ्चमखिलं नरनाथपुत्री।
हृष्टा वितीर्य मणिमेकमनन्तमूल्यं,
सूर्योदये सपदि तां विससर्ज नारीम् ॥२२४॥

रत्नं विवाहसामग्रीसत्यंकारसहोदयम्।
लात्वा हृष्टा निजे स्थाने विक्रमा समुपागमत् ॥२२५॥ यतः–
सेत्स्यमानं निजं कार्यं मानसेप्सितमञ्जसा।
मोदते मनुजो वीक्ष्य मयूरौघ इवाम्बुदम् ॥२२६॥
पुरतो भट्टमात्राऽग्निवेतालयोः स्वचेष्टितम्।
उक्त्वा च विक्रमः प्राह गम्यते साम्प्रतं वने ॥२२७॥

कृत्वा तत्रादनं वेश्यां मुत्कलाप्य च ते ततः।
निर्गत्य बहिरुद्यानेऽश्वारूढा ययुरञ्जसा ॥२२८॥
गुटिकायाः प्रभावेन नरीभूतास्ततस्त्रयः।
विक्रमार्कोऽग्निवेतालं प्रति प्राहेति रङ्गतः ॥२२९॥
अवन्त्यां घोटकान् पञ्च मुक्त्वा च द्वे पणाङ्गने।
कमलापार्श्वतो दिव्यं शृङ्गारत्रयमानय ॥२३०॥ यतः–
रुचिराडम्बरात्कार्यं सर्वं सिद्ध्यति देहिनाम्।
इत्युक्तो विक्रमार्केणाचालीद् वेतालकासुरः ॥२३१॥ यतः–
"सती पत्युः प्रभोः पत्तिः गुरोः शिष्यः पितुः सुतः।
आदेशे संशयं कुर्वन् खण्डयत्यात्मनो व्रतम् ॥"२३२॥
न विना पार्थिवो भृत्यैर्न भृत्याः पार्थिवं विना।
तेषां यो व्यवहारोऽयं परस्परनिबन्धनम् ॥२३३॥
युद्धकालेऽग्रगो यः स्यात् सदा पृष्ठानुगः पुरे।
प्रभोर्द्वाराश्रितो हर्म्ये स भवेद्राजवल्लभः ॥२३४॥

तत्र मुक्त्वाऽग्निवेतालः पञ्चाश्वान् द्वे पणाङ्गने ।
भृङ्गारत्रितयं दिव्यमानीयादात् महीपतेः ॥२३५॥
ततोऽवग् विक्रमादित्यः कृत्यं न मायया विना ।
सिद्ध्यतीति जिनाधीशसदने गम्यतेऽधुना ॥२३६॥

सालवाहनभूपालो जिनभक्तोऽस्ति सन्ततम् ।
तेन जिनाधिपस्याग्रे नृत्यं सद्यः करिष्यते ॥२३७॥
सालवाहनभूपालकारिते ऋषभप्रभोः ।
प्रासादे विक्रमार्कोऽगात् ताभ्यां युक्तो दिनात्यये ॥२३८॥
भूयसीं भक्तिगर्भेण गीतस्तुत्यादिना निशि
भावनां भावयामास विक्रमार्को भवच्छिदम् ॥२३९॥ यतः—

"दारिद्र्यनाशनं दानं शीलं दुर्गतिनाशनम् ।
अज्ञाननाशिनी प्रज्ञा भावना भवनाशिनी ॥२४०॥
सुप्तोत्थायोदये भानोः प्राहेति विक्रमार्यमा ।
सर्वज्ञपुरतो नृत्यं करिष्यामोऽधुना वयम् ॥२४१॥

यदा वामशयाङ्गुष्ठं चालयामि तदा द्रुतम् ।
गच्छेस्त्वमग्निवेताल ! कृत्वाऽऽवामंसयोश्च खे ॥२४२॥
वामहस्ताङ्गुलीसंज्ञां करिष्याम्यहमम्बरात् ।
तदोत्तीर्य विधातव्यं पुनर्नृत्यं जिनाग्रतः ॥२४३॥

एवमुक्त्वा त्रिभिर्नृत्यमर्हतोऽग्रे च मण्डितम् ।
यावत्तावत्समायातः पूजाकारोऽर्हतोऽर्चितुम् ॥२४४॥
देवरूपाधिकश्रीकान् तान् दृष्ट्वा नृत्यतत्परान् ।
दध्याविति तदा पूजाकारश्चित्ते चमत्कृतः ॥२४५॥
किमेते निर्जराः किं वा शिष्टा विद्याधराः पुनः ।
स्तोतुं जिनं च पातालकुमाराः किं समागताः ? ॥२४६॥

पूजाकारो नृपोपान्ते गत्वैवमूचिवान् द्रुतम् ।
राजन् ! अद्य जिनागारे दिव्यरूपास्त्रयः सुराः ॥२४७॥
कुर्वाणा नर्त्तनं सन्ति नानागीतादिभङ्गिभिः ।
विलोक्यतां द्रुतं तेन तत्र गत्वा महीपते ! ॥२४८॥

निशम्यैतन्महीपालः प्रहृष्टस्तान्निरीक्षितुम् ।
ययौ सारपरीवारो युगादिजिनमन्दिरे ॥२४९॥
यावत्पश्यति भूपालस्तावत्ते च त्रयः सुराः ।
उत्प्लुत्य पूर्वसङ्केतात् प्रययुः सुरवर्त्मनि ॥२५०॥
राजा प्रोवाच भो देवा ! अकृत्वा नर्त्तनं यदि ।
गमिष्यथ तदा हत्यां करिष्येऽहं निजात्मनः ॥२५१॥
भूपालयाचनात्तेऽपि समुत्तीर्य नभोऽङ्गणात् ।
चक्रुर्नृत्यं जगज्जन्तुचमत्कृतिकरं द्रुतम् ॥२५२॥
तादृशं नृत्यमालोक्य प्रोवाचेति महीपतिः ।
एकदा च सभामध्ये यूयं नृत्यं करिष्यथ ॥२५३॥
ततः सर्वत्र मे कीर्तिपूरः प्रसरति क्षितौ ।
सालवाहनभूपालसभायां ननृतुः सुराः ॥२५४॥ यतः-
"अधमा धनमिच्छन्ति धनमानौ च मध्यमाः ।
उत्तमा मानमिच्छन्ति मानो हि महतां धनम् ॥२५५॥
देवदानवगन्धर्वमेदिनीपतिमानवाः ।
त्रैलोक्यव्यापिकां कीर्तिमिच्छन्ति धवलां सदा ॥२५६॥
के यूयमिति भूपोक्ते वयं विद्याधराः खगाः ।
जिनेन्द्रपुरतो नृत्यं कुर्मोऽन्यत्र न कर्हिचित् ॥२५७॥ यतः
"सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः ।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः ॥२५८॥
ध्यातव्योऽयमुपास्योऽयमयं शरणमिष्यताम् ।
अस्यैव प्रतिपत्तव्यं शासनं चेतनाऽस्ति चेत् ॥२५९॥
वीतरागं स्मरन् योगी वीतरागत्वमश्नुते ।
सरागं ध्यायतस्तस्य सरागत्वं तु निश्चितम् ॥२६०॥
येन येन हि भावेन युज्यते यन्त्रवाहकः ।
तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणी यथा (र्णियथा)" ॥२६१॥
सालवाहनभूपोऽवग् लोकानां सन्ततेः पुरः ।
नृत्यं वः कुर्वतां दोषो लगिष्यति मनाग् नहि ॥२६२॥

यूयं देवभियाऽस्माकं पुरो नृत्यं करिष्यथ ।
तदा च भवतां दोषो लगिष्यति ननु स्फुटम् ॥२६३॥
ततो विक्रमविद्याभृत् प्राहेति भूपतेः पुरः ।
अस्माकं वनितारूपे दृष्टे प्राणात्ययो भवेत् ॥२६४॥
तेनेदं नहि वक्तव्यं साम्प्रतं भवता नृप ! ।
यदीच्छा स्यात्तदाऽत्रैव प्रातर्नृत्यं करिष्यते ॥२६५॥
भूपोऽवग् निखिला नारीः क्षेप्स्यामि गृहमध्यतः ।
तत्र नृत्यकृते यूयं प्राक् प्रसन्ना भविष्यथ ॥२६६॥
वादयित्वा ततो भूपः पटहं निखिले पुरे ।
स्थापयामास गेहान्तः राज्ञः सर्वा मृगेक्षणाः ॥२६७॥
तथा कृते महीशेन नृत्यतस्तान् सुरान् पथि ।
नारीक्षिप्तिनिशम्येति पप्रच्छ भूपभूः सखीम् ॥२६८॥
हे सखे (खि !) किं महीपालः कोष्ठागारे स्त्रियोऽखिलाः ।
क्षेपयामास के नृत्यं करिष्यन्ति सभान्तरे ॥२६९॥

सख्याहामी सुरा वामभ्रुवां रूपं मनागपि ।
न पश्यन्ति नृपास्थायां तैश्च नृत्यं करिष्यते ॥२७०॥
ततः प्रागवनीपालपुत्री पुंवेषधारिणी ।
नृत्यं द्रष्टुं द्रुतं गत्वा नृपास्थायामुपाविशत् ॥२७१॥
नृत्यन्तस्ते सुरा दिव्यरूपवेषादिधारिणः ।
सालवाहनभूपालयुतास्तत्राययुः क्रमात् ॥२७२॥
चमत्कारकरं नृत्यं तैर्देवैर्विहितं तथा ।
यथा भूपादयो लोका जातास्तल्लीनमानसाः ॥२७३॥
भूपोऽवग् भोः ! सुरा ! किञ्चित् युष्मान् प्रक्ष्याम्यहं मनाक् ।
यदि यूयं सहिष्यध्वे मदुक्तं कटु कर्णयोः ॥२७४॥
विद्याभृद् विक्रमः प्राह राजन् ! यद् रोचते तव ।
वक्षि तत्त्वं गताशङ्कः सहिष्येऽहं मुमुक्षुवत् ॥२७५॥
राजा प्रोवाच सर्वेषां देवानां सन्ति योषितः ।
भवतोऽभूत्कथं रोषः स्त्रीषु तज्जल्प कारणम् ॥२७६॥

विक्रमाह्वः सुरः प्राह पापिष्ठा दुष्टचेतसः ।
निर्लज्जाश्च दुराचारा निर्घृणाः सन्ति योषितः ॥२७७॥ यतः—

"सम्मोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति
निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति ।
एताः प्रविश्य सदयं हृदयं नराणां
किं नाम वामनयना न समाचरन्ति ॥२७८॥

अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता ।
निःस्नेहनिर्दयत्वे च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः" ॥२७९॥
सालवाहनभूपालः प्राहैवं त्वं कथं वद ।
विक्रमोऽवक् ततः स्पष्टमिति भूमीपतेः पुरः ॥२८०॥
सुकोमलोदितं सर्वं विक्रमार्को व्यतिक्रमात् ।
जजल्पेति तदा सद्यो भूपतेः पुरतः स्फुटम् ॥२८१॥
इतश्च सप्तमे पूर्वे भवे लक्ष्मीपुरेऽनघे ।
आसीच्छ्रेष्ठी धनो नाम्ना श्रीमती गृहिणी पुनः ॥२८२॥
तयोर्बभूव सत्स्वप्नसूचितो नन्दनोऽन्यदा ।
कृत्वा जन्मोत्सवं चक्रे कर्मणेत्यभिधामहम् ॥२८३॥
व्यवसायं वितन्वानो बभूव धनवान् धनः ।
अर्थिभ्यश्च ददौ दानं भूयिष्ठं धर्मतत्परः ॥२८४॥
धर्मपराङ्मुखा पत्नी श्रीमती मम दुष्टवाग् ।
जल्पन्ती सततं यत्तत् मदुक्तं नाकरिष्यत ॥२८५॥
अर्थिभ्यो न ददौ दानं प्रेरिताऽपि मया प्रिया ।
भुक्तं न सुन्दरं क्वापि पर्वण्यन्यत्र का कथा ॥२८६॥

इत्यादि सुकोमलोक्तां सप्तमभवकथां
विक्रमविद्याधरो व्यतिरेकेण जजल्प ।

चम्पापुर्यां भवेऽभूवं षष्ठे च जितशत्रुराट् ।
पद्माह्वा गृहिणी तत्र प्रतिकूलाऽभवन्मम ॥२८७॥

अत्रापि षष्ठभवकथां व्यतिरेकेण
विक्रमविद्याधरो जगौ भूपतेः पुरः ।

पञ्चमेऽपि भवेऽभूवं मृगोऽहं मलयाचले
मृगी पत्न्यभवत्तत्र प्रतिकूला सदा मम ॥२८८॥

अत्रापि मृगभवसम्बन्धिनीं सुकोमलोक्तां (कथां) विक्रमार्कविद्याधरो व्यतिरेकेण प्राह।

[अत्रापि चतुर्थभवकथां देवभवसंबन्धिनीं सुकोमलोक्तां विक्रमार्को व्यतिरेकेण जगाद]

तृतीये देवशर्माह्वो द्विजः पद्मपुरेऽभवम्।
मनोरमाऽभिधा तत्र प्रतिकूला प्रियाऽभवत् ॥२८९॥

अत्रापि तृतीयभवे द्विजसम्बन्धिनीं कथां सुकोमलोक्तां व्यतिरेकेण जजल्प।

द्वितीये च भवे नूनं कीरो मलयपर्वते।
तत्राप्यजनि मे पत्नी प्रतिकूला सदा शठा ॥२९०॥
मयोक्तं प्रसवानेहा वर्त्तते पत्नि! तेऽधुना।
तेन नीडं क्वचिद् वृक्षे क्रियते सुखहेतवे ॥२९१॥
एवमुक्ताऽपि नावादीत् साऽलसा यावता भृशम्।
ततो मया कृतं नीडं यत्नतः शमीपादपे ॥२९२॥
तत्रावयोः क्रमाज्जातमपत्यद्वितयं च यत्।
आनीयाहं फलाद्यम्बु वर्द्धयामासिवांस्तदा[1] ॥२९३॥
एकदोक्तं मया पत्नि! भक्ष्यं किञ्चिदिहानय।
बहूक्ताऽप्यलसा सा[2] च नैवागात् कुत्रचित्तदा ॥२९४॥
अत्रान्तरे वने वंशघर्षोत्पन्नविभावसुः।
दहन् वृक्षतृणादीनि नीडपार्श्वे समाययौ ॥२९५॥
मया प्रोक्तमयं ज्वालाजटालो[3] दहनोऽभितः।
एष्यत्यत्र ततोऽपत्यमेकैकं गृह्यते करे ॥२९६॥
एवमुक्ताऽपि बहुशः सा शुक्यलसशेखरा।
मौनमाधाय नोत्तस्थौ तावत्तत्रागतोऽनलः ॥२९७॥
उत्थाय सा शुकी दूरं ययौ पापा वने क्वचित्।
गृह्णानोऽहं करेऽपत्ये दग्धस्तेन दवाग्निना ॥२९८॥ यतः—
"पूर्वभवार्जितश्रेयोऽश्रेयोभ्यां प्राणिनोऽखिलाः।
लभन्ते सुखदुःखे च भ्रमन्तश्च चतुर्गतौ ॥२९९॥

१ वर्धयामास त तदा ख। २ साराव नै—क। ३ जटिलो क।

शुक्लध्यानवशान्मृत्वा भूरिविद्याधरः परः।
जातोऽहं निर्जरस्तस्याः शुक्या न ज्ञायते गतिः ॥३००॥
एवं पट्सु भवेष्वात्मशक्त्या यात्राद्युपाकृतिः।
मया तस्याः कृता शश्वत् स्वभावेन कृतात्मना ॥३०१॥
तस्याः पूर्णीकृतास्तेषु भवेष्वपि मनोरथाः।
तया पापिष्ठयाऽकारि मदुक्तमेकशोऽपि न ॥३०२॥
श्रुत्वैतद् मुदिता स्वान्ते वाह्यं प्राहेति भूपसूः[1]।
त्वं दुरात्मा गतो नंष्ट्वाऽऽगते दावानलेऽलसः ॥३०३॥
अपत्यद्वयसंयुक्ता दग्धा तेन दवाग्निना।
मृत्वा चास्य महीशस्याभूवं पुत्री सुकोमला ॥३०४॥
देवः प्रोवाच मा कूटं जल्पेदानीं पुरो मम।
यद्यपत्यद्वयीयुक्ता दग्धा त्वं दववह्निना ॥३०५॥
तदाऽपत्यद्वयं मह्यं सद्यः सम्प्रति दर्शय।
नो हि चेद् दर्शयिष्यामि ते अपत्ये तवाधुना ॥३०६॥

दर्शयेति तया प्रोक्तो सुरः प्राह ममान्तिके।
पश्यापत्यद्वयं तच्च पूर्वमेतन्मया[2] सह ॥३०७॥
श्रुत्वैतद्वचनं तस्य दध्यावेवं सुकोमला।
विभङ्गं विद्यते ज्ञानं ममास्य सत्यमेव तु ॥३०८॥
तयोरेवं वचो युक्तियुक्तं श्रुत्वा तदा स्फुटम्।
भूपादयोऽखिला लोकाश्चित्ते चमत्कृता भृशम् ॥३०९॥
एवमुक्ता त्रयो देवा यावज्जग्मुर्नभोङ्गणे।
तावत्प्राहेति भूपालपुत्री स्पष्टं पितुः पुरः ॥३१०॥
यद्ययं मां सुरो नैव परिणेष्यति सम्प्रति।
तदैवाहं करिष्यामि सद्यो हत्यां निजात्मनः ॥३११॥
पुत्र्याः पुरुषविद्वेषिभावं त्यक्तं तदा नृपः।
निरीक्ष्य मुमुदेऽत्यन्तमुद्गतेन्दुमिवाम्बुधिः ॥३१२॥
मत्वा कदाग्रहं पुत्र्या भूपः प्राह सुरं प्रति।
भो देव! त्वमिमां पुत्रीं परिणीयाधुना व्रज ॥३१३॥

1 भूपभूः ख। 2 तं म–क।

नो चेदहं कुटुम्बेन युक्तः सद्यस्तवोपरि।
आत्महत्यां करिष्यामि मरिष्यति सुताऽपि च ॥३१४॥
देहि देवाधुना सद्योऽभयदानं कृपापरः।
अस्माकं सचिवानां च पुत्र्याश्च जीवितं पुनः ॥३१५॥
ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः।
अन्नदानात्सुखी नित्यं निर्व्याधिर्भैषजाद्भवेत् ॥३१६॥
श्रुत्वैतन्निर्जरो भूपस्त्रीहत्याभयतस्तदा।
आत्मीयकार्यनिष्पत्तेर्भवनाच्च मुदं व्यधात् ॥३१७॥
भट्टमात्राग्निवेतालसंयुक्तो व्योममण्डलात्।
उत्तीर्य प्राह गीर्वाणभाषया भूपतेः पुरः ॥३१८॥
अहं देवस्त्वियं नारी कथं योगो भवेद्वद।
यतो हि विद्यते योगः सदृशेन शरीरिणाम् ॥३१९॥ यतः—
"ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं श्रुतम्।
तयोर्मैत्री विवाहश्च न तु पुष्टविपुष्टयोः ॥३२०॥
मृगा मृगैः सङ्गमनुव्रजन्ति, गावश्च गोभिस्तुरगास्तुरङ्गैः।
मूर्खाश्च मूर्खैः सुधियः सुधीभिः, समानशीलव्यसनेषु योगः"॥
दृष्ट्वा भूपोऽवनिस्पृष्टपदद्वन्द्वं सुरं तदा।
दध्याविति नरः कोऽपि कोऽपि विद्याधरोऽथवा ॥३२२॥
विद्यासिद्धोऽथवा मन्त्रतन्त्रसिद्धः समागतः।
न विद्यतेऽमरो नेत्रमीलोन्मीलनतोऽत्र नु ॥३२३॥
"[1]अणिमिसनयणा मणकज्जसाहणा पुप्फदामअमिलाणा।
चउरंगुलेण भूमिं न छुवंति सुरा जिणा बिंति ॥३२४॥
पंचसु जिणकल्लाणेसु महरिसितवाणुभावाओ।
जंमंतरनेहेण य आगछंती सुरा इहयं" ॥३२५॥ इत्यादि।
स्मृत्वैवं नृपतिस्तस्मै महामहपुरस्सरम्।
दत्त्वा पुत्रीं ददौ सप्तभूमिकं धवलालयम् ॥३२६॥

१ अनिमिषनयना मन कार्यसाधना पुष्पदामाम्लाना। चतुरङ्गुलेन भूमिं न स्पृशन्ति सुरा जिना ब्रुवते ॥
पञ्चसु जिनकल्याणेषु महर्षितपोऽनुभावात्। जन्मान्तरस्नेहेन चागच्छन्ति सुरा इह ॥

इति श्रीमत्तपागच्छनायकश्रीसोमसुन्दरसूरिपट्टालङ्करणपरमगुरुगच्छनायकश्रीमुनिसुन्दरसूरिशिष्यशुभशीलगणिविरचिते श्रीविक्रमादित्यचरिते सुकोमलापाणिग्रहस्वरूपो द्वितीयः सर्गः समाप्तः ॥

तृतीयः सर्गः ।

अथ श्रीविक्रमादित्यः कृतकृत्यः प्रमोदितः ।
भट्टमात्राग्निवेतालाना(वा)कार्येति जगौ रहः ॥१॥
मनसा चिन्तितं कार्यं सान्निध्याद् युवयोः क्रमात् ।
सिद्धिमागान्ममेदानीं दुःशकं मरुतामपि ॥२॥ यतः—
"सा सा सम्पद्यते बुद्धिः सा मतिः सा च भावना ।
सहायास्तादृशा ज्ञेया यादृशी भवितव्यता ॥३॥
न स मन्त्रो न सा बुद्धिर्न स दोष्णां पराक्रमः ।
साध्यते नहि यः सारबुद्धिभिश्च भवादृशैः ॥४॥
श्रियमनुभवन्ति धीरा न भीरवः किमपि पश्य शस्त्रहतः ।
कर्णः स्वर्णालङ्कतिर(म)ञ्जनरेखाङ्कितं चक्षुः" ॥५॥

ततो रहोऽग्निवेतालभट्टमात्रपुरो नृपः ।
प्राहेति पुरमात्मीयं कोऽप्यरातिर्हनिष्यति ॥६॥
तदा को रक्षिता नास्ति तस्यां पुर्यधुना ततः ।
भट्टमात्र! पुरीं पातुं भवान् गच्छतु वेगतः ॥७॥
अदृश्यस्त्वमग्निवेतालात्रस्थो देहि ममादनम् ।
यथा पत्न्यादयः सर्वे जानन्तीति जना हृदि ॥८॥
अयं देवोऽथवा विद्याधरो नहि पुनर्नरः ।
आवामपि गमिष्यावो जातेऽपत्ये द्रुतं पुरि ॥९॥
एवमुक्ते ययौ भट्टमात्रोऽवन्तीं पुरीं रयात् ।
विक्रमार्कोऽग्निवेतालसहितस्तत्र तस्थिवान् ॥१०॥

भुक्तं दत्त्वाऽग्निवेतालो यात्यदृश्यो रहः सदा।
सालवाहनभूपालः पप्रच्छ क्व गतौ सुरौ ॥११॥
विक्रमार्कः सुरः प्राह जग्मतुः क्रीडितुं क्वचित्।
भोक्तुमाकारितो भूमिभुजा प्राहेति विक्रमः ॥१२॥
अन्नाहारमहं नैव करोमि भूपते! कदा।
नृदत्तं फलपुष्पादिबलिं गृह्णामि सुन्दरम् ॥१३॥
दत्त्वा कर्पूरकस्तूरीचारुपुष्पफलं बलिम्।
जामाताऽयं जगद्वन्द्यो ध्यायन्नेवं नृपो ययौ ॥१४॥
दत्तेयं पुत्रिकेदृक्षवराय मयकाऽधुना।
भविष्यत्यग्रतो भाग्ययोगतः सुखिनी किल ॥१५॥ यतः—
"कुलं च शीलं च सनाथता च विद्या च वित्तं च वपुर्वयश्च।
वरे गुणाः सप्त विलोकनीयास्ततः परं भाग्यवशा हि कन्या"॥
कुलीनोऽयं वरो नूनं नृपो विद्याधरोऽथवा।
सदाकारलसज्जल्पगतिभ्यो ज्ञायते स्फुटम् ॥१७॥

केनाऽपि हेतुनाऽऽत्मीयं कुलनामादिकं स्फुटम्।
प्रकटीकुरुते सम्यग् वरो नायं मनागपि ॥१८॥
पत्न्या पृष्टोऽथ गीर्वाणो विक्रमार्को जगौ तथा।
ततः पत्न्यपि भूपाल इव दत्ते बलिं सदा ॥१९॥
मात्राऽन्येद्युः सुता पृष्टा जामाता किञ्च जेमति।
पुत्री प्राह सुरो नैवं जेमत्यन्नं नरैः कृतम् ॥२०॥
हृष्टा माता जगौ पुत्रि! धन्या त्वमसि साम्प्रतम्।
धर्मादेवंविधो लब्धो वरो दिव्यः सुते! त्वया ॥२१॥ यतः—
"धनदो धनमिच्छूनां कामदः काममिच्छताम्।
धर्म एवापवर्गस्य पारम्पर्येण साधकः" ॥२२॥
षण्मासान्ते प्रियां मत्वा सगर्भां विक्रमार्यमा।
जगौ रहोऽग्निवेतालं प्रति पत्न्या प्रप्रीणितः ॥२३॥
आदौ पाणिग्रहश्चक्रे क्रमात्तस्याः प्रपञ्चतः।
सगर्भा समभूत्पुण्यप्रभावाद् गृहिणी मम ॥२४॥ यतः—

"स्थाने निवासः सकलं कलत्रं, पुत्रः पवित्रः सुजनानुरागः।
न्यायाच्च वित्तं स्वहितं च चित्तं, निश्छद्मधर्मस्य सुखानि सप्त॥
विनाऽऽवां नगरी सर्वा दुःस्था सम्भाव्यतेऽधुना।
गम्यते स्वपुरे शीघ्रमावाभ्यां स्वःपुरोपमे ॥२६॥
सगर्वा गर्भिणी पत्नी ममात्यन्तं सुकोमला।
गर्वोच्छित्त्यै पुरेऽत्रैव मुच्यते राजनन्दिनी ॥२७॥ यतः—
जाइ-कुल-रूव-वल-सुय-त्तव-लाभ-सिरीइ अट्ठमयमत्तो।
एआइं चिय बंधइ असुहाइं बहुं च संसारे" ॥२८॥
एवमस्त्वग्निवेतालेनोक्ते विक्रमभानुमान्।
लिलेखेत्यक्षरान् वाससद्मनो भारपट्टके" ॥२९॥
"अवन्तीनगरे गोपः परिणीय नृपाङ्गजाम्।
गां पातुं दण्डभृत् पद्मोत्करक्रीडापरोऽनघः ॥३०॥
दृष्टे च पुरुषे द्वे (द्वि)ष्टां कुर्वतीं काष्ठभक्षणम्।
अहमेकोऽधुना वीरः परिणीय स्यादगाम्" ॥३१॥ (युग्मम्)

ततोऽदृश्यशरीराग्निवेतालांसस्थितोऽनिशम्।
कुर्वन् गतागतं व्योम्नि चिक्रीड विक्रमार्यमा ॥३२॥
तादृक्शक्तिं पतिं दिव्यरूपं दृष्ट्वा सुकोमला।
दध्यावेवमहं धन्या यस्याः स्यादीदृशः पतिः ॥३३॥
पश्यन्त्यां नृपनन्दिन्यां कुर्वन् क्रीडां नभोऽङ्गणे।
अदृश्यरूपवेतालस्कन्धस्थो विक्रमार्यमा ॥३४॥
श्रीयुगादिजिनं नत्वा सिद्धकार्यः प्रमोदितः।
प्रतिष्ठानपुरात्सद्यः प्रतस्थे स्वां पुरीं प्रति ॥३५॥ (युग्मम्)
स्थाने स्थाने गिरौ ग्रामे पुरे व्रजे वने पुनः।
कौतुकानि नृपः पश्यन् गतोऽवन्त्यां कृतत्वरः ॥३६॥ यतः—
"प्राप्तशिल्पार्थविद्यानां देशान्तरनिवासिनाम्।
भवेदत्युत्सुकं चेतो गन्तुं सौधनिकेतने ॥३७॥
अग्निवेतालसान्निध्यात् विक्रमादित्यभूपतिः।
अङ्गीचक्रे निजं राज्यं स्वर्गस्येव सुरेश्वरः ॥३८॥

१ जाति–कुल–रूप–वल–श्रुत–तपो–लाभ–श्रियाऽष्टमदमत्तः। एतान्येव वध्नात्यशुभानि वहु च संसारे॥

विक्रमार्कं समायान्तं भट्टमात्रोऽवगत्य च ।
मिलित्वेति जगौ हृष्टो भूपाग्रे रचिताञ्जलिः ॥३९॥
स्वामिंस्तव प्रसादेनात्रागतोऽहं पुरे ततः ।
अपालयं लसन्न्यायात् निखिला जनताः सदा ॥४०॥
परमेकोऽनिशं चौरो मुष्णन् सर्वं पुरं छलात् ।
ययौ क्वचिन्महेभ्यानां लात्वा कन्याचतुष्टयम् ॥४१॥
पश्यता सततं तस्य पदस्थानादिकं मया ।
न ज्ञातं तेन मे तावद् दुःखं चेतसि वर्त्तते ॥४२॥
"अर्थातुराणां न सुहृन्न बन्धुः कामातुराणां न भयं न लज्जा ।
चिंतातुराणां न सुखं न निद्रा क्षुधातुराणां न वपुर्न तेजः ॥
आकर्ण्यैतन्नृपः प्राह भो अमात्य ! क्षणादपि ।
वधं तस्य करिष्यामि चौरस्यैव प्रपश्यतः ॥४३॥ यतः—
"उपायेन हि तत्कुर्यात् यन्न शक्यं पराक्रमैः ।
काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्पो निपातितः" ॥४४॥

"कस्मिंश्चिद्विपिने काक्यसूताण्डानि बहूनि च ।
तद्वृक्षविवरात् सर्प्पो निस्ससार निरन्तरम् ॥४५॥
अन्येद्युर्निष्कृपस्वान्तः काक्यपत्यानि भूरिशः ।
भक्षयित्वा ययौ सद्यो बिलमध्ये सरीसृपः ॥४६॥
काकी सर्वाण्यपत्यानि भक्षितानि ततोऽहिना ।
निरीक्ष्य कुरुते हन्तुमुपायान् भूरि शश्वतम् ॥४७॥
लब्धोपायाऽन्यदा काकी कस्यचिद्धनिनो गृहात् ।
लक्ष्यमूल्यं महाहारमानीय व्यमुचद् बिले ॥४८॥
विलोकयन् धनी हारं दृष्ट्वा बिलमुखे तदा ।
यावल्लातुं शयं दत्ते तावत्सोऽगादधो भुवि ॥४९॥
ततः कुद्दालमानीय खनित्वा तद्बिलं तदा ।
हत्वा भुजङ्गमं हारं जग्राह धनिको मुदा ॥५०॥
उपायेन तदा काकी मारयित्वा सरीसृपम् ।
आजन्म सुखिनी जाता स्वापत्यजीवनाद् भृशम्" ॥५१॥

एवं मन्त्रीश्वरान् स्वस्थीकृत्य सुप्तो नृपोऽन्यदा ।
भृत्यगाढस्वरोल्लापाज्जागरित्वेति जल्पति ॥५२॥
भो ! भो ! भृत्या ! अहं स्वप्नं लभमानो मनोहरम् ।
कथमुत्थापितो रात्रौ भवद्भिरविचारकैः ॥५३॥
तेनाहं च हरिष्यामि युष्माकमिह जीवितम् ।
राजा रुष्टो नृणां किं किं न दत्ते दुःखमङ्गिनाम् ॥५४॥
राजायत्ता मही सर्वा कर्मायत्ताश्च जन्तवः ।
भर्त्रायत्ता प्रिया धान्यं जलायत्तं च कथ्यते ॥५५॥
तावत्तत्रागता भट्टमात्रादिमन्त्रिणोऽखिलाः ।
प्रोचुरेवं किमारब्धं स्वामिन् ! सेवकमारणम् ॥५६॥
भूपः प्राह निशि स्वप्नं लभमानोऽद्य मञ्जुलम् ।
एभिर्जागरितास्तेन कोपोऽजनि ममाधुना ॥५७॥
प्रोक्तो मन्त्रीश्वरैस्तत्र भूमिपालो जगावदः ।
पूर्वाशाकानने कूपोऽगाधोऽस्ति जलपूरितः ॥५८॥

मध्येकूपं महानेको दृष्टः स्वप्ने सरीसृपः ।
दिव्यरूपा मुखे तस्य समस्त्येका च कन्यका ॥५९॥
भ्रमन्नहं गतो यावत् तत्र स्वप्नान्तरे निशि ।
तावत्सर्पो जगौ कन्यां लाहि त्वं मन्मुखादिमाम् ॥६०॥
यदि त्वं कातरस्तर्हि याहि दूरमतो द्रुतम् ।
श्रुत्वैतद् यावता कन्यां ग्रहीतुमुद्यतोऽभवम् ॥६१॥
तावदेभिरहं दुष्टैरस्मि जागरितः क्षणात् ।
मन्त्री जगावयं स्वप्नः सत्यः सम्भाव्यते स्फुटम् ॥६२॥यतः
"श्वेताम्बरधरा नारी श्वेतगन्धाऽनुलेपना ।
अवगूहेत यं स्वप्ने तस्य श्रीः सर्वतोमुखी ॥६३॥
देवता गुरवो गावः पितरो लिङ्गिनो नराः ।
यद्वदन्ति नरं स्वप्ने तत्तथैव भविष्यति" ॥६४॥
कोऽपि विद्याधरो देवः किंनरो व्यन्तरोऽथवा ।
प्रसन्नीभूय भवते स्फुटं किमपि दास्यति ॥६५॥

तेन तत्रैत्य तां कन्यां स्यादङ्गीकुरु प्रभो ।
यत एवंविधः स्वप्नो दुर्लभो देहिनामिह ॥६६॥
ततो मन्त्रियुतो भूपो यावत् तत्र ययौ क्षणात् ।
तावत्सर्प्पो जगौ यस्य साहसं विद्यतेऽनघम् ॥६७॥
स मदीयाननात्कन्यां गृह्णातु साम्प्रतं द्रुतम् ।
नो चेद् दूरमतः कूपाद् यातु कातरमानसः ॥६८॥ (युग्मम्)
श्रुत्वैतन्निर्भयो भूपो मध्येकूपं समेत्य च ।
जग्राह कन्यकां सर्प्पमुखाद् यावद् मनोहराम् ॥६९॥
तावत्सर्पो नरीभूय दिव्यदेहो जगावदः ।
वैताढ्यपर्वतशृङ्गे विद्यते श्रीपुरं पुरम् ॥७०॥
तत्राहमवसं विद्याधरो धीराभिधानतः ।
इयं ममाभवत्पुत्री दिव्यरूपा कलावती ॥७१॥
वर्द्धमाना क्रमाद् भूरिविद्यानामभवद् गृहम् ।
विलोकितोऽपि नो दृष्टो वरोऽस्याः सदृशः क्वचित् ॥७२॥

त्वां सात्त्विकाग्रणीं मत्वा भूपात्राहं समागमम् ।
तुभ्यं दातुं सुतां तेन मयैव त्वं परीक्षितः ॥७३॥
तेनेमां पुत्रिकां सद्यो गृहाण त्वं नरोत्तम ! ।
ततः श्रीविक्रमादित्यः परिणिन्ये च कन्यकाम् ॥७४॥
ततो भूमीपतिः कन्यां लात्वा स्वावासमीयिवान् ।
आपृच्छ्य च ययौ विद्याधरः स्थानं निजं द्रुतम् ॥७५॥
इतोऽन्येद्युर्निशीथिन्यां हृतां केन कलावतीम् ।
मत्वा श्यामाननो भूपः प्रगे चिन्ताऽऽतुरोऽजनि ॥७६॥
पृष्टोऽमात्यादिभिर्दुःखहेतुं भूपो जगाविति ।
केनाप्यद्य प्रिया रात्रौ हृता मम कलावती ॥७७॥
ततोऽमात्या जगुर्येन मुषिता नगरी निजा ।
तेनैव गृहिणी पुंसा हृता सम्भाव्यते तव ॥७८॥
विचार्य मन्त्रिभिः सार्द्धं प्रियां वालयितुं नृपः ।
चकारोपक्रमं भूरि लब्धा सा नाधुना क्वचित् ॥७९॥

ततो भूपतिरेकाकी खड्गपाणिर्निशामुखे ।
प्रियां वालयितुं स्तेनं ज्ञातुं च निर्ययौ रहः ॥८०॥ यतः–
"षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रश्चतुःकर्णस्तु धार्यते ।
द्विकर्णस्य तु मन्त्रस्य ब्रह्माऽप्यन्तं न गच्छति" ॥८१॥
प्रजाः पालयितुं शश्वद् निग्रहीतुं च तस्करम् ।
स्थाने स्थाने नृपो रात्रावेकाकी निर्भयोऽभ्रमत् ॥८२॥ यतः–
"दुष्टस्य दण्डः स्वजनस्य पूजा न्यायेन कोशस्य सदैव वृद्धिः ।
अपक्षपातोऽर्थिषु राष्ट्ररक्षा पञ्चैव यज्ञाः कथिता नृपाणाम् ॥
इत्यादि

ततो देवकुले गत्वा भूपालेनानघैः स्तवैः ।
स्तुता चक्रेश्वरी देवी प्रादुर्भूय जगावदः ॥८४॥
भो भूपाद्य प्रसन्नाऽहमभूवं भक्तितस्तव ।
मार्गयेष्टं यतो देवदर्शनं सफलं भवेत् ॥८५॥ यतः–
"अमोघा वासरे विद्युत् अमोघं निशि गर्जितं ।
नारीबालवचोऽमोघममोघं देवदर्शनम् ॥८६॥
तुष्यन्ति भोजनैर्विप्रा मयूरा घनगर्जितैः ।
साधवः परसम्पत्त्या देवता भक्तितः पुनः ॥८७॥
भूपः प्रोवाच भो देवि! हृता येन मम प्रिया ।
तस्य पुंसः स्वरूपं मे स्थितिं च कथयाधुना ॥८८॥
देवी प्राह पुरेऽत्राभूत् पुरा श्रेष्ठी धनेश्वरः ।
पत्नी प्रेमवती तस्याऽभवत्प्रीतिमती प्रिया ॥८९॥
गुणसाराभिधः पुत्रोऽभवच्चारुगुणालयः ।
तस्य रूपवती रूपजितदेवाङ्गना प्रिया ॥९०॥ यतः–
"सा सा सम्पद्यते बुद्धिः सा मतिः सा च भावना ।
सहायास्तादृशा ज्ञेया यादृशी भवितव्यता ॥९१॥
स्थाने निवासः सकलं कलत्रं पुत्रः पवित्रः सुजनानुरागः ।
न्यायाच्च वित्तं स्वहितं च चित्तं निश्छद्मधर्मस्य सुखानि सप्त" ॥
गुणसारोऽन्यदा प्राह द्रव्यार्जनकृते स्फुटम् ।
लात्वा क्रयाणकं दूरदेशे यास्याम्यहं पितः! ॥९३॥

श्रेष्ठी प्राह सुतं पुत्र ! देशान्तरगमेच्छया ।
मद्गृहेऽस्ति धनं भूरि तेन पूरय वाञ्छितम् ॥९४॥
देशान्तरोऽतिविषमो गन्तुं शक्योऽतिकर्कशैः ।
सुकुमारः कुमार ! त्वं मा कथास्तद् वृथाऽऽग्रहम् ॥९५॥
यस्येन्द्रियाणि विद्यन्ते वश्यानि साहसं पुनः ।
वक्तुं यो वा विजानाति विदेशं यातु सोऽङ्गवान् ॥९६॥
अमुं कदाग्रहं मुञ्च स्वगृहं समलंकुरु ।
यतोऽस्माकं भवानेकः पुत्रो नेत्रप्रमोदकृत् ॥९७॥
एवमुक्तोऽप्यसौ युक्त्या न यदाऽत्यजदाग्रहम् ।
ततस्तातेन चलनं पुत्रस्य मानितं श्रिये ॥९८॥
ततो द्रविणमादाय भूरिक्रयाणकानि च ।
गुणसारोऽचलत्तातं मुत्कलाप्य शुभेऽहनि ॥९९॥
इतो धनेश्वरागारवृक्षस्थो व्यन्तरोऽधमः ।
वीक्ष्य रूपवतीरूपं मोहितोऽजनि तत्क्षणात् ॥१००॥ यतः—

"किमु कुवलयनेत्राः सन्ति नो नाकनार्यः,
त्रिदशपतिरहल्यां तापसीं यत्सिषेवे ।
हृदयतृणकुटीरे दीप्यमाने स्मराग्ना-
वुचितमनुचितं वा वेत्ति कः पण्डितोऽपि ॥१०१॥
देवा विसयपसत्ता नेरइया विविहदुःखसंपत्ता ।
तिरिया विवेगविगला मणुआणं धम्मसामग्गी ॥१०२॥
गुणसारसदृग्रूपो व्यन्तरो भूरिद्रव्ययुक् ।
श्रेष्ठिपार्श्वे समागत्य तातेत्युक्त्वाऽकरोन्नतिम् ॥१०३॥
श्रेष्ठी प्राहाऽधुना कस्य पार्श्वे सर्वं क्रयाणकम् ।
मुक्त्वा किमर्थमागास्त्वं पश्चाज्जल्पेति नन्दन ! ॥१०४॥
गुणसारो जगावेको ज्ञानी मार्गेऽमिलन्मम ।
तेनोक्तं मरणं भावि विदेशं गच्छतस्तव ॥१०५॥
आकर्ण्यैतदहं सर्वं क्रयाणकसमुच्चयम् ।
विक्रीय द्रविणं सर्वमानैषमिह साम्प्रतम् ॥१०६॥

पिता प्राह वरं पुत्र! पश्चाद् यत्त्वं समागमः ।
यत एकः सुतस्त्वं मे कुलाधारो गुणाकरः ॥१०७॥
गुणसार'छली गेहकृत्यं कुर्वन् सदाऽखिलम् ।
मानसं रञ्जयामास जनकस्य भृशं क्रमात् ॥१०८॥

रूपवत्या समं नित्यं भोगाननुभवन् सुखम् ।
प्रचुरं समयं तस्थौ गुणसार'छली तदा ॥१०९॥ यतः—
"प्राकृत एव प्राप्ते द्रव्ये देदीप्यते न सत्पुरुषः ।
वारिणि तैलं विकसति निर्मुक्तं स्त्यायते सर्पिः ॥११०॥
धूमः पयोधरपदं कथमप्यवाप्य,
वर्षाम्बुभिः शमयति ज्वलनस्य तेजः ।
दैवादवाप्य ननु नीचजनः प्रतिष्ठां,
प्रायः स्वबन्धुजनमेव तिरस्करोति ॥१११॥
इतः स्वल्पार्जितश्रीको गुणसारसुतोऽछली ।
विदेशादेत्य तातान्ते तातेत्युक्त्वाऽकरोन्नतिम् ॥११२॥

दृष्ट्वा तं जनको दध्यौ किमयं स्यात्सुतो मम ।
एकः पूर्वं ममोपान्ते विद्यते तनयोऽनघः ॥११३॥
श्रेष्ठी प्राह भवान् कस्य प्राघूर्णोऽत्र समागमत् ।
स प्राहाहं भवत्सूनुरागमं दूरदेशतः ॥११४॥

इत'छली सुतः प्राह रे! रे! पापिष्ठबालिश! ।
मां त्वं छलयितुं ह्यत्र नगरे किमगा द्रुतम् ॥११५॥
एवं चेद्वक्षि भूयस्त्वं तदाऽनर्थो भविष्यति ।
न ज्ञातं किं बलं मामकीनं वा न श्रुतं त्वया ॥११६॥
एवं द्वावपि सदृशाकारौ सदृक्प्रजल्पकौ ।
सदृक्सङ्केतकथकौ सदृग्गमनकारकौ ॥११७॥

ततः श्रेष्ठ्यादयो शेषा लोका एवं जगुस्तदा ।
विवादोऽत्र न केनापि पुंसा स्फेटयितुं क्षमः ॥११८॥
ततो भूमिपतेः पार्श्वे भवन्तौ द्वावपि द्रुतम् ।
व्रजतां तत्र मन्त्रीशा भङ्क्ष्यन्ते भवतोः कलिम् ॥११९॥

ततो गत्वा नृपोपान्ते मिथस्ताविति जल्पतः।
अयं धनेश्वरस्तातो ममेदं सदनं पुनः ॥१२०॥
इयं कलावती भार्या मदीया गुणशालिनी।
रूप्यस्वर्णमणीपट्टकूलादिविभवः पुनः ॥१२१॥
गृह्णात्ययं छलं कृत्वा सर्वमेतन्न संशयम्।
श्रुत्वैतद् भूपतिस्तत्र संशये पतितस्तदा ॥१२२॥
परीक्षार्थं नृपः प्राहाकार्य मन्त्रीश्वरान् प्रति।
एतयोर्गृहसम्बन्धी विवादः पतितोऽधुना ॥१२३॥
भवन्तोऽद्यानयोर्वादं भञ्जन्तु बुद्धितो द्रुतम्।
भवादृशेष्वमात्येषु विवादो भाति नो मनाग् ॥१२४॥
प्राज्ञे नियोजितेऽमात्ये महीशस्य गुणत्रयम्।
यशः स्वर्गे निवासश्च पुष्कलश्च धनागमः ॥१२५॥
कुलशीलगुणोपेतं सत्यधर्म्मपरायणम्।
रूपिणं बुद्धिमन्तं च राजाऽध्यक्षं च कारयेत् ॥१२६॥

पप्रच्छुर्धीसखा यद् यत् तत् तत्तौ जल्पतः समम्।
एवं पुनः पुनः पृष्ट्वा विलक्षा अभवंश्च ते ॥१२७॥ यतः–
"बहुबुद्धिसमायुक्ता सविज्ञानबलोत्कटाः।
शक्ता वञ्चयितुं धूर्त्ता ब्राह्मणादिव छागकम् ॥१२८॥तथाहि–
"यजमानाद् द्विजश्छागं याचित्वांऽसे विधाय च।
आयान् मार्गेऽन्यदा धूर्तैरेवं प्रोक्तः पृथक् पृथक् ॥१२९॥
आद्योऽवग् श्वा द्वितीयोऽवक् शशकोऽवक् तृतीयकः।
राक्षसोंऽसे कृतोऽनेन स्वं हन्तुं मूढचेतसा ॥१३०॥
श्रुत्वैतद्बाडवः स्कन्धादुत्तार्य छागमञ्जसा।
तथाऽमुञ्चद्यथा नंष्ट्वाऽगमच्छागो जिजीव च ॥१३१॥
इत एकागता तत्र पण्यस्त्रीति जगौ स्फुटम्।
त्यक्त्वाऽमात्यान् नरः स्त्री वाऽनयोर्भञ्ज्यात् कलिं यदि ॥१३२॥
तदा तस्य नृपो मानं रमादानात् करिष्यति।
न विना शेमुषीं शुद्धां कार्यं सिद्ध्यति कर्हिचित् ॥१३३॥

राजा प्राह न धीः कस्याऽधीनैवास्ति महीतले ।
यतः स्याच्छेमुषी हीनमध्योत्तमनृणामिह ॥१३४॥
लहुडां वडां ए किसिउं गुणवड्डां[1] संसारि ।
गागरि अच्छइ[2] वड्ठडी करवइ पिंजइ[3] वारि ॥१३५॥
तेनानयोर्नरो नारी प्रभिन्द्याद् वादमञ्जसा ।
ततो वेश्या जगौ लोका ! मत्कृतं पश्यताखिलाः ॥१३६॥
कारयित्वा गृहं छिद्ररिक्तमेकं पुराङ्गना ।
तत्रैत्यावक् तदा तावाकार्य श्रेष्ठ्यङ्गजौ प्रति ॥१३७॥
दत्ते द्वारे द्वयोर्मध्ये यः कश्चित् सदनाद्व्रयात् ।
निःसृत्य मां स्पृशेत् श्रेष्ठिगेहेशः स भविष्यति ॥१३८॥
एवं कृत्वा च तौ तस्मिन् प्रविष्टौ यावता गृहे ।
तावता वेश्यया दत्तं दृढं द्वारं क्षणात्तदा ॥१३९॥
उक्तं च भवतोर्मध्ये यः कश्चित् श्रेष्ठिनः सुतः ।
निःसृत्य सद्मनो मध्यात् मत्करौ स्पृशतात् स वः ॥१४०॥
स एव मनुजः श्रेष्ठिगृहस्वामी भविष्यति ।
सरिष्यति च यो नैव तस्य दण्डः करिष्यते ॥१४१॥
एवमुक्ते च निःसृत्य व्यन्तरो गृहमध्यतः ।
चकार गणिकापाणिस्पर्शं हृष्टमनास्तदा ॥१४२॥
वेश्याऽवग् गुणसारोऽसि सत्यस्त्वं साच्विकाग्रणीः ।
तवैव जनको लक्ष्मीर्गेहं रूपवती प्रिया ॥१४३॥
श्रुत्वैतद् व्यन्तरो हृष्टोऽतीव पण्याङ्गनावचः ।
वेश्यया विहितं चिह्नं तस्य देहे तदा स्फुटम् ॥१४४॥
द्वितीयश्च न शक्नोति निःसर्तुं च गृहाद्यदा ।
तदा वेश्या जगावेष गुणसारश्छली स्फुटम् ॥१४५॥
एवमुक्त्वा तदादौ यो निःससार नरो गृहात् ।
तं निर्धाट्य द्रुतं गेहमध्यस्थस्यार्पितं गृहम् ॥१४६॥
व्यन्तरोत्पादितो गर्भो रूपवत्या इतः स्त्रियाः ।
अकस्माद् भयभीतायाः पपात वसुधातले ॥१४७॥

[1] गुणवट्टु ख । [2] इच्छइ क । [3] किजइ क ।

दध्यौ रूपवती गर्भादुद्ग्राहोऽत्र भविष्यति।
वहिःष्ठात् क्षिप्यते तेन यावज्जानाति कोऽपि न ॥१४८॥
ध्यात्वेति खर्प्परे क्षिप्त्वा तं गर्भं तत्क्षणात्तदा।
मुमोच वहिरुद्याने रहो रूपवती तदा ॥१४९॥
विमानं स्खलितं स्वीयं यान्तीतश्चण्डिकाऽम्बरे।
वीक्ष्य दध्यौ ममेदानीं यानं केन धृतं दृढम् ॥१५०॥
इतस्ततो विलोक्याधो यावत्पश्यति भूतलम्।
खर्प्परस्थगितं बालं तावद्दर्श चण्डिका ॥१५१॥
शिशोरस्य प्रभावेण विमानं स्खलितं मम।
तेनायं वलवान् भावी ध्यात्वेति तमदात्करे ॥१५२॥
खर्प्परेत्यभिधां तस्य वितीर्य चण्डिका तदा।
स्वगुहायां तमानीय वर्द्धयामास पुत्रवत् ॥१५३॥
खर्प्परस्याष्टमे वर्षे जाते चण्डिकया तदा।
एतावन्तो वरा दत्ता दुर्ग्राह्या महतामपि ॥१५४॥

अस्यामेव गुहायां ते नूनं मृत्युर्भविष्यति।
गुहावहिर्न कोऽपि त्वां हन्तुं देवोऽपि शक्ष्यति ॥१५५॥
असिनाऽनेन दुर्जेयः सर्वेषां त्वं भविष्यसि।
मत्स्मृतेर्बहिरेव त्वमदृश्यविग्रहोऽपि च ॥१५६॥
गुहागतस्य ते देहरूपं दृश्यं भविष्यति।
एतान् प्राप्य वरान् सोऽपि बभ्राम निर्भयोऽभितः ॥१५७॥
चौर्यस्त्रीहरणादीनि कुर्वन् स शङ्कते नहि।
अखण्डितव्रता पत्नी गुहामध्येऽस्ति तेऽधुना ॥१५८॥
देवीप्रसादमासाद्य सुरङ्गादीनि भूरिशः।
तेन कृतानि चौरेण कृत्यानि हेलया भुवि ॥१५९॥
रूपं नवं नवं कृत्वा सेवकीभूय ते सदा।
कारं कारं पुरे स्तैन्यं स्तेनो याति निजं पदम् ॥१६०॥
तेन तस्य वधः कष्टात् भवता हि करिष्यते।
दुर्ग्राह्योऽस्ति सदा देवदानवानामपि स्फुटम् ॥१६१॥

यदि मिलितस्तस्यैव क्षमामेव करिष्यसि ।
तदा त्वं मृत्यवे तस्य गुहागस्य भविष्यसि ॥१६२॥
तेन त्वया वहिर्भूप कर्त्तव्या सततं क्षमा ।
यदि त्वां ज्ञास्यति स्तेनो दुःखं तव तदा ध्रुवम् ॥१६३॥
"क्षमा खड्गं करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति ।
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ॥१६४॥
आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः ।
तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यते ॥१६५॥
यस्य हस्तौ च पादौ च जिह्वा च सुनियन्त्रिता ।
इन्द्रियाणि सुगुप्तानि रुष्टो दुष्टः करोति किम् ?" ॥१६६॥
श्रुत्वैतद्विक्रमादित्यो नत्वा देवीपदाम्बुजम् ।
रात्रावेव निजावासमलङ्कृत्य प्रसुप्तवान् ॥१६७॥ यतः—
सिद्धिं याते निजे कार्ये देवदानवभूमिपाः ।
मानवा अपि हृष्यन्ति दृष्टे चन्द्रे यथाऽम्बुधिः ॥१६८॥

प्रातरुत्थाय शयनादाकार्य सचिवान् जगौ ।
सिद्धं नो वाञ्छितं सर्वं ज्ञाता च द्विपतः स्थितिः ॥१६९॥
ततश्च निर्भयो राजा एकाक्यसिसखा निशि ।
जीर्णवस्त्रो भ्रमन् वाह्योद्यानदेवकुले ययौ ॥१७०॥
नत्वा चक्रेश्वरीं देवीं स्तुत्वोदारैः स्तवैः पुनः ।
जपन् पञ्चनमस्कारमुपविष्टोऽग्रतो नृपः ॥१७१॥
इतोऽवक् खर्प्परस्तेनः कन्यानामग्रतः स्फुटम् ।
अवन्तीशं छलात् हत्वा राज्यं लप्स्ये यदा ह्यहम् ॥१७२॥
भवन्तीनां महेभ्यानां पुत्रीणां स्फुरदुत्सवम् ।
पाणिग्रहं करिष्यामीत्येवमङ्गीकृतं मया ॥१७३॥ (युग्मम्)
ततश्च खर्प्परश्चौरः पुरं हन्तुं व्रजन् पथि ।
साधुमेकं स्थितं प्रेक्ष्य नत्वाऽप्राक्षीदिदं तदा ॥१७४॥
भो साधो ! विक्रमो मेऽद्य मिलिष्यत्यथवा नहि ।
साधुः प्रोवाच तं स्तेनं मिलिष्यत्येव विक्रमः ॥१७५॥

गत्वा चक्रेश्वरीगेहं दृष्ट्वा चैकं नरं स्थितम् ।
स्तेनोऽवक् कुत आगास्त्वं किंनामा किंकृते वद ॥१७६॥
आकारजल्पनाकालगमनादिकहेतुतः ।
ज्ञात्वा चौरं महीपालो दध्यावेवं तदा हृदि ॥१७७॥
आकारः[1] कुलमाख्याति देशमाख्याति भाषितम् ।
सम्भ्रमः स्नेहमाख्याति वपुराख्याति भोजनम् ॥१७८॥
ध्यात्वेति तस्करं ज्ञात्वा जल्पनाकारतो नृपः ।
मलिम्लुचं छली सम्यग् ज्ञातुं प्राहेति तं प्रति ॥१७९॥
तिलङ्गविषयाद् दुःस्थो देशे वैदेशिको भ्रमन् ।
क्षुधितोऽत्राधुना श्रान्तिच्छिदेऽस्थामहकं निशि ॥१८०॥
दध्याविति ततश्चौर इमं वैदेशिकं नरम् ।
कृत्वा सखायमद्याहं करिष्ये स्वसमीहितम् ॥१८१॥ यतः—
"एको ध्यानमुभौ पाठं त्रिभिर्गीतं चतुः पथम् ।
पञ्च सप्त कृषिं कुर्यात् सङ्ग्रामं बहुभिर्जनैः" ॥१८२॥

चौरः प्राह मया सार्द्धं चल वैदेशिकाधुना ।
तुभ्यं दास्ये पुरीमध्ये गतोऽहं भोजनं द्रुतम् ॥१८३॥
कन्दोः प्राणप्रिया पूर्वं भगिनीति कृता मया ।
तत्रावयोः सुखेनैवादनं शीघ्रं भविष्यति ॥१८४॥
ततस्तेन युतः स्तेनो गत्वा कान्दविकालये ।
भोजनं दापयामास तस्मै वैदेशिकाय च ॥१८५॥
ततः कल्यगृहात्स्तेनो लात्वा मद्यघटद्वयम् ।
दण्डिकोभयतो बद्ध्वा न्यस्याचलत् तदंसयोः[2] ॥१८६॥
तावत्सान्निध्यमाधातुं तस्य भूमीभुजोऽग्निकः ।
समायातः स्मृतः सद्यः सान्निध्यं कुरुते रहः ॥१८७॥
अग्निकोऽवग् रहो वाञ्छा मद्यपानेऽस्ति मे नृप ! ।
विक्रमार्को जगौ तावकीनेच्छा पूरयिष्यते ॥१८८॥
विक्रमार्कश्चलन्मार्गे दस्योरग्रे जगाविदम् ।
मद्यकुम्भं पिबाम्येकमितीच्छा विद्यते मम ॥१८९॥

---

१ आचार. क । तदंशयो क ख ।

आकर्ण्यंतज्जगौ स्तेनो रे! रे! मिखिलभक्षक!।
तावन्मात्रेण भक्तेनोदरं नापूरि किं तव ॥१९०॥
भूयो भूयो वदत्येवं स्तेने विक्रमभानुमान्।
पातुमेकं घटं यावल्ललौ हस्ते परोऽपतत् ॥१९१॥
मत्वा भग्नं घटं स्तेनस्तं हन्तुं यावताऽचलत्।
तावदन्यं घटं क्षिप्त्वा विक्रमार्कः पलायितः ॥१९२॥
स्तेनं पृष्टौ(ष्ठे) समायान्तं दृष्ट्वा कृष्णद्विजालये।
यावद् भूपो ययौ तावद् गौः प्रसूताऽभवत्सरुद् ॥१९३॥
गोघातभयतो भूपोऽचटत्पिप्पलपादपे।
तावदूर्ध्वं समायातः कृष्णवर्णः सरीसृपः ॥१९४॥
तादृक्षां सुरभीं दृष्ट्वा स्तेनो विभ्यद् गृहाद् वहिः।
हन्तुं विक्रमभूपालं तस्थौ पश्यन्नितस्ततः ॥१९५॥
प्रबुद्धोऽथ द्विजो धेनुशब्दादेत्य वहिर्गृहात्।
मृगस्य वामपार्श्वस्थं भौमं दृष्ट्वाऽम्बरे जगौ ॥१९६॥
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भो पत्नि! प्रदीपं कुरु वेगतः।
पतितोऽस्ति नृपो दोपत्रये मृत्युसमेऽधुना ॥१९७॥
तच्छान्त्यर्थं द्रुतं होममन्त्रतन्त्रादिकां क्रियाम्।
करिष्येऽहं ततो भूपः कुशली जायते चिरम् ॥१९८॥
"पञ्चतारा ग्रहा यत्र सोमं कुर्वन्ति दक्षिणे।
भौमे च राजमारी स्यात् जनमारी च भार्गवे ॥१९९॥
बुधे रसक्षयं कुर्यात् गुरौ कुर्यात् तिरोदकम्।
शनौ वर्पक्षयं कुर्यात् मासे मासे निरीक्षयेत् ॥२००॥
रोहिण्या यदि शकटेन चन्द्रो गच्छति पाटयन्।
तदादुःस्थं विजानीयाद् क्रूरयुक्तो विशेषतः" ॥२०१॥
प्रिया प्राह पते! चैत्रपुटीपाटीं महीपतिः।
किं दास्यतीति जल्पन्ती यत्तत् प्रत्युत्तरं ददौ ॥२०२॥ यतः—

१ भूपो मडपस्तम्भमध्यत। यावत्स्थितोगमत् तावत्० ग।

[1]एकइं वोलिइं वोलती वालइ सओ भरतार।
कइ अकारण राखसी कइ पिसाचिन नारि ॥२०३॥
ततः स्वयं द्विजो दीपं कृत्वा होमादि चकृवान्।
यावद् बबन्ध गां तावद् ननाश तस्करः क्वचित् ॥२०४॥
स्वस्थाने च द्विजः सुप्तः पश्चात्सर्प्पोऽपि जग्मिवान्।
ततो निःसृत्य भूपालः प्रययौ राजवर्त्मनि ॥२०५॥
दध्यौ भूमीपतिर्मौनं विना नैव कदाचन।
निग्रहं शक्यते कर्त्तुं चौरस्य वलिनोऽस्य हि ॥२०६॥
अतः परं मया तस्य मलिम्लुचस्य सन्ततम्।
कर्त्तव्यो विनयो येन हस्ते चटति तस्करः ॥२०७॥
किमसत्यं मुनेर्वाक्यमिति ध्यायति तस्करे।
मिलितो विक्रमो दस्योस्तेन चोक्तो जगाविदम् ॥२०८॥

[2]भो माम भवतः कान्दविक्या याम्याः सुतोऽस्म्यहम्।
मात्रा च कर्षितो रोषात् विक्रमाह्वोऽभ्रमं पुरे ॥२०९॥
चौरः प्रोवाच जामेय! गच्छ सार्द्धं मयाऽधुना।
ततस्त्वां सुखिनं स्वन्नपानदानात् करोम्यहम् ॥२१०॥
यावच्च कुर्वते पुत्रपुत्र्योऽपि कथितं लघु।
तावत्कुर्वन्ति सन्मानं जननीजनकादयः ॥२११॥ यतः—
"[3]माया निअगमइविगप्पिअंमि अत्थे अपूरमाणंमि।
पुत्तस्स कुणइ वसणं चुलणी जह बंभदत्तस्स ॥२१२॥
तावन्माता पिता तावत् तावत्स्वजनबान्धवाः।
यावत्परस्परं प्रीतिर्जायते देहिनामिह ॥२१३॥
सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता, परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाऽभिमानः, स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः"॥

१ एकइं वोलिइ वोल सउ वालइ सिउ भरतार। कइआ गरणह राखसी कइ राखसी न नारी ॥ ख।
२ भूप प्राह भवत्कान्दविक्या याम्या. सुतोऽस्म्यहं। मात्रा च कर्षितो रोषाद् विक्रमार्कोऽभ्रमं पुरे ॥ ग।
३ माता निजकमतिविकल्पितेर्थेऽपूर्यमाणे। पुत्रस्य करोति व्यसनं चुलनी यथा ब्रह्मदत्तस्य ॥

दध्याविति पुनर्भूयस्तस्करोऽयं बली छलात् ।
देवीवरं समासाद्य मुष्णाति स्माखिलं पुरम् ॥२१५॥
ततोऽसौ तस्करो यद्यत् प्रतिकूलं करिष्यति ।
तत्तत्सर्वं सहिष्येऽहं साधुवत् साम्प्रतं स्फुटम् ॥२१६॥ यतः—
कष्टान्यसहमानानां गुणारोपः कुतो भवेत् ।
वेधबन्धं सहित्वैव श्रुतो हेम श्रुती स्वयम् ॥२१७॥
भूपयुक्तो व्रजन् स्तेनो मार्गे नत्वा ऋषिं जगौ ।
भो यते ! यत्त्वया प्रोक्तं मिलितं तन्न साम्प्रतम् ॥२१८॥
ऋषिर्दध्यावहं वच्मि भूमिपालमिमं यदि ।
तदाऽनर्थो महान् भावी लोकानामनयोः पुनः ॥२१९॥
ऋषिः प्राह मया प्रोक्तमभिधानेन विक्रमः ।
मिलिष्यति पुनः सैष नाम्ना च मिलितस्तव ॥२२०॥
स्वस्थाने तस्करो गत्वा प्रोवाचेति नृपं प्रति ।
यावन्निष्पद्यते भक्तं तावत् त्वं तिष्ठ मण्डपे ॥२२१॥

तथाकृत्य जगौ गेहमध्ये शय्यास्थतस्करः ।
भो ! भो ! महेभ्यतनताः ! शृणुताद्य वचो मम ॥२२२॥
भागिनेयस्य सान्निध्यात् हत्वा विक्रमभूपतिम् ।
लात्वा राज्यं भवन्तीश्च परिणेष्येऽहमञ्जसा ॥२२३॥
मम गेहे सुवर्णस्य सन्ति सप्त च कोटयः ।
सपादलक्षमूल्यानि रत्नानि च दशायुतम् ॥२२४॥
दिव्यानां पट्टकूलानां विद्यते च शतत्रयम् ।
मुक्तानां मूटकद्वन्द्वं द्रव्यकोट्यश्चतुर्दश ॥२२५॥
आकर्ण्यैतज्जगौ हस्ते कृत्वाऽसिमिति भूपतिः ।
रे पापिष्ठ ! अधुना लाहि करवालं करे दृढम् ॥२२६॥
परस्त्रीहरणस्तैन्यादिकपापस्य तेऽधुना ।
शीर्षच्छेदादसिर्मेऽसौ प्रायश्चित्तं प्रदास्यति ॥२२७॥
इत्यादिहक्कितश्चौरोऽसिसखा यावदुत्थितः ।
तावद् युधे नृपस्तस्य सम्मुखं चलितः क्रुधा ॥२२८॥

चौरो दध्यौ पुमानेष मयैव मुग्धबुद्धिना ।
आनीतः सदने किं त्विदानीं हहा करिष्यति ॥२२९॥
गृहीतो दुःशको व्याघ्रो हस्ते क्रुधाऽरुणो मया ।
दत्ता कौतुचिका देहे मयका सुखहेतवे ॥२३०॥
राजा दध्यावयं चौरो विद्यते खर्परः खलु ।
प्रोक्तो देवतया पूर्वं यो मदग्रे बली भृशम् ॥२३१॥
वेलाऽस्ति साम्प्रतं हन्तुं तस्करं मे दुराशयम् ।
गुहाया निर्गतो देवदैत्यानां सोऽपि दुःशकः ॥२३२॥
यथा तथाऽधुना तेनोपायेन केनचित् द्रुतम् ।
हन्तव्योऽयं मयाऽत्रैव खर्परस्तस्कराग्रणीः ॥२३३॥
एवं परस्परं ध्यात्वा मेदिनीपतितस्करौ ।
रणाङ्गणे समायातौ युद्धं कर्तुं समुद्यतौ ॥२३४॥
क्षणं व्योम्नि क्षणं भूमौ गच्छन्तौ स्तेनभूपती ।
ददातेऽङ्गाङ्गयोर्बाढं प्रहारं निर्दयौ मिथः ॥२३५॥

चौरासिं स्वासिघातेन यावद् भूपो बभञ्ज श्राक् ।
तावत् तीक्ष्णासिमादायाययौ स्तेनो युधे गृहात् ॥२३६॥
कृतान्ततुल्यमायान्तं स्तेनमालोक्य भूभुजा ।
ध्यातमात्रोऽग्निवेतालः समायातो नृपान्तिके ॥२३७॥
"यस्यास्ति सुकृतं पूर्वकृतं भूरि शरीरिणः ।
स्मृतमात्राः सुरास्तस्य पार्श्वमायान्ति तत्क्षणात् ॥२३८॥
यावत् स्तेनोऽसिना हन्तुं भूपतिं धावितो रुषा ।
असिं हृत्वाऽग्निवेतालश्चौराद् भूमिभुजे ददौ ॥२३९॥
इतश्च भृकुटीं कृत्वा तस्करोऽरुणलोचनः ।
क्रमाभ्यां कम्पयामास समन्ताद् मेदिनीतलम् ॥२४०॥
भूपः प्राहासिनाऽनेन भो ! भोः ! स्तेन ! तवाधुना ।
अवन्तीपुरराज्येच्छां पूरयिष्याम्यहं द्रुतम् ॥२४१॥
श्रुत्वैतत् तस्करो भीतो द्राग् गुहायामुपाविशत् ।
दध्यौ च हा ! मयाऽऽनीतो वधाय स्वस्य साम्प्रतम् ॥२४२॥

अथवा केनचित् पुंसा देवेन दानवेन वा ।
उक्तो मम वधोपायः पुरतोऽस्य दुरात्मनः ॥२४३॥
भूपः प्राहाग्निक ! स्तेनं संशोध्यात्रानयाचिराद् ।
यतोऽस्य दीयते शिक्षा दुष्टस्य खड्गघाततः ॥२४४॥
संशोध्य चाग्निवेतालः स्तेनं दर्याश्रितं रहः ।
बहिर्धृत्वा निनायाशु भूमिपालपुरः स्फुटम् ॥२४५॥
सम्यग् दृष्ट्वा च तं चौरं दध्यावेवं महीपतिः ।
अनेन मे कृता सेवा नानारूपविधानतः ॥२४६॥
विद्यन्तेऽत्र वणिक्पुत्राः पुरीमध्ये च भूरिशः ।
व्यववसायं वितन्वानाः तस्करा(र)स्यास्य राशिना ॥२४७॥
विक्रमः प्राह भोः स्तेन ! कुरु युद्धं मया सह ।
यतो हि जल्पिताः शूरा भवन्ति द्विगुणा द्रुतम् ॥२४८॥
एवमुत्साहितः स्तेनो वचनेन महीभुजा ।
उन्मूलिततरुं शस्त्रीकृत्वा हन्तुं प्रधावितः ॥२४९॥

जघान तस्करो यावत् तरुणा भूपमस्तकम् ।
लाघवाद् भूभुजा तावच्छिन्नं स्तेनशिरोऽसिना ॥२५०॥
श्वसन् खर्परकस्तेनः खेदं तन्वँस्तदा हृदि ।
स्वस्थीकर्तुं द्रुतं प्रोक्त एवं विक्रमभानुना ॥२५१॥
अहमस्य पुरस्यैव स्वामी विक्रमभानुमान् ।
खेदस्त्वया न कर्तव्यः कुर्वता समरं मया ॥२५२॥
शूराः शूरैः समं युद्धं कुर्वन्तोऽपि रणाङ्गणे ।
हताः खेदं न कुर्वन्ति स्थितिरेवं महात्मनाम् ॥२५३॥
स्वस्थीकृतस्ततः सद्यो विक्रमार्कमहीभुजा ।
मृत्वा खर्परकस्तेनः परलोकं समीयिवान् ॥२५४॥ यतः—
तावच्चन्द्रबलं ततो ग्रहबलं ताराबलं भूबलम्,
तावत् सिध्यति वाञ्छितार्थमखिलं तावज्जनः सज्जनः ।
मुद्रामंडल-मन्त्र-तन्त्रमहिमा तावत्कृतं पौरुषम्,
यावत्पुण्यमिदं नृणां विजयते पुण्यक्षये क्षीयते ॥२५५॥

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये, महार्णवे पर्वतमस्तके वा।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा, रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि ॥

छित्त्वा पाशमपास्य कूटरचनां भङ्क्त्वा बलाद् वागुराम्,
पर्यन्ताग्नि शिखाकलापजटिलाद् निर्गत्य दूरं वनाद्।
व्याधानां शरगोचरादतिजवेनोत्प्लुत्य धावन् मृगः,
कूपान्तः पतितः करोति विधुरे किंवा विधौ पौरुषम् ॥२५७॥

कैवर्तकर्कशकरग्रहणाच्च्युतोऽपि
जाले पुनर्निपतितः शफरोऽविवेकी।
जालाद् पुनर्विगलितो गलितो बकेन
वामे विधौ बत कुतो व्यसनान्निवृत्तिः" ॥२५८॥

परस्त्रीहरणस्तैन्यादिकं पापमनर्गलम्।
कृत्वा चौरस्तदा श्वभ्रे जगामानन्तदुःखदे ॥२५९॥ यतः—
"एकस्यैकं क्षणं दुःखं मार्यमाणस्य जायते।
स पुत्रपौत्रस्य पुनर् यावज्जीवं हृते धने ॥२६०॥

चौर्यपापद्रुमस्येह वधबन्धादिकं फलम्।
जायते परलोके तु फलं नरकवेदना ॥२६१॥

दिवसे वा रजन्यां वा सुप्ते वा जागरेऽपि वा।
सशल्य इव चौर्येण नैति स्वास्थ्यं नरः क्वचिद् ॥२६२॥

मित्रपुत्रकलत्राणि पितरो भ्रातरोऽपि हि।
संसजन्ति क्षणमपि म्लेच्छैरिव न तस्करैः" ॥२६३॥

हृष्टो भूपस्ततोऽशेषमिभ्यादिकजनं पुराद्।
स्वस्वद्रविणकन्यादि वस्तु लातुमाकारयत् ॥२६४॥

महेभ्यादिजनाः सर्वे लात्वा वस्तु निजं निजम्।
स्वस्वगृहे ययुः पूर्णीकृतसर्वमनोरथाः ॥२६५॥

चत्वारो धनिनोऽभ्येत्य श्रीदत्ताद्यास्तदा द्रुतम्।
गृहीत्वा कन्यकां स्वां स्वां हृष्टा जग्मुर्निजं गृहम् ॥२६६॥

कृष्णद्विजन्मने चित्रपुट्याः पाटीं महिपतिः।
दत्त्वा कलावतीं पत्नीं जग्राह तत्क्षणात्तदा ॥२६७॥

मन्त्रीशानीतमत्तेभारूढो विक्रमभूपतिः ।
भट्टमात्रादियुक् चारूत्सवं स्वावासमीयिवान् ॥२६८॥ यतः
"चञ्चच्चारणदीयमानकनकं संनद्धगीतध्वनि–
स्फूर्जद्गाथकलुठ्यमानकरटिप्रारब्धनृत्योत्सवम् ।
पूर्णं मङ्गलतूर्यदुन्दुभिरवैरुत्तालवैतालिक–
श्लाघालङ्घितपूर्वपार्थिवमथ क्ष्माभर्तुरासीद् गृहम्" ॥२६९॥

ततः प्रभृति सर्वेऽपि मनुजाः सुखिनोऽभवन् ।
राजाऽपि न्यायमार्गेण पपाल रामवद् भुवम् ॥२७०॥
राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः ।
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः ॥२७१॥

इति श्रीमत्तपागच्छनायकश्रीसोमसुन्दरसूरिपट्टालङ्करणपरमगुरुगच्छनायकश्रीमुनिसुन्दरसूरिशिष्यशुभशीलगणिविरचिते
श्रीविक्रमादित्यचरिते खर्परचौरोत्पत्ति–निग्रहवर्णनो नाम तृतीयः सर्गः समाप्तः ॥

चतुर्थः सर्गः ।

इतः सुकोमला राज्ञी मत्वा कान्तं गतं तदा ।
रुदन्ती(दती) करुणं मात्रा पृष्टा तत्कारणं जगौ ॥१॥
ययौ देवोऽधुना मातर् ! मां मुक्त्वा तेन रोदिमि ।
माता प्राह सुरः क्रीडां कर्तुं यातो भविष्यति ॥२॥ यतः
"वापीकूपतटाकादिकाननेषु च कौतुकात् ।
दीव्यन्ति सततं तेन देवा इत्यभिधाऽभवत्" ॥३॥
रुदन्ती(दती) तनया पित्रा पृष्टा तद्वज्जगौ पुनः ।
ततः पुत्रीं स्थिरीकर्तुमूचतुः पितराविति ॥४॥
तनये ! ते पतिर्दूरं यातोऽपि च मिलिष्यति ।
नो चेत् तदा त्वमत्रस्था धर्मध्यानपरा भव ॥५॥ यतः–
"उपसर्गाः क्षयं यान्ति छिद्यन्ते विघ्नवल्लयः ।
मनः प्रसन्नतामेति पूज्यमाने जिनेश्वरे ॥६॥

पिता योगाभ्यासो विषयविरतिः सा च जननी
विवेकः सोदर्यः प्रतिदिनमनीहा च भगिनी ।
प्रिया क्षान्तिः पुत्रो विनय उपकारः प्रियसुहृत्
सहायो वैराग्यं गृहमुपशमो यस्य स सुखी" ॥७॥
गर्भं दत्त्वा गतः कान्तस्तेन खेदं कथं कुरु ।
यदि ते तनयः पूर्णमासे पुण्याद् भविष्यति ॥८॥
अर्पयिष्याम्यहं तस्मै देशं प्रौढं तदादराद् ।
भाविनी च सुता दास्ये तां तदाऽहं सुभूभुजे ॥९॥ यतः–
"कुलं च शीलं च सनाथता च विद्या च वित्तं च वपुर्वयश्च ।
वरे गुणाः सप्त विलोकनीयास्ततः परं भाग्यवशा हि कन्या ॥
आकर्ण्यैतन्महीपालपुत्री सुस्थितमानसा ।
धर्मध्यानपरा गर्भं पालयामास सद्विधि ॥११॥ यतः–

वातलैश्च भवेद् गर्भः कुब्जान्धजडवामनः ।
पित्तलैः खलतिः पिङ्गः श्वित्री पाण्डुः कफादिभिः" ॥१२॥
संपूर्णदोहदा पूर्णमासा शोभनवासरे ।
भूमिपालसुताऽसूत सुतं सूर्यमिवेन्द्रदिक् ॥१३॥
सन्मान्य सज्जनान् सर्वान् सदन्नपानदानतः ।
दौहित्रस्याभिधां देवकुमारेति व्यधान्नृपः ॥१४॥
धात्रीभिः पञ्चभिर्लाल्यमानं देवकुमारकम् ।
दृष्ट्वा सुकोमला लेखशालायोग्यं मुमोद च ॥१५॥ यतः–
"उत्पतन् निपतन् रिङ्खन् हसन् लालावलीर्वमन् ।
कस्याश्चिदेव धन्यायाः क्रोडमाक्रमते सुतः" ॥१६॥
अन्येद्युर्लेखशालायां पण्डितान्ते महीपतिः ।
कुर्वन् सदुत्सवं सद्यः पठनाय मुमोच च ॥१७॥ यतः–
"माता शत्रुः पिता वैरी बालो येन न पाठितः ।
न शोभते संभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥१८॥

पितृभिस्ताडितः पुत्रः शिष्यश्च गुरुशिक्षितः ।
घनाहतं सुवर्णं च जायते जनमण्डनम्" ॥१९॥
पठन् सुकोमलासूनुः शश्वत् पण्डितसंनिधौ ।
निःशेषशस्त्रशास्त्रादिकलानामभवन्निधिः ॥२०॥
"जले तैलं खले गुह्यं पात्रे दानं मनागपि ।
प्राज्ञे शास्त्रं स्वयं याति विस्तारं वस्तुशक्तितः ॥२१॥
आहार–निद्रा–भय–मैथुनानि सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
ज्ञानं विशेषः खलु मानवानां ज्ञानेन हीना पशवो मनुष्याः" ॥
अन्येद्युः कलहं कश्चित् कुर्वाणो लेखशालिकः ।
सार्धं देवकुमारेण प्राहेति परुषाक्षरम् ॥२३॥
रे ! रे अपितृक ! क्षान्तमद्ययावत् मया भृशम् ।
शालवाहनभूपालतनयातनयत्वतः ॥२४॥
अतः परं न सेहेऽहमपराधं मनाक् तव ।
ततो दध्याविदं सत्यमिति देवकुमारकः ॥२५॥

यदाऽस्थायामहं यामीति सभ्या मां तदा जगुः।
नृपदौहित्रकागच्छ सुकोमलाङ्गज ! व्रज ॥२६॥
भूपतेरमुकस्यैहि पुत्र ! वक्तीति कोऽपि न।
ध्यायन्नेव समेत्यावग् मातुरग्रेऽसिताननः ॥२७॥
भो ! मातस्त्वं कथं चारुचूडिकाऽऽभरणावलीम्।
परिधत्से विना कान्तं ममाग्रे तद् वदाधुना ॥२८॥
तयोक्तं ते पिता देवरूपोऽस्माच्छयनात् यदा।
व्योम्न्युत्थाय ययौ क्रीडन् ततो दृष्टो मया न सः ॥२९॥
देवा दीव्यन्ति सर्वत्र यतः कौतुकिताशयाः।
तेन संभाव्यते नूनं जीवन्नास्ति क्वचित् पिता ॥३०॥
गते लोकेऽखिले स्वस्वस्थाने भूभुग्दुहितृकः।
शून्यो भित्तिगवाक्षादिभारपट्टं विलोकते ॥३१॥ यतः—
अर्थातुराणां न सुहृन्न बन्धुः कामातुराणां न भयं न लज्जा।
चिन्तातुराणां न सुखं न निद्रा क्षुधातुराणां न वपुर्न तेजः ॥

शून्यचित्तं सुतं वीक्ष्य जगौ माता सुकोमला।
कुरुष्व भोजनं चिन्तां मुञ्चेमामधुना सुत ! ॥३३॥ यतः—
"चिन्तामिमां वहसि किं गजयूथनाथ !
योगीव योगविनिमीलितनेत्रयुग्मः।
पिण्डं गृहाण पिब वारि यथोपनीतं,
दैवाद् भवन्ति विपदः खलु संपदो वा" ॥३४॥
पश्यन्नेवं पुनः सम्यक् चक्षुषा भारपट्टके
दृष्ट्वोत्थायाक्षराणीति वाचयामासिवांस्तदा ॥३५॥ तथाहि—
"अवन्तीनगरे गोपः परिणीय नृपाङ्गजाम्।
गां पातुं दण्डभृत् पद्मोत्करक्रीडापरो ययौ ॥३६॥
दृष्टे च पुरुषे द्वेष्टां(ष्यां) कुर्वतीं काष्ठभक्षणम्।
अहमेकोऽधुना वीरः परिणीय रयादगाम्" ॥३७॥
अतो हृष्टं सुतं वीक्ष्याप्राक्षीद् मातेति नन्दनम्।
हे ! पुत्र ! किं पितुः स्थानं त्वया ज्ञातं स वाऽऽगतः ॥३८॥

पुत्रः प्राह मया ज्ञातः पिता तव प्रसादतः ।
मात्रोक्तं विद्यते यत्र तत्स्थानं कथयाद्य मे ॥३९॥
पुत्रोऽवक् प्रथमं मातर् ! यत्रास्ति जनको मम ।
तत्र यास्याम्यहं तुभ्यं कथयिष्ये ततोऽचिरात् ॥४०॥
माता प्राह कथं तत्र सुरगम्ये त्वमेष्यसि ।
पुत्रः प्रोवाच तस्याहं पुत्रोऽस्मि तत्समः खलु ॥४१॥
माता प्राह सुरो देवीवापीवनविमोहितः ।
गत्वा तत्र स्थितस्तेनात्रायाति न कदापि सः ॥४२॥ यतः—
"दिव्वालंकारविभूसणाइं रयणुज्जलाणि अ घराइं ।
रूवं भोगसमुदओ सुरलोगसमो कओ इहयं ॥४३॥
देवाण देवलोए जं सुखं तं नरो सुभणिओ वि ।
न भणइ वाससएण वि जस्स वि जीहासयं हुज्जा" ॥४४॥
हे पुत्र ! तत्र गत्वा त्वमपि स्थास्यसि पितृवत् ।
तदा ममात्र तिष्ठन्त्या गतिः कीदृग् भविष्यति ॥४५॥ यतः-
"एकेनापि सुपुत्रेण सिंही स्वपिति निर्भयम् ।
सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी ॥४६॥
एकेन वनवृक्षेण पुष्पितेन सुगन्धिना ।
वासितं तद्वनं सर्वं सुपुत्रेण कुलं यथा " ॥४७॥
नत्वा प्राह सुतो मातर् ! जीवन्नस्म्यहकं यदि ।
तदैवात्र समेत्य त्वां नेष्यामि तत्र शीघ्रतः ॥४८॥
माता प्रोवाच भो पुत्र ! सत्यमेतत्त्वयोदितम् ।
पुत्रास्त एव कथ्यन्ते पित्रोर्हितकराश्च ये ॥४९॥ उक्तं च—
प्रीणाति यः सुचरितैः पितरं स पुत्रो
यद्भर्तुरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम् ।
तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं य—
देतत्त्रयं जगति पुण्यकृतो लभन्ते ॥५०॥

१ दिव्यालकारविभूषणानि रत्नोज्ज्वलानि च गृहाणि । रूपं भोगसमुदय सुरलोकसमः कृत इह ॥
देवानां देवलोके यत्सुखं तन्नर सुभणितोऽपि । न भणति वर्षशतेनापि यस्यापि जिह्वाशतं भवेत् ॥

दीपाः स्थितं वस्तु विभासयन्ति, कुलप्रदीपास्तु पुनर्नवीनाः ।
चिरं व्यतीतानपि पूर्वजान् ये, प्रकाशयन्ति स्वगुणप्रकर्षात्" ॥
सुकोमला जगौ पुत्र ! पशूनामपि जायते ।
स्नेहोऽपत्येषु सततं पुंसां भवति का कथा ॥५२॥ उक्तं च–
"आदाय मांसमखिलं स्तनवर्जमङ्गाद्
मां मुञ्च वागुरिक ! यामि कुरु प्रसादम् ।
अद्यापि शस्यकवलग्रहणानभिज्ञा
मन्मार्गवीक्षणपराः शिशवो मदीयाः" ॥५३॥ हरिणीप्रोक्तम् ।
पुनर्हस्तिनोक्तम्—
"नो मन्ये दृढबन्धनं क्षतमिमं नैवाङ्कुशोद्घट्टनम्,
स्कन्धारोहणताडनात्परिभवं नैवान्यदेशान्तरम् ।
चिन्तां मे जनयन्ति चेतसि गुणाः स्मृत्वा स्वयूथं वने,
सिंहत्रासितजातभीतिकलभा यास्यन्ति कस्याश्रयम्" ॥
सुकोमला जगौ पुत्र ! गच्छ स्वच्छाशय द्रुतम् ।
स्मरणीया सदा चित्ते सततं भवताऽहकम् ॥५५॥
"मा गा इत्यपमङ्गलं व्रज इति स्नेहेन हीनं वचः,
तिष्ठेति प्रभुता यथारुचि कुरुष्वेत्यप्युदासीनता ।
किं ते साम्प्रतमाचराम उचितं तत्सोपचारं वचः,
स्मर्तव्या वयमेव मित्र ! भवता यावत्पुनर्दर्शनम्" ॥५६॥
तव वर्त्मनि वर्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः ।
अयि साधय साधयेप्सितं स्मरणीयाः समये वयं सुत ! ॥५७॥
"मातृपितृसमं तीर्थं विद्यते न जगत्त्रये ।
यतः प्राप्नोति सुलभो नृभवः शिवशर्मदः" ॥५८॥
ततो देवकुमारोऽवक् कार्यं दुःखं त्वया नहि ।
कृत्यं कृत्वा स्मरंस्त्वां चागमिष्याम्यचिरादिह ॥५९॥ यतः–
"[1]जह भद्दवए मासे भमरा समरंति चूअकुसुमाइं ।
तह भयवं मह हिअए समरइ तुम्हाण पयकमलम्" ॥६०॥

१ यथा भाद्रपदे मासे भ्रमरा स्मरन्ति चूतकुसुमानि । तथा भगवन् ! मम हृदयं स्मरति युष्माकं पदकमलम् ॥

इन्दुं कैरविणीव कोकपटलीवाम्भोजिनीवल्लभं,
माकन्दं पिकसुन्दरीव तरुणी चात्मेश्वरं प्रोषितम् ।
मेघं चातकमण्डलीव मधुपश्रेणीव पुष्पाकरम्,
चेतोवृत्तिरियं ममाम्ब ! सततं त्वां द्रष्टुमुत्कण्ठते ॥६१॥
लब्ध्वाऽथ मातुरादेशं प्रणम्य जननीं पुनः ।
मिलनाय पितुश्चक्रेऽसौ कुमार उपक्रमम् ॥६२॥
जननीविरहं तत्रासहिष्णुर्विक्रमार्कजः ।
कष्टेन चलितो मुञ्चन्नश्रूणि नगरात्ततः ॥६३॥ यतः—
"जणणी[1] जम्मभूमी पच्छिमनिद्दा सुभासिआ गुट्ठी ।
मणइट्ठं माणुस्सं पंचवि दुक्खेण मुचंति" ॥६४॥
प्रतिष्ठानपुराद्देवकुमारः प्रस्थितो रहः ।
मिलनाय पितुः स्थानं ज्ञातुं खड्गसखा क्रमात् ॥६५॥
पश्यन् पदे पदेऽनेकपुरग्रामसरिद्गिरीन् ।
अवन्तीसन्निधिं प्राप्तो दध्यौ देवकुमारकः ॥६६॥

मम यो मातरं मुक्त्वाऽत्रस्थो राज्यरतोऽभवत् ।
अप्रकाश्यात्मनः शौर्यं कथं तस्य मिलाम्यहम् ॥६७॥
यो जातस्तनयो नैव स्वचरित्रेण शालिना ।
दत्ते मुदं पितुस्तेन जातेन सुनुना च किम् ॥६८॥
विना वेश्यागृहं नैव कार्यं सिध्यति कस्यचित् ।
तेनैव स्थीयते कस्याश्चित् पण्ययोषितो गृहे ॥६९॥ यतः—
"विनयं राजपुत्रेभ्यः पण्डितेभ्यः सुभाषितम् ।
अनृतं द्यूतकारेभ्यः स्त्रीभ्यः शिक्षेत कैतवम् ॥७०॥
नयणिहिं रोअइ मणि हसइ जण जाणइ सहु सच्च ।
वेस विसट्ठइ तं करइ जं कट्ठह करवत्त" ॥७१॥
ध्यात्वेति मुख्यवेश्याया गृहे देवः समीयिवान् ।
तया पृष्टं कुतः स्थानात् कस्त्वं किमर्थमागतः ॥७२॥
देवः प्राहास्म्यहं चौरो वेश्ये ! सर्वहराभिधः ।
यतो मया धनं भूरि ह्रियते भूपरैमताम् ॥७३॥

1. जननी जन्मभूमिः पश्चिमनिद्रा सुभाषिता गोष्ठिः । मनइष्टो मनुष्यः पञ्चापि दु खेन मुच्यन्ते ॥

तयोक्तमहमात्मीयगृहे दास्ये न ते स्थितिम् ।
ज्ञात्वा तत्र स्थितिं राजा सर्वं हरति मद्धनम् ॥७४॥ यतः–
‘‘[1]चौरश्चोरापको मन्त्री भेददः क्रयविक्रयी ।
अन्नदः स्थानदश्चैव चौरः सप्तविधः स्मृतः ॥७५॥
वणिक् पण्याङ्गना दस्युर्हृतहृत् पारदारिकः ।
द्वारावलग्निकः कौलः सप्तासत्यस्य मन्दिरम् ॥७६॥
संबन्ध्यपि निगृह्णीत चौर्यान्मंडिकवन्नृपैः ।
चौरोऽपि त्यक्तचौर्यः स्यात् स्वर्गभाग् रौहिणेयवत् ॥७७॥
त्यक्त्वा तस्या गृहं देवकुमारो धीधनस्ततः ।
वेश्याया सदनेऽन्यस्याः स्थातुं शीघ्रं समागमत् ॥७८॥
तत्रापि पूर्ववत्पण्याङ्गनया जल्पितः पुनः ।
वेश्याया सदनेऽन्यस्याः स्थानं कर्तुं समागमत् ॥७९॥
पूर्ववत् मार्गिते स्थाने तेन वेश्या जगावदः ।
विषमा शोभते नैव गोष्ठी पुंसोर्मनागपि ॥८०॥ यतः—
अकालचर्या विषमा च गोष्ठी कुमित्रसेवा न कदाऽपि कार्या ।
पश्याण्डजं पद्मवने प्रसुप्तं धनुर्विमुक्तेन शरेण ताडितम्’’ ॥
एवं गत्वा भ्रमन् भूरिवेश्यानां सदने क्रमात् ।
न प्राप स्थानकं देवकुमारः क्षणमेककम् ॥८२॥
ततो भ्रमन् पुरान्तःस्थ–कालीवेश्यागृहे ययौ ।
तया पृष्टो जगौ देवकुमारः पूर्ववत् तदा ॥८३॥
वेश्या दध्यौ न मद्गृहे आयास्यन्ति धनेश्वराः ।
एवंविधनराणां च स्थितिर्भवति शोभना ॥८४॥
विमृश्येति तया तत्र स्थापितस्तस्करः सुखम् ।
दिनद्वयं गतं तेन नानीतं द्रविणं मनाग् ॥८५॥
वेश्या प्रोवाच कोऽप्यत्र विना द्रव्यं न तिष्ठति ।
द्रव्यं तेनानयाह्वाय नो चेद् गच्छाधुनाऽन्यतः ॥८६॥ यतः–

१ चौर स्थापकमन्त्री च भेदद ग।

“[1]संगह(हि)यसयलअत्थं गहिऊणं वंछए मुक्खं ।
परलोए देइ दिट्ठी(ट्ठिं) मुणिव्व वेसा सुहं देइ” ॥८७॥
चौरोऽप्राक्षीदयं कस्यावासो वर्यो निगद्यताम् ।
वेश्याऽवक् स्वपिति क्ष्मापः स श्रीविक्रमभानुमान् ॥८८॥
अस्याभ्रंलिहगेहस्य सप्तम्यां भुवि सर्वदा ।
स्वपिति क्ष्मापतिर्न्यायमार्गेण पालयन्महीम् ॥८९॥ (युग्मम्)
भट्टमात्रस्य सदनं व्योमव्यापि मनोहरम् ।
भूपालालयवामांगभागे त्वं च विलोकय ॥९०॥
ततः स्तेनो जगौ द्रष्टुं गमिष्यामि पुरीमहं ।
यदा चैत्य त्रियामायां वादयिष्यामि झंपकम् ॥९१॥
भवत्यैत्य तदा शीघ्रमुद्घाट्यो झंपकः शनैः ।
ओमित्युक्ते तया स्तेनो निस्ससार गृहान्मुदा ॥९२॥ यतः—
“सीह सऊण न चंदबल नवि जोइ धण रिद्धि ।
एकल्लऊ लक्खिहिं भिडइ जिहां साहस तिहां सिद्धि” ॥९३॥

इतः प्राहाग्निवेतालः पुरस्तादिति भूपतेः ।
देवद्वीपे करिष्यन्ति नृत्यं देवा मनोहरम् ॥९४॥
तेनाहं तत्र यास्यामि देह्यादेशं ममाधुना ।
मासद्वयमहं तत्र स्थास्यामि तत्कृते नृप ! ॥९५॥
यादृशे तादृशे कार्ये स्मर्तव्योऽहं न च त्वया ।
भूपोऽवग् गच्छ वेताल ! कुरु कार्यं समीहितम् ॥९६॥
एवमुक्ते ययावग्निवेतालस्तत्क्षणात्तदा ।
देवद्वीपे महाश्चर्यकृन्नृत्यमीक्षितुं स्फुटम् ॥९७॥
गत्वा चंडीगृहे स्तेनो नत्वा देवीमिदं जगौ ।
देवि ! त्वं सर्वलोकानां दत्से सततमीप्सितम् ॥९८॥
विद्ये सर्वत्र विजयादृश्यीकाराभिधे उभे ।
देवि ! देहि प्रसद्य त्वं मह्यं संप्रति सादरम् ॥९९॥
न चेदहं करिष्यामि मस्तकेनार्चनां तव ।
एवमुक्ताऽपि नो यावन् मनाग् जल्पति चण्डिका ॥१००॥

[1] संगृहीतसकलार्थं गृहीत्वा वाञ्छति मोक्षम्। परलोके ददाति दृष्टिं मुनिरिव वेश्या सुखं ददाति ॥

तावत्स्तेनोऽसिना सद्यश्छेत्तुं शीर्षं समुद्यतः ।
ततो धृत्वा शये चण्डी तं प्रसन्ना जगावदः ॥१०१॥
भो भोः सात्त्विक कोटीर हीर वीर मलिम्लुच ! ।
दत्ते विद्ये उभे तुभ्यं मया मुञ्चाग्रहं व्रज ॥१०२॥ यतः—
"सदाचारस्य धीरस्य धर्मतो दीर्घदर्शिनः ।
न्यायप्रवृत्तस्य सतः सन्तु वा यान्तु वा श्रियः ॥१०३॥
नोपकारं विना प्रीतिः कथंचित् कस्यचिद् भवेत् ।
उपयाचितदानेन यतो देवोऽपि चेष्टदः" ॥१०४॥
प्राप्तविद्यस्ततो देव्याः स्तेनो निर्भयमानसः ।
एकाकी सत्त्ववान् पुर्यां भ्रमति साखिलं दिनम् ॥१०५॥
समीहते तदा यद्यत् कार्यं कर्तुं मलिम्लुचः ।
सिध्यते(ति) हेलया तत् तत् तस्य प्राच्यवृषोदयात् ॥१०६॥
यतः–"एकोऽहमसहायोऽहं कृशोऽहमपरिच्छदः ।
स्वप्नेऽप्येवंविधा चिन्ता मृगेन्द्रस्य न जायते ॥१०७॥
रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्त तुरगाः,
निरालम्बो मार्गश्चरणविकलः सारथिरपि ।
रविर्यात्येवान्तं प्रतिदिनमपारस्य नभसः,
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥१०८॥
विजेतव्या लङ्का चरणतरणीयो जलनिधिः,
विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः ।
तथाप्याजौ रामः सकलमवधीद् राक्षसकुलम्,
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे" ॥१०९॥
प्राप्तदेवीप्रसादः स स्तेनो नीत्वाऽखिलं दिनम् ।
रजन्यामदृश्यीभूय पत्तीनां पश्यतां व्रजन् ॥११०॥
भूपालशयनावासपार्श्वे गत्वेत्यचिन्तयत् ।
अविधाय चमत्कारं न मिलिष्याम्यहं पितुः ॥१११॥ यतः–
"आडम्बराणि पूज्यन्ते नतु ज्ञातेयडम्बरः ।
वानेयं गृह्यते पुष्पमङ्गजस्त्यज्यते मलः" ॥११२॥

विचिन्त्येति महीपालपार्श्वे गत्वा मलिम्लुचः ।
मुखं प्रेक्ष्य प्रसुप्तस्य पितुश्चाभूत् प्रमोदितः ॥११३॥
मातापित्रोः पदाम्भोजं ननाम भक्तिपूर्वकम् ।
निजं दर्शयितुं शौर्यं चमत्कारकृते पुनः ॥११४॥
अष्टाविंशतिकोटयुद्यत्स्वर्णमूल्यैर्विभूषणैः ।
पूर्णां पेटीं महीपालराज्योर्मलिम्लुचो रहः ॥११५॥
प्रविश्य शयनस्याधो गृहीत्वा यत्नतस्तदा ।
अदृश्यविग्रहः पश्चात् वेश्याझम्पकमीयिवान् ॥११६॥
(त्रिभिर्विशेषकम्)

पूर्वं विहितसङ्केतवेश्योद्घाटितझम्पकः ।
विभूषणानि वेश्यायै दर्शयामास तस्करः ॥११७॥
कस्यैतानीति वेश्योक्ते स प्राह भूप–भार्ययोः ।
वेश्या दध्यावयं सत्यस्तस्करः पश्यतोहरः ॥११८॥

भूषणानि महीपालपत्न्योः सद्यो जहार यः ।
तस्यान्येषां नृणां द्रव्यापहारे का कथा भवेत् ॥११९॥
चौरोऽवग् गणिके! पेटाभूषणैर्भरिताऽनघा ।
रक्षणीया त्वयेदानीं यत्नतः स्वशरीरवत् ॥१२०॥
अतः परमहं यद्यद् आनेष्यामि पुरान्तरात् ।
तदशेषं त्वया ग्राह्यं श्रुत्वैतन्मुदिता च सा ॥१२१॥ यतः–
"[1]जहा लाहो तहा लोहो लाहा लोहो पवड्ढइ ।
दोमासकणयकज्जं कोडीए वि न निट्ठिअं ॥१२२॥
महीयसाऽपि लाभेन लोभो न परिभूयते ।
मात्रा समधिकः कुत्र मात्राहीनेन जीयते ॥१२३॥
आशैव राक्षसी पुंसामाशैव विषमञ्जरी ।
आशैव जीर्णमदिरा धिगाशा सर्वदोषभूः ॥१२४॥
शरीरं श्लथते नाशा रूपं याति न पापधीः ।
जरा स्फुरति न ज्ञानं धिक् स्वरूपं शरीरिणाम्" ॥१२५॥

१ यथा लाभस्तथा लोभो लाभाद् लोभः प्रवर्धते। द्विमाषकनककार्यं कोट्यापि न निष्ठितम् ॥

रसवत्यादिना स्तेनो वेश्यया प्रीणितो भृशम् ।
गृहमध्यस्थितो धर्मध्यानलीनोऽभवत्तदा ॥१२६॥
इतः प्रातः समुत्थाय शय्याया मेदिनीपतिः ।
परिधातुमना यावद् भूषणानि विलोकते ॥१२७॥
तावत्पेटां नृपोऽपश्यन् प्राह पेटाऽस्ति क्व प्रिये ! ।
राज्ञी प्रोवाच शय्याऽधो मुक्ता स्वामिन् ! मया निशि ॥१२८॥
राजा प्राह त्वयाऽन्यत्र मुक्ता संभाव्यते प्रिये ! ।
प्रिया जगौ मयाऽत्रैव मुक्ता पेटाऽथ सा तदा ॥१२९॥
राजाऽवगीदृशे स्थाने विषमे कोऽपि तस्करः ।
प्रविश्य रजनौ पेटां लात्वा नूनं ययौ प्रिये ! ॥१३०॥
कश्चिदेवंविधे स्थाने यद्येति विषमे रहः ।
मारयिष्यति मां चेत् स तदा भवति का गतिः ॥१३१॥ यतः—
"अमेध्यमध्ये कीटस्य सुरेन्द्रस्य सुरालये ।
समाना जीविताकाङ्क्षा समं मृत्युभयं द्वयोः ॥१३२॥
जीवो जीवितलाभेन मार्यमाणोऽपि निर्दयैः ।
राज्यसौख्यमपि प्राज्यं न वाञ्छति कदाचन" ॥१३३॥
द्रष्टुं पदानि पदिका भूभुजाऽऽकारिता जगुः ।
विलोकिताऽपि तैः सम्यग् न ज्ञाता पदपद्धतिः ॥१३४॥
भूपो जगौ तलारक्षा ! यूयं किं क्व गता निशि ।
अथवा यत्नतो गेहं भवन्तो रक्षन्ति न मे ॥१३५॥
ते प्राहुर्यत्नतः स्वामिन् ! गतनिद्रा वयं निशि ।
रक्षेम भवतो गेहं भ्रमन्तः सर्वतो भृशम् ॥१३६॥
ततो राजा सभाऽऽसीनो भट्टमात्रादिधीसखान् ।
आकार्य निशि वृत्तान्तं सर्वमुक्त्वा जगौ पुनः ॥१३७॥
चौरो नैवंविधे स्थाने भूषणार्थं समाययौ ।
किं त्वयं ज्ञापयत्येवं मम सम्प्रति सात्त्विकः ॥१३८॥
अहमस्मि स्फुरद्विद्यासिद्धो विद्याधराग्रणीः ।
अदृश्यीकरणप्रौढमन्त्रादृश्यवपुर्नरः ॥१३९॥

य: कश्चिद् भवतो राज्ये विद्यते कोविदोत्तमः।
स एवं विधिना सद्यः प्रकटीकुरुतात् खलु ॥१४०॥
अथाऽहं भवतः पेटां भूषणैर्भरितां भृशम्।
लात्वा गतोऽस्मि विघ्नं ते करिष्यामि प्रगे पुनः ॥१४१॥
तेनेदं ज्ञायते नूनं स एव सात्त्विकाग्रणीः।
त्याजयित्वा च मां राज्यात् ग्रहीष्यत्यचिरात् श्रियम् ॥१४२॥
दुःसाध्यः खर्परश्चौरो निगृहीतो मया पुरा।
एवंविधोऽधुना दुष्टोऽभवत्स्वौकःप्रवेशनात् ॥१४३॥
प्रविश्य धनिनां गेहे रहो रात्रौ च तस्करः।
अयं खर्परवल्लक्ष्मीं हरिष्यति न संशयः ॥१४४॥
विचार्येति नृपो हस्ते विधाय बीटकं जगौ।
यः कर्षिष्यति तं चौरं स मान्यते रमया मया ॥१४५॥
तादृग्भूपालसदने प्रवेशात् तस्करं तदा।
विज्ञाय बलिनं कोऽपि गृह्णाति बीटकं नहि ॥१४६॥

मतिसारस्ततो मन्त्री प्राहेति सुभटान् प्रति।
यो राज्ञः कुरुते कार्यं स सत्यः सेवको भवेत् ॥१४७॥
"युद्धकालेऽग्रगो यः स्यात् सदा पृष्ठानुगः पुरे।
प्रभोर्द्वाराश्रितो गेहे स भवेत् राजवल्लभः ॥१४८॥
चित्तज्ञः शीलसम्पन्नो वाग्मी दक्षः प्रियंवदः।
यथोक्तजल्पको भूपभक्तो भृत्यः प्रशस्यते ॥१४९॥
न विना पार्थिवो भृत्यैर्न भृत्याः पार्थिवं विना।
तेषां च व्यवहारोऽयं परस्परनिबन्धनः ॥१५०॥
राजा तुष्टोऽपि भृत्यानामर्थमात्रं प्रयच्छति।
तेऽपि सन्मानमात्रेण प्राणैरप्युपकुर्वते" ॥१५१॥
आकर्ण्यैतद् वचो मन्त्रिप्रोक्तं सिंहस्तलारकः।
ग्रहीतुं बीटकं सद्य उत्तस्थौ भूपतेः पुरः ॥१५२॥
तलारो बीटकं लात्वा प्रोवाचेति दिनत्रये।
चौरं स्वस्वामिनः पार्श्वे आनेष्यामि प्रपञ्चतः ॥१५३॥

नो हि चेत् स्वामिना चौरदण्डः कार्यो ममाचिरात् ।
एवं कृत्वा तलारक्षः प्रतिज्ञां चलितस्ततः ॥१५४॥
द्विकत्रिकचतुःस्थाने पाटके पाटकेऽभितः ।
स्तेनं धर्तुं तलारक्षो मुमोच सुभटान् निजान् ॥१५५॥

तलारक्षश्चतुरशीतिहट्टश्रेणिषु सर्वतः ।
तृतीयदिवसस्यान्ते पूर्वद्वारि ययौ भ्रमन् ॥१५६॥
इतः पणाङ्गना पृष्टा स्तेनेनेति जगौ स्फुटम् ।
प्रतिज्ञामकरोत् स्तेनं धर्तुमद्य तलारकः ॥१५७॥
भ्रामं भ्रामं तलारोऽत्र चेदेष्यति कदाचन ।
तदा गतिर्भवेत्का मे तव च ब्रूहि तस्कर ! ॥१५८॥

आदौ च यत् त्वया चौर्यं विहितं राजवेश्मनि ।
तत्कृतं शोभनं नैव भूपाला दुःशका यतः ॥१५९॥ यतः–
"शल्यवह्निविषादीनां सुकरैव प्रतिक्रिया ।
सहसाकृतकार्योत्थानुतापस्य तु नौषधम् ॥१६०॥

भद्दा भूप भुअंगमा ए मुहि दोहिला हुंति ।
वयरी विंछी वाणीआ पूठिं दोह दीअन्ति" ॥१६१॥
तेनास्मात्स्थानकाद् गत्वाऽन्यत्र तिष्ठ रहो बहिः ।
संपूर्णायां प्रतिज्ञायामागन्तव्यं त्वया किल ॥१६२॥

एवं ममापि भवतः कुशलं च भविष्यति ।
अन्यथा कम्पते चित्तं मदीयं ध्वजवस्त्रवत् ॥१६३॥
चौरः प्राह न भेतव्यं भवत्याऽत्र मनागपि ।
करिष्याम्यचिराद् भूरिश्रीयुतां त्वामहं ननु ॥१६४॥
हृष्टा वेश्या जगौ चौर ! त्वं धन्यो निर्भयोऽसि च ।
ईदृक्षसंकटे जाते यतो धीरष्टधा तव ॥१६५॥ यतः—

"सीह सउण न चन्दवल नवि जोइ धणरिद्धि ।
एकल्लुउ लक्खहिं भिडइ जिहां साहस तिहां सिद्धि" ॥१६६॥
चौरोऽप्राक्षीत् कियदस्ति तलारस्य कुटुम्बकम् ।
वेश्याऽवग् विद्यते तस्य पुत्रो नैकोऽपि सम्प्रति ॥१६७॥

सोमाह्वाभगिनीपुत्रः सप्ताब्दः श्यामलाभिधः।
गङ्गागोदावरीतीर्थयात्रायै प्रययौ स तु ॥१६८॥
वर्षाण्यष्टौ ययुस्तस्य तीर्थयात्रागतस्य च।
अद्य यावन्न चायातः श्यामलस्त्वत्समाङ्गरुक् ॥१६९॥
अद्य कल्ये परेद्युर्वा यास्यतीति श्रुतं मया।
श्रुत्वैतत्तस्करः प्राह गमिष्यामि पुरान्तरे ॥१७०॥
यदा चैत्य त्रियामायां वादयिष्यामि झम्पकम्।
भवत्याशु तदाऽऽगत्योद्घाटनीयश्च झम्पकः ॥१७१॥
वेश्या जगौ यदैषि त्वं झम्पं च वादयिष्यसि।
करिष्येऽहं त्वदुक्तं तत् सर्वं स्तेनशिरोमणे! ॥१७२॥
ततो मलिम्लुचो हृष्टचित्तो वेश्यानिकेतनात्।
निःससार गताशङ्को द्रष्टुं भूयः पुरीं तदा ॥१७३॥
दर्शं दर्शं पुरीमध्ये कौतुकानि पदे पदे।
क्षेप्तुं विघ्ने तलारक्षं विलोकयति सर्वतः ॥१७४॥

गत्वा कार्पटिकावासे लात्वा कावडिकां तथा।
कृततीर्थिकवेषः सन् स्तेनो बभ्राम सर्वतः ॥१७५॥
पूर्वद्वारि तलारस्य क्षुधापीडितवर्ष्मणः।
मिलित्वा संमुखं मामेत्युक्त्वा ननाम तीर्थिकः ॥१७६॥
आकारवर्णरूपेणोपलक्ष्य भागिनेयकम्।
तलारोऽवक् त्वया यात्रा कस्य कस्य कृता ननु ॥१७७॥
भागिनेयो जगौ माम! प्रसादाद् भवतोऽनघात्।
गङ्गागोदावरीमुख्यतीर्थयात्रा कृता मया ॥१७८॥
लाहि गङ्गोदकं गाङ्गं रजो गोदावरीपयः।
ततस्तेनार्पितं तत्तद् गृहीतं निखिलं मुदा ॥१७९॥
श्यामलोऽवक् कथं माम! कृष्णमास्यं तवाधुना।
तलारः कथयामास प्रतिज्ञां स्वां तदग्रतः ॥१८०॥
भागिनेयो जगौ माम! प्रतिज्ञा यत्त्वया कृता।
भूपोपान्ते न तच्चारु यतो दुष्टा महीभुजः ॥१८१॥ यतः—

"काके शौचं द्यूतकारे च सत्यं,
सर्प्पे क्षान्तिः स्त्रीषु कामोपशान्तिः ।
क्लीवे धैर्यं मद्यपे तत्त्वचिन्ता,
राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा" ॥१८२॥

अतो धनकुटुम्बादि स्थाप्यते साम्प्रतं रहः ।
नो चेद् भूमिपतिः सर्वश्रियं तव हरिष्यति ॥१८३॥
सिंहः प्राह त्वया सत्यं जल्पितं भागिनेयक ! ।
किं कुर्वेऽहं गृहे गन्तुं न शक्नोम्यधुना मनाक् ॥१८४॥
दुष्टो भूपो न जानेऽहं किं करिष्यति मेऽधुना ।
तेन त्वं सदने गत्वा मिलित्वे द्रुतं कुरु ॥१८५॥
श्रीकुटुम्बे रहोऽशेषे कृत्वा तिष्ठ निकेतने ।
श्यामलोऽवक् कथं ब्रूपे (ब्रुवे) एवं तत्रागतोऽहकम् ॥१८६॥
तेन स्वं सेवकं कंचिदाप्तं सार्धं मयाऽधुना ।
द्रुतं कथयितुं तं च प्रेषय त्वं हि मातुल ! ॥१८७॥

तलारप्रेषितः स्वीयपत्तियुक् श्यामलः पथि ।
व्रजन् प्राह तलारक्षसेवकं भागिनेयकः ॥१८८॥
भो भोः तलारपत्ते ! हि वक्तव्यं भवता द्रुतम् ।
मातुलोक्तं कुटुम्बाद्यागर्भितं मम पश्यतः ॥१८९॥
बहुभिर्हायनैरत्रागतोऽस्मि साम्प्रतं ननु ।
देहवर्णपरावृत्तिर्भ्रमतो मेऽभवत्पुनः ॥१९०॥
गत्वाऽग्रे सेवकः प्राह तलारक्षप्रियेऽधुना ।
भागिनेयस्तवायातः तीर्थयात्रां विधाय च ॥१९१॥
तलारक्षस्वसस्तेऽद्य यात्रां कृत्वाऽऽययौ सुतः ।
भागिनेये ! तव भ्राता चागतः स्वागतं कुरु ॥१९२॥
श्रुत्वेति श्यामलः शीघ्रं मामकीत्यादिपूर्वकम् ।
चकार विनयं सम्यग् यथायोग्यं पृथक् पृथक् ॥१९३॥
आगतं श्यामलं दृष्ट्वा हृष्टा मात्रादयोऽचिरात् ।
गङ्गोदकादि सर्वासां तीर्थिकः प्रददौ तदा ॥१९४॥

पत्तिः प्राह तलारक्षः प्रोवाचेति मदाननान् ।
युष्माभिर्निखिला लक्ष्मीः स्थापनीया रहोऽचिरात् ॥१९५॥
अद्य यावन्नहि स्तेनो लब्धोऽस्ति भूरिवीक्षितः ।
न ज्ञायते ततो भूपो रुष्टः किं किं करिष्यति ॥१९६॥

इत्युक्त्वा सेवकः पश्चात् तलारोपान्तमेत्य च ।
जगौ स्वामिंस्त्वदीयोक्तं मया चक्रेऽखिलं ध्रुवम् ॥१९७॥
इतोऽवक् मामिकाऽऽकार्य भागिनेयं भयाकुला ।
स्थापय त्वं रमाः सर्वा रहःस्थानेऽधुना चिरात् ॥१९८॥
त्वदीयमातुलेनैवं पत्त्यास्येन निवेदितम् ।
यथा कोऽपि नरो नैव जानाति स्थापितां रमाम् ॥१९९॥

मामिका भागिनेयायादर्शयन्निखिलं धनम् ।
भागिनेयो जगौ कोष्ठ्यां मामिके ! प्रविश द्रुतम् ॥२००॥
शाटीं स्वां त्वं ममाह्वायार्प्पय नो चेन्नरेश्वरः ।
शाटिकाद्यखिलं सर्वं ग्रहीष्यति न संशयः ॥२०१॥

"रुष्टा नरेश्वरा दुष्टमानसा निर्दयाः खलु ।
तृणमात्रमपि धनं न मुञ्चत्यनला इव ॥२०२॥
कोष्ठ्यां प्रविश्य शाटीं प्राग् भागिनेयाय सा ददौ ।
चिक्षेप जननीं गोणिमध्ये छन्नं शठाशयः ॥२०३॥

गोद्दडकान्तरे जामिं प्रक्षिप्येदं जगाद सः ।
यदि कश्चिन्नरोऽभ्येत्यात्र मनाक् शब्दयिष्यति ॥२०४॥
भवन्तीभिस्तदा नैव वक्तव्यं बहुजल्पने ।
ततस्ता निखिलास्तस्थुर्मौनमाधाय शीघ्रतः ॥२०५॥
लात्वा भूमिगतं द्रव्यं बाह्यं च भागिनेयकः ।
मुक्त्वा कावडिकां गेहमध्येऽचालीत् तदा रहः ॥२०६॥यतः—
"चोरा चुल्लका विय दुज्जणविज्जा य विप्पपाहुणया ।
नच्चणधुत्तनरिंदा परस्स पीडं न याणंति ॥२०७॥
पूर्वविहितसंकेतवेश्योद्घाटितझम्पकः ।
गृहमध्ये द्रुतं गत्वा तस्करोऽदर्शयत् धनम् ॥२०८॥

कस्येदं विद्यते द्रव्यमित्युक्ते पणयोपिता ।
स्तेनः प्राह तलारस्य हृत्वाऽऽनीतं धनं मया ॥२०९॥
वेश्या दध्यावयं सत्यः तस्करः पश्यतोहरः ।
द्रव्यं सद्यः तलारस्य गेहमध्याज्जहार यः ॥२१०॥
तस्यान्येषां नृणां द्रव्यापहारे का कथा पुनः ।
चौरः प्राह धनमिदं गृह्णातु भवती द्रुतम् ॥२११॥
वेश्या दध्यावयं चौरोऽपूर्वो दात्रादिसद्गुणात् ।
यत एवंविधाश्चौरा दृश्यन्ते न कदाचन ॥२१२॥
तलारक्षः प्रगे राजपार्श्वे गत्वेदमूचिवान् ।
दिनत्रयं क्षुत्तृड्युजा (बाढं) चौरो विलोकितः ॥२१३॥
नैव लब्धो मया स्वामिन् ! तस्करो भ्रमता पुरे ।
कुरुष्व स्तेनदण्डं मे शिरश्छेदादिना द्रुतम् ॥२१४॥ यतः—
दुष्टस्य दण्डः स्वजनस्य पूजा न्यायेन कोशस्य सदैव वृद्धिः ।
अपक्षपातोऽर्थिषु राष्ट्रचिन्ता पञ्चैव यज्ञाः कथिता नृपाणाम् ॥

चित्तज्ञः शीलसम्पन्नः वाग्मी दक्षः प्रियंवदः ।
यथोक्तजल्पको भूपभक्तो भृत्यः प्रशस्यते ॥२१६॥
भक्तिगर्भं तलारोक्तं श्रुत्वा हृष्टो नृपोऽवदत् ।
गच्छ त्वं स्वगृहे सद्यो दूषणं तव नो मनाक् ॥२१७॥
यो मम शयनावासे प्रविश्य विषमेऽपि च ।
भूषणानि रहो लात्वा सद्यो रात्रौ ययौ क्वचिद् ॥२१८॥
स कथं लभ्यते स्तेनो भवता भ्रमता भृशम् ।
तेन त्वं स्वगृहे याहि मत्तो निर्भीकमानसः ॥२१९॥ यतः—
"दुर्बलानामनाथानां बालवृद्धतपस्विनाम् ।
अन्यायैः परिभूतानां सर्वेषां पार्थिवो गुरुः ॥२२०॥
आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणां वृत्तिच्छेदो द्विजन्मनाम् ।
पृथक् शय्या च नारीणामशस्त्रो वध उच्यते" ॥२२१॥
नत्वा भूपं तलारक्षो गत्वा गेहमिदं जगौ ।
हे प्रिये ! एहि मुञ्च त्वं पादप्रक्षालनाम्बु मे ॥२२२॥

एवमुक्ते भृशं भार्या यदा जल्पति नो मनाक् ।
तदाऽऽह सोमिके ! किं त्वं नो हि जल्पसि साम्प्रतम् ॥२२३॥
एवं पुनः पुनः प्रोक्ते तदेति सोमिका जगौ ।
अहमत्र च गोमाणिमध्येऽस्मि च निरम्बरा ॥२२४॥
भागिनेयाऽपि तेनैवं पृष्टा प्रोवाच पूर्ववत् ।
तलारक्षो जगौ कुत्र विद्यते भागिनेयकः ॥२२५॥
ताभिरुक्तं धनं सर्वमसद्वस्त्रादिसंयुतम् ।
न्यासीकुर्वन् क्वचिद् भागिनेयः सम्प्रति वर्त्तते ॥२२६॥
[1]तेनादौ भागिनेयस्य पार्श्वाद् वस्त्राणि वेगतः ।
आनीय देहि नो निस्सरिष्यामो वयकं यथा ॥२२७॥
ततः स लोकते यावद् भागिनेयं गृहान्तरे ।
तावच्छून्यं गृहं भागिनेयश्रीभ्यां ददर्श च ॥२२८॥
ततो व्याकुलचेतस्कस्तलारो ध्यातवानिति ।
हहा ! कश्चिन्महाधूर्त्तो हृत्वा लक्ष्मीं गतोऽधुना ॥२२९॥

दृष्ट्वा कावडिकां गेहान्तरे सद्यस्तलारकः ।
दध्यौ स तस्करो धर्मव्याजेन च ववञ्च माम् ॥२३०॥
ध्यायन्नेवं तलारक्षो मूढात्मा न्यपतद् भुवि ।
निःसृत्य तत्क्षणात्सर्वं तत्रेयाय कुटुम्बकम् ॥२३१॥
चौरः सर्वं धनं लात्वा छलेन तत्क्षणाद् गतः ।
इत्यादिजल्पनपरं बहिस्थः सेवकोऽशृणोत् ॥२३२॥
'चौर' इत्यक्षरश्रेणीं श्रुत्वा तलारसेवकः ।
गत्वा भूपान्तिके सद्यः प्राहेति गद्गदस्वरम् ॥२३३॥
प्रविष्टं तस्करं सौवगृहे दृष्ट्वा तलारकः ।
गृह्णानस्तस्करेणाधश्चक्रे क्रूरात्मनाऽधुना ॥२३४॥
निग्रहीतुं द्रुतं तेन पूज्या धावत धावत ! ।
आकर्ण्यैतत्तलारक्षगेहं भूपः समीयिवान् ॥२३५॥
तलारं पतितं भूमौ निश्चेष्टं वीक्ष्य भूपतिः ।
शीतोपचारकरणाच्चकाराशु सचेतनम् ॥२३६॥

[1] तेनादौ देहि वस्त्राण्यस्मभ्यं तानि ददौ स च । तलारो लोकते यावत् गृहमध्ये च तं तदा ॥ ग।

निःशेषद्रव्यहरणात् तस्करेणेति जल्पनात् ।
तलारोऽवग् मम प्राणाः करिष्यन्ति प्रयाणकम् ॥२३७॥ यतः—
"एकस्यैकं क्षणं दुःखं मार्यमाणस्य जायते ।
सपुत्रपौत्रस्य पुनर्यावज्जीवं हृते धने" ॥२३८॥
अभिमानो मदीयोऽद्य गतः सर्वोऽधुना क्षयम् ।
तेनान्यत्र गमिष्यामि दूरदेशे क्वचित्प्रभो ! ॥२३९॥
नृपः प्राहात्र भवता धार्यं दुःखं मनाग् नहि ।
भूषणानि रहो लात्वा योऽस्माकं तस्करो ययौ ॥२४०॥
तेन त्वया तलारक्ष ! कार्यः खेदो न चेतसि ।
नहि केषां स्थिरा नृणां लक्ष्मीर्भवति निश्चितम् ॥२४१॥ यतः—
"दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥२४२॥
दायादाः स्पृहयन्ति तस्करगणा मुष्णन्ति भूमीभुजो,
गृह्णन्ति च्छलमाकलय्य हुतभुग् भस्मीकरोति क्षणात् ।
अम्भः प्लावयति क्षितौ विनिहतं यक्षा हरन्ते हठाद्,
दुर्वृत्तास्तनया नयन्ति निधनं धिग् ! बह्वधीन धनम्" ॥
एवं स्वस्थं तलारक्षं कृत्वा लक्ष्मीसमर्पणात् ।
भूपः कौतुकितस्वान्तो निजावासमुपेयिवान् ॥२४४॥
उपविश्य सभामध्ये पुनः सारपरिच्छदः ।
वीटकं स्वकरे कृत्वा प्रोवाचेति महीपतिः ॥२४५॥
सभायां कोऽपि वीरोऽस्ति धृत्वा सम्प्रति तस्करम् ।
योऽत्रानयति मत्पार्श्वे गृह्णातु वीटकं स च ॥२४६॥
श्रुत्वैतत्स्वामिनो वाक्यं भट्टमात्रो मुदा तदा ।
गृहीत्वा वीटकं भूपार्पितं प्राहेति संसदि ॥२४७॥
यद्यहं तस्करं घस्रत्रयमध्ये द्रुतं प्रभो ! ।
नानेष्यामि तदा चौरदण्डः कार्यस्त्वया मम ॥२४८॥
इत्युक्त्वा भूपतिं नत्वा भट्टमात्रो नमच्छिराः ।
निःससार सभामध्यादेकाकी खड्गसंयुतः ॥२४९॥

द्विकत्रिकचतुःस्थाने पाटके पाटकेऽभितः ।
मुमोच सुभटान् स्तेनं धर्त्तुं भट्टो रहो निजान् ॥२५०॥
भट्टमात्रश्चतुरशीत्यट्टश्रेणिषु सर्वतः ।
रहोवृत्त्याऽनिशं स्तेनं धर्त्तुं बभ्राम निर्भयः ॥२५१॥
इतस्ततो जगावक ! का वार्त्ताऽस्ति पुरे वद ।
वेश्याऽवग् भट्टमात्रेण परेद्युरिति जल्पितम् ॥२५२॥
"यद्यहं तस्करं घस्र० ॥२५३॥ [२४८]
इत्युक्त्वा नृपतिं नत्वा०" ॥२५४॥ [२४९]
स्थाने स्थाने रहोवृत्त्या भट्टमात्रो दिवानिशम् ।
भ्रमन्नेष्यति चेदत्र तदा मे का गतिर्भवेत् ॥२५५॥ यतः—
"वेश्याऽक्का नृपतिश्चौरो नीरमार्जारमर्कटाः ।
जातवेदाः कलादश्च न विश्वास्या इमे क्वचित् ॥२५६॥
चौर्यपापद्रुमस्येह वधबन्धादिकं फलम् ।
जायते परलोके तु फलं नरकवेदना ॥२५७॥

चौरः प्राह न भेतव्यं भवत्याऽत्र मनागपि ।
करिष्येऽहं तथा चौर्यं यथा स्यात् सुखमावयोः ॥२५८॥ यतः—
"उद्यमं साहसं धैर्यं बलं बुद्धिः पराक्रमम् ।
षडेते यस्य विद्यन्ते तस्य देवोऽपि शङ्कते" ॥२५९॥
त्वं बिभेषि कथं वेश्ये ! छलकूटादितत्परा ।
श्रूयन्तेऽखिलशास्त्रेषु पण्यनार्योऽखिलाः खलु ॥२६०॥ यतः—
नयणेहिं रोइ मणि हसइ जण जाणइ सव सच्च ।
वेस विसट्ठह जं करइ तं कट्ठह करवत्तु ॥२६१॥
उपभुक्तखदिरबीटकरक्ताधरदन्तभङ्गभयात् ।
पितरि मृतेऽपि हि वेश्या रोदिति हा तात ! तातेति" ॥२६२॥
विधेया न त्वया भीतिरत्रेदानीं पणाङ्गने ! ।
भूपा एवानने दुष्टाः श्रूयन्ते शास्त्रमध्यतः ॥२६३॥ यतः—
"भद्दा भूप भुअंगम ए मुहि दुहिला हुंति ।
वयरी वींछी वाणीआ पूठिं दाह दिअंति" ॥२६४॥

यस्य कस्याप्यहं पार्श्वे स्थितश्चौर्यपरो रहः ।
तस्य क्षोणीपतिर्मानं भूरिलक्ष्म्या प्रदास्यति ॥२६५॥
हृष्टा वेश्या जगौ चौर ! त्वं धन्यो निर्भयोऽसि च ।
ईदृक्षे सङ्कटे जाते यतो नास्ति भयं तव ॥२६६॥ यतः—
"कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्तेर्न शक्यते सत्त्वगुणः प्रमार्ष्टुम् ।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्नेर्नाधः शिखा याति कदाचिदेव" ॥
श्रुत्वैतत्तस्करः प्राह गमिष्यामि पुरान्तरे ।
यदैत्याहं च यामिन्यां वादयिष्यामि झम्पकम् ॥२६८॥
भवत्याऽऽशु तदाऽऽगत्योद्घाट्यश्च फलकः शनैः ।
प्राप्ताप्राप्तधनाश्चौराः समेष्यन्ति यतो निशि ॥२६९॥
वेश्या जगौ यदैत्य त्वं झम्पकं वादयिष्यसि ।
करिष्येऽहं त्वदुक्तं तत् सर्वं स्तेनशिरोमणे ! ॥२७०॥
ततो मलिम्लुचो देवकुमारो गणिकालयात् ।
निस्ससार गताशङ्को द्रष्टुं सर्वां पुरीं तदा ॥२७१॥

भ्रमताऽदृश्यरूपेण स्तेनेन निखिले पुरे ।
भट्टमात्रो भ्रमन् सायं दृष्टो वैलक्षमानसः ॥२७२॥
भ्रमतो भट्टमात्रस्याविश्रामं निखिले पुरे ।
तृतीयदिवसस्यागात् सन्ध्या कृतान्तसन्निभा ॥२७३॥
रात्रौ सुप्तेषु लोकेषु सर्वेषु तस्करस्तदा ।
क्षिप्त्वा पादं निजं नीचहड्यां तस्थौ च निर्भयः ॥२७४॥
इतो भ्रान्त्वा पुरं सर्वं भट्टमात्रं भृशं तदा ।
व्रजन्तमग्रतो वीक्ष्य छन्नं प्राहेति तस्करः ॥२७५॥
हे अमात्य महाबुद्धे भट्टमात्र ! नरोत्तम ।
क्व गच्छसि किमर्थं त्वं त्वरितं त्वरितं वद ॥२७६॥
श्रुत्वैतच्चकितो भट्टमात्रः पश्चात्समेत्य च ।
पप्रच्छात्रासि भो कस्त्वं केनात्र स्थापितो वद ॥२७७॥
सोऽवग् निष्कारणं राज्ञा हड्यां क्षिप्तोऽसि निर्दयम् ।
विलोकयसि किं मां न दीनं कष्टेन संस्थितम् ॥२७८॥

अमात्योऽवग् मया चक्रे प्रतिज्ञा भूपतेः पुरः ।
धर्तुं चौरं स चाद्यापि कुत्र लब्धः श्रुतोऽपि न ॥२७९॥
तेनातीव मम स्वान्ते दुःखं सम्प्रति विद्यते ।
यतो नैव महीपाला आत्मीयाः स्युः कदाचन ॥२८०॥ यतः—

"काके शौचं द्यूतकारे च सत्यं,
सर्प्पे क्षान्तिः स्त्रीषु कामोपशान्तिः ।
क्लीबे धैर्यं मद्यपे तत्त्वचिन्ता,
राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा" ॥२८१॥

चौरोऽवग् यदि मे ग्रामान् भूरिशो दापयाचिरात् ।
तदा तस्येह धरणोपायं च कथयाम्यहम् ॥२८२॥
भट्टमात्रो जगौ स्तेनं यदि त्वं दर्शयिष्यसि ।
तदा तुभ्यं बहून् ग्रामान् दापयिष्याम्यहं नृपात् ॥२८३॥
हडिस्थः पुरुषः प्राह तनयोऽहं प्रजापतेः ।
भीमाह्वो मिलितस्तस्य चौरस्य दैवयोगतः ॥२८४॥
स्तेनोऽवक् त्वं मया सार्द्धमायास्यसि पुरे यदि ।
तदा तुभ्यं धनं भूरि दास्येऽहं चौर्यतः खलु ॥२८५॥
लोभात् ततो मया तेन सार्द्धं भ्रान्तं च दस्युना ।
मह्यं किमपि नो वस्तु ददौ चौरः कदाचन ॥२८६॥

"कोहो पीइं पणासेइ माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ लोभो सव्वविणासणो" ॥२८७॥

तत्सङ्गत्याऽधुना चौरभ्रान्त्या धृत्वा महीपतिः ।
हडौ मामत्र चिक्षेप दीनं तादृशसङ्गतेः ॥२८८॥ यतः—

"अंबस्स निंबस्स य दुण्हंपि समागयाइं मूलाइं ।
संसग्गा इ विणट्ठो अंबो निंबत्तणं पत्तो ॥२८९॥

सदा दुर्जनसंसर्गो विपदे वृत्तशालिनाम् ।
वारिहारिघटीपार्श्वे ताड्यते पश्य झल्लरी ॥२९०॥
जं चिअ विहिणा लिहिअं तं चिअ परिणमइ सयललोअस्स ।
इअ जाणेविणु धीरा, विहुरे वि न कायरा हुंति ॥२९१॥

कल्ये चौरं निरीक्ष्यात्रागतं प्रोक्तमिदं मया ।
त्वत्सङ्गत्याहमीदृक्षामवस्थां दुःखदां गतः ॥२९२॥
निश्काशयाद्य मां मित्र ! सद्यः सङ्कटसंस्थितम् ।
यतो मित्रस्य नो मैत्री विघटेत कदाचन ॥२९३॥ यतः—
पडिवन्नं[1] दिणयरवासराण दोण्हं पि अखंडियं हवइ ।
सूरो न दिणेण विणा दिणो न सूरविरहम्मि ॥२९४॥
उप्परि चंदा तलि कुसुम दूरट्ठिअ विहसंति ।
वाससहस्सेहिं नवि मिलइ नेहा नवि चुकंति" ॥२९५॥
चौरोऽवक् स्वशये वामे चन्दिका भूरिशोऽपतन् ।
तेनाधुना न शक्नोमि निष्कोष्टुं त्वां सुहृद्वर ! ॥२९६॥
ततः प्रोचे मया मित्र ! मह्यं वितर भोजनम् ।
यावच्छयः क्रमात् सज्जीभवेदीदृक्षरोगतः ॥२९७॥
ततो मह्यं त्रियामिन्यामेत्यात्र ददतेऽदनम् ।
स्वस्थाने सन्ततं छन्नं तिष्ठति स्म दिनोदये ॥२९८॥

मह्यं स्वस्थानकं नैव दर्शयामास तस्करः ।
दृश्यादृश्यवपूरूपस्तिष्ठति स्म पुरान्तरे ॥२९९॥
कुरुते सन्ततं स्तैन्यं महेभ्यभूपसद्मसु ।
आयास्यत्यधुना स्तेनस्तेन तिष्ठ रहः शनैः ॥३००॥
अङ्गीकृत्य वचस्तस्य भट्टमात्रः स्थितो मुदा ।
चौरस्यानागतिं मत्वा पुनः प्राहेति तं प्रति ॥३०१॥
किं नायात्यधुना तावकीनं मित्रं वदोत्तम ।
हडिस्थः पुरुषः प्राह स चौरो लब्धलक्षकः ॥३०२॥
द्वितीयं पुरुषं प्रेक्ष्य पश्चाद् याति पुनः पुनः ।
धरिष्यति(ते) स दुःखेन प्रपञ्चरचनान्नु ॥३०३॥
क्षिप्त्वा हड्यां पदं तिष्ठाहं तिष्ठामि रहः पुनः ।
यदैत्य भाजनं किञ्चित् तुभ्यं दास्यति यो जनः ॥३०४॥
तदा त्वया करे ग्राह्यो दृढं मुष्ट्या स मानवः ।
नो चेत्कृत्वा छलं सद्योऽदृश्यरूपः प्रयास्यति ॥ (युग्मम्)

१ प्रतिपन्नं दिनकरवासरयोर्द्वयोरपि अखण्डितं भवति । सूरो न दिनेन विना दिनो न सूरविरहे ॥

भट्टमात्रो जगावित्थं गृह्यते तस्करो यदि ।
धर्तुं चौरं तदा मां त्वं हड्यां क्षिप सुहृद्वर ॥३०६॥
भट्टमात्रं दृढं हड्यां क्षिप्त्वा स्थित्वा क्षणं रहः ।
पूर्ववद् गणिकावेश्म नंष्ट्वा चौरश्छली ययौ ॥३०७॥
भट्टमात्रस्ततः पश्यन् तस्यागममनारतम् ।
प्रातर्यावदतीवाभूद् दुःखितो दीनमानसः ॥३०८॥
भो भो नरोत्तमागच्छ मां च निष्काशयाधुना ।
एवं पुनः पुनः प्रोक्त्वा दध्यावेवं स धीसखः ॥३०९॥
तेनाहं वाहितो नूनं छलं कृत्वा दुरात्मना ।
अहं नृभ्यः कथं प्रातर्दर्शयिष्ये मुखं स्वकम् ॥३१०॥
विचिन्त्येति स्ववस्त्रेण छादयित्वा शिरो निजम् ।
तस्थौ लज्जाकुलो भट्टमात्रो दूनाशयस्तदा ॥३११॥
वस्त्रादिचिह्नतो मत्वा भट्टमात्रं जना जगुः ।
अस्येदृक्षं फलं जातं साम्प्रतं निजकर्म्मतः ॥३१२॥ यतः—

"कृतकर्मक्षयो नास्ति कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" ॥३१३॥
सचिवानां प्रधानानां प्रायेण निखिला जनाः ।
जल्पन्ति न शुभं कुत्र देशे काले कदाचन ॥३१४॥
नरपतिहितकर्त्ता द्वेष्यतां याति लोके,
जनपदहितकर्त्ता त्यज्यते पार्थिवेन्द्रैः ।
इति महति विवादे वर्त्तमाने समाने,
नृपतिजनपदानां दुर्लभः कार्यकर्त्ता ॥३१५॥
भट्टमात्रं हडिक्षिप्तं श्रुत्वाऽमात्यो हराभिधः ।
गत्वा भूपान्तिके सद्यः प्राहेत्यरुणलोचनः ॥३१६॥
स्वामिन् ! प्रातः प्रणामोऽयं भवते क्रियते मया ।
तुल्यदण्डपरो जातस्त्वं नीचानीचयोर्यतः ॥३१७॥
"बब्बूलचूतयोः काकहंसयोः खरहस्तिनोः ।
तुल्यत्वं क्रियते शिष्टाशिष्टयोर्भवता किमु" ॥३१८॥

आत्मीयाः सेवकाः किञ्चिदन्यायं कुर्वते यदि।
गृहमध्ये तदा क्षिप्त्वा नोदना क्रियते भृशम् ॥३१९॥
राजा प्राह मया केषामपराधः कृतो वद।
मन्त्री प्राह त्वया भट्टमात्रः क्षिप्तो हडौ कथम् ॥३२०॥
दुष्टं कुर्वन्त्यपत्यानि यदि किञ्चित् पितुर्मनाक् ।
तथापि हितवात्सल्यं कुरुते जनकः पुनः ॥३२१॥
श्रुत्वैतद् भूपतिस्तत्र गत्वा वीक्ष्य च मन्त्रिणम् ।
कर्षयामास हडितः प्रोवाचेति पुनस्तदा ॥३२२॥
कुतो जातमिदं कष्टं भट्टमात्र ! तवाधुना।
भट्टमात्रो जगौ स्वामिन् ! वक्तुं नैवेह शक्यते ॥३२३॥
भूपोऽवक् त्वं तथाऽप्यत्र जल्प तस्करचेष्टितम् ।
भट्टमात्रस्ततोऽशेषं नैशं वृत्तान्तमूचिवान् ॥३२४॥
सारं सारं तदा चौरचेष्टितं रजनीकृतम् ।
भट्टमात्रो दधौ चित्ते विषादमात्मनो भृशम् ॥३२५॥ यतः–
"कालः समविषमकरः कालः सन्मानकारको लोके ।
कालः करोति पुरुषं दातारं याचितारं वा" ॥३२६॥
शशिनि खलु कलङ्कं कण्टकं पद्मनाले;
जलधिजलमपेयं पण्डिते निर्धनत्वम् ।
दयितजनवियोगो दुर्भगत्वं सुरूपे,
धनपति कृपणत्वं रत्नदोषी कृतान्तः ॥३२७॥
"शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं गजभुजंगविहंगमवन्धनम् ।
मतिमतां च समीक्ष्य दरिद्रतां विधिरहो बलवानिति मे मतिः ॥
भूपः प्राह स कीदृक्षो विद्यते तस्करो वद ।
मन्त्र्यवग् मृ(मि)ष्टवाक् चारुरूपदेहो लघुः स च ॥३२९॥
राजा जगौ भवन्त्येवंविधा धूर्त्ताश्च तस्कराः ।
वञ्चयन्तो जनान् नित्यं सुखकृज्जल्पनादिभिः ॥३३०॥ यतः–

१ ब्रूहीत्युक्तो महीशेन भट्टमात्रस्तदा स्फुटम्। कथयामास नि शेष नैश वृत्तान्तमात्मन. ॥
अवस्थामीदृश तेन तस्करेण तदा निशि। भट्टमात्रस्त–ग।

"मुखं पद्मदलाकारं वाचा चन्दनशीतला ।
हृदयं कर्तरीतुल्यं त्रिविधं धूर्त्तलक्षणम्" ॥३३१॥
दुर्जनैरुच्यमानानि वचांसि मधुराण्यपि ।
अकालकुसुमानीव सन्त्रासं जनयन्त्यलम् ॥३३२॥
चोरा चुल्लक्का वि अ दुज्जण भट्टा य वेज्ज पाहुणया
नच्चणधुत्तनरिंदा परस्स पीडं न याणंति " ॥३३३॥
भट्टमात्रात्र भवतो दूषणं न मनागपि ।
दुःखाऽब्धौ यस्तलारक्षं पातयामास मामपि ३३४॥
त्वया सर्वप्रकारेण कुर्वता शासनं मम ।
कृतं कार्यं न तेनात्र खेदः कार्यः स्वमानसे ॥३३५॥ यतः—
"आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणां वृत्तिच्छेदः सुधाभुजाम् ।
पृथक् शय्या च नारीणामशस्त्रो वध उच्यते" ॥३३६॥
सती पत्युः प्रभोः पत्तिर्गुरोः शिष्यः पितुः सुतः ।
आदेशे संशयं कुर्वन् खण्डयत्यात्मनोव्रतम्" ॥३३७॥

आश्वास्येति लसद्वाक्यैर्भट्टमात्रं महीपतिः ।
स्तेनवृत्तं स्मरन् चित्ते जग्मिवान् निजवेश्मनि ॥३३८॥
वेश्यासद्मस्थितोऽन्येद्युः स्तेनोऽप्राक्षीत्पणाङ्गनाम् ।
पुरीमध्येऽधुना का का वार्ता केषां प्रवर्त्तते ॥३३९॥
किं किं करोति भूपालः पुरीमध्येऽधुना पुनः ।
ततो[1] ज्ञात्वा पुरीवार्तां वेश्या प्राहेति तत्र सा ॥३४०॥
आकार्य भट्टमात्रादीन् पप्रच्छेति प्रजापतिः ।
ग्रहीष्यते कथं चौरो भवद्भिः कथ्यतामिह ॥३४१॥
भट्टमात्रादयः प्रोचुः पुरीमध्ये मलीम्लुचः ।
कस्याश्रित्य गृहं स्तैन्यं कुरुते सन्ततं छली ॥३४२॥
पुरमेतन्महत् तेन वाद्यते पटहः स्फुटम् ।
यः कश्चित्पुरुषः स्त्री वा कर्षयति स्म तस्करम् ॥३४३॥
अष्टौ तस्याशु[2]रैलक्षोत्पत्तिकृन्नगराणि च ।
विश्राणयिष्यति क्ष्मापो दानसन्मानैतश्च तम् ॥३४४॥

१ प्रोवाचेति ततो वेश्या स्तेनस्य पुरतस्तदा—ग । २—नपूर्वकम् ग ।

वाद्यतांमिति भूपोक्ते पटहो मन्त्रिभिस्तदा।
वेदवसुप्रमाणेषु चतुर्हट्टेषु वाद्यते ॥३४५॥
पण्यस्त्रीपाटके वाद्यमानं पटहमागतम्।
चतस्रो गणिका मुख्याः श्रुत्वेत्येवं जगुर्मिथः ॥३४६॥
आत्मीयसदने लोका नित्यमायान्ति भूरिशः।
तन्मध्यादेककं चौरं जल्पित्वेत्यर्पयिष्यते ॥३४७॥
समागते ततो भूपप्रसादे स्वीयसद्मनि।
वयं सर्वप्रकारेण सुखिन्यः स्मो धनादिभिः ॥३४८॥
विमृश्येति ततस्ताभिः संस्पृष्टे पटहे सति।
नृपादिमन्त्रिणः सर्वे बभूवुर्मुदिताशयाः ॥३४९॥ यतः—
"समीहितेऽखिले कार्ये सिद्धिं याते सति स्फुटम्।
मोदन्ते मनुजा रत्नाकरा इवोदिते विधौ" ॥३५०॥
आनीता मन्त्रिभिर्वेश्या जगुरेव नृपान्तिके।
तस्करं कर्पयिष्यामोऽष्टाहोमध्ये वयं न चेत् ॥३५१॥

चौरदण्डस्तदाऽस्माकं कर्त्तव्यो भूपते! त्वया।
श्रुत्वेति मन्त्रिणः प्रोचुर्धीमत्यो गणिका यतः ॥३५२॥
अत्रावसरे वेश्याकथा।
प्रतिज्ञामिति भूपाग्रे कृत्वा वेश्या निजालये।
समेत्य कुर्वते स्तेनधरणोपायमन्वहम् ॥३५३॥
ततः स्वस्वगृहे लोका जगुरेवं सुतान् प्रति।
कुत्रापि नैव गन्तव्यमुत्सूरे नीचवेश्मनि ॥३५४॥
वेश्याभिः पटहः स्पृष्टस्तेन कर्पणहेतवे।
कदाचित् ता नरं कञ्चित् छलाल्लात्वा नृपान्तिके ॥३५५॥
जल्पिष्यन्ति हाऽमुं चौरं तदा का वो गतिर्भवेत्।
यतः स्युर्गणिका नानाकौटिल्यवञ्चनापराः ॥३५६॥ यतः—
"मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् क्रियायामन्यदेव हि।
यासां साधारणस्त्रीणां ताः कथं सुखहेतवे" ॥३५७॥
इत्यादिवेश्यासूक्तानि ज्ञातव्यानि ॥

१ विधायेत्यर्प० ग।

पुरीमध्ये भवन्त्येवंविधा वार्त्ताः पदे पदे ।
छलछद्मपरा दुष्टाः सन्ति याः पणयोषितः ॥३५८॥
कदाचित्ताः समीपस्थास्त्वां ज्ञास्यन्त्यत्र संस्थितम् ।
तदा भावी महानर्थो मम तव च निश्चितम् ॥३५९॥
चौरः प्राह न भेतव्यं भवत्याऽत्र मनागपि ।
तथा बुद्ध्या करिष्यामि यथा स्यात्सुखमावयोः ॥३६०॥
कियन्तो वासरा जाता इत्युक्ते दस्युना तदा ।
वेश्या प्राहाऽष्टमो घस्रो भविष्यति प्रगे पुनः ॥३६१॥
ततः स्तेनो जगावद्य गमिष्यामि पुरान्तरे ।
यथा चैत्य त्रियामायां वादयिष्यामि झम्पकम् ॥३६२॥
भवत्यैत्य तदा शीघ्रमुद्घाट्यो झम्पकः शनैः ।
ओमित्युक्ते तया स्तेनो वणिग्वेषधरोऽचलत्[1] ॥३६३॥
कस्मिंश्चिन्नगरे गत्वा क्रीत्वा गोणीश्च विंशतिम् ।
रहश्च गोमयच्छारैर्भृता वैक्रमदस्युना[2] ॥३६४॥

केपाश्चित्सविधे पुंसां गत्वा पप्रच्छ वैक्रमः ।
भाटकं कोऽपि कुर्वीत ते जगुः कुर्म्महे वयम् ॥३६५॥
दत्से त्वं किं किमेकस्याः गोण्याः प्राह वणिक् ततः ।
द्रम्मान् दश दशावन्त्यां गतो दास्याम्यहं पुनः ॥३६६॥
गोणीनां विंशतिं लात्वा भाटकेन वणिग्वरः ।
सार्थेशीभूय भूपाध्वमध्येऽवन्त्यामगान्निशि ॥३६७॥
गोघंटामधुरध्वानं श्रुत्वेति मानवा जगुः ।
कोऽप्यपूर्वः समायातः सार्थेशो धनवान् पुरि ॥३६८॥
मुख्यवेश्यागृहोपान्ते गोणीरुत्तार्य सार्थपः ।
गत्वा पानवणिग्गेहे मद्यकुम्भद्वयं ललौ ॥३६९॥
निश्चेष्टकाष्ठकृत्सारस्वरकृच्चूर्णयोः पुटीम्[3] ।
लात्वा वैद्यापणे सार्थाधिपतिश्चलितस्ततः ॥३७०॥
दौसिकाट्टे दुकूलानि सुन्दराण्यग्रहीत्पुनः ।
पुष्पलाविगृहे गत्वा सुपुष्पाण्याददे तदा ॥३७१॥

१ ऽचालीद् लात्वा कियद्धनम् ग । २ मलीम्लुचः ग । ३ पटीम् क–ग ।

[1]सार्थप्रेषितो वेश्यागृहेऽभ्येत्य जगौ नरः ।
आगतोऽस्त्यत्र सार्थेशो ददद् दानमनर्गलम् ॥३७२॥
भवन्त्यो यदि तस्याग्रे कुर्वन्तु नर्त्तनं वरम् ।
मधुरध्वनिगीतानि वितन्वन्तु च सम्प्रति ॥३७३॥
तदा [2]दुकूलदीनारमुख्यवस्तूनि भूरिशः ।
दास्यत्येव भवन्तीभ्यो नात्र कार्या विचारणा ॥३७४॥
प्रोचुर्मिथो रहो वेश्या गम्यते तत्र साम्प्रतम् ।
आदौ ग्रहीष्यते लक्ष्मीः पश्चादेवं करिष्यते ॥३७५॥
[3]स्तेनस्त्वमिति दत्त्वाऽऽलं तं नेष्यामि नृपान्तिके ।
ग्रामा अष्टौ च तादृक्षा भविष्यन्त्यात्मनः पुनः ॥३७६॥
विमृश्येत्युदितं ताभिः पुरनारीभिरञ्जसा ।
सज्जीभूय समेष्यामो वयं तत्र व्रजाधुना ॥३७७॥
[4]वेश्यागमं नरात् तस्माज्ज्ञात्वा दत्त्वा भृतिं नरान् ।
विसृज्य निखिलान् गोणीरेकीकृत्य च तस्थिवान् ॥३७८॥
इतो वेश्याः प्रदीपादिसामग्रीं निखिलां तदा ।
लात्वा तत्राययुर्नृत्यं कर्तुं सार्थपसन्निधौ ॥३७९॥
पृष्टं ताभिः क्व सार्थेशो गतोऽन्येऽपि नरा ययुः ।
स प्राह ते गताः पुर्यां कार्यार्थमात्मनः पृथक् ॥३८०॥
अहमेवास्मि सार्थेशो भवतीभ्यो धनं बहु ।
दास्येऽधुना च कुर्वन्तु नृत्यं मम पुरोऽनघम् ॥३८१॥
एकशो विहितं नृत्यं यावत्ताभिर्मनोहरम् ।
तावद् ददौ दुकूलानि तेभ्यः सार्थपतिस्तदा ॥३८२॥
हृष्टाः पण्याङ्गनाश्चारुचमत्कृतिकरं भृशम् ।
नृत्यं गीतादिभिश्चक्रुः सार्थनाथाग्रतः पुनः ॥३८३॥
द्वितीयवारं नृत्यान्ते सार्थाधीशो जगावदः ।
भवतीभ्योऽधुना मद्यं रोचते चेत्तदा ददे ॥३८४॥

१ ततो वेश्यागृहे गत्वा सार्थाधीशो जगावद ग । २ दीनारदुकूलादीनि वस्तूनि ग । ३ तस्य चौरेति द० ग । ४ आगत्य सार्थपो दत्त्वा भाटक भाटिकान् नरान्—ग ।

ताभिरुक्तं किमन्यद् नो मद्याद्वस्तु विलोक्यते ।
असत्तुल्यनृणामेतद् विद्यतेऽभीष्टमेव हि ॥३८५॥
मधुरस्वानकृच्चूर्णमिश्रमद्यभृतं घटम् ।
सार्थनाथो ददौ ताभ्यः पण्यस्त्रीभ्यो मनोहरम् ॥३८६॥
ततः पीत्वा सुरामाभिरतीव मधुरध्वनि ।
गीतं कर्तुं समारब्धं कर्णसौख्यकरं भृशम् ॥३८७॥
मधुरध्वनिमाकर्ण्य दृष्ट्वा नृत्यं च सुन्दरम् ।
सार्थेशो ददते दानं वस्त्रताम्बूलसंयुतम् ॥३८८॥
दातारं तादृशं सार्थनाथं वीक्ष्य पणाङ्गनाः ।
हृष्टाः सर्वोत्तमं नृत्यं चक्रुस्तस्याग्रतस्तदा ॥३८९॥
क्षणात्सार्थपतिः प्राह पुनर्मद्यं ददाम्यहम् ।
वेश्याः प्रोचुर्यथेष्टं नो रोचते मदिरेदृशी ॥३९०॥
निश्चेष्टकाष्ठकृच्चूर्णमिश्रितां मदिरां पुनः ।
पूर्ववत्पायितास्तेन नृत्यन्त्यः पण्ययोषितः ॥३९१॥

ततः क्षणेन ताः सर्वाः मूर्छिताः पण्ययोषितः ।
निश्चेष्टकाष्ठवत्सुप्ता भूमीपीठे विचेतनाः ॥३९२॥ यतः—
"मदिरापानमात्रेण बुद्धिर्नश्यति दूरतः ।
वैदग्धीबन्धुरस्यापि दौर्भाग्येणेव कामिनी ॥३९३॥
पापाः कादम्बरीपानविवशीकृतचेतनाः ।
जननीं हा प्रियायन्ति जननीयन्ति च प्रियाम् ॥३९४॥
न जानाति परं स्वं वा मद्याच्चलितचेतनः ।
स्वामीयति वराकः स्वं स्वामिनं किंकरीयति ॥३९५॥
मद्यपस्य शवस्येव लुठितस्य चतुष्पथे ।
मूत्रयन्ति मुखे श्वानो व्यात्ते विवरशङ्कया ॥३९६॥
मद्यपानरसे मग्नो नग्नः स्वपिति चत्वरे ।
गूढं च स्वमभिप्रायं प्रकाशयति लीलया ॥३९७॥
वारुणीपानतो यान्ति, कान्तिकीर्त्तिमतिश्रियः ।
विचित्राश्चित्ररचना, विलुठत्कज्जलादिव ॥३९८॥

भूतात्तवन्भरीनर्त्ति रारटीति सशोकवत् ।
दाहज्वरार्त्तवद् भूमौ, सुरापो लोलुठीति च ॥३९९॥ इत्यादि
तासां सर्वं ततो दिव्याम्बराभरणसञ्चयम् ।
स्वार्पितं च धनं लात्वा नग्नीकृता[1] विचेतनाः ॥४००॥
शम्भोः कूपारघट्टस्थमालाभ्यो घटिकाः स च ।
उत्तार्य तास्ततो नग्ना ववन्धुः पुरनायिकाः ॥४०१॥
[2]समानीयान्यतः स्थानाद् दधि सार्थपतिस्तदा ।
दत्त्वा तासां मुखे सौवस्थानके पूर्ववद् ययौ ॥४०२॥
[3]दर्शयित्वा च वेश्यायै सर्वमाभरणादिकम् ।
तदानयनवृत्तान्तं [4]मूलतस्तस्करो जगौ ॥४०३॥
वेश्या दध्यावयं सत्यस्तस्करः पश्यतोहरः ।
यतोऽनेनाधुना वाढं वञ्चिताः पणयोषितः ॥४०४॥ यतः—
"अवश्यंभाविनो भावा भवन्ति महतामपि ।
नग्नत्वं नीलकण्ठस्य महाहिशयनं हरेः ॥४०५॥

शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं,
गजभुजङ्गविहङ्गमवन्धनम् ।
मतिमतां च समीक्ष्य दरिद्रतां,
विधिरहो बलवानिति मे मतिः ॥४०६॥
इतः स्नात्रकृते पूजाकरो गत्वा हरालये ।
कूपपावटकं प्रातश्चालयामास यत्नतः ॥४०७॥
अरघट्टं स्थिरं मत्वा पश्चाद् यावद्विलोकते ।
शम्भोः कूपघटीस्थानं वीक्ष्य दध्याविदं हृदि ॥४०८॥
किं शाकिन्योऽथवा दुष्टपिशाचिन्योऽथ शक्तयः ।
शीकोतर्योऽथवा मार्यो व्यन्तर्यो राक्षसाङ्गनाः ॥४०९॥
विकरालाकृतिं तासां दृष्ट्वा बिभ्यच्च देवभ्यङ् ।
कम्पमानो नृपोपान्ते गत्वा सद्यो जगावदः ॥४१०॥
शम्भोः कूपघटीस्थानं साम्प्रतं शक्तिभिर्भृतम् ।
तेन तत्रैत्य भूपाल! कार्यन्तां शान्तिकाः क्रियाः ॥४११॥

१ नग्नीचक्रे च तेन ता. ग । २ आनीय कस्यचित्स्थानात् ग । ३ स्तेनो ददर्श वे०—ग । ४ मूलतश्चाखिलं ।

नो चेद् दुष्टाशयाः सर्वा उत्थिताः शक्तयः पुनः ।
करिष्यन्ति हि लोकानां पुरेऽनर्थं महत्तमम् ॥४१२॥ यतः—
"अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिश्च यः ।
द्वावेतौ सुखमेधेते यद्भविष्यो विनश्यति" ॥४१३॥

अत्रानागतविधातृप्रत्युत्पन्न(मतियद् -)
भविष्यमित्रत्रयदृष्टान्तो वाच्यः ॥

श्रुत्वैतच्चकितो राजा गत्वा यावन्निरीक्षते ।
तावन्मृगेक्षणा नग्ना दृष्ट्वाऽजनि पराङ्मुखः ॥४१४॥
"परनारीर्निरीक्ष्याशु सन्तः सद्यः पराङ्मुखाः ।
जायन्ते वर्षतोऽम्भोदादिव वृषभपुङ्गवाः ॥४१५॥
दट्ठूण परकलत्तं०" ॥४१६॥
प्रोचुर्मन्त्रीश्वराः क्ष्माप! नामूः स्युः शक्तयः खलु ।
किन्तु याभिः कृता पूर्वं प्रतिज्ञा भवदन्तिके ॥४१७॥
ता एव गणिका नूनं संभाव्यन्तेऽत्र संप्रति ।
केनचिच्छलिना बद्धा अमूः कूपारघट्टके ॥४१८॥
प्रोचुश्च मन्त्रिणस्तेन स्तेनेनेदं कृतं ननु ।
तत उत्तारयामास सेवकैस्ता महीपतिः ॥४१९॥
शर्करामिश्रितं दुग्धं पाययित्वा च तास्तदा ।
सचेतनीकृता भूमीभुजा च परिधापिताः ॥४२०॥
राज्ञा पृष्टं कृतं केनेदमित्युक्ते पणाङ्गनाः ।
निःशेषनैशवृत्तान्तं मूलतश्च जगुस्तदा ॥४२१॥
श्रुत्वैतद् भूपतिः प्राह सैष स्तेनश्छली भृशम् ।
कृत्वेदं निखिलं सद्यः प्रययौ कुत्रचिन्निशि ॥४२२॥
भवतीभिश्च भेतव्यं मत्तो नैव मनागपि ।
इत्युक्त्वा भूपतिः सोऽथ मन्दिरं समुपेयिवान् ॥४२३॥
अन्येऽपि मन्त्रिणो वेश्यादयो लोकाश्च भूरिशः ।
ध्यायन्तो वृत्तमाश्चर्यकृत् तस्य स्वगृहं ययुः ॥४२४॥

वेश्यापराभवाधिकारः ॥

अन्येद्युर्गणिकौकःस्थः स्तेनोऽप्राक्षीत् पणाङ्गनाम् ।
पुरीमध्येऽधुना का का वार्त्ता केषां प्रवर्त्तते ॥४२५॥
किं करोति महीपालः भट्टमात्रादिसंयुतः ।
प्रोवाच गणिका तत्र स्तेनस्य पुरतो रहः ॥४२६॥
आकार्य भट्टमात्रादीन् पप्रच्छेति महीपतिः ।
विगोपिता भृशं पण्यभामिन्यस्तेन दस्युना ॥४२७॥
ग्रहीष्यते कथं चौरोऽधुनेदृक्षपराक्रमः ।
भट्टमात्रादयो मन्त्रीश्वरा भूपाग्रतो जगुः ॥४२८॥
पुरीमध्येऽधुना कस्य गृहमाश्रित्य सन्ततम् ।
कुरुते तस्करः स्तैन्यं नानारूपधराङ्ककः ॥४२९॥
श्रुत्वैतत्कौटिको द्यूतकारकः प्रोक्तवानिदम् ।
स्वामिन्! अद्य ममादेशं देहि चौरस्य कर्षणे ॥४३०॥
स्वामिन् ! सर्वेऽपि सुभटास्तिष्ठन्तु स्थानके निजे ।
त्वदादेशादहं स्तेनं कर्षयिष्यामि हेलया ॥४३१॥

नृपः प्रोवाच मैवं त्वं वद सम्प्रति कौटिक ! ।
यतश्चौरोऽस्ति दुर्ग्राह्यो देवानां बलिनामपि ॥४३२॥
कौटिकोऽवक् तव स्वामिन् ! द्यूतकृत्सेवकोऽस्म्यहम् ।
त्वत्प्रसत्त्ये स्यात्स्तेनो वश्यो मम भविष्यति ॥४३३॥ यतः–
"राजानमेव संसृज्य विद्वान् याति परोन्नतिम्[1] ।
विना मलयमन्यत्र चन्दनं किं विवर्धते ॥४३४॥
धवलान्यातपत्राणि वाजिनश्च मनोरमाः ।
सदा मत्ताश्च मातङ्गाः प्रसन्ने भूपतौ सति" ॥४३५॥
नो हि चेन्मस्तकं भद्रीकृत्वा[2] मम खरोपरि ।
मां चारोप्य पुरीमध्ये भ्रामितव्यं स्वसेवकैः ॥४३६॥
एवमस्त्विति भूपोक्ते कौटिको द्यूतकृत् तदा ।
कियत्सुभटसंयुक्तोऽचालीत् धर्त्तुं च तस्करम् ॥४३७॥
श्रुत्वैतत्तस्करः प्राह गमिष्यामि पुरान्तरे ।
यदैत्याहं त्रियामिन्यां वादयिष्यामि झम्पकम् ॥४३८॥

१ परा गतिं ग । २ मुण्डीकृत्येत्यर्थ ।

भवत्याऽऽशु तदागत्योद्घाट्यश्च फलकः शनैः ।
प्राप्ताप्राप्तधनाश्चौराः समेष्यन्ति यतो निशि ॥४३९॥
मिलित्वा प्रकटं द्यूतकृतस्तस्याहमञ्जसा ।
लात्वा किमप्यभिज्ञानमेष्याम्यत्र निकेतने ॥४४०॥
वेश्या जगौ यदैत्य त्वं झम्पकं वादयिष्यसि ।
करिष्येऽहं त्वदुक्तं तत् सर्वं स्तेनात्रतंसक ! ॥४४१॥
ततो मलिम्लुचो हृष्टचित्तो वेश्यानिकेतनात् ।
निस्ससार गताशङ्को द्रष्टुकामश्च कौटिकम् ॥४४२॥
भ्रमताऽदृश्यरूपेण स्तेनेन निखिले पुरे ।
चतुष्पथे स्थिते सम्यक् कौटिको[1] ह्युपलक्षितः ॥४४३॥
कृत्वा स्फारजटां लिङ्गिरूपभृत् तस्करो निशि ।
सरःपालिस्थचण्डाया एत्य सद्मन्युपाविशत् ॥४४४॥
इतोऽभितः पुरीमध्ये कौटिको द्यूतकृद् भ्रमन् ।
नत्वाऽवग् लिङ्गिनं प्रेक्ष्योपविष्टं चण्डिकाऽऽलये ॥४४५॥

योगिन् ! कथं प्रलम्बाऽभूत् जटा तव मनोहरा ।
मुष्णतश्च पुरीं दस्योर्ज्ञायते स्थानकं कथम् ॥४४६॥ यतः—
"रोगिणां सुहृदो वैद्याः प्रभूणां चाटुकारिणः ।
मुनयो दुःखदग्धानां गणकाः क्षीणसम्पदाम्" ॥४४७॥
लिङ्गी प्रोवाच भो भद्र ! भद्रीकृत्वा शिरो यदि ।
चूर्णनानेन लिम्पित्वा त्वं कुरुष्वेति सम्प्रति ॥४४८॥
मन्त्रो मदर्पितो वारिमध्ये आकण्ठसंस्थितैः ।
अहर्घटीद्वयं यावत् भवद्भिर्जप्यते भृशम् ॥४४९॥
अहमत्र स्थितो ध्यानं करोमि विधिवत्तथा ।
यथा तत्र स्थितस्त्वं[2] हि वेत्सि चौरस्थितिं द्रुतम् ॥४५०॥
मज्जटावत् प्रलम्बाऽऽशु वेणी च तावकाऽखिला ।
भविष्यति न संदेहश्चटितेऽह्नोर्घटिकाद्वये ॥४५१॥
योगिनोक्तं ततः सर्वं कृत्वा कौटिकद्यूतकृत् ।
स्वसेवकयुतो वारिमध्ये तस्थौ समाहितः ॥४५२॥

१ सर्वस्मिन् पुस्तके क्वचित् 'कोडिक' 'कौटिक' 'कोटिक' इत्यनेकधा पाठः ॥ २ स्थिता यूयं वित्थ चौ० ग ।

इतश्च कौटिकद्यूतकृद्भटानां मलिम्लुचः ।
गृहीत्वा वस्त्रखड्गाद्यचालीत् स्वस्थानकं प्रति ॥४५३॥
चलन्मलिम्लुचो लिङ्गिरूपं संहृत्य पूर्ववत् ।
गत्वा वेश्यालये नैशं स्ववृत्तमूचिवान् निशि ॥४५४॥
वेश्या प्राह भवान् सत्यस्तस्करोऽस्यधुना स्फुटम् ।
कौटिकोऽपि त्वया क्षिप्तः सङ्कटे विकटे यतः ॥४५५॥
प्रातर्नीरार्थमायान्त्यस्तत्र पानीयहारिकाः ।
दृष्ट्वा कौटिककं प्रोचुः किमेष कौटिको ननु ॥४५६॥
प्रतिज्ञा विहिता तेन कर्षितुं तस्करं खलु ।
अतस्तेनाप्यसौ दुःस्थामीदृक्षां प्रापितोऽधुना ॥४५७॥
अनेन वञ्चिता लोका बहवश्छलितोऽत्र यत् ।
इह तत्पापमायातं परत्र किं भविष्यति ॥४५८॥
इतः[1] प्रातर्मनुष्यास्तात् तादृशीं कौटिकापदम् ।
निशम्य मन्त्रिणो भूपपार्श्वेऽभ्येत्य जगुस्तदा ॥४५९॥

स्वामिंस्तस्या प्रतिज्ञायास्तिष्ठते दिवसद्वयम् ।
त्वयाऽद्याह्नि कथं तस्य दण्डश्च कारितो द्रुतम् ॥४६०॥
"सकृज्जल्पन्ति राजानः सकृज्जल्पन्ति साधवः ।
सकृत् कन्याः प्रदीयन्ते त्रीण्येतानि सकृत् सकृत् ॥४६१॥
अलसंतेण[2] वि सज्जणेण जे अक्खरा समुल्लविआ ।
ते पत्थरटंकुक्कीरिअव्व न हु अन्नहा हुंते ॥४६२॥
अद्यापि नोज्झति हरः किल कालकूटं
कूर्मो बिभर्ति धरणीमपि पृष्ठकेन ।
अम्भोनिधिर्वहति दुर्वहवाडवाग्नि-
मङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति" ॥४६३॥
राजा प्राह मया तस्य कौटिकस्याक्षदीविनः ।
दण्डो न कारितः शीर्षभद्रीकारादिनाऽधुना ॥४६४॥
ततश्च मन्त्रिणः प्रोचुः स्वामिंस्तत्रैत्य सम्प्रति ।
सम्यग्विलोक्यतां तस्यावस्थां जातामनीदृशीम् ॥४६५॥

१ इतश्च पातर्मनुष्यात् क ख । २ अलसयता ऽपि सज्जनेन येऽक्षरा समुल्लपिता । ते प्रस्तरटङ्कोत्कीर्णा इव नैवान्यथा भवन्ति ॥

ततस्तत्रैत्य भूपालस्तान् दृष्ट्वेति जगौ तदा ।
निस्सरताम्बुतो यूयं प्रतिज्ञा पूरिता च वः ॥४६६॥
कौटिकोऽवग् महीपाल ! स्थीयतां क्षणमेककम् ।
ज्ञात्वा चौरस्थितिं सम्यक् कथयिष्याम्यहं तव ॥४६७॥
एवं पुनः पुनः प्रोक्त्वा चटितेऽह्नो घटीद्वये ।
अज्ञातस्तेनवृत्तान्तः कौटिको निःसृतो जलात् ॥४६८॥
राजा पप्रच्छ केनेदं भवतो विहितं वद ।
कौटिकोऽवक् कृतं रात्रौ लिङ्गिना चण्डिकाऽऽलये ॥४६९॥
ततश्चण्डीगृहे गत्वा भूपोऽप्रेक्ष्य च लिङ्गिनम् ।
प्राहेति वाहितो रात्रौ तेन स्तेनेन निश्चितम् ॥४७०॥
कर्तव्यं भवता दुःखं न मनाग् हृदि सम्प्रति ।
येनाप्यस्मादृशाः कूटे पातितास्तत्र को भवान् ॥४७१॥
ततो न भवतः किंचिद् दूषणं विद्यतेऽधुना ।
यतो न कर्मतो देवैश्छुट्यते कुत्रचिन्मनाक् ॥४७२॥ यतः—
"स्थानं त्रिकूटः परिखा समुद्रो, रक्षांसि योधा धनदाश्च वित्तम् ।
सञ्जीवनी यस्य मुखे च विद्या, स रावणः कालवशाद् विपन्नः ॥
कर्मणोऽपि प्रधानत्वं किं कुर्वन्ति शुभा ग्रहाः ।
वसिष्ठदत्तलग्नोऽपि रामः प्रव्रजितो वने ॥४७४॥
तिंत्थयरा गणहारी सुरवइणो चक्कि केसवा रामा ।
संहरिया हयविहिणा सेसेसु जीएसु का गु(ग)णणा" ॥४७५॥
ततो मन्त्रीश्वराः प्रोचुः स एव तस्करश्छली ।
कृत्वेदं भवतः सर्वं प्रययौ कुत्रचिन्निशि ॥४७६॥
भवता कौटिकेदानीं मत्तः कार्यं भयं नहि ।
इत्युक्त्वा भूपतिः सौवमन्दिरं समुपेयिवान् ॥४७७॥
अन्येऽपि मन्त्रिणो भट्टमात्राद्या निखिलास्तदा ।
ध्यायन्तो मानसे स्तेनवृत्तं स्वं स्वं गृहं ययुः ॥४७८॥
वेश्यासद्मस्थितोऽन्येद्युः स्तेनोऽप्राक्षीत्पणाङ्गनाम् ।
पुरीमध्येऽधुना का का वार्त्ता केषां प्रवर्त्तते ॥४७९॥

१ तीर्थकरा गणधारिण. सुरपतयः चक्रिण. केशवा॰ रामाः । सहृता हतविधिना शेषेषु जीवेषु का गणना ॥

किं करोति महीपालः कुर्वन्ति मन्त्रिणश्च किम् ।
प्रोवाचेति ततो वेश्या स्तेनस्य पुरतो रहः ॥४८०॥
आकार्य मेदिनीनाथः सचिवानेवमूचिवान् ।
कर्पयिष्याम्यहं स्तेनं वासरत्रयमध्यतः ॥४८१॥
मन्त्रीश्वरा जगुः स्वामिन्! दुर्ग्राह्योऽस्ति स तस्करः ।
तेनैवं स्वामिना नैवं वक्तव्यं साम्प्रतं मनाग् ॥४८२॥
राजा प्रोवाच मन्त्रीशाः! प्रतिज्ञां कुरुते यकः ।
तं तं स तस्करोऽतीव विगोपयति सन्ततम् ॥४८३॥
अद्य केषां पुनर्नृणामादेशो दीयते मया ।
तेनाहं तस्करं धर्त्तु व्रजिष्यामि पुरान्तरे ॥४८४॥
कर्पयिष्याम्यहं स्तेनं न चेदत्र प्रपञ्चतः ।
चौरदण्डस्तदा कार्यो भवद्भिर्मम निश्चितम् ॥४८५॥
प्रोचुर्मन्त्रीश्वराः स्वामिन्! स्तेनदण्डो महीपतेः ।
नैव दृष्टः श्रुतो नैव कुत्रापि शास्त्रमध्यतः ॥४८६॥ यतः—

"दुष्टस्य दण्डः सुजनस्य पूजा न्यायेन कोशस्य च सम्प्रवृद्धिः।
अपक्षपातोऽर्थिषु राष्ट्ररक्षा पञ्चैव यज्ञाः कथिता नृपाणाम् ॥
दुर्बलानामनाथानां बालवृद्धतपस्विनाम् ।
अन्यायैः परिभूतानां सर्वेषां पार्थिवो गतिः ॥४८८॥
सेवा गुरौ तदादिष्टग्रहः पुरुषसंग्रहः ।
शौर्यं धर्मश्च पञ्चामी राज्यलक्ष्मीलताम्बुदाः ॥४८९॥
आपन्नस्यार्त्तिहरणं शरणागतरक्षणम् ।
त्यागः पुण्यानुरागश्च राज्यलक्ष्मीलताम्बुदाः" ॥४९०॥
मन्त्रीश्वरा जगुः स्वामिन्! नैवं भवति कर्हिचित् ।
यदि ते रोचते चित्ते [1]तदैवं क्रियतेऽधुना ॥४९१॥
[2]स्वामिन्! मलिम्लुचं धर्त्तुं प्रतिज्ञां साम्प्रतं विना ।
भवान् गच्छतु निर्विघ्नं सप्ताष्टसेवकान्वितः ॥४९२॥
राजा प्राहाहमेकाकी धरिष्यामि च तस्करम् ।
न चेद्धरिष्यते स्तेनो मयाऽहस्त्रयमध्यतः ॥४९३॥

१ एवं सम्प्रति भूपते–ग । २ तदा–ग ।

[1]तदाऽष्टौ कोटयो हेम्नो व्ययनीया घ्रुवे ध्रुवम् ।
एवमुक्त्वा नृपः खड्गसहायो नष्टचर्यया ॥४९४॥
स्तेनं धर्तुं रहः पुर्यां निशि बभ्राम भूपतिः ।
तेनात्र भवतः स्थातुं युज्यते साम्प्रतं नहि ॥४९५॥
कदाचिद् विक्रमादित्यस्त्वां ज्ञास्यत्यत्र संस्थितम् ।
तदा भावी महानर्थो मम तव च निश्चितम् ॥४९६॥
"दुष्टानां दमनं शिष्टजनानां पालनं पुनः ।
करोति भूपतिः सौवशक्तितः सादरं सदा" ॥४९७॥
चौरः प्राह न भेतव्यं भवत्याऽत्र मनागपि ।
तथा बुद्ध्या करिष्यामि यथा स्यात् सुखमावयोः ॥४९८॥
मिलित्वा विक्रमादित्यभूपतेस्तत्क्षणादहम् ।
तदीयं च द्विपद्यादि गृहीत्वैष्यामि साम्प्रतम् ॥४९९॥
पुरीमध्ये गमिष्याम्यधुना पणभामिनि ! ।
यदा चैत्य त्रियामायां वादयिष्यामि झम्पकम् ॥५००॥

भवत्यैत्य तदा शीघ्रमुद्घाट्यो झम्पकः शनैः ।
ओमित्युक्ते तया स्तेनोऽचालीद्वेश्यानिकेतनात् ॥५०१॥
स चौरोऽदृश्यकरणविद्यया नगरे भ्रमन् ।
रजकस्य गृहोपान्ते शुश्रावेदं रहो निशि ॥५०२॥
[2]प्रिये ! क्षालयितुं भूपवस्त्राण्यानीतवानहम् ।
दस्योर्भयादधो मौलेर्मुक्त्वा स्वपिमि साम्प्रतम् ॥५०३॥
त्वया सकाले एवाऽहं प्रक्षालयितुमञ्जसा ।
जागृतव्यो न चेत् सद्यः कोपिष्यति महीपतिः ॥५०४॥
श्रुत्वैतत् तस्करश्छन्नं प्रविश्य रजकालये ।
रजकस्य शिरोऽधस्तात् निश्चुकोष च लादिकाम् ॥५०५॥
खरस्योपरि संस्थाप्य तस्करो लादिकां शनैः ।
समेत्य नगरद्वारि द्वाःस्थं प्रति जगावदः ॥५०६॥
उद्घाटयाचिराद् द्वारं वसनानि महीपतेः ।
प्रक्षालयितुमेष्यामि कूपे साम्प्रतमञ्जसा ॥५०७॥

१ कश्चिद् दण्डस्तदा कार्यो भवद्भिर्मम निश्चितम्–ग ॥ २ रजकोऽवक् प्रिये ! भूमिपतेर्वसनलादिकाम् । शुद्धीकर्तुं शिरोऽधस्तात् कृत्वा स्वपिमि साम्प्रतम् ॥

द्वाःस्थः प्राह महीशेन प्रोक्तमेतन्ममाग्रतः ।
सूर्योदयं विना नैवोद्घाट्या पुरप्रतोलिका ॥५०८॥
नाहमुद्घाटयिष्यामि ततो रजक ! साम्प्रतम् ।
रजकः प्राह मुक्त्वाऽत्र लादिकां याम्यहं गृहम् ॥५०९॥
प्रातर्महीपतिर्दृष्ट्वा लादिकां पतितामिह ।
लक्ष्म्यपहारतः सद्यस्तव दण्डं करिष्यति ॥५१०॥
तत उद्घाटयामास द्वाःस्थो द्वारं तदा भयाद् ।
रजको लादिकां लात्वा निस्ससार पुराद् वहिः ॥५११॥
रजकस्तस्करो गत्वा रजकस्यांधुसंनिधौ ।
उत्तार्य लादिकां तस्थौ विलोकयन्नितस्ततः ॥५१२॥
इतश्च रजको वुद्धोऽपश्यन् वस्त्राणि भूपतेः ।
प्राहोच्चैर्वसनान्यद्य लात्वा चौरो रहो गतः ॥५१३॥
श्रुत्वा गाढस्वरं तस्य भूपोऽभ्येत्य जगावदः ।
किं किं गतं तव ब्रूहीत्युक्तोऽवग् रजकस्तदा ॥५१४॥

राजन्नहं सम्प्रति तावकीनवस्त्राण्यधस्ताच्छिरसो विधाय ।
सुप्तोऽस्मि यावत्किल धावनार्थं तावद्रहः कश्चिदगाद् गृहीत्वा ॥
भूपः प्रोवाच वक्तव्यं साम्प्रतं न त्वयोच्चकैः ।
गच्छन्तं तं धरिष्यामि लादिकासहितं रहः ॥५१६॥
ततो राजा रहः स्तेनपदेनैवं कृतत्वरः ।
पुरो द्वारि समागत्याप्राक्षीद् द्वाःस्थमिति स्फुटम् ॥५१७॥
अस्मिन् द्वारेऽधुना पुर्या वहिः कोऽपि गतो नवा ।
रजकस्य गमोदन्तं द्वाःपालोऽचीकथत्तदा ॥५१८॥
श्रुत्वैतद्भूपतिः प्राह नूनं स्तेनोऽधुना गतः ।
उद्घाट्याचिराद् द्वारं तस्य पृष्ठौ(ष्ठे) व्रजाम्यहम् ॥५१९॥
द्वारे उद्घाटिते राजा निःसृत्येदं जगौ वहिः ।
यावदहं समेष्यामि धृत्वा चौरमिहाचिरात् ॥५२०॥
दत्त्वा द्वारं दृढं तावत् स्थेयं च जाग्रता त्वया ।
द्वाःस्थः प्राह प्रमाणं मे स्वामिंस्तव वचः स्फुटम्" ॥ यतः—

पत्युः पत्नी प्रभोः पत्तिः गुरोः शिष्यः पितुः सुतः ।
आदेशे संशयं कुर्वन् खण्डयत्यात्मनो व्रतम् ॥५२२॥
कुलशीलगुणोपेतं सत्यधर्मपरायणम् ।
तत्कालाज्ञाकरं भृत्यं राजाऽध्यक्षं च कारयेत् ॥५२३॥

इङ्गिताकारतत्त्वज्ञः प्रियवाक् प्रियदर्शनः ।
सकृदुक्तग्रही दक्षः प्रतीहारः प्रशस्यते" ॥५२४॥
स्थाने स्थाने नृपोऽत्यन्तं विलोकयन्नितस्ततः ।
चचाल रजकस्यान्धुसम्मुखं निर्भयस्तदा ॥५२५॥
कूपोपान्ते समायान्तं भूपं वीक्ष्य मलिम्लुचः ।
उत्पाट्य स्फारमश्मानं कूपमध्ये प्रक्षिप्तवान् ॥५२६॥

शनैरेकतटीभूय तस्थिवांस्तस्करो रहः ।
यतश्च तस्करा नूनमिदृक्षाः स्युः स्वभावतः ॥५२७॥
कूपान्तर्धबकं श्रुत्वा निरीक्ष्याग्रे च लादिकाम् ।
राजा दध्यावयं स्तेनो नूनं कूपेऽपतद्भयात् ॥५२८॥

"अमेध्यमध्ये कीटस्य सुरेन्द्रस्य सुरालये ।
समाना जीविताकांक्षा, समं मृत्युभयं द्वयोः" ॥५२९॥
कूपमध्ये प्रविश्याहं कर्पयिष्यामि तस्करम् ।
किं करिष्यत्यधुना स्तेनो मम हस्ते समागतः ॥५३०॥

इति ध्यात्वाऽङ्गिकां देहादुत्तार्य द्विपटीमसिम् ।
मुक्त्वा च तस्करं कूपे निष्कोष्ठुं प्राविशन्नृपः ॥५३१॥
इतोऽङ्गिकां परिधाय द्विपटीं चासिमञ्जसा ।
लात्वा तुरगमारुह्य स्तेनो द्वार्येत्य जल्पति ॥५३२॥
द्वारमुद्घाटय द्वाःस्थ ! विक्रमार्कोऽहमागमम् ।
अश्वहेषाश्रुतेर्ज्ञात्वा भूपालागमनं तदा ॥५३३॥

द्वारमुद्घाटयामास प्रतीहारोऽचिरात् तदा ।
प्रविश्य तस्करो मध्ये द्वाःस्थं प्रति जगावदः ॥५३४॥ युग्मम्
बहिर्धर्तुमहं स्तेनं प्रभ्रम्य सर्वतः स्फुटम् ।
अदृष्ट्वाऽऽगां पुनः पश्चाद् गमिष्याम्यधुना गृहम् ॥५३५॥

दत्त्वा द्वारं दृढं स्थेयं त्वया सम्प्रति यत्नतः ।
कदाचित्स समेत्येति जल्पिष्यति छलादिदम् ॥५३६॥
द्वारमुद्घाटय द्वाःस्थ ! विक्रमार्कोऽहमागमम् ।
तदा त्वया मनाग् नैवोद्घाटनीया प्रतोलिका ॥५३७॥
यतः स तस्करः सर्वं पुरे हृत्वा धनं निशि ।
याति कुत्रापि दिवसे तिष्ठति स रहः सदा ॥५३८॥
स्वामिन् ! उद्घाटयिष्यामि मनाग् नाहं प्रतोलिकाम् ।
उक्त्वैतद्यत्नतो द्वारं प्रतीहारो ददौ पुनः ॥५३९॥
गत्वा चतुष्पथे मुक्त्वा मुत्कलं तुरगं द्रुतम् ।
स्तेनो लात्वा द्विपद्यादि [1]वेश्यौकोद्वारमीयिवान् ॥५४०॥
पूर्वं विहितसंकेतोद्घाटिते झम्पके सति ।
मध्येगेहं समेत्यावग् [2]वेश्याग्रे चेति तस्करः ॥५४१॥
भूपपार्श्वादिदं वस्तु द्विपद्यादि मयाऽधुना ।
हृत्वाऽत्रानीतमस्त्येव ततोऽवक् पणभामिनी ॥५४२॥

त्वयाऽऽनीतं कथं स्तेनेत्युक्ते सद्यो मलिम्लुचः ।
आमूलचूलतो वार्त्तां कथयामास नैशिकीम् ॥५४३॥
श्रुत्वैतद् वेश्यया प्रोक्तं सत्यस्त्वमसि तस्करः ।
भूपसत्कं द्विपद्यादि [3]लात्वाऽत्रागतो रहः ॥५४४॥
यदि ज्ञास्यति भूपालस्त्वामत्र संस्थितं स्फुटम् ।
तदा नो [4]घाणके क्षिप्त्वा पीलयिष्यति तत्क्षणम् ॥५४५॥
यतो रुष्टो नृपः केनचिँच्च [5]वारयितुं क्षमः ।
कल्पान्तकालपाथोधिरिव(मिव) जानीहि तस्कर ! ॥५४६॥
प्राह स्तेनो न भेतव्यं भवत्याऽत्र मनागपि ।
तथैवाहं करिष्यामि यथा स्यात् सुखमावयोः ॥५४७॥
भवत्यैवं न कर्तव्या विकल्पा मानसे मनाग् ।
भवितव्यं न केनापि गीर्वाणेनापि वार्यते ॥५४८॥
इतो महीपतिः कूपमध्ये प्रस्तरमेककम् ।
स्फारमालोक्य चकितश्चिन्तयामासिवानिति ॥५४९॥

---

१ वेश्याद्वारमुपाययौ–ग । २–स्तेनो वेश्याग्रतो मुदा–ग । ३ खड्गानयनत. खलु–ग । ४ घाणुके–क–ग । ५ वारयितु न शक्यते–ग ।

अस्तरक्षेपदम्भेन स्तेनेनैव दुरात्मना ।
कूपमध्येऽधुना नूनं क्षिप्तोऽसि किं करोम्यहम् ॥५५०॥ यतः—
"सुखदुःखानां कर्ता हर्ता च न कोऽपि कस्यचिज्जन्तोः ।
इति चिन्तय सद्बुद्ध्या पुरा कृतं भुज्यते कर्म्म ॥५५१॥
करोमि न करोमीति चैवं किं परितप्यसे ।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च विधिरेव समुत्सुकः ॥५५२॥
जं चिअ विहिणा लिहिअं तं चिअ परिणमइ सयललोअस्स ।
इअ जाणेविणु धीरा विहुरे वि न कायरा हुंति ॥५५३॥
कष्टेन निर्गतो कूपमध्याद् भूमीपतिस्तदा ।
अपश्यन् घोटकादीनि दध्यावेवं हृदि स्फुटम् ॥५५४॥
कूपप्रक्षिप्तपाषाणच्छलेन मम सम्प्रति ।
हृत्वाऽश्वद्विपटीखड्गान् जग्मिवांस्तस्करः क्वचित् ॥५५५॥
ततो वसनरिक्ताङ्गो भूपः शीतेन बाधितः ।[1]
पादचारी स्यात् द्वारि गत्वा द्वाःस्थमिदं जगौ ॥५५६॥

द्वारमुद्घाटय द्वाःस्थ ! विक्रमार्कोऽहमागमम् ।
एवं पुनः पुनः प्रोक्ते प्रतीहारो जगावदः ॥५५७॥
रे रे दुष्ट ! दुराचार ! जल्पन् भूपाह्वमात्मनः ।
पुरमध्येऽधुना कूटात् कथं मत्तः प्रविश्यसि ॥५५८॥
राजा प्रोवाच नैवाहं स्तेनोऽस्मि द्वारपालक ! ।
किं त्वस्य नगरस्येशो वाहितो दस्युना छलात् ॥५५९॥
द्वाःस्थोऽवग् रे दुराचार ! मा जल्पैवं पुनः पुनः ।
भिनद्मि मस्तकं स्फारपाषाणेन तवाधुना ॥५६०॥
पूर्वमेवागतः पूर्यां विक्रमार्कनरेश्वरः ।
जल्पँस्त्वमिति रे दुष्ट ! लप्स्यसे दुःखमनर्गलम् ॥५६१॥[2]
वाहितस्तेन चौर्येणेत्येवं मत्वा नृपस्ततः ।
निर्वस्त्रः कृतसन्तोष उपविश्य स्थितो बहिः ॥५६२॥
इतोऽर्कोदयवेलायां नृपौकोद्वारमागतम् ।
भूपपट्टाश्वमालोक्य दध्युरेवं च मन्त्रिणः ॥५६३॥

१ भूपोऽपरावृत्तदेहः शीतेन—ग ॥ २ दु.खमात्मनि—क—ख ॥

किं स्तेनेन हतो भूपः पातितोऽश्वेन किं क्वचित् ।
किं वैरिणा हतः केन किं रोगेणापतद् भुवि ॥५६४॥
इत्यादि भूरिशः कृत्वा विकल्पान् मन्त्रिणो हृदि ।
पुरमध्ये प्रपश्यन्तः पुरद्वारं ययुः क्रमात् ॥५६५॥
पप्रच्छुरिति भो द्वाःस्थ ! किमायातोऽत्र भूपतिः ।
दृष्टः श्रुतोऽथवा गच्छन् कुत्रचिद् भवता निशि ॥५६६॥
भूपं विनाऽधुना राज-लोकः शोकाकुलोऽभवत् ।
स्थाने स्थाने पुरे क्ष्मापो लोकितोऽपि न वीक्षितः ॥५६७॥
राज्यं विसंस्थुलं सर्वं भविष्यति विना नृपम् ।
मेघवृष्टिमृते पृथ्वी कियत्कालं च तिष्ठति ॥५६८॥ यतः—
"राज्यं निःसचिवं गतप्रहरणं सैन्यं विनेत्रं मुखम्,
वर्षा निर्जलदा धनी च कृपणो भोज्यं तथाऽऽज्यं विना ।
दुःशीला गृहिणी सुहृन्निकृतिमान् राजा प्रतापोज्झितः;
शिष्यो भक्तिविवर्जितो नहि विना धर्मं नरः शस्यते ॥"

आलस्योपहता विद्या परिहासहताः स्त्रियः ।
मन्दबीजं हतं क्षेत्रं हतं सैन्यमनायकम् ॥५७०॥
द्वाःस्थः प्राह बहिर्गत्वा चौरमप्राप्य भूपतिः ।
व्याघुट्य च पुरीमध्ये समागान्निशि तत्क्षणात् ॥५७१॥
मन्त्रीश्वरो जगौ राजा नागादागात् तुरङ्गमः ।
तेनैवं जायते क्ष्मापः केनचिन् निहतो निशि ॥५७२॥
द्वाःस्थोवग् मनुजः कश्चिद् अत्रैत्यावग् बहिर्निशि ।
अहं राजाऽऽगमं द्वारमुद्घाटयाधुना द्रुतम् ॥५७३॥
मयोक्तं त्वं न भूपालः किन्तु चौरोऽसि दुष्टधीः ।
यद्येव जल्पसि त्वं च त्वां च हन्म्यश्मना तदा ॥५७४॥
ततः कृत्वा स सन्तोषं गतः पश्चाच्च कुत्रचित् ।
वप्राद् बहिःस्थितो वाऽस्ति सम्यग् जानाम्यहं नहि ॥५७५॥
ततो द्वारं समुद्घाट्य निर्गता मन्त्रिणो बहिः ।
संकोचिततनुं भूपं दृष्ट्वेत्येवं जगुस्तदा ॥५७६॥

स्वामिन् ! किमद्य सञ्जाताऽवस्थेदृक्षा कुतस्तव ।
राजा निशाभवं वृत्तं कथयामास विस्तरात् ॥५७७॥
ततो द्वाःस्थो जगावेवं पतित्वा नृपतेः पदोः ।
स्वामिंस्त्वयाऽपराधो मे क्षन्तव्यो [1]नैशिको द्रुतम् ॥५७८॥
यतो माता पिता भूपः प्रसन्नीभूय तत्क्षणात् ।
अपत्यभृत्ययोर्दुष्टं कृतं सुष्ठ्वेव मन्यते ॥५७९॥ यतः–
"[2]जो जस्स वट्टए हिअए सो तं ठावेइ सुन्दरसहावम् ।
वग्घीछावं जणणी भद्दं सोमं च मन्नेइ" ॥५८०॥
राजा प्रोवाच भो द्वाःस्थ ! भवतो दूषणं नहि ।
किन्त्वस्मत्कर्म्मणा ह्येतद् अधुना विहितं ननु ॥५८१॥
उत्तमा ददते दोषं कर्मणः स्वकृतस्य हि ।
अधमाः कृतविघ्नस्य पुंसो नैव स्वकर्मणः ॥५८२॥ यतः–
"[3]पत्थरेणाहओ कीवो पत्थरं [4]डंक्कुमिच्छइ ।
मिगारिओ सरं पप्प सरुप्पत्तिं विमग्गइ ॥५८३॥
ईप्सितं मनसा सर्वं कस्य सम्पद्यते सुखम् ।
दैवायत्तं जगत्सर्वं तस्मात् सन्तोषमाचरेत्" ॥५८४॥
ततः क्षणात् समानीतं मन्त्रिभिः पट्टघोटकम् ।
आरुरोह नृपो नव्यानीतवेषासिभूषितः ॥५८५॥
लोकाज् ज्ञातनिशावृत्तो भूपोऽमात्यादिसंयुतः ।
आजगाम निजावासं पूर्वाद्रिमिव भानुमान् ॥५८६॥
ततः कूपात् द्रुतं वस्त्रलादिकां भृत्यपार्श्वतः ।
आनीय रजकस्यादात् धावनार्थं महीपतिः ॥५८७॥
राजा प्रोवाच यः कश्चिद् भवेदेवंविधो नरः ।
स सत्त्ववान् महाविद्याधरः सम्भाव्यते ननु ॥५८८॥
कौतुकार्थ्यथवा राज्यं हर्त्तुकामो ममाधुना ।
एवं विगोपयामासामात्यादीन् निखिलान् खलु ॥५८९॥

१ साम्प्रतम् द्रु०–ग ॥ २ यो यस्य वर्तते हृदये स तं स्थापयति सुन्दरस्वभावम् । व्याघ्रीशावं जननी भद्रं सौम्यं च मन्यते ॥ ३ प्रस्तरेणाहतः क्लीवो प्रस्तरं दंशितुमिच्छति । मृगारिकः शरं प्राप्य शरोत्पत्तिं विमार्गयति ॥ ४ डक्किमि–क–ग ।

देवद्वीपे विलोक्येतो नृत्यादि बहु कौतुकम् ।
अग्निवेतालिकोऽभ्येत्य मिलितो मेदिनीपतेः ॥५९०॥
दृष्ट्वा हृष्टो नृपो वह्निवेतालं चागतं जगौ ।
भवानवसरे चात्रागमत् तद् रुचिरं कृतम् ॥५९१॥ यतः—
"घनवृष्टिः कृपिर्धान्यवापौपधसहायिता ।
विद्योद्वाहाश्वगोशिक्षाधर्माद्यवसरे वरम्" ॥५९२॥ यतः—
केनचिद् दस्युना भट्टमात्राद्या सुभटा वराः ।
विगोपिता नरोऽद्यापि वीक्षितो न धृतः पुनः ॥५९३॥
ततः प्राहाग्निवेतालः पुरो भूमीपतेरिति ।
कर्षणीयो मया स्तेनो दिवसत्रयमध्यतः ॥५९४॥
प्रतिज्ञामिति भूपाग्रे कृत्वा वेतालिकोऽग्निकः ।
स्थाने स्थाने पुरीमध्ये धर्तुं भ्राम्यति तस्करम् ॥५९५॥
इतः स्तेनो जगावक्के ! का का वार्ता पुरे वद ।
वेश्या प्राहाग्निवेतालः कल्ये एवागतो जगौ ॥५९६॥

दुर्धरोऽपि बली स्तेनो यत्र तत्र स्थितोऽपि च ।
कर्षणीयो मयेत्येवं प्रतिज्ञां विदधेऽग्निकः ॥५९७॥
स्थाने स्थाने रहोवृत्त्या वह्निवेतालिकोऽसुरः ।
स्तेनं धर्तुं पुरीमध्ये प्रभाते च भ्रमिष्यति ॥५९८॥
ज्ञानेनात्र स्थितं त्वां च वेतालो यदि वेत्स्यति ।
तदाऽनर्थो महान् भावी ममाशु तव निश्चितम् ॥५९९॥
चौरः प्राह न भेतव्यं भवत्याऽत्र मनागपि ।
करिष्येऽहं तथा सर्वं यथा वेत्स्यति मां नहि ॥६००॥
इदृक्षं साहसं तस्य वीक्ष्य दध्यौ पणाङ्गना ।
अयं विद्याधरः कोऽपि देवो वा दानवोऽथवा ॥६०१॥
अन्यथा कथमीदृक्षे सङ्कटे पतिते सति ।
साहसं विद्यते दस्योरस्यैवं मानसे स्फुटम् ॥६०२॥
प्रोवाच तस्करो वेश्ये ! गमिष्यामि पुरान्तरे ।
यदैत्याहं त्रियामिन्यां वादयिष्यामि झम्पकम् ॥६०३॥

भवत्याऽऽशु तदागत्योद्घाट्यश्च फलकः शनैः ।
प्राप्ताप्राप्तधनाश्चौराः समेष्यन्ति यतो निशि ॥६०४॥
ओमित्युक्ते तया स्तेनो निःसृत्य तन्निकेतनात् ।
अदृश्यरूपभृद्देहो बभ्राम नगरान्तरे ॥६०५॥
अदृश्यरूपभृद्देहो देवीदत्तप्रसादतः ।
पुरीमध्ये भ्रमन् याति वह्निवेतालिकाग्रतः ॥६०६॥
वेतालस्य करात् खड्गं लात्वा चादृश्यरूपभृत् ।
भूयो भूयः पुरीमध्ये बभ्राम तस्करोऽभितः ॥६०७॥
वह्निवेतालकस्तस्य दस्यो रूपं स्थितिं पुनः ।
तत्पुण्ययोगतो नैव ददर्श ज्ञानतो मनाग् ॥६०८॥
भ्रान्त्वाऽखिले पुरे वह्निवेतालस्य मलिम्लुचः ।
मिलित्वा धूर्तवद् वेश्यासदनं समुपेयिवान् ॥६०९॥
पृष्टो गणिकया स्तेनो वृत्तान्तं निखिलं निजम् ।
आमूलचूलतो वेश्यापुरस्तादुक्तवान् सदा ॥६१०॥

वेश्या दध्यावयं कोपि देवो विद्याधरोऽथवा ।
यस्यैवं विद्यते स्फूर्तिश्चमत्कारकरी भृशम् ॥६११॥
जर्जरीभूतदेहश्रीर्वह्निवेतालिकोऽसुरः ।
चतुर्थदिवसे दीनो भूपपार्श्वे जगावदः ॥६१२॥
यश्चौरः कुरुते स्तैन्यं सोऽथ विद्याधरोऽसुरः ।
केषामपि वशं नैव समेष्यतीति मे मतिः ॥६१३॥
तस्य पुण्यवतः पुण्यं विद्यते जगदुत्तमम् ।
येन केषां वशं नैति तस्करो मरुतामपि ॥६१४॥
राजा प्रोवाच यः कश्चिद् भवेदेवंविधो नरः ।
स केषामपि भृत्यानां भूतानां मरुतामपि ॥६१५॥
दर्शयिष्यति न स्वीयं रूपं [1]स्तेनः स धूर्तराट् ।
मिलिष्यति सुकुमालवृत्त्या चेति मतिर्मम ॥६१६॥
[2]तेनाद्य पटहः पुर्यां वाद्यते सर्वतो नरैः ।
यः कश्चित् पटहं स्पृष्ट्वा कर्षयिष्यति तस्करम् ॥६१७॥

१ देहस्य कर्हिचित्-ग । २ मनुजोऽन्यो वाऽभ्येत्य तं स्पृशति स्म च-ग ।

तस्य राज्यार्द्धदानेन पूर्यते तन्मनोरथः ।
यतो[1] नैति शये स्तेनः पटहोद्घोषणं विना ॥६१८॥
श्रुत्वैतन्मन्त्रिणः प्रोचुरेवं भवतु सम्प्रति ।
यतः स तस्करोऽतीव छलवान् विद्यतेऽनघः ॥६१९॥
इदानीं पटहोद्घोषः क्रियते स्वामिनोदितः ।
यत एवंविधे कार्ये वाद्यते पटहो नृपैः ॥६२०॥
ततो महीधवादि[2]ष्टैर्गत्वा पुर्यामिति स्फुटम् ।
मन्त्रिभिः सर्वतः पुर्यां वाद्यते पटहः क्रमात् ॥६२१॥
यः कश्चित्पटहस्पर्शं कुरुते मनुजोऽधुना ।
तं च राज्यार्द्धदानेन भूपः सन्मानयिष्यति ॥६२२॥
ततश्चौरो जगौ वेश्ये ! का वार्ताऽस्ति पुरान्तरे ।
पटहोद्घोषवृत्तान्तं तस्याग्रेऽवक् पणाङ्गना ॥६२३॥
चौरोऽवक् पणवामाक्षि ! स्पृशाद्य पटहं द्रुतम् ।
समेष्यत्यर्द्धराज्यादिलक्ष्मीः स्वीयगृहे यतः ॥६२४॥

वेश्या प्राह महीशानां व्यवहारोऽस्ति दुःशकः ।
कदाचिन्नेष्य(च्छ)ति स्वीयकृतं मेलो(लामे)ऽधुना यदि ॥
तदाऽऽत्मीयामिमां लक्ष्मीं बहुकालार्जितां किल ।
हरिष्यति महीपालो यतः स्वीया न भूभुजः ॥६२६॥ यतः—

"काके शौचं द्यूतकारे च सत्यं,
सर्प्पे क्षान्तिः स्त्रीषु कामोपशान्तिः ।
क्लीवे धैर्यं मद्यपे तत्त्वचिन्ता;
राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा" ॥६२७॥

तस्करोऽवग् भवत्याऽत्र न भेतव्यं मनागपि ।
गत्वा स्पृशाशु पटहं सर्वं चारु भविष्यति ॥६२८॥
राजपथ्येत्य पण्यस्त्री स्पृष्ट्वा च पटहं द्रुतम् ।
आजगाम निजं स्थानं स्तेनाग्रे चाखिलं जगौ ॥६२९॥
इतः श्रुत्वा नृपो वेश्यापटहस्पर्शनं तदा ।
आकार्य सचिवान् प्राह भट्टमात्रादिकान् स्फुटम् ॥६३०॥

१ नून सम्भाव्यतेऽस्माकं वंशजातोऽथवा पुमान्–ग । २ जल्पनैकपरैस्तदा–ग ।

कथं प्रदास्यते तस्यै राज्यार्द्धं पण्ययोषिते ।
ततो मन्त्रीश्वराः प्रोचुः राजन्! किं हृदि खिद्यसे ॥६३१॥
स्वगृहे प्रथमं सर्वं भूषणादि समेष्यति ।
चटिष्यति शये स्तेन आत्मीये दुःशकोऽपि सः ॥६३२॥
सुखिनीं जनतां कृत्वा दुष्टतस्करनिग्रहात् ।
कार्यः पाणिग्रहः पश्चात् तस्या अपि पणस्त्रियाः ॥६३३॥
एवं राज्यार्द्धमात्मीयसद्मन्येव भविष्यति ।
राजाऽवक् क्रियते हीनजातेः किं पाणिपीडनम् ॥६३४॥
मन्त्रिणो धीधनाः प्रोचुः हीनजातेरपि स्त्रियः ।
कुर्वतां भूभुजां पाणिग्रहं दोषो न विद्यते ॥६३५॥ यतः—
"विषादप्यमृतं ग्राह्यममेध्यादपि काञ्चनम् ।
अधमादुत्तमां विद्यां स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि" ॥६३६॥
एवमस्त्विति भूपोक्ते मन्त्रिणस्तत्क्षणात्तदा ।
तस्या आकारणार्थं वाऽप्रेषयन् निजसेवकान् ॥६३७॥

गत्वा ते सेवकाः प्रोचुः पण्यनारीनिकेतने ।
आगच्छ गणिके! भूपपार्श्वे चार्प्पय तस्करम् ॥६३८॥
गत्वा गृहान्तरे वेश्या सुप्तं स्तेनं जगावदः ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भूपालभृत्या एयुर्निजालये ॥६३९॥
स्तेनः प्राह प्रतीक्षस्व क्षणमेकं पुराङ्गने ।
यतोऽधुना समायाति प्रमीला सुखकारिणी ॥६४०॥
वेश्यावक् पटहस्पर्शं कारयित्वाऽधुना पुन;
सुप्तोऽसि त्वं सुनिश्चिन्तः किं ते भीतिर्न भूपतेः ॥६४१॥
एवं पुनः पुनः प्रोक्ते मध्याह्ने तस्करः शनैः ।
उत्थाय गणिकां प्राह त्वमागच्छ मया सह ॥६४२॥
वेश्या प्रोवाच गच्छ त्वं किं मां च सङ्कटे क्षिप ।
हुं ज्ञातमीदृशा मर्त्या क्षिपन्त्याश्रितमापदि ॥६४३॥
"वृश्चिकानां भुजङ्गानां दुर्जनानां च वेधसा ।
विभज्य नियतं न्यस्तं विषं पुच्छे मुखे हृदि ॥६४४॥

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययाऽलंकृतोऽपि सन्।
मणिना भूषितः सर्प्पः किमसौ न भयङ्करः ॥६४५॥
यथा गजपतिः श्रान्त[2]छायार्थी वृक्षमाश्रितः।
विश्रम्य तं द्रुमं हन्ति तथा नीचः स्वमाश्रयम्" ॥६४६॥
चौरः प्राह न भेतव्यं भवत्याऽत्र मनागपि।
त्वमागच्छ मया सार्द्धं श्रेयस्तव भविष्यति ॥६४७॥
[1]तथा सा साहसं कृत्वा वेश्या प्राहेति तं प्रति।
त्वं धन्योऽसि कृतार्थोऽसि यस्येदृक्षं च साहसम् ॥६४८॥
परिधाय महीशस्य द्विपटीं करवालकम्।
स्कन्धे कृत्वाऽचलद् वेश्याभूपभूषणसंयुतः ॥६४९॥
तदा राजपथे स्तेनं द्रष्टुं सर्वपुरीजनः।
कार्यं निजं निजं मुक्त्वा [2]समायाति स वेगतः ॥६५०॥
स्तेनं लावण्ययुग्देहं दृष्ट्वा केऽपि जना जगुः।
अहो अस्य समायातोऽकाण्डे कालसमागमः ॥६५१॥
केऽपि जल्पन्ति भूपालो मानमस्य प्रदास्यति।
केऽपि प्रोचुः समायाता वेश्याया अपि आपदः ॥६५२॥
इत्यादि जल्पनं शृण्वन् लोकानां स मलिम्लुचः।
निर्भयो मेदिनीनाथसमीपे समुपेयिवान् ॥६५३॥
भूपतेः पुरतो मुक्त्वाऽऽभरणादीनि तस्करः।
ननाम भक्तितो भूपक्रमयुग्मसरोरुहम् ॥६५४॥
भूपोऽवग् स्तेन! कोऽसि त्वं कुतः स्थानादिहागमः।
किमर्थं कस्य पुत्रोऽसि ततः स्तेनो जगावदः ॥६५५॥
स्मरन्नपि भवान् सप्त पूर्वान् देवो निजान् नृपः।
विदेशादागतं नैव कथं मामुपलक्षसि ॥६५६॥
प्रतिष्ठानपुरात् श्रीमत्–शालवाहनभूपतेः।
नन्दिन्याः सूनुरधुना पितरं नन्तुमीयिवान् ॥६५७॥

१ तत. प्रहृष्टचित्ता सा–ग। २ समागच्छति–ग।

राजा दध्यौ[1] मया तत्र मुक्ता या गर्भयुक् प्रिया।
तया यो जानेतः सूनुः सोऽयमत्रागतो ध्रुवम् ॥६५८॥
एवं ध्यात्वा महीपालः समुत्थायासनात्तदा।
सुतमालिङ्ग्य तस्याशु ददावर्द्धासनं मुदा ॥६५९॥
सर्वे मन्त्र्यादयः प्रोचुरेवं कर्तुं न युज्यते।
चौरस्य क्रियते दण्डो न सन्मानं च केनचित् ॥६६०॥
एष धूर्तो महाचौरो एवं प्रोक्त्वा छलात्स्फुटम्।
त्वामेव कुरुते स्नेहवशं तत्तत्प्रजल्पनात् ॥६६१॥
मन्त्रिपृष्टोऽप्राक्षीत्(वादीत्) ममायं च तनूभवः।
सुकोमलाप्रियाकुक्षिजन्मा साहसिकाग्रणीः ॥६६२॥
नानाचरित्रकरणात् विक्रमार्कमहीपतिः।
विक्रमचरित्र इति सूनोर्नाम ददौ तदा ॥६६३॥
राजा पुत्रागमाद् हृष्टो वेश्यायै नगराष्टकम्।
सन्मानपूर्वकं दत्त्वा व्यसृजत्पणभामिनीम् ॥६६४॥
तदा मुख्याश्वतस्रोऽपि कालीं वेश्यां महीभुजा।
मानीतां वीक्ष्य कृष्णास्या बभूवुर्दुःखिता भृशम् ॥६६५॥
राजा प्राह कथं पुत्र! त्वयेदं मुषितं पुरम्।
अहं चात्र स्थितो ज्ञातो वद पुत्राथ सोऽवदत् ॥६६६॥
मम मातुर्गृहे भारवट्टे श्लोकद्वयेक्षणात्।
तात! तव स्थितिर्ज्ञाता मयाऽत्र नगरे स्फुटम् ॥६६७॥
कृत्वा च कपटं तावत् त्वया माता मम ध्रुवम्।
परिणीता छलात् तत्र मुक्त्वा चात्र समागमः ॥६६८॥
अतो विभूषणादीनि लात्वा छलात् तवालयात्।
तलारक्षादिकानेवमशिक्षयं च कौतुकात् ॥६६९॥
विद्याऽवधियुता देव्या या दत्ताऽस्ति पुरा मम।
साऽतः परं स्थिता पूर्वं प्रतिज्ञादिविधानतः ॥६७०॥ यतः—

[1] दध्यावयं पुत्रो मदीयो मम संनिभः। उत्पाद्य यो मया गर्भस्तत्र मुक्तः स एव हि–ग।

"फड्डा[1] य असंखिज्जा संखिज्जे आवि एगजीवस्स ।
एगफड्डुवओगे निअमा सव्वत्थ उवउत्तो ॥६७१॥
फड्डा य आणुगामी अणाणुगामी अ मीसगा चेव ।
पडिवाई अपडिवाई मीसा य मणुअतिरिच्छे" ॥६७२॥
देवीप्रदत्तविद्याया बलेन स्वधिया पुनः ।
अवदाता कृता एते मया तात ! नृपोदयात् ॥६७३॥

इति श्रीतपागच्छनायकश्रीसोमसुन्दरसूरिपट्टालङ्कारपरमगुरुश्रीमुनिसुन्दरसूरिशिष्यपण्डितश्रीशुभशीलगणिविरचिते श्रीविक्रमादित्यचरिते विक्रमचरित्रजन्म–तस्यावदातकरण–पितृमिलनादिवर्णनो नाम चतुर्थः सर्गः समाप्तः ॥

पञ्चमः सर्गः ।

अथ राजा जगौ पुत्रोत्तिष्ठ त्वं कुरु भोजनम् ।
सूनुः प्राह जनन्यग्रे प्रतिज्ञेति मया कृता ॥१॥
मिलनादनु तातस्य प्रतिष्ठानपुराध्वनि ।
स्थित्वा त्वत्पादनुत्यर्थं पातव्यं सलिलं मया ॥२॥
सूनोरेतद् वचः श्रुत्वा दध्यावेवं नृपो हृदि ।
अहो ! पुत्रस्य कौशल्यं भक्तिः पित्रोश्च सुन्दरा ॥३॥

"प्रीणाति यः सुचरितैः पितरं स पुत्रो,
यद् भर्तुरेव हितमिच्छति तत् कलत्रम् ।
तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं य–
देतत् त्रयं जगति पुण्यकृतो लभन्ते ॥४॥
दीपाः स्थितं वस्तु विभासयन्ति, कुलप्रदीपास्तु पुनर्नवीनाः ।
चिरं व्यतीतानपि पूर्वजान् ये, प्रकाशयन्ति स्वगुणप्रकर्षात् ॥

[1] फड्डकान्यसंख्येयानि संख्येयानि चाप्येकजीवस्य । एकफड्डकोपयोगे नियमात् सर्वत्रोपयुक्त ॥
फड्डकानि चानुगामीन्यनानुगामीनि मिश्राणि चैव । प्रतिपातीन्यप्रतिपातीनि च मनुष्यतिर्यक्षु ॥

शर्वरीदीपकश्चन्द्रः प्रभाते रविदीपकः ।
त्रैलोक्यदीपको धर्म्मः सुपुत्रः कुलदीपकः" ॥६॥
पुत्रः प्राह प्रतिष्ठानपुरे तात ! सुकोमलाम् ।
परिणीय छलादत्रागतोऽसि त्वं च यत्पुरा ॥७॥

तेन सामन्तमन्त्रीशगणिकादिविगोपनम् ।
तद्वैरवालनकृते मयैतद् विहितं किल ॥८॥
राजा प्रोवाच धिग् धिग् मां यत् परिणीय सा प्रिया ।
तत्रोज्झिता च नो सारा (चारु) चक्रे छद्मवता मया ॥९॥
पुत्रोऽवक् तात ! तव नो दूषणं कर्म्मणः पुनः ।
यतः पुरा कृतं कर्म भुञ्जन्ते निखिलाङ्गिनः ॥१०॥

एवमुक्त्वा पितुः पादौ प्रणम्य भक्तितः सुतः ।
प्रतिष्ठानपुरीमार्गे स्थित्वा चकार भोजनम् ॥११॥
ततश्चलन् द्रुतं श्रीमान् विक्रमार्कतनूद्भवः ।
जनन्या मानसे मोदं चकार स्वागमाद् भृशम् ॥१२॥

भक्त्या मातुः पदौ नत्वा कथयामास वैक्रमः ।
स्वरूपं पितृमिलनप्रान्तमामूलचूलतः ॥१३॥
सालवाहनभूपस्य प्रणम्य चरणौ सुतः ।
गृहीत्वा मातरं सद्योऽवन्तीपार्श्वे समागमत् ॥१४॥

भार्यापुत्रागमं श्रुत्वा बहिरागत्य तत्क्षणात् ।
सन्महं कारयामास पुःप्रवेशं तयोर्नृपः ॥१५॥
सप्तभूमिकमावासं दत्त्वा पत्न्ये तदा मुदा ।
विक्रमार्कः सुखं लोकात् शशास न्यायवर्त्मना ॥१६॥
सर्वोत्कृष्टेऽन्यदा घस्रे सन्मुहूर्त्ते सुखप्रदे ।
आकार्य तक्षकं सिद्धविद्यं सन्मानपूर्वकम् ॥१७॥

कीरकाष्ठमयं रत्नजटितं सिंहविष्टरम् ।
भूपतिः कारयामास स्फारं सद्यो मनोरमम् ॥१८॥
कीरकाष्ठमया रत्नखचिताः शालभञ्जिकाः ।
द्वात्रिंशद्(शतं) योजयामास तस्मिन् सिंहासने नृपः ॥१९॥

द्वात्रिंशता सुरीभिस्तत् सिंहासनमधिष्ठितम् ।
वर्यकाष्ठमुहूर्तादिनिष्पन्नत्वात् स्फुरद्युति ॥२०॥
किं वासवेन तुष्टेन साहसादस्य भूपतेः ।
आनीयेदं वरं सिंहासनं सुरीश्रितं ददे ॥२१॥
इत्यादि बहुभिर्विज्ञैर्वर्णना विहिता क्रमात् ।
तथा ख्यातिमगाल्लोके यथाऽद्याऽपि हि विद्यते ॥ (युग्मम्)
अन्यदा योगिराट् कश्चित् प्रतीहारनिवेदितः ।
भूपोपान्ते समागत्य ढुढौके बीजपूरकम् ॥२३॥
एवं वर्षावधि प्रातर्बीजपूराणि भूरिशः ।
ढुढौके भूपतेरग्रे योगिराट् सततं तदा ॥२४॥
राज्ञो हस्तात् समादाय फलमेकं च मर्कटः ।
बुभुजे यावता तावत् रत्नमेकं च निर्गतम् ॥२५॥
तादृक्षं मणिमालोक्य पप्रच्छ योगिनं नृपः ।
किमर्थं प्राभृतं चक्रे त्वया त्वं वद योगिराट् ॥२६॥

योगी प्राह मया वर्षावधि च प्राभृतं कृतम् ।
कोशाध्यक्षान्तिकाद् राज्ञा[1] फलान्यानायितान्यथ ॥२७॥
बहिः कृतान् मणीन् दृष्ट्वा राजा प्राह प्रमोदितः ।
किमर्थं प्राभृतं चक्रे त्वया योगी ततो जगौ ॥२८॥
"रिक्तपाणिर्न पश्येत(च्च) राजानं देवतां गुरुम् ।
उपाध्यायं च वैद्यं च फलेन फलमादिशेत् ॥२९॥
उपकारः कृतो नृणां जायते सुखहेतवे ।
सात्त्विकप्रार्थनाभङ्गः क्रियते न सता नृणाम् ॥३०॥ यतः—
"क्षुद्राः सन्ति सहस्रशः स्वभरणव्यापारबद्धादराः,
स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणीः ।
दुष्पूरोदरपूरणाय पिबति स्रोतःपतिं वाडवो;
जीमूतस्तु निदाघतापितजगत्सन्तापविच्छित्तये ॥३१॥
लच्छी[2] सहावचवला तओ वि चवलं (च) जीविअं होइ ।
भावो उ तओ चवलो उवयारविलंबणं कीस ॥३२॥"

1 राजा फलान्यानीतवाँस्तदा ग । 2 लक्ष्मी स्वभावचपला ततोऽपि चपलं च जीवितं भवति । भावस्तु ततश्चपल उपकारविलम्बनं कस्मात् ॥

एवं योगिवचः श्रुत्वा प्रोवाच मेदिनीपतिः।
योगिन्! यद् विद्यते कार्यं ब्रूहि तत् त्वं ममाग्रतः ॥३३॥
योगी जगाद भूपाल! साहसेन शरीरिणाम्।
दुःशकाऽपि भवेत् कार्यसिद्धिः सुखकरा द्रुतम् ॥३४॥ यतः—
"विजेतव्या लङ्का चरणतरणीयो जलनिधि-
विंपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः।
तथाप्याजौ रामः सकलमवधीत् राक्षसकुलम्;
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥३५॥
रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्त तुरगाः,
निरालंबो मार्गश्चरणविकलः सारथिरपि।
रविर्यात्येवान्तं प्रतिदिनमपारस्य नभसः;
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥३६॥
राजन्! काचिन्मया पूर्वं प्रारब्धा मन्त्रसाधना।
उत्तरसाधकस्तस्यां भव त्वं सात्त्विकाग्रणीः ॥३७॥
प्रतिपद्य वचस्तस्य राजा योगिसमन्वितः।
ययौ वनान्तरे रात्रौ निर्भयोऽसिसखा रहः ॥३८॥ यतः—
"एकोऽहमसहायोऽहं कृशोऽहमपरिच्छदः।
स्वप्नेऽप्येवंविधा चिन्ता मृगेन्द्रस्य न जायते" ॥३९॥
वृक्षशाखानिबद्धं च शवं स योगिराट् तदा।
आनेतुं च महीपालं प्रेषयामास दुष्टधीः ॥४०॥
अग्निकुण्डं ज्वलज्ज्वालं कृत्वा खदिरदारुभिः।
योगी कर्त्तुं क्रियां ध्यानपरस्तत्राभवत् तदा ॥४१॥
भूपस्तस्मिंस्तरौ गत्वाऽऽरुह्य तन्मृतकं यदा।
छित्त्वा च पातयित्वाऽऽशु भूमावुत्तीर्णवान् स्फुटम् ॥४२॥
तावत्तन्मृतकं वृक्षे चटितं वीक्ष्य भूपतिः।
आरूढः पादपं भूयः[1] शवस्य ग्रहणेच्छया ॥४३॥
कष्टं वीक्ष्य तदा भूमीपतेर्वैतालिकोऽग्निकः।
आश्रित्य मृतकं प्राह मेदिनीनायकं प्रति ॥४४॥

[1] पूर्ववच्छित्त्वोर्ध्वगतं शवम् ग।

"गीतशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।
व्यसनेन हि मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा" ॥४५॥
तेनेह श्रूयतां काचित् कथ्यमाना कथा मया ।
राजाऽवक् कथ्यतामग्रे पुरातनीं कथां शव ! ॥४६॥
शवः प्राहाधुना सावधानीभूय महीपते ! ।
कथ्यमानां कथां सद्यो मया शृणु पुरातनीम् ॥४७॥
अत्र वेतालपञ्चविंशतिका अवतार्या ।
ज्ञात्वा भूमीपतेः कष्टं पञ्चविंश(त्या)कथानकैः ।
अतिवाह्य निशां शेषां वेतालोऽवग् नृपं प्रति ॥४८॥
राजन्नयं छली योगी त्वां बलिं पुरुषोत्तमम् ।
विंधायाद्य चिकीरस्ति सद्यः काञ्चनपौरुषम् ॥४९॥
अतोऽस्य योगिनस्त्वं हि मा विश्वासं कृथा नृप ! ।
दुरात्माऽयं छली योगी विद्यतेऽधर्म्मशेखरः ॥५०॥ यतः—

"मायोपकृतमेतस्य वक्रस्येति न विश्वसेत् ।
दत्ताक्षरोऽपि दुष्टाहिदुर्जनो दशति द्रुतम् ॥५१॥
तस्यैव योगिनो मन्त्रान् दुष्टान् प्रजपतः पुरः ।
शक्येत न मया गन्तुं तेन तत्र त्वकं व्रज ॥५२॥
एतच्चाकर्ण्य भूपेन चित्तेऽचिन्ति सविस्मयम् ।
अहो दुष्टधियो जन्म हारयन्ति खला मुधा ॥५३॥ यतः—
"एकजन्मकृते मूढा कुर्वन्ति छलमन्वहम् ।
हारयन्ति भवान् लक्षं लीलया दुष्टमानसाः ॥५४॥
शमेन परिगृह्यते सुकृतमज्जनः सज्जनः,
शठस्तु हठकर्म्मणा लुठति पादपीठे चिरम् ।
पयो हि भुजगः पिबन् गरलमुद्गिरेत् केवलम् ,
महौषधिवशात्पुनः कमलबालनालायते" ॥५५॥
किंनामाहो छली योगी करिष्यति तदा मम ।
अहं चापि करिष्यामि तदानीं समयोचितम् ॥५६॥ यतः—

१ विद्यया यः सिसाधयिषुरस्ति काञ्चन–ग ।

"अतीतं नैव शोचन्ति भविष्यं नैव चिन्तयेत् ।
वर्तमानेन कालेन वर्तयन्ति विचक्षणाः" ॥५७॥
एवमुक्त्वा शवं स्कन्धे कृत्वा विक्रमभानुमान् ।
मुमोच योगिराट्पार्श्वे योगीशो मुमुदे तदा ॥५८॥
योगी प्राह शिखाबन्धं करोमि तव भूपते ! ।
यतो न जायते विघ्नं मम होमं वितन्वतः ॥५९॥
राक्षसव्यन्तरप्रेतभूतदैत्यादयः पुनः ।
केऽपि तवापि नो विघ्नं कर्तुमीशा मनागपि ॥६०॥
अंगरक्षां यतो विद्यासाधका धुरि कुर्वते ।
ततः समीहितं सर्वं तेषां भवति निश्चितम् ॥६१॥
एवमुक्त्वा शिखाबन्धं कर्तुं योगी महीपतेः ।
सामग्रीमानयामास निखिलां दुष्टमानसः ॥६२॥
शिखाबन्धं महीशस्य मस्तकोपरि तत्क्षणात् ।
विधाय योगिराड् दुष्टो मानसे मुमुदेतराम् ॥६३॥
राजा दध्यावयं दुष्टः पाखण्डी विद्यते स्फुटम् ।
मया तथा विधातव्यं यथा शर्म भवेन्मम ॥६४॥
यावद् योगी नृपं वह्निकुण्डे क्षिपति दुष्टधीः ।
तावद् भूपोऽग्निवेतालवचःस्मृतिपरोऽभवत् ॥६५॥
अहो ! दुरात्मनाऽनेनेदानीं स्वोदरपूर्त्तये ।
किमेवं मण्डिता पापप्रपञ्चरचनाऽधमा ॥६६॥
आहुतेः समये वह्निकुण्डे तं योगिनं बलिम् ।
कृत्वा भूमीपतिः स्वर्णमयं मर्त्यमसाधयत् ॥६७॥
प्रत्यक्षीभूय गाङ्गेयनराधिष्ठायकः सुरः ।
तत्प्रभावं प्रकाश्याथ राज्ञे शीघ्रं तिरोदधे ॥६८॥ यतः—
"[1]धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो" ॥६९॥

१ धर्मो मङ्गलमुत्कृष्टं अहिंसा संयमस्तपः । देवा अपि नमस्यन्ति यस्य धर्मे सदा मनः ॥

जइ वि हु विसमो कालो विसमा देसा निवाइया विसमा।
तह वि हु धम्मपराणं सिज्झइ कज्जं न संदेहो ॥७०॥
इतोऽप्रेक्ष्य नृपो मन्त्रीश्वरा द्रष्टुं दिशो दिशि।
पुरान्निर्गत्य भूपान्तेऽभ्येत्य चेति जगुः स्फुटम् ॥७१॥
किमर्थं केनचित् स्वामिंस्त्वमानीतोऽत्र कानने।
अयं स्वर्णनरो जातः कथं तव महीपते? ॥७२॥
ततः स नरपोऽशेषं वृत्तान्तं योगिनिर्मितम्।
कथयामास मन्त्रीशलोकानां पुरतस्तदा ॥७३॥
कुण्डादादाय भूपालः सद्यः कनकपूरुषम्।
महेन महता पुर्यां प्रविवेशोदये रवेः ॥७४॥
मन्त्रीश्वरा जगुः स्वामिन्! परद्रोहः कृतोऽङ्गिना।
अनर्थाय भवत्येव तस्येह च न संशयः ॥७५॥ यतः—
आत्मनः कुशलाकाङ्क्षी परद्रोहं न चिन्तयेत्।
स्थविरायै कृतो द्रोहो वध्वा एवापतद्यतः ॥७६॥
वीरश्रेष्ठि–स्थविरमातृ–पुत्रभार्याकथा वाच्या। तथाहि–
चन्द्रपुरेऽभवच्छ्रेष्ठी वीरो वीरमती प्रिया।
विपन्नभर्त्तृका माता जयेत्याह्वाऽभवत् पुनः ॥७७॥
क्रमात्पुत्रो वधूश्चापि तस्या भक्तिं न चक्रतुः।
तेनातीव मनोमध्ये दुःखेन पीडयते भृशम् ॥७८॥

स्थविराकथा। यतः—

"आस्तन्यपानाज्जननी पशूनामादारलाभाच्च नराधमानाम्।
आगेहकर्म्मैव तु मध्यमानामाजीवितात् तीर्थमिवोत्तमानाम्॥
जातापत्या पतिं द्वेष्टि कृतदारस्तु मातरम्।
कृतार्थः स्वामिनं द्वेष्टि जितरोगश्चिकित्सकम्" ॥८०॥
सर्वत्र स्वेच्छया वीरमती भ्रमितुमन्वहम्।
जिघांसति रहः श्वश्रूं पापात्मा वक्रमानसा ॥८१॥

---

१ यद्यपि खलु विषम कालो विषमा देशा नृपादिका विषमा। तथापि खलु धर्मपराणा सिद्ध्यति कार्यं न सन्देह।

२ योगी स क्व गतो येन त्वमानीतोऽत्र कानने—ग।

एकदा पर्वणि क्वापि श्वश्रूः प्राह वधूं प्रति।
वत्से गत्वाऽऽपणे काष्ठगोधूमानानयाचिरात् ॥८२॥
पक्वान्न–मण्डकादीनि करिष्यन्ते प्रगे वधु!।
गत्वा हट्टे स्नुषा प्राह दूनेति गद्गदस्वरम् ॥८३॥ (युग्मम्)
जरारोगातुरा माता तव काष्ठानि याचते।
श्रुत्वैतद् वीरमश्चिन्ताहतोऽभ्येत्य गृहं जगौ ॥८४॥
मातस्त्वं याचसे काष्ठभक्षणं कथमत्र हे।
भविष्यामि कथंकारमहं त्वां तु विनाऽधुना ॥८५॥
माता दध्यौ स्फुटं वध्वा गदितं छद्मवाक्यतः।
एवं प्रभापते पुत्रो ममोपरि न साम्प्रतम् ॥८६॥
यथा तथा छलाद्धन्तुकामेयं मां वधूः सदा।
हनिष्यति ततः काष्ठभक्षणं क्रियते मया ॥८७॥
तस्माद् वधूदितं वाक्यमहमेवं समर्थये।
ध्यात्वेति सा जगौ पुत्र! देहि काष्ठानि मेऽधुना ॥८८॥

नगराद् दूरतो नद्यां काष्ठभक्षाकृते चिता।
कृता वधूतनयाभ्यां काष्ठान्यानीय तत्क्षणात् ॥८९॥
स्थविराविहिताऽशेषकाष्ठभक्षणकृत् क्रिया।
विसृज्य स्वजनान् रात्रौ तटिन्यां समुपागमत् ॥९०॥
चितां प्रदक्षिणीकृत्य प्रविष्टाऽम्बा च यावता।
तावद् वीरकराद् वह्निः सद्यः शान्तिमुपागमत् ॥९१॥
वीरः प्राह प्रिये! वह्निमानेतुं याम्यहं पुरि।
स्थातव्यं च त्वया तावद् यावद्वह्निं समानये ॥९२॥
वह्निं नेतुं गते वीरेऽन्यत्रास्थात् सभया वधूः।
वृद्धा दध्यौ मुधाऽऽत्मानं क एनं हन्ति मुग्धधीः ॥९३॥
विमृश्येति शनैस्तस्या मध्यान्निःसृत्य तत्क्षणात्।
स्वाकारं तत्र क्षिप्त्वा च वृद्धोपान्ततरौ ययौ ॥९४॥
वृद्धा तु तरुमारूढा यावत् तावदगात्सुतः।
प्रज्वाल्य च चितां सद्यः समागात् स्वनिकेतने ॥९५॥

१ वधूः प्रा–ग। २ भवति! कथम्–ग। ३ मातस्त्वां च वि–ग। ४ विद्यते परं–ग। ५ वृद्धाऽऽसन्नत–ग।

वधूवरौ ततः सुप्तौ निश्चिन्तौ दिवसात्यये ।
तस्यामेव निशीथिन्यां तदा केचन तस्कराः ॥९६॥
प्रविश्य श्रीपुरे श्राद्धश्रेष्ठिनः सदने रहः ।
भङ्क्त्वा पेटां च तन्मध्याद् भूषणादि ललुर्बहु ॥९७॥ युग्मम्
[1]वलन्तः पादपस्याधस्तस्यैत्य नगरात्ततः ।
आनीय वह्निमुद्योतं कुर्वन्ति स्म मलिम्लुचाः ॥९८॥
विभक्तुं तस्करास्तत्रोपविष्टा यावता लघु ।
कर्पयित्वा लसत्पट्टकूलभूषणसञ्चयम् ॥९९॥
समुत्पन्नमतिस्तावद् वृद्धा मुत्कलवालका ।
प्सामि प्सामीति जल्पन्त्यवा (व)ततार तरोस्तदा ॥१००॥
'पिशाची राक्षसी'त्येवं मन्वानास्ते मलिम्लुचाः ।
बिभ्यतस्तत् समं वस्तु मुक्त्वा ययुर्दिशो दिशम् ॥१०१॥
दुकूलाभरणादीनि परी(रि)धाय तदा क्रमात् ।
चचाल स्वगृहे गन्तुं ज्यायसी मुदिताशया ॥१०२॥

आयान्तीं जननीं दृष्ट्वा वीरमो गृहीणीयुतः ।
उत्थाय विस्मितस्तस्या मिलितश्च जगावदः ॥१०३॥
मातस्त्वया कथं लब्धा विभूतिरीदृशी वद ।
माता प्रोवाच सत्त्वेन मृताऽहं स्वर्गमासदम् ॥१०४॥
मत्साहसेन सन्तुष्टः सुरेन्द्रः सद्विभूतिना ।
सन्मान्य मां दिवो भूमौ प्रेषयामास वेगतः ॥१०५॥
वधूः प्राह ततः श्वश्रु ! काष्ठानि तरुणी यदि ।
प्साति तदा कथं शक्रः सन्मानयति तां वद ॥१०६॥
श्वश्रूः प्राह ततो मत्तोऽष्टगुणैर्भूषणैर्वरैः ।
वासवस्तरुणीं सद्यः सन्मानयति च स्नुषे ! ॥१०७॥
आकर्ण्यैतद् वधूः प्राह प्सामि काष्ठान्यहं पुनः ।
स्थविरावचसाऽचालीत् काष्ठान्यत्तुं वधूटिका ॥१०८॥
सार्द्धं गत्वा स्वयं वृद्धा लात्वा वैश्वानरं पुनः ।
काष्ठानि प्रददौ वध्वा स्थविरा विधिवत्तदा ॥१०९॥

---

१ चलन्त ग।

द्वितीये दिवसे भार्याऽऽगमनं वीक्षते वणिग् ।
भूयो भूयस्ततो वृद्धा प्राहेति तनयं प्रति ॥११०॥
वत्स ! मृतैर्मनुष्यैर्नागम्यते कुत्रचित् कदा ।
वीरो जगौ कथं मातरेवं वदसि साम्प्रतम् ॥१११॥
माता स्वीयं स्वरूपं च प्रकाश्य निखिलं तदा ।
प्राह शोको न कर्त्तव्यो मृता आयान्ति नो कदा ॥११२॥यतः
ऋतुर्व्यतीतः परिवर्तते पुनः क्षयं प्रयातः पुनरेति चन्द्रमाः ।
गतं गतं नैव च सन्निवर्त्तते जलं नदीनां च नृणां च जीवितम् ॥
आनीतया श्रिया पुत्रमन्यां कन्यां मनोरमाम् ।
परिणाय्याभवद् बाढं सुखिनी स्थविरा चिरम् ॥११४॥
चिन्त्येते यत् परस्यैव रुचिरारुचिरे पुनः ।
तदेव सहसा तस्य समायाति न संशयः ॥११५॥
इति स्थविरा कथा ॥
ज्ञातृत्वं प्रवरं केषु केषु मतेषु साम्प्रतम् ।
ध्यात्वेति विक्रमादित्योऽशृणोत् काव्यानि धीमताम् ॥११६॥
येषां यादृंशि काव्यानि शृणोति स महीपतिः ।
तेभ्यो ज्ञेभ्यस्तदा दानं दापयामास मोदतः ॥११७॥
श्रुत्वेति नृमुखात् सिद्धसेनसूरीश्वरस्तदा ।
कर्तुं प्रभावनां चेतः कुरुते जिनशासने ॥११८॥
वृद्धवादिगुरोः शिष्यः सिद्धसेनोऽन्यदा वहन् ।
'सर्वज्ञसूनु'[1]विरुदं विजहार महीतले ॥११९॥
विहरन् भूतले सिद्धसेनसूरीश्वरस्तदा ।
अबोधयद् बहून् भव्यजनान् धर्मं जिनोदितम् ॥१२०॥
सर्वज्ञागमपीयूषयूषेण विहरन् भुवि ।
उत्तारयामास मिथ्यात्वविषं यो भव्यदेहिनाम् ॥१२१॥
अवन्त्या बहिरुद्याने सिद्धसेनदिवाकरम् ।
पाठयन्तं च विरुदं जिनसूनुरिति स्फुटम् ॥१२२॥

१ सर्वज्ञपुत्रविरुदं पठ्यमानं सुगायकैः ग ।

आगच्छन्तं बहिः क्रीडां कर्तुं गच्छन् महीपतिः।
निरीक्ष्य तत् परीक्षार्थं नमश्चक्रे स्वचेतसा ॥१२३॥ (युग्मम्)
सूरिस्तु करमुत्क्षिप्य धर्मलाभं ददौ तदा।
राजा प्राह कथं धर्मलाभोऽसभ्यं प्रदीयते ॥१२४॥
अस्माभिर्वन्दिता यूयं नैव सूरीश्वरा! मनाग्।
समर्थः किमयं धर्म्मलाभोऽत्र लभ्यते मुधा ॥१२५॥
सूरिः प्रोवाच भूपाल! वन्दमानाय दीयते।
कायेन वन्दिता नैव मनसा वन्दिता वयम् ॥१२६॥
श्रुत्वैतद्धर्षितो भूपोऽवरुह्य कुञ्जरात्ततः।
वन्दित्वा तं गुरुं स्वर्णकोटिं चादापयत्तदा ॥१२७॥
निर्लोभत्वात्तदाऽऽचार्यैर्जगृहे न नृपार्पिता।
कथितत्वान्नृपः पश्चात् स्वर्णकोटिं ललौ नहि ॥१२८॥
सूरेनुज्ञया जीर्णोद्धारे सा व्ययिता तदा।
ततो राजवहिकायां लिखितं धीसखैरिति ॥१२९॥

"धर्मलाभ इति प्रोक्ते दूरादुच्छ्रितपाणये।
सूरये सिद्धसेनाय ददौ कोटिं नराधिपः" ॥१३०॥
ॐकारनगरेऽन्येद्युः श्रावकैरिति जल्पितम्।
सिद्धसेनगुरोरग्रे धर्मं श्रुत्वा जिनोदितम् ॥१३१॥
अत्र शम्भुगृहादुच्चं जिनसद्म तपोधनाः।
कर्तुं ददति नो स्वामिन्! तत् त्वं कारय भूपतः ॥१३२॥
भवतो रुचितं चैत्यं मया भूपसमीपतः।
कारयितव्यमित्युक्त्वोज्जयिन्यां गुरुरीयिवान् ॥१३३॥
चमत्कृतिकृते भूमिनायकस्यान्यदा प्रगे।
श्लोकचतुष्टयं कृत्वा सिद्धसेनदिवाकरः ॥१३४॥
भूभुग्निकेतनद्वारे गत्वा चेति जगौ तदा।
भो! द्वाःस्थाहं महीशस्य मिलनायागतोऽस्मि च ॥१३५॥
लिखित्वा पत्रके श्लोकमेकं द्वारस्थपाणिना।
प्रेषयामास सूरीशो भूपपार्श्वे विशारदः ॥१३६॥ तथाहि–

१ ननु–ग।

"भिक्षुर्दिदृक्षुरायातस्तिष्ठति द्वारि वारितः ।
हस्तन्यस्तचतुःश्लोकः किं वाऽऽगच्छतु गच्छतु" ॥१३७॥
ज्ञात्वा श्लोकार्थमूर्वीशो रञ्जितो द्वाःस्थपाणिना ।
प्रतिश्लोकं पुनः प्रेषयामास गुरुसन्निधौ ॥१३८॥ तथाहि—
"दीयन्तां दश लक्षाणि शासनानि चतुर्दश ।
हस्तन्यस्तचतुःश्लोको यद्वाऽऽगच्छतु गच्छतु ॥१३९॥
ज्ञातश्लोकार्थसूरीशो गत्वा मध्येगृहं नृपम् ।
पूर्वाशास्थितमालोक्य पुनः श्लोकं पपाठ च ॥१४०॥
"अपूर्वेयं धनुर्विद्या भवता शिक्षिता पुनः ।
मार्गणौघः समभ्येति गुणो याति दिगन्तरम्" ॥१४१॥
पूर्वां मुक्त्वा राजा दक्षिणदिग्भागे स्थितः ।
पुनरपि सूरिर्द्वितीयं श्लोकं प्राह—
"सर्वदा सर्वदोऽसीति मिथ्या संस्तूयसे बुधैः ।
नारयो लेभिरे पृष्ठं न वक्षः परयोषितः" ॥१४२॥

ततः पश्चिमां स्थिते राज्ञि सूरिस्तृतीयं श्लोकं जगौ—
"त्वत्कीर्तिर्जातजाड्येव चतुरम्भोधिमज्जनात् ।
आतपाय महीनाथ ! गता मार्त्तण्डमण्डलम्" ॥१४३॥
ततो भूपे उत्तरायां स्थिते चतुर्थं श्लोकं सूरिः पपाठ—
आहते तव निःस्वाने स्फुटितं रिपुहृद्घटैः ।
गलिते तत्प्रियानेत्रे राजन् ! चित्रमिदं महत्" ॥ पुनः पपाठ—
"सरस्वती स्थिता वक्त्रे लक्ष्मीः करसरोरुहे ।
कीर्तिः किं कुपिता राजन् ! येन देशान्तरं गता" ॥१४५॥
श्लोकार्थेन महीपालश्चमत्कृतमनास्तदा ।
उत्तीर्यासनतोऽह्नाय नत्वा भक्त्या जगावदः ॥१४६॥
इदं राज्यं लसद्धस्तिवाजिरत्नादिशालितम् ।
गृहाण मामनुगृह्य ततः सूरिर्जगावदः ॥१४७॥
मातृपित्रादिनिःशेषलक्ष्मी त्यक्ता मया पुरा ।
तेनैव मे मनो लोष्ठकाञ्चनेषु समं सदा ॥१४८॥

शत्रौ मित्रे तृणे स्त्रैणे स्वर्णेऽश्मनि मणौ मृदि ।
मोक्षे भवे च साधूनां समं चित्तं सदा भवेत् ॥१४९॥
"भुञ्जीमहि सदा भैक्ष्यं जीर्णवासो वसीमहि ।
शयीमहि महीपीठे कुर्वीमही किमीश्वरैः" ॥१५०॥
निर्लोभं[1] तं नृपो वीक्ष्य सिद्धसेनं गुरूत्तमम् ।
उपलक्ष्य च सर्वज्ञमतं प्रशशंसादरात् ॥१५१॥
तदा च गुरुणोङ्कारनगरे जिनमन्दिरम् ।
श्राद्धोक्तं कारितं श्रीमद्विक्रमादित्यभूपतः ॥१५२॥
सिद्धसेनोऽन्यदा सूरिः श्रीनाभेयजिनालये ।
देवं नन्तुं ययौ सद्यः प्रभाते मुदिताशयः ॥१५३॥
वन्दितुं सिद्धसेनार्यं तत्र सर्वज्ञसद्मनि ।
तदा सद्यः समाजग्मुर्भूरिसांसारिका जनाः ॥१५४॥
सिद्धसेनगुरुः स्फारैर्नमस्कारैश्च भूरिभिः ।
स्तौतीति ऋषभं चैत्यवन्दनं विदधन्मुदा ॥१५५॥

"स मङ्गलं वो वृषभध्वजः क्रियाजटावलीसंवलितांसमण्डलः ।
यदीयमङ्गं किल सर्वमङ्गलाश्रितं प्रमोदाय न कस्य जायते ॥
भव्याङ्गभृत्कोकिलपुण्डरीकं दुष्कर्मरुक्छेदनपुण्डरीकम् ।
पद्भ्यां पवित्रीकृतपुण्डरीकं नताखिलाखण्डलपुण्डरीकम् ॥
उन्मत्तमोहद्विपपुण्डरीकं बाल्ये कृतार्थीकृतपुण्डरीकम् ।
शिरस्तुराषाड्धृतपुण्डरीकं त्वां स्तौमि चञ्चत्पदपुण्डरीकम्" ॥
अतिस्फारान् नमस्कारान् सदर्थसहितांस्तदा ।
कथयित्वेति भावेन सिद्धसेनो गुरुर्जगौ ॥१५९॥
नमुत्थुणे'ति सद्वाक्यैर्[2]वर्द्धमानं जिनेश्वरम् ।
सूरीशं वीक्ष्य संसारिवर्गोऽतीवाहसद् भृशम् ॥१६०॥
एतैर्वर्षैरयं भूरिशास्त्राणि प्रपठन्[3] यतिः ।
कथमेवंविधैः स्तोत्रैः प्राकृतैः स्तौति चार्हतः ॥१६१॥
श्रुत्वैतद् वचनं ह्रीणः सिद्धसेनगुरुस्तदा ।
निर्गत्य च ततः पुर्याः प्रतिष्ठानपुरे ययौ ॥१६२॥

१. निर्लोभत्वं नृपो वीक्ष्य सूरीशस्य तदा भृशम् । जिनधर्मरतः किञ्चिद् बभूव न्यायतत्पर. ग । २ स्तुतिभिव ग । ३ गुरुसनिधौ । ग ।

वृद्धवादिगुरुं नत्वा सिद्धसेनदिवाकरः ।
पप्रच्छेति गुरोः पार्श्वे विनयेन कृताञ्जलिः ॥१६३॥
वन्दनादिकसूत्राणि शोभन्ते प्राकृतानि न ।
अतोऽहं संस्कृतान्येव कुर्वे ते यदि रोचते ॥१६४॥
गुरुः प्राह महाभाग ! गौतमादिगणेश्वराः ।
चतुर्दशमहापूर्वशास्त्रपाथोधिपारगाः ॥१६५॥
वन्दनादिकसूत्राणि संस्कृतानि च किं नहि ।
जानन्ति कर्तुमह्वाय किन्त्वेवं त्वं प्रजल्पसि ॥१६६॥
"बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां चारूपकृतिहेतवे ।
गौतमादिगणाधीशैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः" ॥१६७॥
उक्तेन वचसा पाराञ्चितं पापं तवाऽभवत् ।
तेनैव दुर्गतौ पातो भविता तव निश्चितम् ॥१६८॥
सिद्धान्ताऽऽशातनाऽकारि त्वयेदानीं दुरुत्तरा ।
संसारे भ्रमणं भूरि भविष्यति तवानघ ॥१६९॥

सिद्धसेनो जगौ स्वामिन् ! मौढ्यान् मयाऽधुना मुधा ।
ईदृशं जल्पितं भूरिदुःखसन्ततिदायकम् ॥१७०॥
भविष्यति ममाधस्तात् श्वभ्रे पातो दुरुत्तरः ।
तेनाधुना मम प्रायश्चित्तं विश्राणयोचितम् ॥१७१॥
वृद्धवादिगुरुः प्राह लग्नं तव तमो बहु ।
दुःशकं शक्यते दातुं तपो दातुं भवादृशाम् ॥१७२॥
अवधूतस्य वेषेण यदि त्वं द्वादशाब्दिकम् ।
स्थित्वा प्रान्ते नृपं प्रौढं धर्मं त्वं बोधयिष्यसि ॥१७३॥
तदा ते छुट्टनं पापाज्जायते नान्यथा पुनः ।
गृहित्वैतद् गुरोर्वाक्यं सिद्धसेनोऽचलत्ततः ॥१७४॥
स्थाने स्थाने भ्रमन् सिद्धसेनसूरिर्निरन्तरम् ।
अवधूतस्य वेषेण प्रबोधयति मेदिनीम् ॥१७५॥
इतः श्रीविक्रमादित्यो हस्त्यश्वपत्तिसुन्दरम् ।
निरीक्ष्य राज्यमात्मीयं मुमुदेऽब्धिरिवोडुपम् ॥१७६॥

१ तृणा चो-ख । २ अनेन-ग ।

अन्येद्युः प्रातरासीनः सभायां मेदिनीपतिः ।
आकार्य भट्टमात्रादीन् सचिवानेवमूचिवान् ॥१७७॥
मदीयान्तःपुरं सर्वं शोभते न मनागपि ।
विना तुल्यां वधूं सूनोर्विना व्योम रविं विना ॥१७८॥
तेनेह तनयस्यास्य विवाहकरणादनु ।
द्विवारादधिकं[1] कार्यं भोजनं मयका किल ॥१७९॥
ततो राज्ञो निदेशेन चतुर्दिक्षु पदातिकाः ।
कन्यां विलोकितुं गत्वा पश्चादेत्येति ते जगुः ॥१८०॥
श्रीविक्रमचरित्रस्य तुल्या काऽपि न कन्यका ।
दृष्टाऽस्माभिः श्रुता नैव कुत्रचित् कस्य भूपतेः ॥१८१॥
ततश्चिचलिषुं क्ष्मापं द्रष्टुं कन्यां निशम्य च ।
भट्टमात्रो जगौ स्वामिन्! नाचारोऽयं महीभुजाम् ॥१८२॥
अन्यलोका इव क्ष्मापाः पुत्रार्थं कन्यकाः स्वयम् ।
द्रष्टुं व्रजन्ति नो तेन भवान् तिष्ठतु साम्प्रतम् ॥१८३॥
तेन देहि मम स्वामिन्नादेशं याम्यहं द्रुतम् ।
कन्यां विलोकितुं दूरदेशेषु तव सेवकः ॥१८४॥
प्राप्यादेशं महीशस्य भट्टमात्रः शुभेऽहनि ।
चतुरङ्गचमूयुक्तः प्रस्थानमकरोद् बहिः ॥१८५॥
राज्ञोक्तं सुभटा! भट्टमात्रस्यास्य च मन्त्रिणः ।
आदेशः सततं कार्यो भवद्भिस्तत्र सादरम् ॥१८६॥
भृत्याः प्रोचुस्तव स्वामिन्! प्रमाणं वचनं ह्यदः ।
यतो भवति भूपाज्ञाऽऽराधिता सुखदायिनी ॥१८७॥
इतस्तत्रागतः[2] कश्चिद् भट्टः साडम्बरान्वितः ।
चमूं प्रेक्ष्य नरान् प्राह कस्येदं कटकं महत् ॥१८८॥
चमूनरा जगुर्भूपामात्यस्य कटकं किल ।
भट्टोऽवग् यद्यमात्यस्यैतन्मात्रा स्याच्चमूः स्फुटम् ॥१८९॥
महीशस्य कियन्मात्रं कटकं च भविष्यति ।
भृत्यैरुक्तं नरेन्द्रस्य सङ्ख्या न ज्ञायते वले ॥१९०॥

१ द्विर्वार च विधातव्यं भो-ग । २ इतः कश्चित् कुतो भट्टः सप्ताश्वारूढपत्तियुक्-ग ।

किमर्थं मिलिता सेनेत्युक्ते भट्टेन ते जगुः ।
विक्रमार्कनरेन्द्रस्योऽद्वाहयोग्योऽभवत्सुतः ॥१९१॥
तस्य तुल्यां कनीं द्रष्टुं भट्टमात्रोऽधुनाऽनघः ।
भूपादेशाच्चिचलिषुः प्रस्थानं प्रददौ वहिः ॥१९२॥
भट्टः प्राह महीशस्य कीदृक्षो विद्यते सुतः ।
भृत्याः प्रोचुः स्ववक्त्रेण वक्तुं रूपं न शक्यते ॥१९३॥
रूपनिर्जितकन्दर्परूपश्रीश्चारुविक्रमः ।
श्रीविक्रमचरित्राह्वो विद्यते भूपतेः सुतः ॥१९४॥
येन भूपतलारक्षभट्टमात्रपणाङ्गनाः ।
कौटिकद्यूतकृद्वह्निवेताला विजिताः पुरा ॥१९५॥
श्रीविक्रमचरित्रस्य तस्य सूनोर्महिपतेः ।
रूपं पराक्रमश्चापि विद्येते जगदुत्तमौ ॥१९६॥
ततोऽभ्येत्य द्रुतं भट्टो भट्टमात्रान्तिके जगौ ।
किमर्थं साम्प्रतं सेनायुक्तेन चल्यते त्वया ॥१९७॥
भट्टमात्रो जगौ सौवकार्यं तस्याग्रतस्तदा ।
ततो भट्टोऽवदत्कन्या विद्यते दिव्यरूपिणी ॥१९८॥
अमात्योऽवक् सुता कस्यास्तीत्युक्ते स जगावदः ।
सुराष्ट्रामण्डले चार्वी विद्यते वलभी पुरी ॥१९९॥
तत्र महाबलक्ष्मापस्तस्य वीरमती प्रिया ।
तयोः शुभमती दिव्यरूपश्रीर्विद्यते सुता ॥२००॥
सर्वविद्याकलाम्भोधिपारीणा प्राप्तयौवना ।
मोहयन्ती मनोयूनामभूत् शुभमती क्रमात् ॥२०१॥ यतः—
"आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥
विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनम्,
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः ।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परं दैवतम्,
विद्या राजसु पूज्यते नहि धनं विद्याविहीनः पशुः" ॥इत्यादि

१ पराक्रमं को ज्ञो वर्णयति स्म मानवः—ग ।

तस्यास्तुल्यो वरो भूरिदेशेषु बहुशोऽभितः ।
लब्धो विलोक्यमानोऽपि साम्प्रतं न महीभुजा ॥२०४॥
ततस्तत्रागतं वीक्ष्य पुत्रं विक्रमभूपतेः ।
भट्टः प्राह वरस्यास्य योग्या सैवास्ति कन्यका ॥२०५॥
ततो गत्वा नृपोपान्ते भट्टमात्रः प्रमोदितः ।
तदुक्तं कथयामास ततो भूपो जगावदः ॥२०६॥
भट्टमात्र ! त्वरा(रया) तत्र गत्वाऽखण्डप्रयाणकैः ।
विवाहं मेलयित्वा त्वमागच्छात्र शुभाशय ॥२०७॥
भूपालादेशमादाय चलन्तं वीक्ष्य मन्त्रिणम् ।
श्रीविक्रमचरित्रेणेत्युक्त्वा स्वाः प्रेषिता भटाः ॥२०८॥
मम तुल्या कनी चेत्स्याद् भवद्भिः स्त्रीपरीक्षकैः ।
मेल्यः पाणिग्रहस्तस्या मया सहान्यथा नहि ॥२०९॥
ततः क्रमाच्चलन् भट्टमात्रो भूरिबलो बली ।
समेत्य वलभीपार्श्वे यावत् तस्थौ समाहितः ॥२१०॥

तावन्महाबलक्ष्मापः पृथ्वीं सेनां निरीक्ष्य च ।
प्रेक्ष्य दूतं विवाहार्थमागतं ज्ञातवांश्च तम् ॥२११॥
उज्जयिन्यास्समायातं भट्टमात्रं महीपतिः ।
पुरीमध्ये समानीयोत्तारकं तस्य दत्तवान् ॥२१२॥
राजा हृष्टो जगौ भट्टमात्र ! कीदृग् वरोऽस्ति सः ।
भट्टमात्रो जगौ तस्य पिता विक्रमभूपतिः ॥२१३॥
सालवाहनभूपस्य पुत्री माता सुकोमला ।
रूपं च जितकन्दर्पदेवरूपश्रि विद्यते ॥२१४॥ [युग्मम्]
तस्य तत्तच्चरित्रस्यावदातं देवदानवैः ।
वर्णयितुं न शक्येत शतसङ्ख्यैर्मुखैरपि ॥२१५॥
वरस्तत्पुरवास्तव्यभट्टेनापि विलोकितः ।
तमाकार्य गृहे सम्यक् पृच्छयतां मेदिनीपते ! ॥२१६॥
आकार्य भूभुजा पृष्टो भट्टः प्राहेति रङ्गतः ।
तस्य वरस्य रूपश्रीर्वक्तुं शक्येत नो सुरैः ॥२१७॥

ये ये गुणा विलोक्यन्ते वरस्य शास्त्रमध्यतः।
ते ते सर्वे मया दृष्टा वरे तस्मिन् पुरा ध्रुवम् ॥२१८॥ यतः—
"कुलं च शीलं च सनाथता च, विद्या च वित्तं च वपुर्वयश्च।
वरे गुणा सप्त विलोकनीयास्ततः परं भाग्यवशा हि कन्या ॥
मूर्खनिर्द्धनदूरस्थशूरमोक्षाभिलाषिणाम्।
त्रिगुणाधिकवर्षाणां चापि देया न कन्यका" ॥२२०॥
भट्टमात्रो जगौ स्वामिन्। कीदृक्षाऽस्ति सुता तव।
भूपोऽवक् चल्यतां गेहे पश्य त्वमपि कन्यकाम्" ॥२२१॥
ततो भूपगृहे गत्वा भट्टमात्रो निरीक्ष्य ताम्।
प्राहेति मेल्यतां राजन्नुद्वाहो लग्नमिष्यताम् ॥२२२॥
आकार्य पण्डितान् भूपो ज्योतिःशास्त्रविशारदान्।
उद्वाहमेलनकृते दिनशुद्धिं शुभां ललौ ॥२२३॥
कन्याया यावदुर्वीशोऽचीकथद्धस्तपीडनम्।
शुभेऽह्नि भट्टमात्रेण तावन् मन्त्री समाययौ ॥२२४॥

कन्योद्वाहकृते पूर्वगतमन्त्रिणमागतम्।
निरीक्ष्य भूपतिर्मन्दीबभूव तत्क्षणात्तदा ॥२२५॥
मन्दीभूतं नृपं वीक्ष्य भट्टमात्रो जगावदः।
मुहूर्तं व्रजति स्वामिन्! तेन त्वं च त्वरीभव ॥२२६॥
राजा प्राह क्षणं भट्टमात्रेदानीं विलम्बय।
यावत्प्रक्ष्यामि मन्त्रीशमागतं बहुकालतः ॥२२७॥
ततो भूमीभुजा पृष्टस्तत्र मन्त्री जगाविति।
सपादलक्षदेशोर्वीभूषणे श्रीपुरे पुरे ॥२२८॥
गजवाहनभूपस्य पुत्रो धर्मध्वजाभिधः।
विद्यते स्ववपूरूपपराभूतझषध्वजः ॥२२९॥
सार्धं स्वकन्यया तस्योद्वाहं सम्मील्य तत्क्षणात्।
आगामिदशमीवस्त्रे ललौ लग्नं मयाऽपि हि ॥[त्रिभिर्विशेषकम्]
आयास्यति दिने तस्मिन् यज्ञाऽपि निश्चितं द्रुतम्।
श्रुत्वैतद् व्याकुलो भूपो दध्यावेवं निजे हृदि ॥२३१॥ यतः—

"निअघरसोसा परगेहमण्डणी कलिकलङ्ककुलभवणस् ।
जेहिं न जाया धूया ते सुहिआ जीवलोगम्मि ॥२३२॥
जातेति चिन्ता महतीति शोकः,
कस्य प्रदेयेति महान् विकल्पः ।
दत्ता सुखं स्थास्यति वा नवेति,
कन्यापितृत्वं किल हन्त कष्टम् ॥२३३॥
जम्मंतीए सोगो वुड्ढन्तीए अ वड्ढए चिंता ।
परिणीआए दंडो जुवइपिआ दुक्खिओ निच्चं" ॥२३४॥
विचिन्त्येति महीपालो विकल्पान् भूरिशो हृदि ।
भट्टमात्रं प्रति प्राहेत्येवं सन्मानपूर्वकम् ॥२३५॥
भट्टमात्राधुनोद्वाहं संयोज्यागाच्च धीसखः ।
करिष्यतेऽत्र किं यज्ञा विवाहाय समेष्यति ॥२३६॥
व्यवहारः समस्त्येवं लोके यस्मै वराय च ।
दत्ताऽऽदौ कन्यका तस्मै दीयते नात्र संशयः ॥२३७॥ यतः—

"सकृज्जल्पन्ति राजानः सकृज्जल्पन्ति साधवः ।
सकृत्कन्याः प्रदीयन्ते त्रीण्येतानि सकृत् सकृत्" ॥२३८॥
भवन्तो हि विचारज्ञाः किमस्माभिर्निगद्यते ।
यतो विचार्य कुर्वन्ति कार्यजातं सदोत्तमाः ॥२३९॥ यतः—
"सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥२४०॥
अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्" ॥२४१॥
महीपतेर्वचो भक्तिगर्भमाकर्ण्य तत्क्षणात् ।
भट्टमात्रो जगौ तस्मै दीयतां कन्यकां निजाम् ॥२४२॥
भट्टमात्रोदितं श्रुत्वा महीपालो महाबलः ।
दध्यावयं महान् मन्त्री विक्रमार्कस्य भूपतेः ॥२४३॥ यतः—
"कुसुमान्यञ्जलिस्थानि वासयन्ति करद्वयम् ।
प्रायः सुमनसां वृत्तिर्वामदक्षिणयोः समा ॥२४४॥

उपकर्तुं प्रियं वक्तुं कर्तुं स्नेहमकृत्रिमम् ।
सुजनानां स्वभावोऽयं केनेन्दुः शिशिरीकृतः" ॥२४५॥
एवं कृत्वा निजोत्तारे भट्टमात्रे समागते ।
श्रीविक्रमचरित्रेण प्रेषिताः सुभटा जगुः ॥२४६॥
दिव्यरूपामिमां कन्यां श्रीविक्रमाङ्गजं विना ।
नान्यः कोऽपि महीपालसुतः परिणयिष्यति ॥२४७॥
[1]भट्टमात्रो जगौ भूपकन्यका मन्त्रिणा यदि ।
ददेऽन्यनृपपुत्राय तदा कन्याऽनया सृतम् ॥२४८॥
[2]श्रीविक्रमचरित्रस्यानुगा एवं तदा जगुः ।
नीत्वा कन्यां पुरे स्वीये दास्यामो भूपसूनवे ॥२४९॥
श्रीविक्रमसुतं मुक्त्वा यद्यन्यस्मै महीभुजे ।
अनेन दास्यते कन्या तदा किञ्च वयं मृताः ॥२५०॥ यतः—
येन न क्रियते स्वामिकार्यं शक्त्याऽऽत्मनो ननु ।
तस्य किं जीवितव्येन जायते लघुता स्फुटम्" ॥२५१॥
भट्टमात्रो जगौ नः किं ननु स्यात् कन्ययाऽनया ।
श्रीविक्रमचरित्रस्य बह्वयोऽन्याः सन्ति कन्यकाः ॥२५२॥
क्रियतेऽत्र महीशेन सार्द्धमत्र कलिर्यदि ।
संहारो हि तदा नृणां मिथो भूरिर्भविष्यति ॥२५३॥ यतः—
पुष्पैरपि न योद्धव्यं किं पुनर्निशितैः शरैः ।
युद्धे विजयसन्देहः प्रधानपुरुषक्षयः" ॥२५४॥
भट्टमात्रोक्तमाकर्ण्य न्यायमार्गसमन्वितम् ।
मेने तैः सुभटैस्तत्र मन्त्री हृष्टोऽभवत्ततः ॥२५५॥
विमृश्यैतत् ततो भट्टमात्रोऽभ्येत्य निजे पुरे ।
भूपाग्रेऽचीकथत् सर्वं विवाहमिलनादिकम् ॥२५६॥
श्रुत्वैतद् विक्रमादित्यो भट्टमात्रं च तत्क्षणात् ।
अन्यत्र कन्यकां द्रष्टुं प्रेषयामास नीवृति ॥२५७॥

---

१ भट्टमात्रो जगावादा वन्यस्मै कन्यका ददे । भूपालसूनवे तेनानया किं कार्यमात्मनः' ॥ इति—ग० पुस्तकेऽधिकः पाठ. ।

२ सुभटावुचतुः सद्यो बलादेना च कन्यकाम् । नीत्वा स्वनगरे परिणेष्यावो भूपनन्दनम् ॥

ततस्ते सुभटा एत्य विक्रमार्कसुतान्तिके ।
विवाहमिलनोदन्तं प्रोक्त्वेति जगदुः पुनः ॥२५८॥
कन्याया दिव्यरूपाया महाबलमहीपतेः ।
तुल्या नास्ति जगन्मध्ये कन्याऽन्याऽपि मनोहरा ॥२५९॥
श्रुत्वैतत् कन्यकाजाताऽनुरागोऽपि नृपाङ्गजः ।
गोपयित्वा मनः प्राह तंदेति स्मेरिताननः ॥२६०॥
अङ्गवङ्गतिलङ्गादिदेशेषु बहुषु ध्रुवम् ।
विद्यन्ते कन्यका बह्व्यो दिव्यरूपधराः पुनः ॥२६१॥
तेनान्यदत्तया कन्या(न्यया) सृतं मम च साम्प्रतम् ।
अन्यां चार्वीमहं कन्यां परिणेष्यामि भूपतेः ॥२६२॥
श्रुत्वैतत्सुभटास्सर्वे जग्मुः स्वस्वनिकेतने ।
भूपपुत्रोऽपि सन्ध्यायामश्वशालामुपेयिवान् ॥२६३॥
पप्रच्छ घोटकाध्यक्षमिति भूपालनन्दनः ।
के केऽश्वाः सन्ति कीदृक्षा अश्वपाल ! निगद्यताम् ॥२६४॥

अश्वपालो जगावेते वेगिनः सैन्धवा हयाः ।
एते कम्बोजका एते पञ्चभद्राभिधाः पुनः ॥२६५॥
कोङ्काहखुङ्गाहकियाहनीलकै–र्वोल्लाहखाङ्गाहसुरुहकैर्हयैः ।
हलीहकैर्हालकपाटलैः पुन–स्तुरङ्गशाला नृपतेर्विराजते ॥२६६॥
एभ्योऽप्येते हया वेगवन्तः सन्ति मनोरमाः ।
एभ्योऽप्येते पुनर्जात्या विद्यन्ते तुरगोत्तमाः ॥२६७॥
भूपपुत्रो जगौ भूयोऽन्यत्र सन्ति हयाः किमु ।
अश्वाध्यक्षोऽवदद् मध्ये विद्येते द्वौ तुरङ्गमौ ॥२६८॥
वायुवेगमनोवेगाह्वयौ सल्लक्षणान्वितौ ।
दृष्ट्वा भूपाङ्गजो दध्याविति चित्ते चमत्कृतः ॥२६९॥
योजनानां शतं गम्यं मयाऽर्वाक् पञ्चवासरात् ।
तेन मनोजवं तार्क्ष्यं विना कार्यं न सेत्स्यते ॥२७०॥
ततो वीक्ष्य हयान् सर्वान् पश्चादेत्य नृपाङ्गजः ।
अदृश्याङ्गः पुना रात्रौ ययौ घोटकमन्दिरम् ॥२७१॥

१ छद्मनेति रुषाऽरुण –ग ।

मनोवेगाश्वमारुह्य दिव्याभरणभूषितः ।
खड्गपाणिर्बहिः पुर्या निस्ससार नृपाङ्गजः ॥२७२॥
स्थित्वा क्षणं मनोवेगमश्वं प्रति जगौ स च ।
त्वं ज्ञानी कुशलोऽसि त्वं वेगवान् चारुलक्षणः ॥२७३॥

वलभी विद्यते यत्र तत्र त्वं मां द्रुतं नय ।
आकर्ण्यैतद् हयः सद्यश्चचाल तां पुरीं प्रति ॥२७४॥
पुरग्रामसरित्–शैलान् लङ्घयन् तुरगो रयात् ।
अनैषीद् वलभीपार्श्वे विक्रमादित्यनन्दनम् ॥२७५॥
विक्रमार्कसुतो दध्यावेवं पुर्या बहिःस्थितः ।
कार्यं शुध्यति नो कस्य पुंसश्च नात्रकं विना ॥२७६॥

विमृश्येति पुरीमध्ये विक्रमादित्यनन्दनः ।
चारुवेषोऽचलत्पश्यन् पुरशोभां पदे पदे ॥२७७॥
केयं स्वर्गपुरी केयं लङ्का किं हस्तिनापुरम् ।
पातालनगरं किंवा किंवा द्वारावती पुरी ? ॥२७८॥

इतः श्रीदसुतालक्ष्मी गवाक्षस्था नृपाङ्गजम् ।
व्रजन्तं वीक्ष्य तद्रूपमोहितेति सखीं जगौ ॥२७९॥ यतः–
"अक्खाणसणी कम्माण मोहणी तह वयाण बंभवयं ।
गुत्तीण य मणगुत्ती चउरो दुक्खेण जिप्पंति" ॥२८०॥

अयं पुमान् भवत्याऽत्रानेतव्यो मञ्जुलं व्रजन् ।
ततो गत्वा सखी लक्ष्म्याः समीपे तं समानयत् ॥२८१॥
कुमारीं वीक्ष्य भूपालसूनुरेवं जगौ तदा ।
भो भो भगिनि ! जोत्कारो भवत्यै भवतान्मम ॥२८२॥
श्रुत्वैतद् वचनं तस्य लक्ष्मीं मूर्च्छामुपागताम् ।
शीतोपचाररचनात् सचैतन्यां व्यधात् सखी ॥२८३॥

सचेतनाऽपि सा लक्ष्मीः शून्यचित्ताऽवनिस्थिता ।
कृष्णानना मनाक् सख्या बहूक्तापि जगाद न ॥२८४॥
सखी प्राहात्मनो दुःखं स्वामिनि ! त्वं प्रकाशय ।
यतो गोप्यं मनाग् नैव स्वामिसेवकयोर्भवेत् ॥२८५॥

विक्रमार्कसुतो दध्यावागते मयि साम्प्रतम् ।
अत्रैतस्या महत् कष्टं धिग् धिग् भवतु मां प्रति ॥२८६॥
एवं पुनः पुनः प्रोक्ते सख्या लक्ष्मीर्जगाविति ।
अयं पुमान् पतिः कर्तुमीहितो मयका पुरा ॥२८७॥
वदन् जामीति जोत्कारं चक्रे साधु च नो मयि ।
तेनातीवाभवद् दुःखं मदीये मानसे सखि ! ॥२८८॥
सखी प्रोवाच नो खेदः स्वामिन्यत्र विधीयते ।
असावपि तव भ्राता सदाकृतिरभूत्पुनः ॥२८९॥
देवदानवगन्धर्वभूपनिःस्वेभ्यमानवाः ।
पूर्वभवकृतात् पापात् न छुटन्ति कदाचन ॥२९०॥ यतः—
येन येन यथा मृत्युः प्राप्तव्यः सोऽन्यथा नहि ।
आराधिते यमे तुष्टे दैवयोगाद् वणिग् मृतः ॥२९१॥
ततो मुक्त्वा शुचं लक्ष्म्या भ्रातेत्युक्त्वा नृपाङ्गजः ।
सन्मान्य भोजनैः सद्यः स्थापितः सदने निजे ॥२९२॥

वादित्रनिनदं श्रुत्वा प्रोवाचेति नृपाङ्गजः ।
हे भगिनि ! पुरीमध्ये किं किं भवति सम्प्रति ॥२९३॥
लक्ष्मीः प्राह चतुर्घट्या रात्रावद्य नृपाङ्गजाम् ।
वेलालग्ने शुभे धर्मध्वजश्च परिणेष्यति ॥२९४॥
तेनाभितः पुरीमध्ये स्थाने स्थाने महीपतिः ।
तलिकातोरणादीनि बन्धयामास रङ्गतः ॥२९५॥
स्थाने स्थाने च वाद्यन्ते वादित्राण्यद्य भूरिशः ।
मण्ड्यन्ते नाटकादीनि नर्त्तकैश्च पदे पदे ॥२९६॥ यतः—
"चञ्चच्चारणदीयमानकनकं सन्नद्धगीतध्वनि,
स्फूर्जद्गाथकलुण्ठ्यमानकरटिप्रारब्धनृत्योत्सवम् ।
पूर्णं मङ्गलतूर्यदुन्दुभिरवैरुत्तालवैतालिक-
श्लाघालङ्घितपूर्वपार्थिवमथ क्ष्माभर्त्तुरासीद् गृहम्" ॥२९७॥
श्रुत्वैतद् वैक्रमः प्राह भगिनि ! त्वं नृपाङ्गजाम् ।
मह्यं प्रदापयेदानीं नो चेत् प्राणांस्त्यजाम्यहम् ॥२९८॥

लक्ष्मीः प्राह कथं तुभ्यं दाप्यते भूपनन्दिनी ।
दत्ताऽऽदौ भूभुजा धर्मध्वजाय क्ष्मापसूनवे ॥२९९॥ यतः—
"गते जले कः खलु सेतुबन्धः, किं वा मृते चौपधदानकृत्यैः ।
मुहूर्त्तपृच्छा किमु मुण्डिते का हस्ताद् गते वस्तुनि किं हि शोकः"
यज्ञाऽप्यद्यागमत्पाणिग्रहस्य वासरोऽपि च ।
तेनैतद् विद्यते सर्वं दुर्घटं तव सम्प्रति ॥३०१॥
ततो भूपाङ्गजो हस्ते कृत्वाऽसिपुत्रिकां द्रुतम् ।
आहते यावता वक्षस्तावल्लक्ष्म्या धृतः शये ॥३०२॥
प्रोक्तं चाहं करिष्यामि वाञ्छितं ते स्थिरीभव ।
स्वस्थं कृत्वा च तं लक्ष्मीर्भूपभार्यान्तिके ययौ ॥३०३॥
प्रोवाचेति भवत्पुत्र्यास्सर्वेभ्यानां निकेतने ।
विनोलकोऽभवत् तेन भूयादद्य ममालये ॥३०४॥
इत्यादि बहुशो युक्त्या मानयित्वा नृपप्रियाम् ।
नृपपुत्रीं निजं सद्म गौरवार्थं समानयत् ॥३०५॥
विक्रमार्कसुतक्ष्मापपुत्र्यौ रूपं मिथस्तदा ।
निरीक्ष्य मूर्च्छितौ सद्यः पतितौ पृथिवीतले ॥३०६॥
दृष्ट्वा तौ मूर्च्छितौ लक्ष्मीर्दध्यावेवं पुनः पुनः ।
उत्तरो दास्यते भूमीपतेः पत्न्या कथं मया ॥३०७॥ यतः—
"काके शौचं द्यूतकारे च सत्यं०" सर्ग—४ श्लोक १८२
ध्यात्वेति बहुशः शीतोपचारकरणादिभिः ।
श्रेष्ठिपुत्री सचैतन्यौ तौ चकार क्षणात्तदा ॥३०९॥
द्वावपि प्रोचतुर्लक्ष्म्याः पुर एवं मिथस्तदा ।
आवयोः कारयोद्वाहं नो चेन्मृत्युर्भविष्यति ॥३१०॥
ततः श्रेष्ठिसुता चिन्ताऽऽतुरा दध्याविदं हृदि ।
इतो व्याघ्रः इतः कूलमिति न्यायोऽपतन्मम ॥३११॥ यतः—
"अर्थातुराणां न सुहृन्न बन्धुः, क्षुधातुराणां न वपुर्न तेजः ।
कामातुराणां न भयं न लज्जा, चिन्तातुराणां न सुखं न निद्रा" ॥

१ 'मेऽद्य गेहे भविष्यति'—ग

इति ध्यात्वा जगौ लक्ष्मीर्भूपपुत्रि ! नृपालये ।
त्वां सम्प्राप्तीकरिष्यामि साम्प्रतं समहोत्सवम् ॥३१३॥
त्वां परिणेतुमायाति यदा धर्मध्वजः पथि ।
त्वया तदेति कर्त्तव्यं मदुक्तं भूपनन्दिनि ! ॥३१४॥
नृपावासलघुद्वारि विवाहसमये द्रुतम् ।
लात्वाऽऽभरणवस्त्रादि समागम्यं त्वया ध्रुवम् ॥३१५॥
असौ भूपाङ्गजस्तार्क्ष्यारूढस्तत्रैत्य तत्क्षणात् ।
त्वामादाय निजे स्थाने गत्वा च परिणेष्यति ॥३१६॥
एवं श्रेष्ठिसुता कृत्वा विचारं भूपनन्दिनीम् ।
भोजयित्वा नृपावासेऽप्रेषयत्सायमञ्जसा ॥३१७॥
इतो धर्मध्वजः तार्क्ष्यारूढः शुभमतीं तदा ।
परिणेतुं महीपालमार्गेऽचालीत् सदुत्सवम् ॥३१८॥
विक्रमार्कसुतः तार्क्ष्यारूढस्तां भगिनीमितः ।
मुत्कलाप्य ययौ पूर्वकृतसंकेतस्थानके ॥३१९॥

अवसरं विना नेतो निःसर्तुं लभते कनी ।
दध्यौ च मेऽधुना पूर्वं दुष्टकर्म समागमत् ॥३२०॥
संकेतस्थानके नूनमागतः स भविष्यति ।
तेन कृत्वा छलं कंचित् निःसरिष्याम्यहं शनैः ॥३२१॥
विचिन्त्येति महीपालपुत्री प्राह सखीं प्रति ।
ममास्ति साम्प्रतं देहचिन्ता तेन व्रजाम्यहम् ॥३२२॥
सखी प्राहागतो राजद्वारे धर्मध्वजो वरः ।
तवाभवद् वपुश्चिन्ता गतिः काऽत्र भविष्यति ॥३२३॥
प्राह शुभमती देहचिन्तायां कोऽपि मानवः ।
चक्री वा वासुदेवो वा न क्षणं क्षमते मनाक् ॥३२४॥ यतः—
"तिन्नि सल्ला महाराय ! अस्सिं देहे पइट्ठिया ।
वाउमुत्तपुरीसाणं खणमित्तं न धारए ॥३२५॥अत्र साधोः कथा
"कण्हो नराण बलिओ कण्हस्स य तुंगिणी बलिआ ।
भणइ उ(अ)द्धरत्ते निस्सर किं निस्सरिस्सामि। अत्रापि कृष्णकथा

इत्यादि युक्तितः पर्यवस्थाप्य स्वां सखीं तदा ।
निस्ससार गृहाद् यावद् बहिः शुभमती कनी ॥३२७॥
इतस्तावत्समायातः पूर्वं विक्रमनन्दनः ।
निरीक्ष्य जातमुत्सूरं नृपपुत्रीमनागताम् ॥३२८॥
आकुलव्याकुलस्वान्तो विलोकयन्नितस्ततः ।
पुरुषं कमपि प्रेक्ष्य तत्रायातं जगावदः ॥३२९॥
यावद् वरं विलोक्यात्र पश्चादेष्याम्यहं द्रुतम् ।
तावत्त्वमश्ववस्त्रादि गृहाण निखिलं मम ॥३३०॥
तेनोमित्युदिते भूपपुत्रस्तद्वेपभूषितः ।
कन्यार्थं त्वरितं भूपमध्येगेहं ययौ तदा ॥३३१॥ यतः—
"दिवा पश्यन्ति नो घूकाः काको नक्तं न पश्यति ।
अपूर्वः कोऽपि कामान्धो दिवा नक्तं न पश्यति ॥३३२॥
कृत्याकृत्ये न जानन्ति न जानन्ति हिताहिते ।
कामान्धा मानवा जग्धधत्तूरबीजका इव" ॥३३३॥

इतस्तत्रैत्य भूपालपुत्री प्राहेति तं नरम् ।
हे कुमाराधुनोत्सूरोऽजनि कार्यवशान्मम ॥३३४॥
अहमत्रागताऽद्य त्वां परिणेतुं नृपाङ्गजा ।
तेन व्रज निजं स्थानं प्रति त्वं भूपनन्दन ! ॥३३५॥
श्रुत्वैतत् कर्षको दध्यावियमागान्नृपाङ्गजा ।
संकेतिता नरेणेति केनचिद् नात्र संशयः ॥३३६॥
ध्यात्वेति मौनमाधाय तामादाय च तत्क्षणात् ।
सिंहाह्वः कर्षकः सौवस्थानं प्रत्यचलत् तदा ॥३३७॥
हृष्टा कन्याऽध्वनि प्राह भो कान्त ! भवतः पुरम् ।
कियन्मार्गे समस्तीति मदग्रे कथयाधुना ॥३३८॥
कथाभिरथवा पूर्वभूताभिः साम्प्रतं चलन् ।
मम कर्णौ कुरु स्वामिन् ! पवित्रौ वर्त्मनि ध्रुवम् ॥३३९॥
एवं पुनः पुनः प्रोक्ते यावज्जजल्प नो हली ।
तावद् भूपाङ्गजा दध्यौ लज्जमानो न वक्त्ययम् ॥३४०॥

उत्तमा मानवा नैव जल्पन्ति स्म यथा तथा ।
समुत्पन्ने महाकार्ये जल्पन्ति स्तोकमेव हि ॥३४१॥ यतः—
"यौवनेऽपि प्रशान्ता ये ये च हृष्यन्ति याचिताः ।
वर्णिता ये च लज्जन्ते ते नरा जगदुत्तमाः ॥३४२॥
गर्जति शरदि न वर्षति वर्षति वर्षासु निःस्वनो मेघः ।
नीचो वदति न कुरुते न वदति साधुः करोत्येव" ॥३४३॥
अथ भानूदये तस्य वक्त्रं वीक्ष्य नृपाङ्गजा ।
मूर्च्छिता पृथिवीपीठेऽपतन्निश्चेष्टकाष्ठवत् ॥३४४॥
शीतोपचारतः स्वस्थीभूता भूपालनन्दिनी ।
दध्याविति सको दिव्यरूपधारी नरः कुतः ॥३४५॥
अयं कुत्सितरूपश्रीरागतोऽसि कुतो नरः ।
आनीतो वा मदीयेन भाग्येन ननु सम्प्रति ॥३४६॥
इतः सिंहो हली प्राह त्यक्तमौनावलम्बकः ।
भो भामिनि ! कथं शोको हर्षस्थाने विधीयते ॥३४७॥

ग्रामे विद्यापुरे भूरिकर्षकादिजनाकुले ।
द्यूतक्रीडादि कुर्वन्ति यत्र लोका निजेच्छया ॥३४८॥
तत्राहं कर्षकः सिंहो वसामि द्यूततत्परः ।
सप्तव्यसनकल्लोकसहितः सततं मुदा ॥३४९॥
वीजमुप्तं मयेदानीं पराजितेषु पञ्चसु ।
चत्वारो वृषभाः सन्ति सन्त्येको रथोऽनघः ॥३५०॥
द्वे गावौ रासभी ह्येका नयते सलिलं गृहम् ।
गेहं तृणमयं छिद्ररिक्तं निर्वातमस्ति मे ॥३५१॥
विद्यते गृहिणी पूर्वमेका त्वं द्वितीया पुनः ।
स्थापयित्वा नवीनां त्वां जीर्णा निष्काश्यते मया ॥३५२॥
सदनस्वामिनीं कृत्वा त्वामहं स्यां भृशं सुखी ।
यत एवंविधो योगो लभ्यते भाग्यतो नरैः ॥३५३॥ यतः—
"एका भार्या त्रयः पुत्रा द्वे हले दश धेनवः ।
ग्रामे वासः पुरासन्ने स्वर्गादपि विशिष्यते ॥३५४॥

तरुणं सर्षपशाकं नवौदनं पिच्छिलानि च दधीनि।
अल्पव्ययेन सुन्दरि ! ग्राम्यजनो मिष्टमश्नाति" ॥३५५॥
श्रुत्वैतद् कन्यका दध्यौ पतिताऽहं च संकटे।
बुद्धिं विना न निष्कोष्टुं शक्यते मयका मनाक् ॥ यतः—
"यस्य बुद्धिर्बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्।
वने सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः ॥३५७॥
इत्यादि बुद्धिसूक्तानि।
ध्यात्वेति कन्यका प्राह जल्पितं भवता वरम्।
परमेकं महाविघ्नं विद्यते दुःखदं तव ॥३५८॥
यदि त्वं दिव्यरूपां मामनङ्गीकृत्य नेष्यसि।
ग्राममध्ये तदा राजा मद्रूपश्रीविमोहितः ॥३५९॥
हत्वा त्वां सपदि स्वीयगेहे मां क्षेप्स्यति क्षणात्।
तेन मुक्त्वा निजे क्षेत्रे मां गच्छ निजसद्मनि ॥३६०॥
क्षेत्रे विवाहसामग्रीं सर्वामानीय तत्क्षणात्।
परिणीय च मां कन्यां ततः सौवगृहे नय ॥३६१॥

एवं कृते तु भवतः कुशलं हि भविष्यति।
श्रुत्वैतत् कर्षकोऽनैषीत् स्वक्षेत्रं तां प्रमोदितः ॥३६२॥
एवं वदन् हली तस्यै क्षेत्रं दर्शयति स्वकम्।
इदं युगंधरीक्षेत्रं जगज्जीवनकृत्पुनः ॥३६३॥
इदं च वनकक्षेत्रं सर्ववस्त्रविधायकम्।
इदं च चणकक्षेत्रं तुष्टिकृत् सततं नृणाम् ॥३६४॥
इत्यादि बहुशः प्रोक्त्वा दिव्याश्ववसनान्विताम्।
मुक्त्वा तां कन्यकां क्षेत्रे जीर्णवस्त्रोऽचलद्धली ॥३६५॥
गत्वा गेहे द्रुतं भार्यां प्रति प्राह कृपीवलः।
रे रे त्वयाऽमुकं कार्यं कृतं नवेति हक्कयन् ॥३६६॥
त्वया विनाशितं सर्वं गेहं सम्प्रति मामकम्।
परिणेतुं मयाऽऽनीता नवीना कन्यकाऽद्भुता ॥३६७॥
एवं कर्कशभाषाभिः संतर्ज्य तेन भूरिशः।
निष्काशिता पितुर्गेहे ययौ पूर्वप्रिया तदा ॥३६८॥

आकार्यैकं द्विजं सर्वोद्वाहसामग्रिकान्वितम् ।
परिणेतुं च तां कन्यां निस्ससार हली गृहात् ॥३६९॥
इतः स्वशीलरक्षार्थमश्वरूढा नृपाङ्गजा ।
प्राणांस्त्यक्तुं चचालाशु गिरिनारगिरिं प्रति ॥३७०॥
दध्यौ यदि पितुर्गेहे गमिष्याम्यहकं पुनः ।
तदा तत्र कथं कार्यमुत्तरो मयका स्फुटम् ॥३७१॥
द्वयोरपि तदा भर्त्रोश्चुक्किता दैवयोगतः ।
आपदायामहं पूर्वं पतिताऽस्मि करोमि किम् ॥३७२॥
एवं चिन्तापरा राजपुत्री शुभमती तदा ।
न सुप्ता न जजागार नैवोत्तस्थौ मनागपि ॥३७३॥ यतः–
"चिन्तातुरस्य दुःस्थस्य पतितस्यापदि स्फुटम् ।
रोगग्रस्तस्य मर्त्यस्य निद्रा नायाति कर्हिचित् ॥३७४॥
तस्मिन् वृक्षे स्थितो रात्रौ भारण्डः स्थविरो वयः ।
अपत्यानि चतुर्दिक्ष्वागतानीति जगौ तदा ॥३७५॥
केन कुत्र किमाश्चर्यं श्रुतं दृष्टं प्रजल्प(ल्प्य)ताम् ।
तत एको जगौ तातागमं वैलभ्या वहिर्वने ॥३७६॥
कोलाहलं पुरीमध्ये निशम्याहं विलोकितुम् ।
आगां यावज्जनास्तावदेवं प्रोचुः परस्परम् ॥३७७॥
धर्मध्वजो वरो भूमिपतेः शुभमतीं सुताम् ।
परिणेतुं गृहे यावदागमत् समहोत्सवम् ॥३७८॥
तावत् कोऽपि नरो भूमी(प)पुत्रीं हृत्वा रहो ययौ ।
विलोकिताऽपि सर्वत्र लब्धा नैव महीभुजा ॥३७९॥
ततो वभूवतुः कन्यापितरौ दुःखितौ भृशम् ।
वरोऽपि लज्जितः प्राणांस्त्यक्तुकामोऽभवत् पुनः ॥३८०॥
ततः स्वस्थीकृताः सर्वे इति मन्त्रीश्वरैर्जगुः ।
मासमध्ये शुभमती लभ्यते यदि नैव चेत् ॥३८१॥
तदाऽनशनतोऽस्माभिर्मर्तव्यं रैवताचले ।
ततो दिशो दिशं कन्यां ययुर्द्रष्टुं च सेवकाः ॥ (युग्मम्)

१ गतोऽहं वलभीं भ्रमन् ।

अद्यापि कन्यका नैव लब्धा कैश्चिच्च सेवकैः ।
तेन सर्वे चलिष्यन्ति परेद्यू रैवतं प्रति ॥३८३॥
भारण्डोऽवग् महाश्चर्यं द्रष्टुं (दृष्टं) पुत्र त्वया स्फुटम् ।
द्वितीयस्तनयः प्राहेत्येवं तातपुरस्तदा ॥३८४॥
मया च वामनस्थल्यां गतेनेदं निरीक्षितम् ।
कुम्भभूमिपतेः कन्या रूपश्रीर्नामतोऽभवत् ॥३८५॥
अन्धीभूता कनी कर्मयोगतः काष्ठभक्षणम् ।
राजानं याचमानाऽपि स्थापिताऽष्टौ दिनानि सा ॥३८६॥
प्रतीकारार्थमानीता अनेके कुशला नराः ।
परं तस्या मनाग् नैव गुणो जातोऽस्ति चक्षुषोः ॥३८७॥
ततो विचार्य भूपेन वाद्यते पटहोऽधुना ।
यः कश्चित् कुरुते कन्यां पश्यन्तीं च यथा तथा ॥३८८॥
तस्मै ददाति भूपालो नराय मुखमार्गितम् ।
तात तत् तत्र नगरे श्रुतं दृष्टं मयाऽपि हि ॥३८९॥

भारण्डः स्थविरो प्राह साऽपि भूमीशनन्दिनी ।
पश्यन्ती च भवत्येव स्वौषधादिप्रयोगतः ॥३९०॥
पुत्रः प्राहौषधं किं तत् तेन सा नृपनन्दिनी ।
दिव्यदृष्टिर्भवत्येव तात तत् कथयाऽधुना ॥३९१॥
भारण्डोऽवग् मलोत्सर्गं मदीयं घृष्यते यदि ।
श्रीमद्गजेन्द्रकुण्डस्य वारिणाऽमावसीदिने ॥३९२॥
तद्रसेन महीपालपुत्र्या अञ्ज्येत लोचने ।
तदा सा दिवसे तारामण्डलं वीक्षतेऽखिलम् ॥३९३॥
एतच्चूर्णं सुधावल्लीरसेन मिश्रितं यदि ।
क्षिप्यते नेत्रयो रूपपरावृत्तिः प्रजायते ॥३९४॥
एतच्चूर्णं यदा चन्द्रवल्लीरसविमिश्रितम् ।
क्षिप्यते नेत्रयोः पूर्वरूपमेव भवेत्तदा ॥३९५॥ यतः–
"अमन्त्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलमनौषधम् ।
अनाथा पृथिवी नास्ति आम्नायाः खलु दुर्लभाः" ॥३९६॥

तृतीयस्तनयः प्राह ग्रामे विद्यापुराभिधे ।
सिंहाह्वो हालिकः क्षेत्रे कन्यामेकां समानयत् ॥३९७॥
क्षेत्रे विमुच्य तां कन्यां परिणेतुं च हालिकः ।
ययावुद्वाहसामग्रीं लातुं निजगेहे द्रुतम् ॥३९८॥
गत्वा गृहे द्रुतं भार्यां प्रति प्राह कृषीवलः ।
रे रे त्वयाऽमुकं कार्यं न कृतमित्यहकयत् ॥३९९॥
त्वया विनाशितं सर्वगृहं सम्प्रति मामकम् ।
परिणेतुं मयाऽनीता नवीना कन्यकाऽद्भुता ॥४००॥
एवं कर्कशभाषाभिः सन्तर्ज्य तेन भूरिशः ।
निष्काशिता पितुर्गेहे रुष्टा पूर्वप्रिया ययौ ॥४०१॥
आकार्यैकं द्विजं सर्वोद्वाहसामग्रिकायुतः ।
परिणेतुं च तां कन्यां निःससार हली गृहात् ॥४०२॥
क्षेत्रमध्ये महीपालपुत्रीमप्रेक्ष्य हालिकः ।
बभ्राम परितः स्थाने स्थाने शून्यमनास्तदा ॥४०३॥

ततोऽपश्यन् हली कन्यां शून्यचित्तो जगावदः ।
भो ! विप्रेयं मया कन्याऽऽनीतोद्वाहकृतेऽधुना ॥४०४॥
कारय त्वं मया सार्धमनया पाणिपीडनम् ।
मुक्त्वाऽहं सदनं शून्यमत्रागाम् गम्यते ततः ॥४०५॥
शून्ये गृहे यतो लोकः प्रविश्य हरते धनम् ।
एवं जल्पन् द्विजं क्षेत्रे भ्रामयामास सर्वतः ॥४०६॥ यतः–
"दिवा पश्यन्ति नो घूकाः काको नक्तं न पश्यति ।
अपूर्वः कोऽपि कामान्धो, दिवा नक्तं न पश्यति ॥४०७॥
दृश्यं वस्तु परं न पश्यति जगत्यन्धः पुरोऽवस्थितम्,
रागान्धस्तु यदस्ति तत्परिहरन् यन्नास्ति तत्पश्यति ।
कुन्देन्दीवरपूर्णचन्द्रकलशश्रीमल्लतापल्लवा–
नारोप्याशुचिराशिषु प्रियतमागात्रेषु यन्मोदते" ॥४०८॥
ग्रथिलोऽयमिति कृत्वा जगाम वाडवो गृहम् ।
भ्रान्त्वा क्षेत्रं हली पूर्वभार्यापार्श्वे समागमत् ॥४०९॥

प्रोवाचेति प्रिये ! गेहं त्वमागच्छात्मनोऽधुना ।
श्रुत्वैतत् सा प्रिया प्राह नव्याऽऽनीताऽस्ति या त्वया ॥४१०॥
सैव त्वत्सदने सर्वं सुष्ठु कार्यं करिष्यति ।
इत्यादि धर्षितोऽत्यन्तं शून्यचित्तोऽभवद्धली ॥४११॥ यतः—
सद्यो लक्ष्मीप्रियाधान्यापहारे सति मानवाः ।
भवन्ति दुःखिनोऽत्यन्तं चित्ते नूनमनारतम् ॥४१२॥
तूर्योऽवक् तनयस्तात ! भ्रमन् सुन्दरकानने ।
अहमेकतरोर्मूले स्थितो यावत्समाहितः ॥४१३॥
तावद् द्वौ पथिकौ वृक्षाधःस्थितावेत्य कुत्रचित् ।
एकेनोक्तं त्वया किंचित् चित्रं दृष्टं श्रुतं भुवि ॥४१४॥
दृश्यते भवतः श्यामं वदनं साम्प्रतं कथम् ।
किं वा केन हृता लक्ष्मीर्गृहिणी वा निगद्यताम् ॥४१५॥
तेनोक्तं शक्यते नैव वक्तुं दुःखं तवाग्रतः ।
यतः केनापि नो दुःखापहारः क्रियते जने ॥४१६॥ यतः—

"सुखदुःखानां कर्ता हर्ता च न कोऽपि कस्यचिज्जन्तोः ।
इति चिन्तय सद्बुद्ध्या पुरा कृतं भुज्यते कर्म ॥४१७॥
पूर्वकृतसुकृतदुष्कृतवशेन यदिह संपदो विपदः ।
आयान्ति तदन्यस्मिन् कृतेन किं रोषतोषेण" ॥४१८॥
इत्यादि कर्मसूक्तानि
द्वितीयः पुरुषः प्राहात्मनो दुःखं प्रकाशय ।
यतोऽन्यस्य पुरो दुःखे कथिते स्यान्नरः सुखी ॥४१९॥
आद्यः प्राहोज्जयिन्या राट्पुत्रोऽहं वलभीपुरि ।
परिणेतुमगां भूपपुत्रीं शुभमतीं द्रुतम् ॥४२०॥
इत्यादि चरितं कन्यातार्क्ष्यापहरणान्तिकम् ।
कथयित्वाऽऽत्मनोऽशेषं स्थितो यावत् स दुःखितः ॥४२१॥
तावदन्यो जगौ भो ! भो ! दुःखं किं क्रियते हृदि ।
देवदानवगन्धर्वाश्छुट्यन्ते न हि कर्मणः ॥४२२॥ यतः—
"शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं गजभुजंगविहंगमबन्धनम् ।
मतिमतां च समीक्ष्य दरिद्रतां विधिरहो बलवानिति मे मतिः ॥

जं चिअ विहिणा लिहिअं तं चिय परिणमइ सयललोयस्स।
इय जाणेविणु धीरा विहुरे वि न कायरा हुंति ॥४२४॥
कृतकर्मक्षयो नास्ति कल्पकोटीशतैरपि।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" ॥४२५॥
विक्रमार्कनृपो मत्वा पुत्रस्य गमनं तदा।
तन्वानो हृदये दुःखं बभूवेति मतिर्मम ॥४२६॥
आद्यः प्रोवाच किं भूपपार्श्वे [च] गमनेन मे।
यतश्चाकृतकार्या न शोभन्ते मनुजाः क्वचित् ॥४२७॥
मया मनोजवस्ताक्ष्र्यो गमितः साम्प्रतं पुनः।
तेनाहं रैवते शैले प्राणांस्त्यक्ष्यामि निश्चितम् ॥४२८॥
आकर्ण्यैतदहं तत्रात्राऽऽगां तात तवान्तिके।
भारण्डोऽवक् त्वयाऽपूर्वमाश्चर्यं वीक्षितं सुत! ॥४२९॥
श्रुत्वैतद्धर्षिता कन्या भारण्डस्य मलोज्झनम्।
लात्वा नृवेपभृत् ताक्ष्र्यारूढाऽचालीत्ततस्तरोः ॥४३०॥

आनन्देति निजं नाम कृत्वा सा नृपनन्दिनी।
प्रययौ वामनस्थल्यां सद्यो मालिकमन्दिरम् ॥४३१॥
त्वं जामिर्मे गदित्वेति नमस्कारपुरस्सरम्।
मालिकायै ददौ रत्नं बहुमूल्यं मनोरमम् ॥४३२॥
रूपवन्तं कुमारं तमागतं वीक्ष्य मालिका।
चकार गौरवं तस्य भोजनस्थानदानतः ॥४३३॥
इतस्तत्रागतं वाद्यमानं च पटहं तदा।
श्रुत्वाऽऽनन्दकुमारोऽवक् किमर्थं पटहध्वनिः ॥४३४॥
पटहोद्घोषणाहेतौ प्रोक्ते मालिकया तदा।
आनन्दः प्राह पटहं मालिके स्पृश सम्प्रति ॥४३५॥
मालिकाऽवक् किमानन्द शक्तिरत्रास्ति तेऽधुना।
आनन्दको जगावेवं विचारेण सृतं तव ॥४३६॥
स्पृश त्वं पटहं सद्यो यद्भाव्यं तद् भविष्यति।
ततः पस्पर्श पटहं मालिका तन्निदेशतः ॥४३७॥

१ वर्यमानन्दपुरुष क ग।

मालिका पटहस्पर्शं विधायानन्दसन्निधौ ।
समेत्येति जगौ स्पृष्टः पटहो मयका खलु ॥४३८॥
मालिकापटहस्पर्शवृत्तान्तं राजसेवकैः ।
कथितं भूपतिः श्रुत्वा मुदितो मानसे भृशम् ॥४३९॥
भूपादेशात् समागत्य भृत्या मालिकसद्मनि ।
प्रोचुस्त्वं मालिके ! भूपपुत्रीं सज्जीकुरु द्रुतम् ॥४४०॥
श्रुत्वैतन्मालिका मध्येगेहमेत्य जगावदः ।
भो आनन्द ! समुत्थाय सज्जीकुरु नृपाङ्गजाम् ॥४४१॥
आनन्दोऽवक् क्षणं तिष्ठ सुखमैति प्रमीलिका ।
मालिका प्राह भूपालभृत्या ईयुर्मदालये ॥४४२॥
वदन्तीति द्रुतं भूमिपालसद्म समेत्य च ।
सज्जीकुरु महीपालनन्दिनीं चूर्णयोगतः ॥४४३॥ [युग्मम्]
एवं पुनः पुनः प्रोक्ते उत्थायानन्दपूरुषः ।
समेत्य भूपसदनं ननामावनिनायकम् ॥४४४॥

हृष्टो राजा जगौ सद्यः कुमार ! मम नन्दिनीम् ।
सज्जीकुरु ततः प्राहानन्दो भूमीपतेः पुरः ॥४४५॥
स्वामिन् ! ददासि किं मह्यमित्युक्ते भूपतिर्जगौ ।
यत्त्वं वक्ष्यसि वक्त्रेण तुभ्यं दास्याम्यहं हि तत् ॥४४६॥
आनन्दः प्राह दास्यामि यस्मै कन्यामहं विभो ! ।
तस्य चेद् वरणं कन्या ममादेशात्करिष्यति ॥४४७॥
सज्जातिजां पुनः कन्यामेकां ग्रामाष्टकान्विताम् ।
यस्मै च दापयिष्यामि तस्मै त्वं यदि दास्यसि ॥४४८॥
मासं यावत्ततः सप्तयोजनावधि भूतलम् ।
ममैव दीयते चेद्धि तदा सज्जीकरोमि ताम् ॥४४९॥
ततो गत्वा नृपः कन्योपान्ते प्राहेति रङ्गतः ।
आनन्दः पटहं स्पृष्ट्वा मन्मुखादिति जल्पति ॥४५०॥
दापयिष्याम्यहं यस्मै कुमाराय च कन्यकाम् ।
तस्य चेद् वरणं कन्यां मदादेशात्करिष्यति ॥४५१॥

सज्जातिजां पुनः कन्यामेकां ग्रामाष्टकान्विताम् ।
दापयिष्याम्यहं यस्मै तस्मै त्वं यदि दास्यसि ॥४५२॥
मासं यावत्पुनः सप्तयोजनावधि भूतलम् ।
त्वया चेद्दीयते मह्यं तदा सज्जीकरोमि ताम् ॥४५३॥
कन्या प्राह भवत्वेवं तव तात ! निदेशतः ।
यतोऽङ्गीकुरुते कन्या पितृदत्तं वरं मुदा ॥४५४॥
"कन्या विश्राणिता पित्रा यस्मै पुंसे वरोत्सवम् ।
तमेव कन्यका चारुमचारुं वृणुते वरम् ॥४५५॥
आनन्दपुरुपोपान्ते गत्वा भूपो जगावदः ।
सज्जीकुरु द्रुतं कन्यां तव प्रोक्तं करिष्यते ॥४५६॥
गजेन्द्रकुण्डपानीयाद्यानयनपुरस्सरम् ।
शुभेऽह्नि मन्त्रतन्त्रादिसाधनां तनुते स्म सः ॥४५७॥
घृष्ट्वा तदौपधं क्षिप्त्वा कन्यकानेत्रयोः पुनः ।
आनन्दोऽचीकरत्कन्यां पश्यन्तीं तारकान् दिने ॥४५८॥

राजा हृष्टः पुरीमध्ये तलिकातोरणादिभिः ।
महोत्सवं व्यधान्नृत्यं कारयंश्च पदे पदे ॥४५९॥ यतः—
"पुत्रिका–पुत्र–मित्राणां सुखं सुष्ठु निरीक्ष्य च ।
मातापित्रादयोऽत्यन्तं तन्वते मानसे मुदम्" ॥४६०॥
भूपः प्रोवाच कस्येयं दीयते कन्यका वद ।
आनन्दोऽवक् कियत्कालं प्रतीक्षस्व महीपते ! ॥४६१॥
ततः खमार्गिते भूमिस्थाने आनन्दपुरुपः ।
मर्त्तुं ददाति नो पुंसः कस्याप्यनशनादिभिः ॥४६२॥
इतो धर्मध्वजं तत्र दुःखपूरितमानसम् ।
प्राणांस्त्यक्तुं समायातं वीक्ष्यानन्दो जगाविति ॥४६३॥
मासमध्ये न कस्यापि मर्त्तुं दास्याम्यहं ध्रुवम् ।
ततो धर्मध्वजः कृत्वा सन्तोपं तत्र तस्थिवान् ॥४६४॥
महाबलः प्रियायुक्तो विक्रमार्कसुतो हली ।
पृथक् पृथक् क्रमात्तत्रानशनं लातुमाययुः ॥४६५॥

१ मातृपितृयुतं वर–ग ।

केषामपि मनुष्याणां लातुं नानशनं तदा।
गिरेरुपरि दत्ते च कुमारश्चटितुं मनाक् ॥४६६॥
ततः सर्वेऽपि भूपालादयो लोकाश्च भूरिशः।
बभूवुर्व्याकुलस्वान्ता आगता ये विदेशतः ॥४६७॥
प्राणांस्त्यजन्तमालोक्य गिरौ धर्मध्वजं स्फुटम्।
आनयामासुरानन्दकुमारान्ते च सेवकाः ॥४६८॥
आनन्दोऽवक् कुतो हेतोर्धर्मध्वज! नरोत्तम।
प्राणांस्त्यक्तुमगा ब्रूहि ततो धर्मध्वजो जगौ ॥४६९॥
सपादलक्षदेशोर्वीभूपणात् श्रीपुरात् पुरात्।
गजवाहनभूपस्य सुतो धर्मध्वजाभिधः ॥४७०॥
अहं महाबलक्षोणिपतेः शुभमतीं सुताम्।
परिणेतुमगां यावद् वलभ्यां पुरि मोदितः ॥४७१॥
तावत्सा कन्यका केन देवेन दानवेन वा।
हृता न ज्ञायते तेन प्राणांस्त्यक्तुमगामहम् ॥४७२॥
कन्यां विना यदि स्वीयपुरे यास्याम्यहं ननु।
तदा हसन्ति मां सर्वे सज्जनाद्या जनाः स्फुटम् ॥४७३॥ यतः—
माण पणट्ठइ जइ न तणु तो देसडा चइज्ज।
मा दुज्जणकरपल्लविहिं दंसिज्जन्त भमिज्ज" ॥४७४॥
आनन्दः प्राह को मूर्खः स्त्र्यर्थे त्यजति जीवितम्।
भवन्ति भूरिशो भार्या जीवितं कर्हिचिन्नहि ॥४७५॥
रुदता कुत एव सा पुनर्भवता नानुमृतेऽपि लभ्यते।
परलोकजुषां शरीरिणां गतयो भिन्नपथा निवेदिताः ॥४७६॥
"रज्जुग्गहविसभक्खणजलजलणपवेसतण्हछुहदुहओ।
गिरिसिरपडणाउ मया सुहभावा हुंति वंतरया ॥४७७॥
मृते पत्यौ प्रिया काष्ठभक्षणं कुरुते क्वचित्।
न प्रियार्थे प्रियः कुत्रचित् प्राणांस्त्यजति ध्रुवम् ॥४७८॥
भवन्ति कुटिलस्वान्ता नार्यः प्रायो नरोत्तम!।
तेन नैव त्वया खेदः कार्यश्चित्ते मनागपि ॥४७९॥ यतः—

१ नृपम्-क। २ भूपोपान्तं च-क।

कलहिण्या गृहिण्या भोः ! के के नोद्वेजिता जनाः ।
साऽत्रागतेति श्रुत्वैव मुक्त्वा पात्रं गतोऽमरः ॥४८०॥

इयं कथा विनोदकथातो वाच्या ।

दुर्लभं मानुषं जन्म दुर्लभा जातिरुत्तमा ।
कुलं च दुर्लभं चारु जीवितं दुर्लभं पुनः ॥४८१॥
त्यजन्त्येव[1] जना नार्यां मृतायां जीवितं जडाः ।
उत्तमा मन्वते शल्यमुद्धृतं देहतः पुनः ॥४८२॥ यतः—

सम्मोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति,
निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति ।
एताः प्रविश्य सदयं हृदयं नराणाम्,
किं नाम वामनयना न समाचरन्ति ॥४८३॥

"अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता ।
निःस्नेहनिर्दयत्वं च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः" ॥४८४॥

धर्मध्वजो जगौ लज्जावशान्नैव पुरे निजे ।
गन्तुं मया मनाक् शक्यं मानभङ्गान् नरोत्तम ! ॥४८५॥
खेदोऽत्र नहि कर्तव्यस्त्वया धर्मध्वजोत्तम ! ।
चारुकन्याप्रदानात्ते करिष्येऽहं समीहितम् ॥४८६॥
इत्यादि बहुशो युक्त्या स्वस्थीकृत्य च तं तदा ।
वितीर्योत्तारकं तस्मायानन्दः स्वाश्रयं ययौ ॥४८७॥
प्राणांस्त्यजन्तमालोक्य सिंहं कौटुम्बिकं गिरौ ।
आनयामासुरानन्दकुमारान्ते च सेवकाः ॥४८८॥
आनन्दोऽवक् कुतो हेतोः सिंह ! कौटुम्बिकानघ ।
प्राणांस्त्यक्तुमगा ब्रूहि ततः सिंहो जगावदः ॥४८९॥
वलभीतोऽन्यदा कन्यामेकां विद्यापुरे वराम् ।
क्षेत्रे निजे समानीय यावदागां पुरान्तरे ॥४९०॥
तावत्सा कन्यका केन देवेन दानवेन वा ।
हृता न ज्ञायते रुष्टा पूर्वपत्नी ततो गता ॥४९१॥

[1] त्यजन्ति जीवितं मूढा नार्यर्थं मोहिता जना—ग ।

तेनाहं दुःखितो भूत्वाऽतीवात्रैव शिलोच्चये।
प्राणांस्त्यक्तुमगां तेनादेशं त्वं देहि मेऽधुना ॥४९२॥
आनन्दः प्राह को मूर्खः स्त्र्यर्थं त्यजति जीवितम्।
भवन्ति भूरिशो भार्या जीवितं कर्हिचिन्नहि ॥४९३॥
दुर्लभं मानुषं जन्म [४८२] ॥४९४॥
त्यजन्त्येव जना नार्यां [४८३] ॥४९५॥
संमोहयन्ति मदयन्ति [४८४] ॥४९६॥ इत्यादि
प्राप्तुं पारमपारस्य पारावारस्य पार्यते।
स्त्रीणां प्रकृतिवक्राणां दुश्चरित्रस्य नो पुनः ॥४९७॥
खेदोऽत्र नहि कर्तव्यस्त्वया सिंह हलीश्वर!।
एकां नारीं वरां तुभ्यं दापयिष्याम्यहं द्रुतम् ॥४९८॥
एवं स्वस्थीकृतः सिंहकर्षकः स्वाश्रयं ययौ।
आनन्दपुरुषोऽपि स्वं स्थानकं समुपागमत् ॥४९९॥
प्राणांस्त्यजन्तमालोक्य भूमिपालं महाबलम्।
आनयामासुरानन्दकुमारान्ते स्वसेवकाः ॥५००॥
आनन्दोऽवक् कुतो हेतोः प्राणांस्त्यज महाबल!।
ततस्तेनोदितं पुत्रीगमनोदन्तमादितः ॥५०१॥
आनन्दः प्राह भवता खेदः कार्यो न चेतसि।
मिलिष्यति सुता शीघ्रमत्रस्थस्य तवोत्तम! ॥५०२॥
महाबलमहीशेन पुत्रीरूपपरावृतेः।
न ज्ञाता च मनाक् तत्र जल्पन्त्येवं नृरूपभृत् ॥५०३॥
प्राणांस्त्यजन्तमालोक्य विक्रमार्कसुतं गिरौ।
आनयामासुरानन्दकुमारान्ते स्वसेवकाः ॥५०४॥
आनन्दोऽवक् कुतो हेतोः प्राणांस्त्यजसि सत्तम!।
ततस्तेनोदितं सर्वं गमनोदन्तमादितः ॥५०५॥
कन्यां विना० [४७३] ॥५०६॥ यतः–
माण पणट्ठइ [४७४] ॥५०७॥
आनन्दः प्राह [४७५] ॥५०८॥

दुर्लभं मानुषं जन्म [४८२] ॥५०९॥
त्यजन्त्येव जना [४८३] ॥५१०॥यतः—
सम्मोहयन्ति [४८४] ॥५११॥
कर्तव्यो भवता खेदो न मनाग् मानसे त्वया।
मिलिष्यति प्रिया शीघ्रमत्रस्थस्य तवानघ ! ॥५१२॥
इत्यादि युक्तितः सर्वान् स्वस्थीकृत्य द्रुतं तदा।
हृष्टचित्तो निजे स्थाने जगामानन्दपूरुषः ॥५१३॥
मिलितं सर्वसंयोगं वीक्ष्यानन्दकुमारकः।
गत्वा भूपान्तिके सद्यः प्राहेति मधुरस्वरम् ॥५१४॥
"महुरं निउणं थोवं कज्जावडिअं अगव्वमतुच्छं।
पुव्विं मइसंकलिअं भणंति जं धम्मसंजुत्तम्" ॥५१५॥
धर्मध्वजकुमाराय श्रीसुन्दरमहेशितुः।
पुत्रिकां दापयामास सद्य आनन्दपूरुषः ॥५१६॥

सुष्ठुजातिभवां कन्यामष्टग्रामसमन्विताम्।
सिंहाय दापयामास नृपेणानन्दपूरुषः ॥५१७॥ यतः—
"राज्यं यातु श्रियो यान्तु यान्तु प्राणा विनश्वराः।
या मया स्वयमेवोक्ता वाचा मा यातु शाश्वती॥५१८॥
अलसंतेण वि सज्जणेण जे अक्खरा समुल्लविआ।
ते पत्थर टङ्कुकीरिअ व्व न हु अन्नहा हुंति" ॥५१९॥
एतत् तस्य कुमारस्यौदार्यं वीक्ष्य जगुर्जनाः।
अहो अन्योपकारित्वं विद्यतेऽस्यानघं जने॥५२०॥ यतः—
"हुंति परकज्जनिरया निअकज्जपरंमुहा फुडं सुअणा।
चन्दो धवलेइ महीं न कलङ्कं अत्तणो फुसइ ॥५२१॥
विरला जाणंति गुणा विरला पिच्छन्ति अत्तणो दोसे।
विरला परकज्जकरा परदुक्खे दुक्खिआ विरला" ॥५२२॥
इत्यादि।

१ मधुर निपुण स्तोकं कार्यापतितमगर्वमतुच्छम्। पूर्वं मतिसंकलित भणन्ति यद् धर्मसयुक्तम् ॥
२ अलसयताऽपि सज्जनेन येऽक्षराः समुल्लपिता.। ते प्रस्तरे टङ्कोत्कीरिता इव नैवान्यथा भवन्ति॥

स्वयं कन्यां विधायाशु पश्यन्तीं तारकान् दिवा ।
दत्ताऽनेनकुमारेणान्यस्मै परोपकारिणा ॥५२३॥
एवं निजोदितं कार्यं विधायानन्दपूरुषः ।
महाबलमहीशस्य समीपं समुपागमत् ॥५२४॥
महाबलो जगौ भो! भोः! कुमारोत्तम! साम्प्रतम् ।
दत्से नानशनं लातुं किं रैवतशिलोचये ॥५२५॥
पूरितो भवता धर्मध्वजस्यादौ मनोरथः ।
ततश्चापूरि सिंहस्य वरकन्याप्रदानतः ॥५२६॥
अस्माकं भवता नैव पूरितोऽत्र मनोरथः ।
दत्से नानशनं लातुं करिष्याम्यधुना किमु ॥५२७॥
एवं पुनः पुनः प्रोक्ते महाबलमहीभुजा ।
[[1]आनन्द एकको मध्येगेहं स्थितो रहस्तदा ॥५२८॥
औपधेन वपुः स्वीयं प्रकटीकुरुते स्म सः ।
परिधायावलावेषं तस्थौ शुभमती पुनः] *॥५२९॥

वीक्ष्य स्वां तनयां भूपो हृष्टोऽप्राक्षीदिति स्फुटम् ।
हे पुत्रि! त्वं तदा केन हृतेत्यत्र निगद्यताम् ॥५३०॥
ततः शुभमती वृत्तसम्बन्धमात्मनस्तदा ।
मातापित्रोः पुरः शेषं कथयामास रङ्गतः ॥५३१॥
मया स्वशीलरक्षार्थं कृता रूपरावृतिः ।
उपकारः कृतः कन्यासिंहधर्मध्वजाङ्गिनाम् ॥५३२॥
महाबलनृपः प्राह कं वरं वृणुषे सुते! ।
पुत्र्यवग् विक्रमादित्यपुत्रमङ्गीकरोम्यहम् ॥५३३॥
पिता प्राह सुते! सोऽपि कथमैत्यत्र सम्प्रति ।
पुत्र्यवग् विक्रमादित्यपुत्रोऽस्त्यत्र पुरे ननु ॥५३४॥
मया धर्मध्वजात् पूर्वं वरितो विक्रमाङ्गजः ।
एवं च रोचते चित्ते मदीये जनकोत्तम! ॥५३५॥
कुत्रास्तीति महीशोक्ते तदा पुत्री पितुः पुरः ।
श्रीविक्रमचरित्रस्य स्थितिस्थानमचीकथत् ॥५३६॥

---

१ कुमारो दर्शयामास निजं रूपं पितुः पुरः । इति गपुस्तकेऽधिकः पाठः । * एतत्कोष्ठान्तर्गतः पाठो गपुस्तके नास्ति ।

ततो महाबलक्ष्मापो विक्रमादित्यसूनवे ।
नानोत्सवं निजां पुत्रीं ददौ मुदितमानसः ॥५३७॥
स्वापहारादि पत्यग्रे प्रोक्त्वा शुभमती तदा ।
मालिकासत्वतश्वेतोजवाश्वमानयत् तदा ॥५३८॥
सपादकोटिमूल्यं सन्मणिं मालिकयोपिते ।
दापयामास कान्तस्य पार्श्वात् शुभमती मुदा ॥५३९॥ यतः—
"सर्वाः सम्पत्तयः सत्यं जायन्ते तस्य जन्मिनः ।
यस्य पूर्वार्जितं पुण्यद्रविणं विद्यते बहु" ॥५४०॥
ततो विक्रमभूपालपुत्र्याद्या निखिला नृपाः ।
ऊर्ध्वं रैवतशैलस्य चलिता नन्तुमर्हतः ॥५४१॥
श्रीनेमिजिनमभ्यर्च्य पुष्पैः स्तुत्वा स्तवैर्वरैः ।
उत्तेरू रैवतस्याद्रेः शिखरात्सुन्दराशयाः ॥५४२॥
ततः सर्वेऽपि भूपालकृषीवलादयस्तदा ।
हृष्टा निजं निजं स्थानं मुत्कलाप्य ययुः क्रमात् ॥५४३॥

शुभमतीप्रियाशाली विक्रमादित्यनन्दनः ।
भूर्यश्वेभयुतोऽवन्तीं प्रत्यचालीत् ततः पुरात् ॥५४४॥
गच्छन् श्रीवैक्रमो वीक्ष्यायान्तमेकं नरं पथि ।
पप्रच्छेति कुतः स्थानादागतोऽसि वदाधुना ॥५४५॥
पान्थः प्राह भृगुपुरं याम्यवन्तीपुरादहम् ।
श्रीवैक्रमो जगौ तत्र काऽस्ति वार्ताऽधुना वद ॥५४६॥
पान्थः प्राह धराधार ! पुराद् भीममहीपतेः ।
पुत्रीं रूपवतीं नाम्ना भट्टमात्रो मनोहराम् ॥५४७॥
श्रीविक्रमचरित्रस्य परिणेतृकृते स्वयम् ।
अवन्त्यां यावदानैषीत् तावत् स कुत्र जग्मिवान् ॥५४८॥
बहुदेशेषु भूपेन प्रेष्य भृत्यान् विलोकितः ।
अद्यापि न स लब्धोऽस्ति वार्ता तस्य च केनचित् ॥५४९॥
ततो रूपवती काष्ठभक्षणं याचते नृपम् ।
वक्तीति कन्यका नान्यं वरमङ्गीकरोम्यहम् ॥५५०॥

ततो भूपादयोऽमात्याः प्रोचुरेवं च तां प्रति ।
मासमध्ये वरो नैव यद्येष्यत्यत्र कन्यके ! ॥५५१॥
तदा त्वया च कर्तव्यं काष्ठभक्षणमञ्जसा ।
इत्युक्त्वा स्थापिता राजपुत्री कष्टेन धीसखैः ॥५५२॥
कन्या कल्ये प्रगे काष्ठभक्षणं सा करिष्यति ।
विक्रमार्कोऽजनि क्ष्मापो दुःखी पुत्रवियोगतः ॥५५३॥
सुकोमला प्रिया पुत्रवियोगादतिदुःखिता ।
न शेते शयने भुङ्क्ते द्विर्वारं न कदाचन ॥५५४॥
अन्येऽपि निखिला लोका मन्त्र्याद्या दुःखिता भृशम् ।
दिशो दिशं प्रपश्यन्ति कुमारागमनं तदा ॥५५५॥
श्रुत्वैतद् विक्रमादित्यपुत्रः शीघ्रगतिश्चलन् ।
अवन्तीसंनिधौ यावत् द्वितीयाह्न्यगमत् प्रगे ॥५५६॥

इतश्च कन्यका काष्ठभक्षणार्थं नृपाङ्गजा ।
भूपादिलोकसंयुक्ता समागाद् नगराद् बहिः ॥५५७॥
चितां प्रदक्षिणीकृत्य यावत्कन्या प्रविक्ष्यति ।
*तावद् विक्रममार्तण्डपुत्रस्तत्रागमद् द्रुतम् ॥५५८॥
कुमारमागतं श्रुत्वा स्वस्थीकृत्य नृपाङ्गजाम् ।
यावत् तिष्ठति भूपालादयो लोकाः प्रमोदिताः ॥५५९॥
तावदेत्य द्रुतं मातापित्रोः पादाम्बुजद्वयम् ।
श्रीविक्रमचरित्रेण नेमे सद्भक्तिपूर्वकम् ॥५६०॥
विक्रमार्कनृपो रूपवतीं मध्येपुरं तदा ।
आनैपीच्च शुभं शुभमत्या युक्तं सदुत्सवम् ॥५६१॥
ततश्चारुतरे लग्ने रूपवत्या समं सुतम् ।
कारयन्नुत्सवं भूमिरमणः पर्यणीणयत् ॥५६२॥

* तावल्लोका जगु स्वस्थीक्रियतां राजनन्दिनी। कोऽप्येति दूरतो भूरिपरिवारसमन्वित. ॥ तेन क्षणं कनीदानी मा..........तिष्ठतु स्फुटम्। ततो यावज्जना ऊर्ध्वस्थाने स्थित्वा पुन. पुनः। विलोकन्ते तदा तत्रागमद् विक्रमनन्दनः ॥ –अत्रायं पाठो गपुस्तकेऽधिकः समुपलभ्यते ।

ततः पृथक् पृथक् सप्तभूमिकं धवलालयम् ।
द्वयोश्च स्नुपयोर्भूमिपतिर्हृष्टो ददौ तदा ॥५६३॥
श्रीविक्रमचरित्रोऽथ मातापित्रोः पुरोऽन्यदा ।
आमूलचूलतः सर्वं स्वचरित्रमचीकथत् ॥५६४॥

"प्रीणाति यः सुचरितैः [सर्ग. ५ श्लो. ४] ॥५६५॥
वस्तूद्दीपयते दीपः प्रत्यक्षं निजतेजसा ।
निष्कलङ्कः पुनः पुत्रः परोक्षानपि पूर्वजान्" ॥५६६॥

इति श्रीतपागच्छनायकश्रीसोमसुन्दरसूरिपट्टालंकरण—परमगुरुश्रीमुनिसुन्दरसूरि—शिष्यपण्डितश्रीशुभशीलगणिविरचिते श्रीविक्रमादित्यचरित्रे शुभमती—रूपवतीपाणिग्रहणस्वरूपः पञ्चमः सर्गः समाप्तः ॥

षष्ठः सर्गः ।

अन्येद्युर्विक्रमादित्यः प्रोवाच जननीं प्रति ।
मातर्मत्तोऽधिकः कोऽस्ति सत्त्वादिकलसद्गुणैः ॥१॥
माता जगौ न युज्येत वक्तुमेवं तवाधुना ।
तारतम्यं यतो विश्वे विद्यतेऽखिलदेहिषु ॥२॥ यतः—

"पदे पदे निधानानि योजने रसकूपिका ।
पुण्यहीना न पश्यन्ति बहुरत्ना वसुन्धरा" ॥३॥
आकर्ण्यैवं वचो मातुर्विक्रमार्कनृपस्तदा ।
बलिष्ठं पुरुषं द्रष्टुं चचालासिसखा निशि ॥४॥

विलोकयन् क्षितौ नानाऽऽश्चर्याणि भूरिशो नृणाम् ।
विक्रमार्को ययौ भूपः कस्यचिद् ग्रामसंनिधौ ॥५॥
वृषस्थाने महाव्याघ्रसिंहौ कृत्वा भयंकरौ ।
योक्त्रस्थाने प्रलम्बाही रज्जुं च सर्पिणीमयीम् ॥६॥
कर्षयन् कर्षकं(कः) क्षेत्रं हलेन कमलाभिधः ।
निरीक्ष्य भूभुजा चक्रे चित्ते चमत्कृतिं(तिः) निजे ॥[युग्मम्]
बहुवेलं तदा क्षेत्रं खेटयित्वा कृषीबलः ।
हलमच्छोटयद् यावत् तावत्पृष्टो नृपेण सः ॥८॥
त्वत्तोऽधिकोऽस्ति को भूमौ नरोऽत्र बलवान् खलु ।
हल्यवग् मत्प्रियान्ते यः समेत्यैको नरो निशि ॥९॥
करोति स्म तया सार्धं किंवदन्तीं स दुष्टधीः ।
स मत्तोऽपि बली बाढं निषेद्धुं शक्यते नहि ॥१०॥
विक्रमार्को जगौ गेहे तव संप्रति गम्यते ।
आवाभ्यां तद्बलं सम्यग् रहसि ज्ञास्यते स्फुटम् ॥११॥

हलियुग् विक्रमादित्यः समेत्य हलिसद्मनि ।
तस्थौ जारस्वरूपं च ज्ञातुं कौतुकितो रहः ॥१२॥
सीरिपत्न्या समं कर्तुं वार्तामेत्य स मानवः ।
प्रावर्त्तत स्वयं यावत् तावद् हलियुतो नृपः ॥१३॥
क्रूरप्रविशिखैर्जारं भिनत्ति स्म पुनः पुनः ।
पिङ्गो जगौ लगन्ति स्म मशका मम विग्रहे ॥१४॥
श्रुत्वैतद् विक्रमादित्यश्चमत्कृतमनास्तदा ।
विभ्यद् हलियुतोऽचालीत् तत्पृष्ठौ(ष्ठे) चलितस्स ना ॥१५॥
हारकप्रमितान् खादन् पृथुकान् बुक्कैकके ।
हलिन्या विक्रमार्केण तदाऽकस्मान्निराकृतः ॥१६॥
क्षिप्त्वा पृथक् पृथक् गल्लान्तरे विक्रमहालिकौ(के) ।
पूर्ववत् पृथुकान् जग्धुं प्रावर्त्तत हली ततः ॥१७॥
आयातं जारमालोक्य पृथुकान् भक्षयन् हली ।
दधाव सम्मुखं हन्तुं मृगारिरिव रोहिषम् ॥१८॥

१ युङ्क्त्वा ग । २ खेटयन् ग । ३ मत्तोऽस्ति ग । ४ वक्कैकके क ग । ५ खादन् ग ।

वलिष्ठं तं नरं हत्वा हली स्वभुजलीलया ।
गल्लतः कर्पयामास विक्रमादित्यहालिकौ(के) ॥१९॥
विक्रमार्को नृपो दध्यावहो अस्य वलिष्ठता ।
ईदृक्षं न बलं दृष्टं कस्याप्यत्र महीतले ॥२०॥
यावत् श्रीविक्रमो दध्यौ वलमेषां नृणां महत् ।
तावदेकः सुरोऽभ्येत्य स्फुरद्देहद्युतिर्जगौ ॥२१॥
भो विक्रम ! मया स्वर्णप्रभेण मरुता किल ।
वलगर्वं तवच्छेत्तु हल्यादि दर्शितं समम् ॥२२॥
गर्वो न क्रियते पुंभिर्वले लक्ष्म्यां श्रुते कुले ।
यतो भूमौ भवेत्तारतम्यं सर्वत्र भूपते ! ॥२३॥
गते देवे नृपो मातुः प्रणम्य चरणौ जगौ ।
मातस्तव वचः सत्यं वभूव गदितं स्फुटम् ॥२४॥

इति वलतारतम्यपरीक्षायां कथा ।

अन्यदाऽश्वद्वयं दूरात् सर्वलक्षणलक्षितम् ।
आगतं च तयोर्मध्यादेकस्मिन्नधिरुह्य च ॥२५॥
विक्रमादित्यभूपालोऽमात्यमन्त्रिसमन्वितः ।
उद्याने समगाद् वेगपरीक्षार्थं पुरात्तदा ॥२६॥ [युग्मम्]
अजानानो विपरीतपरीक्षां सहसा नृपः ।
निन्येऽश्वेनाटवीं सिंहव्याघ्रवेतालदारुणाम् ॥२७॥
गत्वा तरोरधो यावदुत्तताराश्वतो नृपः ।
सौकुमार्यतया तावन् मृत्युमाप तुरङ्गमः ॥२८॥
नृपतिस्तं मृतं ज्ञात्वा तृपया वाधितो भृशम् ।
मूर्च्छया पतितो भूमौ शुष्कवृक्ष इवाचिरात् ॥२९॥

१ वलिष्ठो हालिको ह्येवंविधोऽजनि कथं भुवि । यावदेवं नृपो दध्यौ तावद् हल्यादि नेक्षते ॥ तदैको निर्जर कश्चित् प्रादुर्भूय जगावद । इदं मया कृतं तावकीनवलमदच्छिदे ॥ अत पर न कर्तव्यो वलगर्वस्त्वया नृप ! । तारतम्यं समस्त्येव वलविद्यादिवस्तुपु ॥ एवमुक्त्वा सुरे तस्मिन् विद्युतीव गते सति । जगाम विक्रमादित्यो स्वकीयनगरं क्रमात् ॥ प्रणम्य जननीपादौ विक्रमार्को जगावद । इति गपुस्तकेऽधिक पाठ ।

तावदेकेन कान्तारवासिनाऽश्वपदेक्षणात् ।
तत्रागतेन भूपालस्तदवस्थो निरीक्षितः ॥३०॥
महानेष नरः कश्चिदिति ध्यात्वा सरोवरात् ।
आनीय सलिलं सिक्तः सचेताः क्षितिपोऽजनि ॥३१॥
निरीक्ष्य पुरुषं तं च निष्कारणोपकारिणम् ।
मुदितो मेदिनीनाथः प्रोवाचेति वचस्तदा ॥३२॥ यतः—
"विरला जाणंति गुणा । [सर्ग ५–श्लो. ५२२] ॥३३॥
'दो पुरिसे धरउ धरा अहवा दोहिंपि धारिआ पुहवी ।
उवयारे जस्स मई उवयरिअं जो न फुंसेइ ॥३४॥
हुंति परकज्जनिरया निअकज्जपरंमुहा फुडं सुअणा ।
चन्दो धवलेइ महीं न कलङ्कं अत्तणो फुसइ" ॥३५॥
सैन्मान्य भूपतिं शैलगुहायां निजसद्मनि ।
नीत्वा पुलिन्द्रकः पत्नीयुक्तो भक्तिमचीकरत् ॥३६॥
पुलिन्द्रकेण भूपालः कणिक्काघृतदानतः ।
बुभुक्षापगमात्स्वस्थीकृतः सन्मानपूर्वकम् ॥३७॥ यतः—
"पानीयस्य रसः शान्तं परान्नस्यादरो रसः ।
आनुकूल्यं रसः स्त्रीणां मित्राणां वचनं रसः ॥३८॥
संकुचन्ति कलौ तुच्छाः प्रसरन्ति महाशयाः ।
ग्रीष्मे सरांसि शुष्यन्ति कामं वार्द्धिस्तु वर्द्धते" ॥३९॥
गृहमध्ये नृपं कृत्वा सुखसुप्तं पुलिन्द्रकः ।
ददौ द्वारे द्विपञ्चाशच्छयोत्सेधां शिलां निशि ॥४०॥
तस्य रक्षाकृते सुप्तो गृहद्वारे पुलिन्द्रकः ।
अन्यत्रस्था पुलिन्द्री चाशृणोद् व्याघ्रारवं बहिः ॥४१॥
उत्थाप्य नृपतिं सद्यः प्रोवाचेति पुलिन्द्रिका ।
व्याघ्रेण मारितो नूनं पतिः पूर्वविरोधिना ॥४२॥
अधुना श्रूयते शब्दो बहिर्व्याघ्रस्य दारुणः ।
दत्ता द्वारे द्विपंचाशच्छया पत्या शिला च मे ॥४३॥

१ द्वौ पुरुषौ धरतु धरामथवा द्वाभ्यां धृता पृथिवी । उपकारे यस्य मतिः उपकृतं यो न श्रावयति ॥ २ विनिमन्त्र्य नृपं ग. ।

सा शिला मत्प्रियेणैव दूरं कर्तुं च शक्यते ।
तेनावां निस्सरिष्यावः कथमस्मान्निकेतनात् ॥४४॥
श्रुत्वैतद् दक्षिणेनांह्रिप्रहारेण शिलां च ताम् ।
अपनीय वहिर्यावत् पश्यति स्म महीपतिः ॥४५॥
तावत् तं च तथाऽवस्थं दृष्ट्वा भूपस्तयाऽन्वितः ।
प्रोवाचेति रुदन् रे ! रे ! कथं दंष्ट्रिन्नयं हतः ॥४६॥
"वेश्याक्का नृपतिश्चौरो नीरमार्जारदंष्ट्रिणः ।
जातवेदाः कलादश्च न विश्वास्या इमे क्वचित्' ॥४७॥
तदवस्थं पतिं प्रेक्ष्य तदा सद्यः पुलिन्द्रिका ।
मुक्त्वा प्राणैर्विमोहेन यतो मोहश्च वन्धनम् ॥४८॥
तावत्पृष्ठागतेनैव सैन्येन नृपतिः पुरीम् ।
नीतो निषेधयामास सद्यो दानं शुचाऽर्दितः ॥४९॥

इतश्च कतिभिर्मासैः श्रीपतेर्व्यवहारिणः ।
जातमात्रः सुतो वक्ति शुकवद् वचनं स्फुटम् ॥५०॥
आकारितो नृपस्तेनारिष्टं भावीति चिन्तयन् ।
यावन्नायाति तावत्[1]सं जनकं प्रति जल्पति ॥५१॥
[2]आनयात्र नृपं शीघ्रं नो चेद् विघ्नं भविष्यति ।
श्रीपतिः स्वगृहे भूपमानयामास वेगतः ॥५२॥
तदा स बालकः प्राह भूपं प्रति स्फुटाक्षरम् ।
निषेधयसि किं दानं दीयमानं शि[3]वप्रदम् ॥५३॥
[4]राजा प्राह मया पूर्वं दृष्टं दानफलं बहु ।
मत्वा महीपतेश्चित्तं बभाषे बालकस्तदा ॥५४॥
शृणु दानस्य माहात्म्यं विक्रमादित्यभूपते ! ।
कणिकाघृतदानेन जातोऽत्र नगरेऽस्म्यहम् ॥५५॥

---

१ स वचनेनेति धिक्कृतः ग । २ घोटकेनोपनीतस्य वनेऽवस्था तवागता । विस्मारिताऽधुना भूपः कथं च तादृशी स्फुटम् ॥ आगतः शिशुना पृष्टो भूपः सन्मानपूर्वकम् । ग । ३ जनैरिह ग । ४ सुपात्रदानतो लोका लभन्ते सुखमद्भुतम् । अमुत्राहमिव क्षोणीपते ! जानीहि सन्ततम् ॥ इति गपुस्तके अधिकः पाठः ।

द्वात्रिंशत्स्वर्णकोटीनां नाथस्य श्रीपतेः सुतः ।
पूर्वं मया ददे दानं भवतः सादरं वने ॥५६॥ (युग्मम्)
भूपतिस्तेन संकेतवचसा मुमुदेतराम् ।
भूपोऽवक् तर्हि भार्याया उत्पत्तिं कथयाधुना ॥५७॥
तेनोक्तं नगरेऽत्रैव दान्ताकव्यवहारिणः ।
सुता जाता सती कान्ता मम भूप ! भविष्यति ॥५८॥
राजा प्राह शिशोर्ज्ञानं कथं जातं तवेदृशम् ।
ततः स बालको देवभापयेति जगौ स्फुटम् ॥५९॥
एतत्पद्मावती वक्ति मदीयास्येऽवतीर्य च ।
श्रुत्वैतद् नृपतिर्दानोपकारात्तत्परोऽभवत् ॥६०॥
तस्मै बालाय भूपालः पुराणां शतपञ्चकम् ।
दापयामास मन्त्रीशपार्श्वात्सन्मानपूर्वकम् ॥६१॥
इति पुलिन्द्रकथा ।
भाण्डागारिकमुख्यानाममात्यानां पुरोऽन्यदा ।
प्रोवाचेति नृपो यद् यद् याचते मम नन्दनः ॥६२॥
तत् तत् पुत्राय दातव्यं भवद्भिरादरात्सदा ।
ततस्तद् ददते भूपसूनवे मार्गितं धनम् ॥६३॥ [युग्मम्]
दान्ताकश्रेष्ठिनोऽन्यस्य सोमदन्तेन सूनुना ।
श्रीविक्रमचरित्रस्याभवत्प्रीतिर्मिथः क्रमात् ॥६४॥
अन्येद्युर्विक्रमादित्यसूनुर्मित्रसमन्वितः ।
क्रीडां कुर्वन् ययौ बाह्योद्याने सद्वृक्षशालिनि ॥६५॥
धर्मध्यानपरान् धर्मघोषसूरीश्वरांस्तदा ।
उपविष्टांस्तरोर्मूले ददर्श भूपनन्दनः ॥६६॥
गत्वा तत्र तरोर्मूले गुरुं विनयपूर्वकम् ।
उपविष्टोऽग्रतः श्रोतुं धर्मं भूपाङ्गजस्तदा ॥६७॥
धर्मघोषगुरुर्धर्मोपदेशं शिवशर्मदम् ।
श्रीविक्रमचरित्रस्य पुरतः प्रोक्तवानिति ॥६८॥
अत्र धर्मोपदेशकथा वाच्या ।

१. तत्पत्न्याः ग ।

दानं वित्ताद् ऋतं वाचः कीर्तिधर्मौ तथाऽऽयुषः ।
परोपकरणं कायादसारात्सारमुद्धरेत् ॥६९॥
श्रुत्वा धर्मं गुरोः पार्श्वे विक्रमादित्यनन्दनः ।
दानशीलतपोभावान् पोषयामास सन्ततम् ॥७०॥
[1]आसन्ने परमपए पावेअव्वम्मि सयलकल्लाणे ।
जीवो जिणिंदभणिअं पडिवज्जए भावओ धम्मं ॥७१॥
ततः श्रीविक्रमादित्यपुत्रो देवगृहादिषु ।
भोगं चकार दीनारपञ्चशत्या जिनेशितुः ॥७२॥
शरीरमित्रभार्यार्थं यद्यद् व्ययति नन्दनः ।
न ज्ञायते मनाक् तस्य संख्या संख्यावता पुनः ॥७३॥
[2]ततो भूपान्तिके कोशाध्यक्षा एत्य जगुः स्फुटम् ।
स्वामिंस्त्वत्तनयो भूरिद्रव्यं व्ययति सन्ततम् ॥७४॥
शक्यो वारयितुं नैवास्माभिः स साम्प्रतं मनाक् ।
राज्ञोक्तं न शयः खंचनीयो युष्माभिरेकशः ॥७५॥
यतोऽस्य चरितं सर्वे लोका जानन्ति मूलतः ।
देवानामपि दुर्जेयो विद्यतेऽसौ सुतो मम ॥७६॥
प्रकाराद् दास्यते शिक्षा तस्मै मृद्वा गिरैकदा ।
यत्कार्यं साध्यते साम्ना न तत्कर्कशतः कदा ॥७७॥
अन्यदा भूपतिर्देवपूजां कृत्वा द्विधाऽऽदरात् ।
भोक्तुं चोपाविशद् यावत्तावत्पुत्रः समागमत् ॥७८॥
राज्ञोक्तं मम मध्ये त्वं पुत्र ! भोक्तुमुपाविश ।
पितुर्मध्येऽदनं कर्तुमुपविष्टः सुतस्ततः ॥७९॥
अन्तराले नृपः प्राह भो पुत्र ! मन्निदेशतः ।
यावज्जीवाम्यहं तावत्त्वया नित्यं यथारुचि ॥८०॥
दिनाराणां शतं पञ्च दिनं प्रति [3]सुधर्मणि ।
व्ययः कार्योऽङ्गभोगादौ भवता च स्वयं तथा ॥८१॥ युग्मम्

१ आसन्ने परमपदे प्राप्तव्ये सकलकल्याणे । जीवो जिनेन्द्रभणितं प्रतिपद्यते भावतो धर्मम् ॥२ इतो ग । ३ जिनालये. ग ।

आकर्ण्यैतत्कुमारेण चिन्तितं यद् व्ययाम्यहम्[1] ।
तद् रोचते न भूपस्य जल्पनादिति मे मतिः ॥८२॥ यतः—
"सोलसवरिसो पुरिसो लच्छि भुंजेइ जा अ जणयस्स ।
एसो नूणं पुत्तो रिणसंबंधेण संपत्तो" ॥८३॥
उत्तमाः स्वगुणैः ख्याता मध्यमास्तु पितुर्गुणैः ।
अधमा मातुलैः ख्याताः श्वसुरैश्चाधमाधमाः ॥८४॥
इत्यादि ध्यायतस्तस्य भक्तं जातं विषोपमम् ।
उत्थाय सोमदन्तान्ते गत्वा सोऽवग् नृपोदितम् ॥८५॥
अत्र स्थास्याम्यहं नैव गमिष्याम्यन्यनिवृति ।
पश्यामि निजभाग्यस्य फलं दूरं गतः पुनः ॥८६॥ यतः—
"न श्रीः कुलक्रमायाता शासने लिखिताऽपि वा ।
खड्गेनाक्रम्य भुञ्जीत वीरभोग्या[2] वसुन्धरा ॥८७॥
[3]दीसइ विविहं चरिअं जाणिज्जइ [4]सज्जणदुज्जणविसेसो ।

अप्पाणं च कलिज्जइ हिंडिज्जइ तेण पुहवीए ॥८८॥
यो न निर्गत्य निःशेषामवलोकयति मेदिनीम् ।
अनेकाश्चर्यसम्पूर्णां स नरः कूपदर्दुरः ॥८९॥
सभीताः परदेशस्य वह्वालस्याः प्रमादतः ।
स्वदेशे निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः ॥९०॥
अद्य कल्ये परेद्युर्वा गम्यते मयका रहः ।
सुखेनात्र त्वया स्थेयं सर्त्तव्योऽहं च सन्ततम् ॥९१॥ यतः—
"उपरि चन्दा तलि कुसुम दूरट्ठिअ वि हसन्ति ।
वाससहसेहिं नवि मिलइ नेहा नवि चुकंति ॥९२॥
दूरासन्नं पडिवन्नपालणं सज्जणाण नो ज[5]यंति ।
सायरससीण पिच्छह किमंतरं किं च निव्वहणं ॥९३॥
अन्योऽन्यसंदर्शनवारिसिक्तः स्नेहाङ्कुरो नित्यमुपैति वृद्धिम् ।
वियोगदुःखार्ककराभिघातैर्यथा न शुष्येत तथा विधेयम् ॥

१ यद् व्ययामि धनं धर्मकर्मादिष्वहमन्वहम् । तद्—इति क–गपुस्तकेऽधिकः पाठः । २ ०भोज्या ख–ग । ३ दृश्यते विविधं चरितं ज्ञायते सज्जन-दुर्जनविशेषः । आत्मा च कल्यते हिण्ड्यते तेन पृथिव्याम् ॥ ४ सुजण० क–ग । ५ जयन्ति ग ।

[क सरसि वनखण्डं पङ्कजानां क सूर्यः,
क च कुमुदवनं वा कौमुदीवन्धुरिन्दुः ।
दृढपरिचयवद्धा प्रायशः सज्जनानां,
नहि विचलति मैत्री दूरतोऽपि स्थितानाम् ॥]
सोऽमदन्तो जगावीदृग् वचः किं कथ्यते त्वया ।
त्वां विना न क्षणं स्थातुमत्र शक्नोमि साम्प्रतम् ॥९५॥
मायया कुरुते प्रीतिं सोऽमदन्तो नृपाङ्गजे ।
सोऽमदन्ते तु भूभृग्भूर्धत्ते प्रीतिमकृत्रिमाम् ॥९६॥ यतः–
मुखं पद्मदलाकारं वाचा चन्दनशीतला।
हृदयं क्रोधसंयुक्तं त्रिविधं धूर्त्तलक्षणम् ॥९७॥
सोऽमदन्तो जगौ स्वामिन् ! यत्र त्वं च गमिष्यसि ।
तत्राहं च समेष्यामि सुखे दुःखे वने रणे ॥९८॥ यतः—
पडिवन्नं दिणयरवासराण दोण्हं पि अखंडिअं निच्चं ।
सूरो न दिणेण विणा दिणो न सूरस्स विरहम्मि" ॥९९॥
ततो भूपाङ्गजः प्राह मित्र ! मैवं वदाधुना।
यतोऽस्ति दुष्करो मार्गः शीत–ताप–तृपादिभिः ॥१००॥
तेनात्र तिष्ठ मित्र ! त्वमित्युक्ते सुहृदूचिवान् ।
सुखदुःखे च यो मित्रं न त्यजेत् स सुहृन्मतः ॥१०१॥ यतः–
"क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः,
क्षीरे तापमवेक्ष्य तेन सहसा ह्यात्मा कृशानौ हुतः ।
गन्तुं पावकमुन्मनस्तदभवद् दृष्ट्वाऽपि मित्रापदं,
युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री भवेदीदृशी ॥१०२॥
पापान्निवारयति योजयते हिताय,
गुह्यं निगूहति गुणान् प्रकटीकरोति ।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले,
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥१०३॥
मत्वा दृढाग्रहं तस्य खड्गपाणिर्नृपाङ्गजः।
सोऽन्नदन्तयुतो रात्रौ निस्ससार पुराद् वहिः ॥१०४॥
पुरग्रामसरिच्छैलकाननानि पदे पदे ।
पश्यन् नृपाङ्गजो मित्रयुतोऽटव्यां सरो ययौ ॥१०५॥

कुमारस्तृषितः पीत्वा जलं तत्र सरोवरे ।
पालिस्थपादपे पूर्वमेत्य मित्रादुपाविशत् ॥१०६॥
मेलयित्वा बहून् सद्यः कर्करान् [3]सोमदन्तकः ।
कुमारोपान्तमेत्यावग् साम्प्रतं रम्यते किल ॥१०७॥
कुमारोऽथ जगौ द्यूतान्नैरस्यं जायते ध्रुवम् ।
यतो युधिष्ठिरादीनां विरोधोऽभून्मिथः पुरा ॥१०८॥ यतः—
"द्यूतं सर्वापदां धाम द्यूतं दीव्यन्ति दुर्धियः ।
द्यूतेन कुलमालिन्यं द्यूताय श्लाघतेऽधमः ॥१०९॥
राज्यच्युतिं वल्लभया वियोगं, द्यूतानलः प्राप गतोरुभोगम् ।
प्रचण्डितामण्डितबाहुदण्डास्ते पाण्डवाः प्रापुररण्यवासम् ॥
करघट्टा नह पण्डुरा सज्जण दूरी हुन्ति ।
सूनां देउल सेवीइं तुज्ज पसाइं जूअ ॥१११॥
द्यूतं च मांसं च सुरा च वेश्या पापर्द्धिचौर्यं परदारसेवा ।
एतानि सप्त व्यसनानि लोके घोरातिघोरं नरकं नयन्ति ॥"

सोमदन्ताग्रहाद् भूपपुत्रे दीव्यति कर्करैः ।
सोमदन्तो जगौ मित्र ! लम्भनेनात्र रम्यते ॥११३॥
विना न लम्भनं द्यूतं भातीन्दुमिव यामिनी ।
तेनातो लम्भनं किंचित् कृत्वा मित्र ! च रम्यते ॥११४॥
कर्करान् यः शतं द्यूताद् हारयत्यत्र सम्प्रति ।
तेनैकं हार्यते नेत्रं प्रतिज्ञेत्यावयोरिह ॥११५॥
दीव्यताऽथ कुमारेणैकस्मिन्नेत्रे च हारिते ।
सुहृत्प्राहाधुना द्यूतरमणेन सृतं खलु ॥११६॥
वालयिष्याम्यहं नेत्रमित्युक्त्वा विक्रमार्कभूः ।
अहार्षीन्नयनं दीव्यन् द्वितीयमपि तत्क्षणात् ॥११७॥ यतः—
दीव्यतां देहिनां द्यूते ध्यायतां पश्यतां स्त्रियम् ।
अन्धत्वं जायते नेत्रे हृदयस्य च निश्चितम् ॥११८॥
जिते नेत्रद्वये सोमदन्तः प्रीतिपराङ्मुखः ।
लोचनद्वितयं लातुं दध्यावेवं पुनः पुनः ॥११९॥

१ भूपनन्दन· ग । २ प्रोवाचेत्यागतं मित्रं रम्यते साम्प्रतं मनाक् ग । ३ सोमदन्तो ज-ग । ४ मित्रोऽवगुत्थ्यते द्यूतान्नैरस्यं हि भविष्यति ग ।

मार्गितेनाधुना किं मे नेत्रयुग्मेन मित्रतः।
भविष्यति यदा राज्यं मार्गयिष्याम्यहं तदा ॥१२०॥
लोचनानर्पणे राज्यमस्याश्वादिविराजितम्।
कृत्वा छलमहं सद्यो ग्रहीष्यामि ततः स्फुटम् ॥१२१॥ यतः–
"खलः सत्क्रियमाणोऽपि ददाति कलहं सताम्।
दुग्धधौतोऽपि किं याति वायसः कलहंसताम् ॥१२२॥
विशिष्टकुलजातोऽपि यः खलः खल एव सः।
चन्दनादपि सम्भूतो दहत्येव हुताशनः ॥१२३॥
राईसरिसवमित्ताणि परच्छिद्दाणि पासइ।
अप्पणो बिल्लमित्ताणि पासंतो वि न पासइ ॥१२४॥

[रासभो यदि तुरंगमायते,
वायसो यदि च कोकिलायते।
हंसवद् यदि बकोऽपि जायते।
दुर्जनस्तादिह सज्जनायते ॥]

कुमारोऽथ चलन्मार्गे यद्यद् वस्तु मनोरमम्।
प्राप तत्तत्स्वमित्राय दत्त्वैव खादति स्वयम् ॥१२५॥
एवं कुर्वन् सदा प्रीतिं कुमारः सुहृदे स्वयम्।
सुन्दराह्ववने पश्यन् कौतुकानि ययौ क्रमात् ॥१२६॥
सरोवरे पयःपूर्णे नीरं पीत्वा नृपाङ्गजः।
मित्रयुक्तः समागत्य तस्थौ पालितरोरधः ॥१२७॥
कुर्वन् गोष्ठीं तदा सोमदन्तो हास्याज्जगावदः।
त्वन्नेत्रे स्तो मम द्यूतहारितत्वान्नृपाङ्गज ! ॥१२८॥
श्रुत्वैतद् विक्रमादित्यसूनुश्छूर्येक्षणद्वयम्।
कर्पयित्वाऽऽशु मित्राय दत्त्वा चेदं जगौ पुनः ॥१२९॥
[न सदश्वाः कशाघातं न सिंहा घनगर्जितम्।
परैरङ्गुलिनिर्देशं न सहन्ते मनस्विनः ॥]
उद्धारः क्रियतेऽस्माभिर्नैव कुत्र कदाचन।
दृष्ट्वाऽसमञ्जसं सोमदन्तः प्राह छलादिति ॥१३०॥

भो मित्र ! भवताऽकस्मादिदं किं विहितं स्फुटम् ।
मयेह हसितं नूनमावां स्यावोऽधुना कथम् ॥१३१॥
मुक्ताऽवन्तीपुरी दूरे व्यालव्याप्तमिदं वनम् ।
मरिष्यावोऽधुना नूनं भवतो नयने विना ॥१३२॥
इत्यादि बहुशो मायां सोमदन्तः करन् स्फुटम् ।
रोदःकुक्षिंभरिर्बाढं रोदयामास पक्षिणः ॥१३३॥
हास्यं वितन्वतेदानीं मया स्वामिन् नृपाङ्गज ! ।
दुःखाब्धौ पातितोऽपारे नेत्रकर्षणतोऽधुना ॥१३४॥
अविमृश्य त्वया स्वामिंस्तादृशं विहितं द्रुतम् ।
अविमृश्य कृतं कार्यं दुःखाय जायते नृणाम् ॥१३५॥
"सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः" ॥१३६॥
कुमारः प्राह भो मित्र ! कस्यापि नैव दूषणम् ।
ममैव कर्मणो दोषोऽस्तीति दुःखं कुरुष्व मा ॥१३७॥ यतः—
"ये वज्रमयदेहास्ते शलाकापुरुषा अपि ।
न मुच्यन्ते विना भोगं स्वनिकाचितकर्मणः ॥१३८॥
यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्त्तारमनुधावति ॥१३९॥
हसन्तो हेलया कर्म यत्कुर्वन्ति प्रमादिनः ।
जन्मान्तरशतैरेते शोचन्तेऽनुभवन्ति तत्" ॥१४०॥
मदीयपदबन्धेन हे मित्रात्रावयोः खलु ।
भविष्यति द्रुतं मृत्युस्तेन त्वं व्रज सम्प्रति ॥१४१॥
मित्रं दध्यावयं नूनमत्रस्थश्च मरिष्यति ।
अहं मुधा मरिष्ये नु कथमत्र स्थितो वने ॥१४२॥
एवं विचिन्त्य दुष्टात्मा सोमदन्तो जगावदः ।
सुहृन्मम पदौ गन्तुं वहतो न मनागपि ॥१४३॥ यतः—
"मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् क्रियायामन्यदेव हि ।
वेश्यानामिव नीचानां स्वभावो विद्यते सदा" ॥१४४॥

कुमारः प्राह सरलस्वभाव इति तं प्रति।
हे मित्र! वत्सल! स्वच्छ! किं न मे वचनं कुरु ॥१४५॥
"वचने मानसे काये क्रियायामपि सन्ततम्।
स्वभावो विद्यते तुल्य उत्तमानां तनूसताम् ॥१४६॥
अहितं मानवे नित्यं कुर्वाणेऽपि निरन्तरम्।
हितमेव वितन्वन्ति स्वदेहेनोत्तमा नराः ॥१४७॥
अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां च वसुधैव कुटुम्बकम् ॥१४८॥
उपकर्तुं प्रियं वक्तुं कर्तुं स्नेहमकृत्रिमम्।
सुजनानां स्वभावोऽयं केनेन्दुः शिशिरीकृतः ॥१४९॥"
कृत्रिमस्नेहवान् सोमदन्तो भूपाङ्गजक्रमौ।
प्रणम्य स्वेच्छयाऽचालीत् ततः स्थानाद् दुराशयः ॥१५०॥ यतः
वृक्षं क्षीणफलं त्यजन्ति विहगाः, शुष्कं सरः सारसाः,
पुष्पं पर्युषितं त्यजन्ति मधुपा दग्धं वनान्तं मृगाः।
निर्द्रव्यं पुरुषं त्यजन्ति गणिका भ्रष्टं नृपं सेवकाः,
सर्वः कार्यवशाज्जनो हि रमते कः कस्य को वल्लभः" ॥
तत उत्थाय भूपालपुत्रोऽन्यस्य तरोरधः।
गत्वा शनैः शनैः सायमुपविष्टः समाहितः ॥१५२॥
वृद्धस्तस्मिन् तरौ भारद्वाजः पुत्रशतान्वितः।
वसति स्म पुरा नित्यं निशीथिन्यां समाधिना ॥१५३॥
दिने दिशोदिशं सर्वे पुत्रा गच्छन्ति दूरतः।
फलं सायं समागत्यैवैकं नत्वा पितुर्ददुः ॥१५४॥
भारद्वाजो जगौ कोऽस्तीत्यतिथिरत्र साम्प्रतम्।
श्रुत्वैतद् भूपभूः प्राह तातातिथिरहं पुनः ॥१५५॥
भारद्वाजो जगौ कस्त्वमित्युक्ते प्राह भूपभूः।
दीनो दुःस्थः कृपापात्रमत्रानीतोऽस्मि कर्मणा ॥१५६॥
भारद्वाजो जगौ पुत्रातिथिमत्र समानय।
तेनोत्थाय पितुः पार्श्वे समानीतोऽतिथिर्द्रुतम् ॥१५७॥

---

१ हताशय. ब।

भारद्वाजो ददौ तस्मै फलानि तावदादरात् ।
यावदाकण्ठमापूर्णहृदयो भूपभूरभूत् ॥१५८॥
उत्तार्याधः कुमारोऽथ मोचितः पक्षिणा तरोः ।
एवं कुर्वन् फलाहारं नित्यं तस्थौ समाधिना ॥१५९॥
भारद्वाजोऽन्यदा पुत्रमुत्सूरे च समागतम् ।
अप्राक्षीत् किं भवानागाद् वेलातिक्रमणान्निशि ॥१६०॥
भारद्वाजसुतः प्राह कनकाह्वपुरेऽनघे ।
ताताहमागमं कुर्वन् स्वयं क्रीडां वने वने ॥१६१॥
तस्मिन् कनकसेनोर्वीपतेर्भार्याऽभवद् रतिः ।
कनकश्रीस्तयोः पुत्री बभूवान्धा स्वकर्मतः ॥१६२॥
क्रमाद्यौवनमापन्ना यावता काष्ठभक्षणम् ।
गच्छन्ती चाद्य भूपेन स्थापिता दश वासरान् ॥१६३॥
कन्यां द्रष्टुं पुरीलोकास्तत्रेयुर्बहवस्तदा ।
स्थितोऽहं वीक्षितुं तां च तेनोत्सूरो ममाजनि ॥१६४॥

तात[1] तस्याः कथं सज्जीकरिष्येते[2] विलोचने ।
पिता प्राह मलोत्सर्गं मासान्ते यत्करोम्यहम् ॥१६५॥
स[3] चेत्सुधालतापत्ररसमिश्रीकृतः प्रगे ।
तस्या नयनयोरेकवारं पुंसा प्रक्षिप्यते ॥१६६॥
तदा सा कन्यका तारा वीक्षते दिवसे दिवि ।
उपकारः कृतः पुंभिर्यतो भवति सौख्यदः ॥१६७॥
श्रुत्वैतन्निशि भूपालपुत्रः प्रातः प्रमोदितः ।
मलोत्सर्गरसेनाशु सज्जीचक्रे स्वलोचने ॥१६८॥ यतः—
अमन्त्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलमनौषधम् ।
अनाथा[4] पृथ्वी नास्ति आम्नायाः खलु दुर्लभाः ॥१६९॥
मन्त्रतन्त्रौषधीरत्नमुख्यपदार्थसन्ततेः ।
अचिन्त्यो विद्यतेऽत्यन्तं प्रभाव उत्तमो भुवि ॥१७०॥
ताराः पश्यन् दिने भूपपुत्रः प्रक्षालिताम्बरः ।
भारद्वाजमलोत्सर्गगुटिका बहुशो ललौ ॥१७१॥

१ ततस्त–ग । २ करिष्यतो ग । ३ अञ्ज्येते नयने तस्यास्तद्रसेन स्फुटं यदि ग । ४ अधना ख ।

कुमारं तादृशं वीक्ष्य भारद्वाजो जगावदः ।
नवीनो विद्यते वेपः कुतोऽद्य भवतो वद ॥१७२॥
कुमारः प्राह भवतः प्रसत्तिः फलिताऽद्य मे ।
सुख्यभूवमहं बाढं तत्तत्फलप्रदानतः ॥१७३॥
यद्यादेशो भवेत्तात ! त्वदीयो मम सम्प्रति।
तदा तत्र पुरे गत्वा कन्यां सज्जीकरोम्यहम् ॥१७४॥
भारुण्डः प्राह यद्येवं तर्हि त्वं तिष्ठ साम्प्रतम् ।
ममापत्यानि सर्वत्र गच्छन्ति च सदा प्रगे ॥१७५॥
कथयिष्याम्यहं सूनोरेकस्य पुरतो निशि ।
कनकाह्वपुरे मध्येपक्षं कृत्वा नरं नय ॥१७६॥
आत्मस्थाने स्थितो भूरिदिनान्येप नरः सुखम् ।
परोपकारकुशलो विद्यते जगदुत्तमः ॥१७७॥ यतः—
शास्त्रं बोधाय दानाय धनं धर्माय जीवितम् ।
वपुः परोपकाराय धारयन्ति मनीषिणः ॥१७८॥

वरं करीरो मरुमार्गवर्त्ती, यः पान्थसार्थं कुरुते कृतार्थम् ।
कल्पद्रुमैः किं कनकाचलस्थैः परोपकारप्रतिलम्भदुःस्थैः ॥१७९॥
विरला जाणन्ति गुणा विरला पिच्छंति अत्तणो दोसे ।
विरला परकज्जकरा परदुक्खे दुक्खिया विरला ॥१८०॥
यात्रार्थं भोजनं येषां दानार्थं च धनार्जनम् ।
धर्मार्थं जीवितं येषां ते नराः स्वर्गगामिनः ॥१८१॥
शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे ।
साधवो न हि सर्वत्र चन्दनं न वने वने ॥१८२॥"
मध्येपक्षं विधायाशु तं यावत्तनयोऽचलत् ।
भारद्वाजो जगौ तावदेवं भूपाङ्गजं प्रति ॥१८३॥
वत्स ! त्वं स्वच्छचित्तोऽत्र स्थितोऽसि वल्लभो मम ।
तेन त्वया सदा चित्ते स्मर्त्तव्योऽहं निजात्मवत् ॥१८४॥ यतः
"सव्वो[1] जणो पच्चक्खदंसणे कुणइ निब्भरं नेहं ।
सो सुअणो जो दूरट्ठिआण पालेइ पडिवन्नं ॥१८५॥ इत्यादि"

१ पुत्रो यावताऽ—ग । २ सर्वो जन प्रत्यक्षदर्शने करोति निर्भर स्नेहम् । स सुजनो यो दूरस्थिताना पालयति प्रतिपन्नम् ॥

कुमारोऽवक् त्वया तात ! सत्कृत्योऽहमनारतम् ।
ततो भारुण्डपुत्रेण स नीतः कनके पुरे ॥१८६॥
मुत्कलाप्य कुमारं स पक्षी चुण्यर्थमीयिवान् ।
ततः सद्भूषणो भूपसूनुः श्रीदापणे ययौ ॥१८७॥
कृष्णास्यं श्रेष्ठिनं वीक्ष्य पप्रच्छेति नृपाङ्गजः ।
किमर्थं भवतः श्रेष्ठिन् ! विद्यते श्यामलं मुखम् ॥१८८॥
श्रीदोऽवक् शक्यते नैव वक्तुं सम्प्रति सत्तम ! ।
ममास्ति मदनः पुत्र एको दीव्यत्तनुच्छविः ॥१८९॥
रोगग्रस्तः कुरूपोऽभूदधुना दैवतः सुतः ।
उपचाराः कृताः पूर्वं भूरिशः सोऽपि तादृशः ॥१९०॥
कुमारोऽवग् मनाग् दुःखं कार्यं श्रेष्ठिंस्त्वया नहि ।
दिव्याङ्गं ते करिष्यामि सूनुमौषधयोगतः ॥१९१॥
ततो भूपसुतो गत्वा श्रीदश्रेष्ठिनिकेतने ।
सज्जीचकार तत्पुत्रं नानाडम्बरपूर्वकम् ॥१९२॥

ततः श्रीदो व्यधात् तस्य गौरवं भोजनादिभिः ।
श्रीविक्रमचरित्रोऽपि तस्थौ तत्र समाधिना ॥१९३॥यतः—
"विदेशान्तरितस्यापि भाग्यं जागर्त्ति तद्वतः ।
अभ्रे तिरोहितस्यापि भानोर्भासस्तमोपहाः ॥१९४॥
इतः पितरमापृच्छ्य कनकश्री नृपाङ्गजा ।
अश्वारूढाऽचलत्काष्ठभक्षणार्थं नृपाध्वनि ॥१९५॥
तावत्तूर्यरवं श्रुत्वा भूरिशो भामिनीजनाः ।
मुक्त्वा निजं निजं कार्यं कन्यां द्रष्टुं समाययुः ॥१९६॥ यतः
"तिअहं तिण्णि पीआरडां कलि कज्जल सिंदूर ।
तिअहं तिण्णि अइवल्लहां दूध जमाइ तूर" ॥१९७॥
श्रुत्वा तूर्यरवं प्राह श्रेष्ठिनं प्रति वैक्रमः ।
किमर्थं बहवो लोका मिलितास्सन्ति सम्प्रति ॥१९८॥
आदितो भूमिभुक्पुत्रीवृत्तं श्रेष्ठी ह्यचीकथत् ।
ततश्च वैक्रमः शीर्षमधूनयत् पुनः पुनः ॥१९९॥

श्रेष्ठी प्राह शीरःकम्पकारणं कथ्यतां मम ।
कुमारोऽवग् मुधा कन्या सम्प्रत्यत्र मरिष्यति ॥२००॥
श्रेष्ठयवग् विद्यते कोप्युपायोऽत्र सत्तमाधुना ।
येनैव कन्यका दिव्यनेत्रा सद्यो भविष्यति ॥२०१॥

ओमित्युक्ते कुमारेणोत्थाय श्रीदस्ततः क्षणात् ।
गत्वा भूपान्तिके प्राह पुत्री सम्प्रति वाल्यताम् ॥२०२॥
एको वैदेशिकश्चारुवृत्तो मद्गृहमाययौ ।
स एव कन्यकां दिव्यचक्षुषीं च करिष्यति ॥२०३॥
श्रुत्वैतद् भूपतिः सद्यः प्राहेति पुत्रिकां प्रति ।
एको वैदेशिको दिव्यनेत्रां त्वां च करिष्यति ॥२०४॥

तेन पश्चात्समागच्छेत्युक्त्वा भूपः पुनः पुनः ।
कष्टेनैव निजावासमानयामास पुत्रिकाम् ॥२०५॥
राजा प्रोवाच भोः श्रेष्ठिन् ! सज्जां कारय पुत्रिकाम् ।
श्रेष्ठयवग् तस्य वैद्यस्य स्वामिन् किं दास्यते त्वया ॥२०६॥

राजाऽवक् तस्य वैद्यस्य दास्ये राज्यार्द्धमञ्जसा ।
ततो वैक्रमदोषज्ञो भूपपार्श्वे समाययौ ॥२०७॥
तमौषधं च दोषज्ञः क्षिप्त्वा तस्या विलोचने ।
पश्यन्तीं कन्यकां चक्रे नानाडम्बरपूर्वकम् ॥२०८॥

ततो भूपो व्यधात्पुर्यामुत्सवं नर्त्तनादिभिः ।
वैद्यं दिव्यतनुं दृष्ट्वा भूपपुत्री जगाविति ॥२०९॥
अस्मिन्भवेऽस्य वैद्यस्य करिष्यामि करग्रहम् ।
नो चेद् वह्नौ प्रविक्ष्यामीत्युक्ते प्रोवाच भूपतिः ॥२१०॥
हे पुत्रि ! कुलगोत्रादिसम्बन्धो ज्ञायतेऽस्य न ।
तेनास्मै त्वं कथं दास्ये इत्युक्ते कन्यका जगौ ॥२११॥

विचारो नैव कर्त्तव्यस्तातात्र साम्प्रतं त्वया ।
भवेऽस्मिन्नस्य वैद्यस्य करिष्ये पाणिपीडनम् ॥२१२॥
नो चेदग्नौ प्रविक्ष्यामीत्युक्ते प्राहावनीपतिः ।
भो अमात्या इयं कन्या मदुक्तं नैव मन्यते ॥२१३॥

तेन मन्त्रेन्त्रतोऽन्यत्रागमभूमिधरादिषु ।
गत्वा यूयं च वैद्यस्य दत्त पुत्रीं दुराशयाम् ॥२१४॥
ये च सन्ति द्विषो दुःखसाध्याः सम्प्रति भूमिपाः ।
तेषां देशो मदादेशाद् दत्त यूयं वराय च ॥२१५॥
भूपादेशात्तदा सद्यो गत्वोद्याने च कन्यकाम् ।
भूपोक्तं च ददुर्देशं तस्मै वैद्याय मन्त्रिणः ॥२१६॥
भूपभूदत्तद्रव्येण कारयित्वा महद् गृहम् ।
चित्रशालादिरोचिष्णु तत्रास्थात्स प्रियासखः ॥२१७॥
ततोऽमात्यैर्नृपालाय तत्सर्वं कथितं द्रुतम् ।
राजाऽवक् पुत्रिका दुःखभागिनी भविता भृशम् ॥२१८॥
उपकारो मया पुत्र्याः कृतः सञ्जीविधानतः ।
असौ मम कृतं नैव मन्यते वैरिणी सुता ॥२१९॥ यतः—
"माता पिता सुतः पुत्री सुहृत् सज्जनसेवकौ ।
आत्मार्थं सततं कर्त्तुं मिलन्त्येकत्र हर्षिताः ॥२२०॥

इतो वैद्येन लेखेन ज्ञापितं द्वेपिनामिदम् ।
आगत्यात्र मदीयाज्ञामङ्गीकुर्वन्तु तत्क्षणात् ॥२२१॥
मया भूमिपतेः पुत्री परिणीता सदुत्सवम् ।
भूपेन विपया दत्ता एते च भवतां पुरा ॥२२२॥
अभूवं भवतां स्वामी वैद्योऽहं दैवयोगतः ।
तेन मम समागत्य सपर्यां कुरुतादरात् ॥२२३॥
नो चेदहं करिष्यामि भवतां निग्रहं द्रुतम् ।
श्रुत्वैतन्निखिलैर्द्विड्भिरेकीभूयेति चिन्तितम् ॥२२४॥
यैरुत्तमकुलोत्पन्नभूपतेर्बलशालिनः ।
न मनाग् विहिता सेवा पूर्वं कुत्रापि कस्यचित् ॥२२५॥
तैरस्माभिरसौ वैद्योऽधमजातिसमुद्भवः ।
अज्ञातकुलवंशश्च कथं सेविष्यतेऽधुना ॥२२६॥ यतः—
"अन्यस्मादपि लब्धोष्मा नीचः प्रायेण दुस्सहो भवति ।
[1]न तपति रविरिह तादृग् यादृगयं वालुकानिकरः ॥२२७॥

१ तादृग् न दहति रविरिह दहति यथा वालुकानिकर. घ ।

नीच उच्चैः पदं प्राप्य न माति मानसे मनाग् ।
वर्षास्विव प्रवाहो हि नद्या लब्ध्वा जलं तटे ॥२२८॥
[गुणैरुत्तमतां याति नोच्चैरासनसंस्थितः ।
प्रासादशिखरस्थोऽपि काकः किं गरुडायते ॥]
विमृश्येत्यरिभिस्तस्मै ज्ञापितं निजसेवकात् ।
करिष्यामो वयं नैव निदेशं भवतो मनाग् ॥२२९॥
काऽपि शक्तिर्भवेच्चेत्ते तदाऽऽगच्छात्र सम्मुखम् ।
नो चेत्त्वं मौनमाधाय तिष्ठ तत्रैव वैद्यराट् ॥२३०॥
एतद्राज्याधेदानेन वाहितस्त्वं महीभुजा ।
देवानामपि दुर्ग्राह्या वयं दुर्गादिना खलु ॥२३१॥
श्रुत्वैतद् वैद्यराट् सद्योऽदृशी(श्यी)करणविद्यया ।
आदौ मुख्यद्विपद्गेहे जगामातुलविक्रमः ॥२३२॥ यतः—
"एकोऽहमसहायोऽहं कृशोऽहमपरिच्छदः ।
स्वप्नेऽप्येवंविधा चिन्ता मृगेन्द्रस्य न जायते ॥२३३॥
सीह सउण न चंदबल नवि जोइ धणरिद्धि ।
एकल्लउ लक्खिहिं भिडइ जिहां साहस तिहां सिद्धि" ॥२३४॥
सुप्तस्य वैरिणः कण्ठं गृहीत्वा वैद्यराड् जगौ ।
भो भो द्विपन् ! मदीयाज्ञामङ्गीकुरुष्व साम्प्रतम् ॥२३५॥
नो चेदसौ मदीयोऽसिस्त्वदीयं कण्ठकन्दलम् ।
छेत्स्यति तत्क्षणात् तीक्ष्णधारः कमलनालवत् ॥२३६॥
यः कश्चित् तव देवोऽस्ति स्मर्यतां स त्वयाऽधुना ।
अहं वैद्योऽस्मि निःशेषवैरिरोगोपशान्तये ॥२३७॥
श्रुत्वैतत्कम्पमानाङ्गः स वैरीति जगौ तदा ।
भो ! भोः ! सात्त्विक ! मां मुञ्च सेविष्येऽहं तव क्रमौ ॥२३८॥
वैद्यः प्राहाद्य मुक्तोऽसि जीवंस्त्वं कृपया मया ।
वशीकरोम्यहं सर्वान् देवदानवमानवान् ॥२३९॥
कनकाह्वपुरोद्याने कल्ये यदि प्रगे द्रुतम् ।
समेष्यसि न सेवायै मम त्वं च सुभक्तितः ॥२४०॥

तदाऽसौ करवालो मे त्वदीयं कण्ठकन्दलम् ।
छेत्स्यति तत्क्षणात्तीक्ष्णधारः कमलनालवत् ॥२४१॥
मुख्यो वैरी तदा तस्य वैद्यस्य शासनं द्रुतम् ।
प्रतिपद्य जगौ स्वामिंस्तवातः सेवकोऽभवम् ॥२४२॥
एवं सर्वद्विपां सौवं दर्शयित्वा पराक्रमम् ।
कृतकृत्यस्ततो वैद्यो वाह्योद्यानमगान्निशि ॥२४३॥
आकार्य सेवकान् वैद्यकुमारः प्रोक्तवानिति ।
चारुचित्रैः सभां सर्वां यूयं कुरुत मञ्जुलाम् ॥२४४॥
कल्ये सर्वे द्विपः प्रातः कार्यं मुक्त्वा निजं निजम् ।
सेवां कर्तुं समेष्यन्ति मदीयामादराद् द्रुतम् ॥२४५॥
तेषां प्रत्यर्प्पणायाशु ताम्बूलं वसनादिकम् ।
वैद्यराडानयामास प्रेष्य पुर्यां स्वसेवकान् ॥२४६॥
अद्यायास्यति विद्वेषिवर्गोऽत्र मां निषेवितुम् ।
ध्यात्वेति चित्रशालायामुपाविशत्स वैद्यराट् ॥२४७॥

वैद्यराट्चेष्टितं मत्वा भूपभृत्या नृपान्तिके ।
यावज्जगुः प्रगे तावत् भूपोऽवग् मन्त्रिणां पुरः ॥२४८॥
अहो अस्यापि वैद्यस्य न भृत्या न तुरङ्गमाः ।
नेभाः सन्तीति यद्वक्ति तन्मूर्खस्य हि लक्षणम् ॥२४९॥यतः–
"मूलग कुदंडगा दामगाणि उच्छूल घंटिआओ अ ।
पिंडेइ अपरितंतो चउप्पया नत्थि अ पसू वि" ॥२५०॥
ज्ञापिता भूभुजा पुत्रीत्येवं किं तेऽधुना पतिः ।
बभूव ग्रथिलः किंवा वाते सुष्वाप किं वने ॥२५१॥
ज्ञापितं सुतया भर्त्ता विद्यते मे विचक्षणः ।
श्रुत्वैतद् भूपतिर्यावन्निःससार पुराद् बहिः ॥२५२॥
इतो दृष्ट्वा द्विपस्तावत् सर्वे स्वस्वबलान्विताः ।
गृहीतोपायना वैद्यं नन्तुमुद्यानमाययुः ॥२५३॥
रत्नस्वर्णतुरङ्गादि ढौकनीकृत्य तत्क्षणात् ।
सर्वे ते विद्विषो वैद्यनाथं नेमुः सुभक्तितः ॥२५४॥

१ सभासीनं प्रगे वैद्यंभृत्यादाकर्ण्य भूपतिः । वैरिणामागमं ज्ञात्वा मन्त्रिणां पुरतो जगौ गपुस्तके । २ मूर्खत्वं यूयं पश्यत पश्यत ग ।

कृत्वा केऽप्यञ्जलिं वैद्यनाथस्य पुरतः स्थिताः ।
चिक्षिपुः केऽपि वातं च व्यजनेन प्रमोदिताः ॥२५५॥
केऽपि विश्रामणां चक्रुः पादयोर्वैद्यभूपतेः ।
केऽपि जयजयेत्यादिशब्दं भट्टा व्यधुस्तदा ॥२५६॥
दृष्ट्वैतद् भूपतिर्हृष्टो दध्यावेवं पुनः पुनः ।
जामाताऽयं महान् जातो ममाद्य सत्पराक्रमः ॥२५७॥
पुनर्भूपः क्षणाद् दध्यौ नायं चास्य पराक्रमः ।
किं त्वेतन्मत्सुताचारुप्रभावस्य विजृम्भितम् ॥२५८॥
स्वभावेन पदं प्रौढं प्राप्य नीचा नराः सदा ।
आडम्बरं वितन्वन्ति गर्वपर्वतमाश्रिताः ॥२५९॥
मम पुत्र्याः प्रसादेन महत्त्वं गमितो जनैः ।
अयं वैद्यो न देहेऽपि माति गेहेऽपि हर्षितः ॥२६०॥
यद्यपि विद्विषोऽशेषा नमन्त्यस्य पदाम्बुजम् ।
तथापि वैद्यनाथस्य नीचत्वं याति नो कदा ॥२६१॥ यतः—

न टिट्टिभो गच्छति हंसलीलया,
न वायसः कूजति कोकिलारवम् ।
यवाः प्रकीर्णा न भवन्ति शालय-
स्तथापि नीचः प्रकृतिं न मुञ्चति ॥२६२॥

वैद्येन विद्विषः सर्वे वस्त्राभरणदानतः ।
सन्मानीता मिथः प्रोचुरयं स्वामी वरोऽस्ति नः ॥२६३॥
एवमाराध्य तं वैद्यमुपदादानतस्तदा ।
धृताज्ञा विद्विषस्तस्य स्वं स्वं स्थानं ययुः पुनः ॥२६४॥
पराक्रमं तदा तस्य वैद्यस्य मेदिनीपतिः ।
विज्ञाय[2] संशये चारुवंशजे पतितस्तदा ॥२६५॥ यतः—
आचारः कुलमाख्याति वपुराख्याति भोजनम् ।
संभ्रमः स्नेहमाख्याति देशमाख्याति भाषितम् ॥२६६॥
वार्द्धेस्तटेऽन्यदा वैद्यभूपः क्रीडन्नरं[3] किल ।
ददर्श पतितं काष्ठविलग्नं व्याकुलाशयम्[4] ॥२६७॥

१ हीनजात्यधमाचाराज्ञातवशादिकारणै ग । २ संशये पतितो नीचकर्मणश्च विलोकनात् ग । ३ क्रीडापरो नरम् ग । ४ चेतनाकुलम् ग ।

उत्पन्नकरुणोऽह्नाय भूपतिर्भृत्यपार्श्वतः ।
आनिनाय द्रुतं सौवं स्थानकं तं नरं तदा ॥२६८॥
उपचारैर्नृपो वैद्यस्तैलमर्दनपूर्वकम् ।
सचेतनं नरं सद्यः कारयामास सेवकैः ॥२६९॥ यतः—
"अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥२७०॥
विपदि परेषां सन्तः समधिकतरमेव दधति सौजन्यम् ।
ग्रीष्मे भवन्ति तरवो घनकोमलपल्लवच्छन्नाः ॥२७१॥
नालिकेरसमाकारा दृश्यन्ते केपि सज्जनाः ।
अन्ये तु बदराकारा बहिरेव मनोरमाः" ॥२७२॥
वैद्योऽप्राक्षीत्कुतः स्थानात्किमर्थं कुत्र जग्मिवान् ।
इत्युक्ते च नरः प्राहावन्तीनामपुरात्किल ॥२७३॥
वीरश्रेष्ठिसुतो भीमाऽभिधोऽहं पितरं निजम् ।
मानयित्वाऽब्धिमार्गेण निरसार्षं रमाकृते ॥२७४॥
भग्नयानोऽम्बुधौ लब्धफलको दैवयोगतः ।
कल्लोलनिचयैः कूलमहं प्रापं च कष्टतः ॥२७५॥ यतः—
"ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तः सदा संकटे ।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः,
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे" ॥२७६॥
वैद्यः प्राह महाभाग ! दुःखं कार्यं त्वया नहि ।
तिष्ठ त्वमत्र मत्पार्श्वे सुखं कालं नयाधुना ॥२७७॥
यियासुरविलम्बेनावन्तीपुर्यामहं द्रुतम् ।
त्वमेव च मया सार्धमागच्छेस्तत्र गच्छता ॥२७८॥ यतः—
सज्जनस्य हृदयं नवनीतं गीतमत्र कविभिर्न तथा यत् ।
अन्यदेहविलसत्परितापात् सज्जनो द्रवति नो नवनीतम्" ॥
ततो बान्धववन्नित्यं वैद्यभूपः सुभक्तितः ।
सदन्नपानवस्त्राद्यैः पोषयामास तं भृशम् ॥२८०॥ यतः—

“उपकर्तुं प्रियं वक्तुं कर्तुं स्नेहमकृत्रिमम् ।
सुजनानां स्वभावोऽयं केनेन्दुः शिशिरीकृतः” ॥२८१॥
वैद्यः पप्रच्छ भो भीमावन्त्यां कोऽस्ति नरेश्वरः ।
भीमोऽवग् विक्रमादित्यः पपाल पृथिवीं नयात् ॥२८२॥

तत्र कोऽपि समागत्य तस्करो मेदिनीपतेः ।
भूषणानि गृहीत्वाऽगात् चटितस्तस्करो न हि ॥२८३॥
अत्रान्तरे ततः पुर्या लात्वा वस्तूनि भूरिशः ।
लक्ष्म्यर्थं वाहनेनाहं चलितोऽम्भोधिवर्त्मना ॥२८४॥

वैद्यभूपो जगौ तत्र विक्रमार्कप्रजापतेः ।
सुतोऽहं निर्गतस्तस्मादवन्तीनगरात्पुरा ॥२८५॥
दैवयोगादिहेदानीमागमं भूतले भ्रमन् ।
भूपतेस्तनयामस्य पर्यणैषमहं पुनः ॥२८६॥
स्वोपार्जितश्रिया यानपात्राणि पञ्चविंशतिम् ।
भृत्वा क्रयाणकैर्नानाप्रकारैर्बहुमूल्यकैः ॥२८७॥

पुरीं चिचलिषुः सौवां प्रति वैद्यपतिः प्रियाम् ।
प्रेषयामास भूपान्ते मुत्कलापयितुं तदा ॥२८८॥[युग्मम्]
वैद्यभूपप्रिया भूपपार्श्वे गत्वा जगावदः ।
तातावन्तीपुरस्वामिविक्रमादित्यनन्दनः ॥२८९॥

चलिष्यति पतिर्मेऽद्य पित्रोश्च मिलनोत्सुकः ।
तेनाहं त्वधुना मुत्कलापयितुं समागमम् ॥२९०॥ [युग्मम्]
जामातुर्ज्ञातपित्रादिसम्बन्धो ध्यातवान्नृपः ।
चक्रे मया भृशं तस्य मुग्धबुद्ध्याऽवहेलनम् ॥२९१॥
ममाऽपि नरकं मुक्त्वा विद्यते स्थानकं न हि ।
ईदृक्सुजनधिक्कारकरणान्निश्चितं भृशम् ॥२९२॥

रिपुराज्यार्पणाच्चक्रेऽवज्ञा तस्य मया खलु ।
जामात्रा कर्हिचिन्नैव विकारो दर्शितो मनाग् ॥२९३॥ यतः–
“सत्पक्षा ऋजवः शुद्धाः सकलाः गुणसेविनः ।
तुल्यैरपि गुणैश्चित्रं सन्तः सन्तः शराः शराः ॥२९४॥

ततो जामातरं भूपः समानीय निजालये ।
प्रोवाचेह मया चक्रेऽपराधस्तव भूरिशः ॥२९५॥
क्षन्तव्यं भवता सम्यग् मेऽधमस्योपरि स्फुटम् ।
राज्यमङ्गीकुरुष्वेदं जामातः ! साम्प्रतं मम ॥२९६॥
वैद्यभूपो जगौ कार्यं न मे राज्येन तेऽधुना ।
मिलनेच्छा भृशं मातापित्रोरेव महीपते ! ॥२९७॥ यतः—
"पुनाति त्रायते चैव कुलं स्वं योऽत्र शोकतः ।
एतत्पुत्रस्य पुत्रत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥२९८॥
तीर्थेभ्यः स्नानदानाद्यैः पुण्यमेव हि लभ्यते ।
पितृभ्यस्तु निरायासं त्रिवर्गस्य तु सम्भवः ॥२९९॥
असार्थप्रार्थनं तीर्थमदेहद्रोहणं तपः ।
अनम्भःसम्भवं स्नानं मातुश्चरणचर्चनम् ॥३००॥
जीयाल्लोकोत्तरः कोऽपि जननीस्नेहपादपः ।
निर्बीजमूलवृक्षोऽपि यः सदैव फलेग्रहिः ॥३०१॥

ततो भूपतिना वैद्यभूपाय प्रददे तदा ।
मुक्ताफलमणिस्वर्णतुरङ्गमव्रजो बहुः ॥३०२॥
श्वसुरादिपदाम्भोजं नत्वा वैद्यनृपस्तदा ।
चचालाम्बुधिमार्गेण प्रियायुक्तः प्रमोदितः ॥३०३॥
कनकश्रीवपूरूपं दृष्ट्वा भीमोऽन्यदा मुदा ।
मोहितस्तां छलाद्धर्तुमभूच्चिन्तातुरो भृशम् ॥३०४॥ यतः—
विषयगणः कापुरुषं करोति वशवर्तिनं न सत्पुरुषम् ।
बध्नाति मशकमेव हि लूतातन्तुर्न मातङ्गम् ॥३०५॥
"अक्खाणसणी कम्माण मोहणी तह वयाणं बंभवयं ।
गुत्तीण य मणगुत्ती चउरो दुक्खेण जिप्पंति ॥३०६॥
अर्थातुराणां न सुहृन्न बन्धुः० [सर्ग०५. श्लो.३१२] ॥३०७॥
यानप्रान्ते स्थितोऽन्येद्युर्भीमः प्राहेति कैतवात् ।
भो वैद्यभूपते ! पश्य कौतुकं वारिधावितः ॥३०८॥
चतुर्मुखो व्रजत्येष मत्स्यः स्निग्धतनुच्छविः ।

इतश्चाष्टाननो याति मकरोऽरुणदीप्तिमान् ॥३०९॥
श्रुत्वैतदुद्यतो यावद् वैद्यभूपोऽजनि द्रुतम् ।
तावद् भीमेन दुष्टेन बलात्क्षिप्तः पयोनिधौ ॥३१०॥
मकरेणाम्बुधौ वैद्यो भूपतिर्गलितः पतन् ।
कल्लोलप्रेरितः सोऽपि वार्धिकूलमुपागमत् ॥३११॥
निश्चुकोषुर्बहिर्वार्द्धेर्मकरं मैनिकास्तदा ।
छिन्ने तस्योदरे चैको निस्ससार नरोऽनघः ॥३१२॥ यतः—
"वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये महार्णवे पर्वतमस्तके वा ।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा रक्षन्ति पुण्यानि पुरा कृतानि" ॥
दध्यौ वैद्यो विधिर्नूनं बलवान् विद्यते भृशम् ।
आदौ लात्वेक्षणी(त्वाऽक्षिणी) दत्ते भूयः सच्चूर्णयोगतः ॥
ततो राजसुता दत्ता विधिना कमला पुनः ।
पतितो वारिधौ भूयः कर्षितो वारिधेः पुनः ॥३१५॥

वैद्यः पुनर्निजं भाग्यं द्रष्टुं ग्रामादिषु व्रजन् ।
एत्यावन्तीपुरीपार्श्वे ध्यातवानिति मानसे ॥३१६॥
मिलिष्यामि कथं मातापित्रोरेवंविधोऽधुना ।
यतो न शोभते लक्ष्मीं विना कुत्र पुमान् मनाग् ॥३१७॥यतः

"यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः,
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः ।
स एव वक्ता स च माननीयः,
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति" ॥३१८॥

वाहनानि मदीयानि यावन्नैष्यन्ति तावता ।
कस्यचित्सदने स्थित्वा कालं नेष्याम्यहं किल ॥३१९॥[1]
ध्यात्वेति विक्रमादित्यसूनुश्चेतसि बुद्धिमान् ।
मालिकस्य गृहेऽभ्येत्य तस्थौ यानागमेच्छुकः ॥३२०॥[2]
इतो भीमश्छलात्प्राह हा हा किमधुनाऽजनि ।
मत्स्वामिनोऽम्बुधौ पातोऽभवन्मत्स्यविलोकनात् ॥३२१॥

१ तावदत्र स्थित कालं नेष्यामिं स्म स्वयं सुखम् ॥ ग । २ यानागमावधि घ ।

भो लोका ! धावताह्वाय प्रविशन्तु पयोनिधौ ।
कर्षयितुं द्रुतं वार्द्धेः स्वामिनं पतितं मम ॥३२२॥
अहं कथं भविष्यामि साम्प्रतं स्वामिनं विना ।
इत्यादि स भृशं रोदंरोदमन्यानरोदयत् ॥३२३॥ यतः—
"लोभमूलानि पापानि रसमूलाश्च व्याधयः ।
स्नेहमूलानि दुःखानि त्रीणि त्यक्त्वा सुखी भवेद् ॥३२४॥
लोभेन कुरुते मायां तथा जीवो विमूढधीः ।
यथा न तत्र जानीते ब्रह्माऽपि स्वधिया पुनः ॥३२५॥
"नयणिहिं रोइ मणि हसइ जण जाणइ सव्व सच्च ।
वेसा दुज्जण तं करइ जं कट्ठह करवत्तु ॥३२६॥
एगे कुणंति छिद्दं जाइविसुद्धेऽपि निम्मले रयणे ।
अन्ने महाणुभावा गुणेहिं तं चेव पूरन्ति ॥३२७॥
अनुहरतः खलसुजनावग्रिमपाश्चात्यभागयोः सूच्याः ।
एकः कुरुते छिद्रं गुणवानन्यस्तु पिदधाति" ॥३२८॥

श्रुत्वाऽब्धौ पतितं कान्तं कनकश्रीः प्रियाऽपि च ।
रोदंरोदं जनान् सर्वान् रोदयामास तत्क्षणम् ॥३२९॥
लोकाः प्रोचुः कथं भीम ! रोदिषि त्वं पुनः पुनः ।
स्वकर्मतो यतः केऽपि छुट्यन्ते न सुरा अपि ॥३३०॥ यतः—
"कृतकर्मक्षयो नास्ति कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥३३१॥
संपदि यस्य न हर्षो विपदि विषादो रणे च धीरत्वम् ।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम्" ॥३३२॥
एवं मायां क्षणं कृत्वा भीमोऽवग् मानवान् प्रति ।
चाल्यतां वाहनं सद्यो गम्यते आत्मनः पुरे ॥३३३॥
द्रव्यार्पणाज्जनान् सर्वान् सन्मान्य भीमनैगमः ।
गत्वा रहः कनकश्रीपार्श्वे प्राहेति दुष्टधीः ॥३३४॥
दुःखं मनाक् त्वया कार्यं नो हि भामिनि ! मानसे ।
अहं च पूरयिष्यामि वाञ्छितं तव संततम् ॥३३५॥

श्रुत्वैतन्मूर्छिता शीतोपचाराच्च सचेतना ।
स्वर्णश्रीः प्राह यद्येवं वक्ष्यसि त्वं मनाग् मम ॥३३६॥
तदा मया विधातव्यः प्राणत्यागोऽचिराद् ध्रुवम् ।
अस्मिन् भवे स एवास्तु पतिर्वा ज्वलनो मम ॥३३७॥
करिष्यसि बलाच्चेत्त्वं तदाऽनर्थस्तवागतः ।
नो चेत्सर्वा भविष्यन्ति यानपात्रश्रियश्च ते ॥३३८॥
भीमो दध्यौ पुरे स्वीये निरीक्ष्य मद्गृहं वरम् ।
कनकश्रीरियं सर्वं मदुक्तं मानयिष्यति ॥३३९॥
विचिन्त्येति जगौ भीमो भवत्योक्तं[1] भविष्यति ।
ततः क्रमात्तटं प्राप्य वस्तु सर्वमतीतरत् ॥३४०॥
भीमः क्रयाणकं सर्वं शकटैर्भूरिभिः क्रमात् ।
अवन्त्यां स्वगृहे सद्य आनयामास रङ्गतः ॥३४१॥
एकस्मिन् पृथगावासे वनितां[2] कनकश्रियम् ।
प्रियां कर्तुमना भीमः स्थापयामास हर्षितः ॥३४२॥

आनीतां कमलां वंहीं[3] कन्यामेकां च सूनुना ।
निरीक्ष्य मुमुदे भीमजनकोऽर्कमिवाम्बुजम् ॥३४३॥
कमलामोहितोऽत्यन्तमुपायं कन्यकां च ताम् ।
वरीतुं तनुते भीमः कृत्याकृत्यविवर्जितः ॥३४४॥ यतः—
"न पश्यति हि जात्यन्धः कामान्धो नैव पश्यति ।
न पश्यति मदोन्मत्तः स्वार्थी दोषं न पश्यति ॥३४५॥
विकलयति कलाकुशलं हसति शुचिं पण्डितं विडम्बयति ।
अधरयति धीरपुरुषं क्षणेन मकरध्वजो देवः" ॥३४६॥
इतः शुभमतीरूपवत्यौ भूमिपतेः स्नुषे ।
विज्ञाय रमणं दूरगतं दुःखेन पूरिते ॥३४७॥
याचेते मेदिनीनाथं सततं काष्ठभक्षणम् ।
राजा जगौ कियत्कालं प्रतीक्षेथां स्नुषेऽनघे ॥३४८॥
कदाचित् तस्य पुत्रस्य ममैव सुकृतोदयात् ।
आगमो वा श्रुतिः सम्यग् ज्ञायते कस्यचिन्मुखात् ॥३४९॥

---

१ भूयादेवं वचस्तव क । २ कनकश्रीमृगेक्षणाम् ग । ३ वन्दीं घ ।

एवं पुनः पुनः प्रोक्त्वा भूभुजा स्थापिते स्नुषे ।
विनयेन महीपालं याचेते काष्ठभक्षणम् ॥३५०॥
इतो भ्रान्त्वा भुवं सोमदन्तोऽभ्येत्य पुरीं निजाम् ।
श्रीविक्रमचरित्रस्य स्वरूपमुक्तवांस्तदा ॥३५१॥
पुत्रस्वरूपमाकर्ण्य विक्रमार्कोऽतिदुःखितः ।
ततो दूरागतान् लोकान् सूनोः शुद्धिं च पृच्छति ॥३५२॥
यदा महीपतिः सूनोः शुद्धिं सम्यग् न वेत्ति च ।
तदा दध्यौ ममेदानीं किमु प्राणाः सुतं विना ॥३५३॥
ततो मन्त्रीश्वरैः सार्धं विचार्यावनिनायकः ।
एकमाकार्य दैवज्ञं पप्रच्छ तनयागमम् ॥३५४॥
नैमित्तिको जगौ राजन् ! लग्नं वक्तीति साम्प्रतम् ।
अद्य कल्ये परेद्युर्वा सज्ञनेत्रः समेष्यति ॥३५५॥
आगतोऽस्त्यथवा पूर्वमस्यां पुर्यां तवाङ्गजः ।
तेन दुःखं न कर्तव्यं भवता साम्प्रतम् मनाक् ॥३५६॥

ततो हृष्टो महीपाल आकार्य सचिवान् द्रुतम् ।
वादयामास पटहं सर्वतो नगरे इति ॥३५७॥
यः कश्चिद् भूपपुत्रस्यागमनं कथयिष्यति ।
तस्य राज्यार्धमुर्वीशः प्रदास्यति ध्रुवं द्रुतम् ॥३५८॥
एवं मध्येपुरं स्थाने स्थाने भूपतिसेवकैः ।
कार्यते पटहोद्घोषोऽभितो भूपनिदेशतः ॥३५९॥
इतो विक्रममार्त्तण्डपुत्रः पप्रच्छ मालिकाम् ।
काऽस्ति वार्ता पुरीमध्ये राजा किं कुरुतेऽधुना ॥३६०॥
मालिकाऽवग् महीशेन पुत्रशुद्धिकृतेऽधुना ।
वाद्यते पटहो मध्येनगरं निजसेवकैः ॥३६१॥
वीरश्रेष्ठिसुतो भीमः परेद्युर्दूरदेशतः ।
आनैषीत् स्वर्णरत्नादिवस्तूनि भूरिशोऽत्र च ॥३६२॥
एकां दिव्यतनुं नारीमानीयात्र मनोहराम् ।
स्वगृहोपान्तसदने स्थापयामास सम्प्रति ॥३६३॥

वैद्योऽवग् मालिके ! तस्याः पार्श्वे त्वं किं गमिष्यसि ।
मालिका प्राह सर्वत्रास्मादृशां विद्यते गतिः ॥३६४॥ यतः—
"वणिजां पुरनारीणां मालिकानां मनस्विनाम् ।
चराणां तस्कराणां च सर्वत्र विद्यते गतिः ॥३६५॥
तैतः श्लोकान् वरान् पुष्पचरणके रहो नरः ।
लिखित्वा प्रददौ तस्यै मालिकायै मुदा तदा ॥३६६॥
स च प्राह स्त्रियास्तस्या देहि भो मालिके ! रहः ।
सा च यद्वक्ति तच्छ्रुत्वा समागम्यमिह त्वया ॥३६७॥
ततः सा मालिका तत्र गत्वा पुष्पचरणकम् ।
यैावत्तस्यै ददौ तावत् श्लोकान् वाचयतीति सा ॥३६८॥
चूर्णेन यो व्यधाद् वैद्यः पश्यन्तीं कनकश्रियम् ।
हेलया विद्विपोऽशेषान् वश्यकार्षीच्च यः पुनः ॥३६९॥

य आत्मीयं जगौ वृत्तं न पूव भूपतेः पुरः ।
प्रयाणावसरे पत्नीपार्श्वात्सम्यगचीकथत् ॥३७०॥
दिव्यस्वर्णमणिरौप्यवसुभिः श्राग् भृतानि च ।
पूरयामास चाम्भोधौ यानानि पञ्चविंशतिम् ॥३७१॥
चलत्सु यानपात्रेषु यः पपात पयोनिधौ ।
स त्वदीयपतिर्दैवयोगादब्धेश्च निर्गतः ॥३७२॥
अस्यां पुरि गृहे धीरमालिकस्यास्ति सम्प्रति ।
स्थितः सन्नयते कालं सुखेनैव पतिस्तव ॥३७३॥
स्पृष्ट्वा पटहमह्वाय मामत्रस्थं प्रियेऽधुना ।
निवेदय महीशस्य पुरः पद्यन्तरस्थिता ॥३७४॥
[षड्भिः कुलकम्]

---

१ ततः पुमान् जगौ श्लोकान्येतानि मालिके ! पुन । दत्त्वा तस्या' स्त्रिय पश्चादागच्छ त्वरया रहः ॥ ग ।

२ चतु श्लोकैश्च ग्रथितं रहस्तस्यै ददौ तदा ॥ सन्मान्य मालिका पश्चात् मंप्रेक्ष्य कनकश्रीया । पौष्पं चरणक वर्यं वीक्ष्य प्रमुदितं तया ॥ लिखितान्यक्षराण्येक्ष्य चम्रत्पुष्पचरणके । श्लोकानि वाचयामास स कनकश्री रहस्तदा ॥ तथाहि—इति गपुस्तकेऽधिक पाठः ॥

श्लोकज्ञातनिजस्वामिस्वरूपा कनकेन्दिरा ।
सन्मान्य मालिकां पश्चात्प्रेषयामास तत्क्षणात् ॥३७५॥
मालिकौकःस्थितं कान्तं विज्ञाय कनकेन्दिरा ।
पस्पर्श पटहं वाद्यमानं भूपतिसेवकैः ॥३७६॥

पटहस्पर्शमाकर्ण्य गत्वा भीमगृहे नृपः ।
पश्यन्तरस्थितां कन्यां पप्रच्छ कनकश्रियम् ॥३७७॥
कुत्र स्थाने सुतो मे स वत्से ! तिष्ठति सम्प्रति ।
स्वरूपं मूलतः पत्युः प्रवृत्ता कथितुं च सा ॥३७८॥
अवन्तीनिर्गमप्राप्तिपर्यन्तं स्वपतेस्तदा ।
वृत्तान्तं कथयामास कनकश्रीर्नृपाग्रतः ॥३७९॥

स्वरूपं स्वीयपुत्रस्य कनकश्रीमुखात् तदा ।
पश्यन्तरस्थितः श्रुत्वा दध्याविति महीपतिः ॥३८०॥
किमसौ विद्यते विद्याधरी देवाङ्गनाऽथवा ।
साक्षाज्ज्ञानवती किंवा भारती वा समागता ॥३८१॥

ममोपरि कृपां कृत्वा काऽपि ज्ञानवती वशा ।
आगता कथितुं सूनोः स्वरूपं सुखहेतुकम् ॥३८२॥
विक्रमादित्यभूपालो ज्ञातपुत्रस्थितिस्तदा ।
उत्थाय मालिकावासद्वारदेशमगात्तदा ॥३८३॥

श्रीविक्रमचरित्रोऽथ दृष्ट्वा तातं समागतम् ।
आगत्य सम्मुखं भक्त्याऽनमत् पादाम्बुजं पितुः ॥३८४॥ यतः—
"ते पुत्रा ये पितुर्भक्ताः स पिता यस्तु पोषकः ।
तन्मित्रं यत्र विश्वासः सा भार्या यत्र निर्वृतिः ॥३८५॥
उपाध्यायाद् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितुर्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥३८६॥

आस्तन्यपानाज्जननी पशूनामादारलम्भावधि चाधमानाम् ।
आगेहकर्मावधि मध्यमानामाजीवितात्तीर्थमिवोत्तमानाम्" ॥
ततः श्रीविक्रमादित्यभूपतिश्चक्रदुत्सवम् ।
अनैषीद् नन्दनं सौवमन्दिरं मुदिताशयः ॥३८८॥

आदौ मातृपदाम्भोजं ननामानघमानसः ।
हर्षश्च श्रीमतीरूपवत्योः कान्तेक्षणादभूत् ॥३८९॥ यतः–
"रविं रथाङ्गाः शशिनं चकोरा मेघं मयूरा विजयं च शूराः ।
सती पतिं वारिधिरिन्दुमम्बा पुत्रं निरीक्ष्येह मुदं वितेनुः" ॥
भूपः प्राहाङ्गजेदानीं राज्यार्धं दास्यते कथम् ।
तस्याः स्त्रियो यया प्रोक्ता स्थितिस्ते मत्पुरः स्फुटम् ॥३९१॥
पुत्रो जगौ ततः सर्वं स्वरूपमात्मनः पितुः ।
सुतवाक्यं निशम्यैतद् भूपः प्राहाङ्गजं प्रति ॥३९२॥
मारयित्वा द्रुतं भीमं सर्वामस्य श्रियं पुनः ।
ग्रहीष्यामि यतो दुष्टः पापिष्ठोऽयं च निर्दयः ॥३९३॥ यतः–
"शठदमनमशठपालनमाश्रितभरणं च राजचिह्नानि ।
अभिषेक पट्टबन्धो वालव्यजनं व्रणस्यापि ॥३९४॥
भीमस्य सदने मुद्रां दापयित्वा महीपतिः ।
वद्ध्वा च रज्जुभिस्तं प्राक् कशाघातैरताडयत् ॥३९५॥ यतः–
"दौर्भाग्यं प्रेष्यतां दास्यमङ्गच्छेदं दरिद्रताम् ।
अदत्तात्तफलं ज्ञात्वा स्थूलस्तेयं विवर्जयेत् ॥३९६॥
चौर्यपापद्रुमस्येह वधबन्धादिकं फलम् ।
जायते परलोके तु फलं नरकवेदना ॥३९७॥
ये द्रोहं कुर्वतेऽन्येषां विश्वास्यैव तनूमताम् ।
लभन्ते ते महादुःखमिहामुत्र निरन्तरम् ॥३९८॥
प्राणसंदेहजननं परमं वैरकारणम् ।
लोकद्वयविरुद्धं च परस्त्रीगमनं त्यजेत् ॥३९९॥
सर्वस्वहरणं वन्धं शरीरावयवच्छिदाम् ।
मृतश्च नरकं घोरं, लभते पारदारिकः ॥४००॥
श्रीविक्रमचरित्रोऽवक् तातामुं मुञ्च मा तुद ।
अनेन श्रीश्रिये अत्र समानीते सुखं मम ॥४०१॥
उक्त्वेति विक्रमादित्यसुतो भीमं च बन्धनात् ।
छोटयामास सन्मानं कारयामास भूभुजा ॥४०२॥

---

१ श्रुत्वा भूमिपती रक्तेक्षण प्राह सुतं प्रति ग।

आनिनाय स्नुषां सर्वाहनानां क्रयाणकम् ।
निजावासं महीपालश्चारूत्सवपुरस्सरम् ॥४०३॥
सूनोर्ऋद्धिं चरित्रं वा पूर्वं वीक्ष्य महीपतिः ।
पुरीमध्येऽभितो गीतनृत्योत्सवमचीकरत् ॥४०४॥
श्रीविक्रमचरित्रोऽथ पत्नीत्रययुतस्तदा ।
ज्ञानदर्शनचारित्रश्रीयुग् साधुरिवाशुभत् ॥४०५॥
सोमदन्तं तदा तत्राकार्य श्रीविक्रमाङ्गजः ।
पितुः पार्श्वात् श्रियं बह्वीं दापयामास रङ्गतः ॥४०६॥
न मनाग् सोमदन्ते तु श्रीविक्रमार्कनन्दनः ।
द्वेषं चक्रे यतः सन्ति उत्तमाः परवत्सलाः ॥४०७॥ यतः—
["उत्तम अतिहिं पराभविउ न धरइ हिअडइ डंस ।
छेदिउ भेदिउ वींधीउ मधुरउ वाजइ वंस]

ततो विक्रममार्त्तण्डो गुणवत्पुत्रसंयुतः ।
पृथिवीं पालयामास न्यायमार्गेण नित्यशः ॥४०८॥
तलिकातोरणप्रौढगीतनृत्यार्चनादिभिः ।
प्रभावनां महीपालः कारयामास रङ्गतः ॥४०९॥

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी–
दैवं च दैवमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैव निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः ॥४१०॥

श्रीविक्रमचरित्रोऽथ पूर्ववत्सुहृदं पुनः ।
सोमदन्तं तदा सद्यो मानयामास रङ्गतः ॥४११॥
स्वोपार्जितश्रियं पुण्यस्थानकेषु निरन्तरम् ।
श्रीविक्रमादित्यभूपालः सफलीकुरुते स्म सः ॥४१२॥

इति श्रीतपागच्छनायकश्रीसोमसुन्दरसूरिपट्टालंकरण–परमगुरुश्रीमुनिसुन्दरसूरि–शिष्यपण्डितश्रीशुभशीलगणिविरचिते

श्रीविक्रमादित्यचरित्रे श्रीविक्रमचरित्रकनकश्रीपाणिग्रहणस्वरूपवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः समाप्तः ॥

सप्तमः सर्गः ।

अथावधूतवेषेण भ्रमन् देशेषु भूरिषु ।
द्वादशवर्षपर्यन्ते सिद्धसेनदिवाकरः ॥१॥
मिथ्यात्वग्रसितं भूपं विक्रमार्कं कुयोगतः ।
आकर्ण्य तत्प्रबोधाय ययौ मालवनिवृति ॥२॥ [युग्मम्]
अवधूतस्य वेषेण सिद्धसेनो गुरूत्तमः ।
उज्जयिन्यां समायातः प्रबोधाय महीपतेः ॥३॥
गत्वेश्वरगृहे लिङ्गाभिमुखौ चरणौ निजौ ।
कृत्वा सूरीश्वरः सुप्तः[1] प्रबोधाय नरेशितुः ॥४॥
दृष्ट्वा तथास्थितं तं च प्राहेति देवपूजकः ।
उत्तिष्ठ भो पुमन् ! नैवं सुप्यते देवसम्मुखम् ॥५॥
एवं पुनः पुनः प्रोक्ते यावन्नोत्तिष्ठति स्म सः ।
तावद् भूमिपतेः पार्श्वे गत्वा देवार्चको जगौ ॥६॥

स्वामिन्नद्य पुमानेकोऽवधूतवेषधारकः ।
लिङ्गस्याभिमुखं पादौ कृत्वा सुप्तोऽस्ति निर्घृणः ॥७॥
राजाऽवग् वचनेनैवं समुत्तिष्ठति नो यदि ।
कम्बाभिश्च तदाहत्य कर्त्तव्यो दूरतस्त्वया ॥८॥
अवधूतं यथा हन्ति कम्बाभिर्भूपसेवकः ।
अन्तःपुरं तदा वाढं कम्बाभिस्ताड्यतेऽभितः ॥९॥
शुद्धान्तस्य तदा पीडां ज्ञात्वा भूमिपतिर्भृशम् ।
महं(हा)कालालयेऽभ्येत्यावधूतं तं जगाविति ॥१०॥
अवधूत ! स्तुहि त्वं च महेशं शिवशर्मदम् ।
देवो हि स्तूयते स्तोत्रैरवज्ञा क्रियते न हि ॥११॥
सूरिणोक्तं महीपाल ! महादेवः स्तुतिं मम ।
सहते न मनाग् भूपः प्राह देवः सहिष्यति ॥१२॥

---

[1] स्वीयविद्यावलोद्धत॰ ।

सूरिः प्राह मम स्तुत्या विभ्रमस्य सुधाभुजः ।
भविष्यति तदा दोषो देयो न भवता मनाग् ॥१३॥
स्तुहीति भूभुजा प्रोक्ते सूरिणोत्थाय तत्क्षणात् ।
स्तुतो जिनो वीरो द्वात्रिंशता द्वात्रिंशिकादिभिः ॥१४॥
प्रादुर्भवति नो देवो महावीरो जिनेश्वरः ।
तेन श्रीपार्श्वनाथस्य समारब्धा स्तुतिस्तदा ॥१५॥
कल्याणमन्दिरस्तोत्रे 'क्रोधस्त्वये'ति गर्भितम् ।
काव्यं यावद् व्यधात् सूरिस्तावल्लिङ्गभिदाऽभवत् ॥१६॥
केचिदाचार्या वदन्ति ।
स्वयंभुवं भूतसहस्रनेत्रमनेकमेकाक्षरभावलिङ्गम् ।
अव्यक्तमव्याहतविश्वलोकमनादिमिध्यान्तमपुण्यपापम् ॥१७
इत्यादि प्रथमे काव्ये स्तोत्रस्य जल्पिते सति ।
लिङ्गं भित्त्वा जिनः पार्श्वो निर्जगामामरस्तुतः ॥१८॥
विम्बं श्रीपार्श्वनाथस्य निर्गतं वीक्ष्य सूरिराट् ।
प्राहायं सहते देवो मदीयां स्तुतिमद्भुताम् ॥१९॥
राज्ञोक्तं भगवन् ! कस्त्वं[1] कोऽसौ देवो विनिर्गतः ।
अवधूतो जगौ सूरिमुख्यस्य वृद्धवादिनः ॥२०॥
सिद्धसेनाभिधः शिष्यः कारणान्निर्गतो बहिः ।
आगतोऽस्मिन् पुरे पृथ्व्यां भ्रमन् देशेषु भूरिशः ॥[युग्मम्]
भिक्षुर्दिदृक्षुरायातस्तिष्ठति द्वारि वारितः ।
हस्तन्यस्तचतुःश्लोकः किंवाऽऽगच्छतु गच्छतु ॥२२॥
इत्यादिविशदश्लोकचतुष्टयविधानतः ।
पूर्वं मया भवानत्र वर्णितो मेदिनीपते ! ॥२३॥
धरणेन्द्रादिगीर्वाणनाथसंततिसेवितम् ।
बिम्बं[2] श्रीपार्श्वनाथस्य निर्गतं वसुधातलात् ॥२४॥
श्रुत्वैतद् विक्रमादित्यः प्राह चित्ते चमत्कृतः ।
कथमस्मिन्मरुद्गेहे निर्ययौ पार्श्वसर्ववित् ॥२५॥
ततो भूपप्रबोधाय सिद्धसेनदिवाकरः ।

१ किं चेदं दृश्यतेऽद्भुतम् ग । २ चिरात् श्रीपार्श्वनाथोऽयं निर्गतो क ।

प्राह भूपास्य सम्बन्धं प्रासादस्य शृणु स्फुटम् ॥२६॥
पूर्वमस्यामवन्त्यां श्रीभद्रश्रेष्ठी धनी कृती ।
भद्राऽभूद् गेहिनी तस्य शीलादिगुणशालिनी ॥२७॥
रूपाज्जितसुरोऽवन्तीसुकुमालाभिधः सुतः ।
द्वात्रिंशद्गृहिणीभोगः शालिभद्र इवाभवत् ॥२८॥
आर्यसुहस्तिसूरीशगण्यमानां वरध्वनि ।
शुश्राव नलिनीगुल्मविमानस्थितिमादरात् ॥२९॥
ऊहापोहं करन् भूयो जातजातिस्मृतिस्तदा ।
ज्ञात्वा पूर्वभवं स्वीयं गत्वा पार्श्वे गुरोर्जगौ ॥३०॥
यूयं किं नलिनीगुल्मविमानादागता इह ।
गुरुः प्रोवाच शास्त्रेण ज्ञायते तत्स्थितिर्मया ॥३१॥
भद्रापुत्रो जगौ स्थातुं न तत्सौख्यं विना क्षमः ।
तेन दीक्षां ममेदानीं यूयं ददत शीघ्रतः ॥३२॥
गुरुः प्रोवाच नो दातुं शक्यते तेऽधुना व्रतम् ।
आपृच्छ्य पितरौ दीक्षां गृहाण श्रेष्ठिनन्दन ! ॥३३॥

ततो गत्वा वहिर्दीक्षां ललौ भद्रासुतः स्वयम् ।
कायोत्सर्गे स्थितः स्वर्गध्यानं कुर्वंश्च योगिवत् ॥३४॥
तदा तत्रागता पूर्वभवपत्नी शिवा वने ।
तं दृष्ट्वा जातरुड् बाढमुपसर्गं व्यधात् तदा ॥३५॥
शुभध्यानेन मृत्वा स श्रेष्ठिपुत्रस्तदा निशि ।
बभूव नलिनीगुल्मविमाने निर्जरोऽनघः ॥३६॥
प्रातः पृष्ट्वा गुरुं बाह्योद्याने गत्वा च श्रेष्ठिराट् ।
मृतं दृष्ट्वा सुतं वह्निसंस्कारं चकृवांस्तदा ॥३७॥
श्रेष्ठ्यपि नलिनीगुल्मविमाने गमनं प्रगे ।
सूनोः श्रुत्वा गुरोः पार्श्वे तत्त्याज शोकमात्मनः ॥३८॥
तस्मिन् स्थाने महच्चैत्यं पार्श्वनाथजिनेशितुः ।
मनोज्ञं कारयामास भद्रश्रेष्ठी धनव्ययात् ॥३९॥
तस्याऽजनि महं(हा)कालनामेति विश्रुतं भुवि ।
कालक्रमाद् द्विजैर्लिङ्गं स्थापितं पार्वतीपतेः ॥४०॥
नीरागोऽसौ जिनो देवो ददते पदमव्ययम् ।

सुरासुरनराधीशपदवीमपि सुन्दराम् ॥४१॥ यतः–
"सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः ॥४२॥
ध्यातव्योऽयमुपास्योऽयमयं शरणमिष्यताम्।
अस्यैव प्रतिपत्तव्यं शासनं चेतनाऽस्ति चेत् ॥४३॥
ये स्त्रीशस्त्राक्षसूत्रादिरागाद्यङ्ककलङ्किताः।
निग्रहानुग्रहपरास्ते देवाः स्युर्न मुक्तये ॥४४॥
नाट्याट्टहाससंगीताद्युपप्लवविसंस्थुलाः।
लम्भयेयुः पदं शान्तं प्रपन्नान् प्राणिनः कथम् ? ॥४५॥
महाव्रतधरा धीरा भैक्ष्यमात्रोपजीविनः।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः ॥४६॥
सर्वाभिलाषिणः सर्वभोजिनः सपरिग्रहाः।
अब्रह्मचारिणो मिथ्योपदेशा गुरवो न तु ॥४७॥
परिग्रहारम्भमग्नास्तारयेयुः कथं परान् ?।
स्वयं दरिद्रो न परमीश्वरीकर्त्तुमीश्वरः ॥४८॥
कोदण्डदण्डचक्रासिशूलशक्तिधराः सुराः।
हिंसका अपि हा कष्टं पूज्यन्ते देवताधिया ॥४९॥

न स्वर्धुनी न फणिनो न कपालदाम,
नेन्दोः कला न गिरिजा न जटा न भस्म।
यत्रान्यदेव च न किंचिदुपास्महे तद्,
रूपं पुराणमुनिशीलितमीश्वरस्य ॥५०॥

स एव योगिनां सेव्यो ह्यर्वाचिनस्तु भोगभाक्।
स ध्यायमानो राज्यादिसुखलुब्धैर्निषेव्यते" ॥५१॥

इति मीमांसायाम् ॥ उक्तं च—

"वीतरागं स्मरन् योगी वीतरागत्वमश्नुते।
सरागं ध्यायतस्तस्य सरागत्वं तु निश्चितम् ॥५२॥
येन येन हि भावेन युज्यते यन्त्रवाहकः।
तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा ॥५३॥
इत्यादि धर्ममाकर्ण्य सिद्धसेनगुरूदितम्।
जिनधर्माश्रितस्वान्तस्त्यक्त्वा मिथ्यात्वमञ्जसा ॥५४॥

महंकालाभिधे चैत्ये बिम्बं पार्श्वजिनेशितुः।
भूपतिः स्थापयामास पूजयामास चादरात् ॥५५॥
देवपूजाकृते ग्रामसहस्रं नृपतिर्ददौ।
सम्यक्त्वं च ललौ श्राद्धद्वादशव्रतसंयुतम् ॥५६॥
सिद्धसेनोऽन्यदा प्राह राजन् चारुफलं श्रियः।
दानमेव जिनैः प्रोक्तं श्रेयःसौख्यं यतो भवेत् ॥५७॥ यतः—
"दाणेण फुरइ कित्ती दाणेण य होइ निम्मला कित्ती।
दाणावज्जिअहिअओ वइरी वि हु पाणिअं वहइ ॥५८॥
धणसत्थवाहजम्मे जं घयदाणं कयं सुसाहूणं।
तक्कारणमुसभो जिणो तेलुक्कपिआमहो जाओ ॥५९॥
करुणाइ दिन्नदाणं जम्मंतरगहिअपुण्णकिरिआणं।
तित्थयरचक्किरिद्धिं संपत्तो संतिनाहो वि ॥६०॥
पश्चाद् दत्तं परैर्दत्तं लभ्यते वा न लभ्यते।
स्वहस्तेन च यद्दत्तं लभ्यते तन्न संशयः ॥६१॥
मा मंस्थाः क्षीयते वित्तं दीयमानं कदाचन।
कूपारामगवादीनां ददतामेव संपदः ॥६२॥
पात्रे धर्मनिबन्धनं तदितरे प्रोद्यद्दयाख्यापकं,
मित्रे प्रीतिविवर्धनं रिपुजने वैरापहारक्षमम्।
भृत्ये भक्तिभरावहं नरपतौ सन्मानपूजाप्रदं,
भट्टादौ च यशस्करं वितरणं न क्वाप्यहो निष्फलम् ॥६३॥
वर्षं यावज्जिनाः सर्वे यथेष्टं दानमन्वहम्।
ददते स्वर्णरूप्यादि याचकेभ्यो मुखोदितम् ॥६४॥
अनृणां पृथिवीं सर्वां कृत्वा च श्रीजिनेश्वराः।
दीक्षां लात्वा ततः क्षीणकर्माणो यान्ति निर्वृतिम् ॥६५॥ यतः—
एगा हिरण्णकोडी अट्ठेव अणूणगा सयसहस्सा।
सूरोदयमाईअं दिज्जइ जा पायरासाओ ॥६६॥
सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरचउमुहमहापहपहेसु।
दारेसु पुरवराणं रत्थामुहमज्झयारेसु ॥६७॥

वरवरिआ घोसिज्जइ किमिच्छअं दिज्जए बहुविहीअं।
सुरअसुरदेवदाणवनरिंदमहिआण निक्खमणे ॥६८॥

समग्रवर्षदानं यथा—

तिन्नेव य कोडिसया अट्ठासिइं च हुंति कोडीओ।
असिइं च सयसहस्सा एअं संवच्छरे दिंन्न ॥६९॥

उत्पादिता स्वयमियं यदि तत्तनूजा,
तातेन वा यदि तदा भगिनी खलु श्रीः।
यद्यन्यसंगमवती च तदा परस्त्री-
स्तत्त्यागबद्धमनसः सुधियस्ततोऽमी ॥७०॥

दानशीलतपोभावभेदाद्धर्मं चतुर्विधम्।
कुर्वन् भव्यजनः श्रेयःसौख्यानि लभतेऽचिरात् ॥७१॥

शंखभूपप्रियारूपवत्याद्या इव मानवाः।
दानं चतुर्विधं शश्वद् ददाना यान्ति निर्वृतिम् ॥७२॥तथाहि–

शंखपुरे नृपः शंखो भूरिसैन्यो विचक्षणः।
न्यायमार्गेण पृथिवीं पालयामास संततम् ॥७३॥ यतः–

"दुष्टस्य दण्डः सुजनस्य पूजा न्यायेन कोशस्य सदैव वृद्धिः।
अपक्षपातोऽर्थिषु राष्ट्रचिन्ता पञ्चैव यज्ञाः कथिता नृपाणाम् ॥
यस्तेजस्वी यशस्वी शरणगतजनत्राणकर्मप्रवीणः,
शास्ता शश्वत् खलानां क्षतरिपुनिवहः पालकश्च प्रजानाम्।
दाता भोक्ता विवेकी नयपथपथिकः सुप्रतिज्ञः कृतज्ञः,
प्राज्यं राजा स राज्यं प्रथयति पृथिवीमण्डलेऽखण्डिताज्ञः"॥

[धर्मशीलः सदा न्यायी पात्रे त्यागी गुणादरः।
प्रजानुरागसंपन्नश्चिरं नन्दति राट् क्षितौ ॥]

लसच्छीलगुणा रूपवत्याद्या रूपसुन्दराः।
सधर्मिण्योऽभवन् सप्त भूपतेः प्राणवल्लभाः ॥७६॥ यतः–

"पत्नी प्रेमवती सुतः सविनयो भ्राता गुणालंकृतः,
स्निग्धो बन्धुजनः सखाऽतिचतुरो नित्यं प्रसन्नः प्रभुः।
निर्लोभोऽनुचरः स्वबन्धुसुयतिप्रायोपभोग्यं धनम्,
पुण्यानामुदयेन सन्ततमिदं कस्यापि संपद्यते" ॥७७॥

... कस्यापि संपद्यते" ॥७७॥

चोरोऽन्यदा महीशस्य कोशात्पेटीं मणीभृताम् ।
आदाय यावता पुर्यां निःससार वहिर्निशि ॥७८॥
तावता धावितैः पृष्टौ भृत्यैश्चौरो धृतो दृढम् ।
आनीतो भूपतेः पार्श्वे ताडितो निर्दयं च तैः ॥७९॥
नीयमानो नृपादेशाद् वधार्थं सेवकैस्तदा ।
रूपवत्या वदन् दैन्यं मार्गे पृष्टश्च तस्करः ॥८०॥
अवस्थापतितं चौरं जल्पन्तं दीननिस्वनम् ।
भूमिभुग्गृहिणी रूपवती जातेति दुःखिता ॥८१॥ यतः—
[यस्य चित्तं द्रवीभूतं कृपया सर्वजन्तुषु ।
तस्य ज्ञानं च मोक्षश्च किं जटाभस्मचीवरैः ॥]
चेतः सान्द्रतरं वचः सुमधुरं दृष्टिः प्रसन्नोज्ज्वला,
शक्तिः क्षान्तियुता मतिः श्रितनया श्रीर्दीनदैन्यापहा ।
रूपं शीलयुतं श्रुतं गतमदं स्वामित्वमुत्सेकता—
निर्मुक्तं प्रकटान्यहो नवसुधाकुण्डान्यमून्युत्तमे ॥८२॥

गत्वा रूपवती भूपोपान्तं प्राहेति सद्दयम् ।
राजन्नयं ममैकाहस्तस्करो हि समर्प्यताम् ॥८३॥
येनास्य क्रियते किञ्चिदुपकारोऽन्नपानतः ।
श्रावयामि पुनर्द्धर्मं किञ्चिच्छिवसुखप्रदम् ॥८४॥ यतः—
[तक्रादिव नवनीतं पङ्कादिव कमलममृतमिव जलधेः ।
मुक्तामणिरिव वंशाद् धर्मः सारं मनुष्यभवात् ॥]
वरपूजया जिनानां धर्मश्रवणेन सुगुरुसेवनया ।
शासनं भासनयोगैः सृजन्ति सफलं निजं जन्म ॥८५॥
हन्यमानं तदा चौरं मेदिनीनायकप्रिया ।
आनिनाय मुदा रूपवती निजनिकेतनम् ॥८६॥
कारयित्वा ततः स्नानं तस्करः करुणास्पदम् ।
वरान्नपानतो रूपवत्या सन्मानितो भृशम् ॥८७॥ यतः—
"अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां च वसुधैव कुटुम्बकम्" ॥८८॥

---

१ ततो भूपेन दाक्षिण्यात् पत्न्यै स्तेन समर्पित. ॥

एवं पृथक् पृथक् षड्भिः पत्नीभिर्भोजनादिना ।
एकैकं दिवसं स्तेनोऽत्यन्तं गौरवितस्तदा ॥८९॥
एवं स्नानान्नपानेन स्तेनो गौरवितोऽपि सन् ।
अभूत्कृशवपुर्मृत्युभीतेर्बाढं दिने दिने ॥९०॥
दृष्ट्वा रूपवती चौरं दुर्बलं कृपया जगौ ।
अस्माभी रक्षितः सप्त दिनानि त्वं मलिम्लुच ! ॥९१॥
दुर्बलोऽभूः कथं बाढं ततः स्तेनो जगावदः ।
मृत्युभयेन मे देहो जायते दुर्बलो भृशम् ॥९२॥ यतः—
"अमेध्यमध्ये कीटस्य सुरेन्द्रस्य सुरालये ।
समाना जीविताकाङ्क्षा समं मृत्युभयं द्वयोः ॥९३॥
[दुर्योनिमपि स प्राप्तः प्राणी मर्तुं न वाञ्छति ।
तस्मात् समस्तदानेभ्योऽभयदानं प्रशस्यते ॥]
अत एव पुराणेऽप्युक्तम्—
यो दद्यात्काञ्चनं मेरुं कृत्स्नां चैव वसुन्धराम् ।
एकस्य जीवितं दद्यान्न च तुल्यं युधिष्ठिर ! ॥९४॥
[हिमधेनुधरादीनां दातारः सुलभा भुवि ।
दुर्लभः पुरुषो लोके यः प्राणिष्वभयप्रदः ॥]
ततो रूपवती प्राह सदयं तस्करं प्रति ।
अस्माभी रक्षितः सप्त दिनानि त्वं मलिम्लुच ! ॥९५॥
कल्ये को रक्षिता मृत्योर्भवन्तं तस्कराग्रणि ! ।
तेन स्तैन्यं द्रुतं मुञ्च सुखसंततिदायकम् ॥९६॥
चौर्यपापद्रुमस्येह वधबन्धादिकं फलं ।
जायते परलोके तु फलं नरकवेदना ॥९७॥
दौर्भाग्यं प्रेष्यतां दास्यमङ्गच्छेदं दरिद्रताम् ।
अदत्तात्तफलं ज्ञात्वा स्थूलस्तेयं विवर्जयेत् ॥९८॥
श्रुत्वैतत् तस्करः पापभीतचेता जगाविति ।
अद्यप्रभृति नो कार्यं मया स्तैन्यं मनागपि ॥९९॥
गत्वा राज्ञी नृपोपान्ते प्राह स्वामिन् ! मलिम्लुचः ।
गृहीतनियमः स्तैन्ये प्रसद्याद्य विमुच्यताम् ॥१००॥

ततो भूमिभुजा सद्यो देहमात्रोऽपि तस्करः।
मुक्तोऽजनि सुखी बाढं पीनतनुच्छविः खलु ॥१०१॥
गृहीत्वा नियमं देव्याः पार्श्वे स तस्करस्तदा।
तृतीयकं व्रतं सम्यक् पालयामास सन्ततम् ॥१०२॥
आराध्य च व्रतं सम्यक् तृतीयं तस्करस्तदा।
स्वर्गलोकेऽभवद्देवो लसद्देहच्छविर्वरः ॥१०३॥ यतः–
"राज्यं सुसंपदो भोगाः कुले जन्म सुरूपता।
देवत्वं जायते नृणां तृतीयव्रतपालनात् ॥१०४॥
अवधिज्ञानतः पूर्वं भवं देवः स्मरन् निजम्।
जज्ञावुपकृतिं राज्ञीकृतां चाभयदानतः ॥१०५॥
ततस्तासामहं कृत्वोपकारं भूपयोषिताम्।
अभूवमनृणी दिव्यरत्नदानात्कदा खलु ॥१०६॥
मत्वेति स्वर्गतोऽभ्येत्य राज्ञीः सर्वाः प्रणम्य च।
स्वरूपमात्मनः पूर्वभवीयमुक्तवान् सुरः ॥१०७॥

रूपवत्यै ददौ कोटिमूल्यं हारं च कुण्डले।
परासां नृपपत्नीनां द्वे द्वे च कुण्डले सुरः ॥१०८॥
भूपाय मुकुटं दिव्यं सिंहासनसमन्वितम्।
दत्त्वा नत्वा नृपं स्वर्गे जगाम निर्जरः क्षणात् ॥१०९॥ यतः–
"पञ्चसु जिणकल्लाणेसु महरिसितवाणुभावाओ।
जम्मंतरनेहेण य आगच्छन्ती सुरा इहयं ॥११०॥
संकंतदिव्वपेमा विसयपसत्ताऽसमत्तकत्तव्वा।
अणहीणमणुअकज्जा नरभवमसुहं न इंति सुरा ॥१११॥
चत्तारि पञ्च जोयणसयाइं गंधो उ मणुअलोअस्स।
उड्ढं वच्चइ जेणं न हु देवा तेण आवन्ति" ॥११२॥
ततः शश्वद् ददद् दानं दीनादिभ्यो महीपतिः।
अमार्युद्घोषणां भूमौ कारयामास सर्वतः ॥११३॥
शृण्वन् धर्मं गुरूपान्ते चतुर्विधं प्रमोदतः।
पत्नीयुक्तो नृपो दानप्रभावात् स्वर्गमीयिवान् ॥११४॥

१ पाण्डित्यमायुरारोग्यं धर्मस्यैतत्फलं विदु घ।

नृभवं प्राप्य भूपालः पत्नीभिस्सप्तभिर्युतः ।
कृत्वा कर्मक्षयं सिद्धिसौख्यमापादयिष्यति ॥११५॥
एवं यो मनुजो दानधर्ममाराधयिष्यति ।
स एव सपदि श्रेयःसौख्यमापादयिष्यति ॥११६॥
धणसत्थवाहजम्मे जं घयदाणं कयं सुसाहूणं ।
तं कारणमुसभजिणो तेलुक्कपिआमहो जाओ ॥११७॥
करुणाइ दिन्नदाणं जम्मन्तरगहिअपुन्नकिरिआणं ।
तित्थयरचक्किरिद्धिं सम्पत्तो संतिनाहो वि ॥११८॥
सिरिसेअंसकुमारो निस्सेअससामीओ कह न होइ ।
फासुअदाणपवाहो पयाओ जेण भरहम्मि ॥११९॥

इत्यादि दानोपरि कथा ॥

पालयन्ति सदा शीलव्रतं ये भव्यमानवाः ।
लभन्ते तेऽचिराद्धेमवतीव शिवसंपदम् ॥१२०॥
आसील्लक्ष्मीपुरे धीरभूपतेर्न्यायशालिनः ।
प्रिया हेमवती शीलशालिनी लसदाशया ॥१२१॥ यतः—

आदौ धर्मधुरंधरा कुटुम्बनिचये क्षीणे च सा धारिणी,
विश्वासे च सखी हिते च भगिनी लज्जावशाच्च स्नुषा ।
व्याधौ शोकपरिवृते च जननी शय्यास्थिते कामिनी,
त्रैलोक्येऽपि न विद्यते भुवि नृणां भार्यासमो बान्धवः ॥

तयोर्धर्मं जिनेन्द्रोक्तं कुर्वतोर्गुरुसेवया ।
जगाम समयो भूयान् सदा सौख्यनिमग्नयोः ॥१२३॥
वसन्तसमये हेमवतीपत्नीयुतो नृपः ।
उद्याने क्रीडितुं वर्यवृक्षेऽन्येद्युः समीयिवान् ॥१२४॥
कस्यचिदाननाद् हेमवत्या रूपश्रियं वराम् ।
श्रुत्वाऽमितगतिर्विद्याधरो हर्तुमुपागमत् ॥१२५॥ यतः—
"अक्खाणसणी कम्माण मोहणी तह वयाण बंभवयं ।
गुत्तीण य मणगुत्ती चउरो दुक्खेण जिप्पंति ॥१२६॥
क्रीडतः कानने भूमिपतेर्हेमवतीं प्रियाम् ।
हृत्वाऽमितगतिर्विद्याधरो वैताढ्यमीयिवान् ॥१२७॥

प्राहामितगतिर्हेमवत्यत्र रूप्यपर्वते।
दक्षिणोत्तरयोः श्रेण्योः पंचाशत्षष्टिसम्मिताः ॥१२८॥
नगर्यः सन्ति भूयिष्ठविद्याधरविराजिताः।
विद्याधरा लसद्विद्याविदो रूपजितामराः ॥१२९॥ [युग्मम्]

पुन्नागाशोकमाकन्दचम्पकाद्यादिपादपान्।
वापीकूपतटाकादिस्थानकानि विलोकय ॥१३०॥
रत्नवत्यां पुरि प्रौढरत्नपद्मावलीजुषि।
विद्याभृत्सेवितो राज्यं कुर्वेऽहं सन्ततं सुखम् ॥१३१॥
इदं रत्नमयं सप्तभूमिकं मम मन्दिरम्।
इदं बहिर्वनं सर्वऋतुपुष्पफलाढ्यकम् ॥१३२॥

प्रज्ञप्त्याद्याः सदा देव्यो ददत्योऽभीप्सितं सुखम्।
तिष्ठन्ति सन्निधौ स्फाररूपलावण्यभासुराः ॥१३३॥
अङ्गीकृत्य च मां हेमवति! त्वं स्वच्छमानसे।
स्वेच्छयाऽनुभवोद्यानादिषु शर्म मया समम् ॥१३४॥

प्राह हेमवती मैवं वद विद्याधरेश्वर!।
परस्त्रीगमनाद् दुःखं लभते नरके नरः ॥१३५॥ यतः—
"स्वपतिं या परित्यज्य निस्त्रपोपपतिं भजेत्।
तस्यां क्षणिकचित्तायां विस्रम्भो कोऽन्ययोषिति ॥१३६॥

भीरोराकुलचित्तस्य दुःस्थितस्य परस्त्रियाम्।
रतिर्न युज्यते कर्तुमुपशून्यं पशोरिव ॥१३७॥
प्राणसन्देहजननं परमं वैरकारणम्।
लोकद्वयविरुद्धं च परस्त्रीगमनं त्यजेत् ॥१३८॥
सर्वस्वहरणं बन्धं शरीरावयवच्छिदाम्।
मृतश्च नरकं घोरं लभते पारदारिकः ॥१३९॥

विक्रमाक्रान्तविश्वोऽपि परस्त्रीषु रिरंसया।
कृत्वा कुलक्षयं प्राप नरकं दशकन्धरः" ॥१४०॥
विद्याधरो जगौ हेमवति! त्वं मां द्रुतं वृणु।
नो चेत् तव महानर्थो भविष्यति न संशयः ॥१४१॥ यतः—

[“खणमित्तकज्जे जीवा परइत्थिगमणमिच्छंति ।
हरिचंदणवणसंडं दहंति ते छारकज्जंमि” ॥]
पाशं हेमवती शीलरक्षार्थं कण्ठकन्दले ।
चिक्षेप यावता तावत्पुष्पमालाऽभवच्च सा ॥१४२॥

शीलरक्षाकृते हेमवत्यैवं भूरिशः स्वयम् ।
प्रकारान् विदधे आत्महत्यै धर्मपरायणा ॥१४३॥
एवं तस्या महासत्या माहात्म्यं वीक्ष्य भूरिशः ।
पापं कर्तुमना विद्याधरो न विरराम सः ॥१४४॥
इतश्चक्रेश्वरी देवी मत्वा दुष्टाशयं च तम् ।
आगत्य हक्कयामास कर्कशैर्वचनैरिति ॥१४५॥

रे पापिष्ठ ! न किं वेत्सि सतीं हेमवतीमिमाम् ।
विरुद्धं वदसि त्वं चेत् तदाऽनर्थो भविष्यति ॥१४६॥
अस्याः शीलस्य माहात्म्यात् त्वं च भस्मीभविष्यसि ।
मन्यसे भगिनीं चेद्धि तदा ते कुशलं भवेत् ॥१४७॥

हेमवत्याः सदा शीलं भङ्क्तुं यत्त्वं दुराशयः ।
करोष्युपक्रमं तत्ते भयं नैवास्ति मानसे ॥१४८॥
हेमवत्याः पदौ नत्वा विद्याधरो जगावदः ।
त्वं भगिन्यस्यतो मे हि सन्मार्गस्थापनादिह ॥१४९॥

दिव्यरत्नमये हारकुण्डले विलसद्द्युती ।
हेमवत्यै ददौ विद्याधरोऽमितगतिर्मुदा ॥१५०॥
विमानस्थां ततो हेमवतीं कृत्वा खगेश्वरः ।
एत्य लक्ष्मीपुरे धीरभूपाय प्रददौ तदा ॥१५१॥
उक्त्वा च शीलमाहात्म्यं हेमवत्या नृपाग्रतः ।
ददौ दिव्यमणिहारं कुण्डले विलसद्द्युती ॥१५२॥
[स्वस्थाने प्रययौ विद्याधरोऽमितगतिः पुनः]
शीलमाहात्म्यतस्तस्मिन् भवे हेमवती वशा ।
लात्वा दीक्षां तपस्तप्त्वा सद्यः प्राप शिवश्रियम् ॥१५३॥
सिरिउग्गसेणधूआ रायमई लहउ शीलवयरेहं ।
गिरिविवरगओ जीए रहनेमी ठाविओ मग्गे ॥१५४॥

पञ्जलिओवि हु जलणो सीलपभावेण पाणिअं हवइ ।
सा जयउ जए सीआ जीसे पयडा जसपडाया ॥१५५॥
चालिणिजलेण चंपाइ जीइ उग्घाडिअं दुवारतिगं ।
कस्स न हरेइ चित्तं तीए चरिअं सुभद्दाए ॥१५६॥
हरिहरबंभपुरंदरमयभंजणपञ्चबाणबलदप्पो ।
लीलाइ जेण दलिओ स थूलभद्दो दिसउ भद्दम् ॥१५७॥
शश्वत्कुर्वंस्तपस्तीव्रं नमस्कारादिभावतः ।
स्वर्गमुक्तिश्रियौ तेजःपुञ्जवल्लभते जनः ॥१५८॥ तथाहि–
आसीच्चन्द्रपुरे चन्द्रसेनाह्वमेदिनीपतेः ।
चन्द्रावतीप्रियाजाततेजःपुञ्जाभिधोऽङ्गजः ॥१५९॥
स्तन्यपानादिना शश्वद् धात्रीभिः पञ्चभिः सुतः ।
पाल्यमानो ववृधे च सितपक्षशशाङ्कवत् ॥१६०॥
भूभुजा पण्डितोपान्ते मुक्तः पुत्रः सदुत्सवम् ।
पूर्णेन्दुरिव जग्राह क्रमेण सकलाः कलाः ॥१६१॥ यतः–
"जले तैलं खले गुह्यं पात्रे दानं मनागपि ।
प्राज्ञे शास्त्रं स्वयं याति विस्तारं वस्तुशक्तितः" ॥१६२॥
मातापित्रोः पदाम्भोज सेवमानः सुभक्तितः ।
रञ्जयामास चेतांसि सर्वेषां विदुषां पुनः ॥१६३॥ यतः–
"प्रीणाति यः सुचरितैः पितरं स पुत्रो,
यद् भर्त्तुरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम् ।
तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं य–
देतत्त्रयं जगति पुण्यकृतो लभन्ते" ॥१६४॥
जितशत्रुमहीशस्य तनयां रूपसुन्दरीम् ।
विस्तरान्नृपतिस्तेजःपुञ्जं च पर्यणीणयत् ॥१६५॥
वितीर्य सूनवे राज्यं कृत्वा चाष्टाह्निकामहः ।
सप्रियोऽनशनं लात्वा चन्द्रसेनो दिवं ययौ ॥१६६॥ यतः–
"तव निअमेण य मुक्खो दाणेण य हुंति उत्तमा भोगा ।
देवच्चणेण रज्जं अणसणमरणेण इंदत्तं " ॥१६७॥

काले सुपत्तदाणं सम्मत्त विसुद्धबोहिलाभं च।
अंते समाहिमरणं अभव्वजीवा न पावंति ॥१६८॥
ततः पूर्वार्जितश्रेयःप्रभावाद् विषयान् बहून् ।
साधयन् कारयामास रिपून् सेवां निजां नृपः ॥१६९॥ यतः–
आरोग्यभाग्याभ्युदयप्रभुत्वं सत्त्वं शरीरे च जने महत्त्वम् ।
तत्त्वं च चित्ते सदने च संपत् सम्पद्यते पुण्यवशेन पुंसाम् ॥
आगतं बहिरुद्याने धर्मघोषं गुरूत्तमम् ।
श्रुत्वा भूपो ययौ धर्मं श्रोतुकामो लसन्मनाः ॥१७१॥
तिस्रः प्रदिक्षणा दत्त्वा वन्दित्वा विधिवद् गुरुम् ।
तेजःपुञ्जमहीपालो धर्मं श्रोतुमुपाविशत् ॥१७२॥ तद्यथा–
"अपि लभ्यते सुराज्यं लभ्यन्ते पुरवराणि रम्याणि ।
नहि लभ्यते विशुद्धः सर्वज्ञोक्तो महाधर्मः ॥१७३॥
[भवकोटीदुःप्राप्यमवाप्यनृभवादिसकलसामग्रीम् ।
भवजलधियानपात्रे धर्मे यत्नः सदा कार्यः]

माणुस्सखित्तजाइकुलरूवारुग्गमाउअं बुद्धी ।
सवणग्गहसद्धा संजमो अ लोगम्मि दुलहाइं ॥१७४॥
आलस्समोहवन्ना थंभा कोहा पमायकिवणेत्ता ।
भयसोगा अन्नाणा विक्खेवकोउहला रमणा ॥१७५॥ इत्यादि
व्याख्यान्ते नृपतिः प्राहः स्वामिन् ! पूर्वभवे मया ।
किं कृतं सुकृतं येनेदृक्षं राज्यमभून्मम ॥१७६॥
गुरुः प्राह महाभाग ! यत्कृतं सुकृतं त्वया ।
तत्सर्वं श्रूयतां सावधानीभूयाधुना नृप ! ॥१७७॥ तथाहि–
श्रीपुरेऽजनि दारिद्र्याभिभूतः कमलो वणिग् ।
कमला गृहिणी तस्याऽभवत् तिस्रः सुताः क्रमात् ॥१७८॥
उद्वाहचिन्तया तासां धनाभावादभूद् भृशम् ।
दुःखितः कमलः कुर्वन् कर्म परनिकेतने ॥१७९॥ यतः–
[यथा लक्ष्म्या विदग्धत्वं विभ्रमं यौवनश्रिया ।
प्रेष्यभावं तथा जीवः शिक्षते दुरवस्थया ॥

कुग्रामवासः कुनरेन्द्रसेवा कुभोजनं क्रोधमुखी च भार्या।
कन्याबहुत्वं च दरिद्रता च षड् जीवलोके नरका भवन्ति॥]
"जम्मंतीए सोगो वड्ढंतीए अ वड्ढए चिंता।
परिणीआए दंडो जुवइपिआ दुक्खिओ निच्चम् ॥१८०॥
निअघरसोसा परगेहमण्डणी कलिकलङ्ककुलभवणं।
जेहिं न जाया धूआ ते सुहिआ जीवलोगम्मि" ॥१८१॥
कमलेन सुतास्तिस्रः कष्टेन परिणायिताः।
जग्मेऽन्यदा गुरो पार्श्वे धर्मं श्रोतुं सुचेतसा ॥१८२॥
अत्र गुरूपदेशः—
"यद् भक्तिः सर्वज्ञे यद्यतस्तत्प्रणीतसिद्धान्ते।
यत्पूजनं यतीनां फलमेतज्जीवितव्यस्य ॥१८३॥
दानं सुपात्रे विशदं च शीलं तपो विचित्रं शुभभावना च।
भवार्णवोत्तारणसत्तरण्डं धर्मं चतुर्धा मुनयो वदन्ति ॥१८४॥
कमलोऽवग् विना द्रव्यं दानं च दीयते कथम्।
गुरुः प्राह विना लक्ष्मीं तपश्च क्रियते सदा ॥१८५॥
कमलो नैगमः प्राह किं किंच क्रियते तपः।
गुरुणोक्तं तपांसि स्युः सिद्धान्ते बहुभेदतः॥१८६॥
"पोरिसिचउत्थछट्ठे काउं कम्मं खवन्ति जं मुणिणो।
तं नो नारयजीवा वाससयसहस्सलक्खेहिं॥१८७॥
जे निच्चमप्पमत्ता गंठिं बंधंति गंठिसहिअंमि।
सग्गापवग्गसुक्खं तेहिं निबद्धं सगंठिंमि॥१८८॥
तपः सकललक्ष्मीणां नियन्त्रणमशृङ्खलम्।
दुरितप्रेतभूतानां रक्षामन्त्रो निरक्षरः" ॥१८९॥
श्रुत्वैत्कमलः प्राहैकान्तरः क्षपणो मया।
कर्तव्यं गंठिसहितं प्रत्याख्यानं च भावतः ॥१९०॥
यावज्जीवं तपः कुर्वन् गुरूक्तं विधिवत्सदा।
मृत्वाऽभूत्प्रथमे स्वर्गे भासुरः कमलः सुरः ॥१९१॥ यतः—
"यद् दूरं यद् दुराराध्यं यच्च दूरे व्यवस्थितम्।
तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्" ॥१९२॥

पूरितायुः सुरः स्वर्गात् च्युत्वा चन्द्रपुरेशितुः ।
चन्द्रसेनस्य पुत्रोऽभूत् त्वं चश्वत्स्वप्नसूचितः ॥१९३॥
पूर्वं कृतः तपःकल्पवृक्षो राज्यश्रियाऽनया ।
फलितस्तव राजेन्द्र ! सद्यः सर्वेष्टदायकः ॥१९४॥

गजा दशशतं जात्याः पश्चलक्षतुरङ्गमाः ।
तावन्तः स्यन्दनाः कोटी पत्तयो बलशालिनः ॥१९५॥
कोटाकोटी सुवर्णस्य रत्नानि च दशायुतम् ।
लक्षमूल्यानि मुक्तानां श्रियः पारं न पार्यते ॥१९६॥ यतः—
"सर्वाः संपत्तयः सत्यं जायन्ते तस्य जन्मिनः ।
प्राग् जन्मोपार्जितं यस्य पुण्यद्रविणमूर्जितम्" ॥१९७॥

श्रुत्वैतद् भूपतिः प्राह स्वामिन्नद्यदिनान्मया ।
कर्तव्यं पूर्वभववत् तपो नित्यं स्वभावतः ॥१९८॥
कुर्वन्तं नृपतिं तीव्रं तपो वीक्ष्याखिला जनाः ।
तपांसि कुर्वते शश्वद् विशेषाद् भक्तिपूर्वकम् ॥१९९॥ यतः—

[राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः ।
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजा ॥]
श्रीसुन्दराय पुत्राय दत्त्वा राज्यं सदुत्सवम् ।
क्षेत्रेषु सप्तसु स्वीया श्रीरुप्ता भूभुजाऽऽदरात् ॥२००॥
लात्वा दीक्षां तपस्तीव्रं कृत्वा कर्मक्षयं क्षणात् ।
लब्धकेवलचित् तेजःपुञ्जर्षिः प्राप निर्वृतिम् ॥२०१॥ यतः—
"छट्ठं छट्ठेण तवं कुणमाणो पढमगणहरो भयवं ।
अक्खीणमहाणसीओ सिरिगोअमसामीओ जाओ ॥२०२॥
सुणिऊण तवं सुन्दरिकुमरीए अंबिलाणि अणवरयं ।
सट्ठिं वाससहस्सा भण कस्स न कंपए हिअयं ॥२०३॥
इत्यादि तपसि कथा ॥

विशुद्धां भावनां भव्या भावयन्तः स्वचेतसि ।
शिवभूप इवाह्वाय लभन्ते पदमव्ययम् ॥२०४॥
श्रीवर्द्धनपुरे शूरभूपस्य न्यायशालिनः ।
अभूत् पद्माभवः पुत्रः शिवाह्वो वरलक्षणः ॥२०५॥

पाठितः पण्डितोपान्ते पुत्रः पित्रा तथा शिवः ।
धर्मकर्मकलाः कल्या यथा जज्ञात्वशेषतः ॥२०६॥ यतः–
"जायम्मि जीवलोए दो चेव नरेण सिक्खिअव्वाइं ।
कम्मेण जेण जीवइ जेण मुओ सुग्गइं जाइ" ॥२०७॥
श्रीपुरे धीरभूपस्य तनयां श्रीमतीमथ ।
शूरेण भूभुजा पुत्रः सन्महं परिणायितः ॥२०८॥
प्रदाय सूनवे राज्यं शूरो धर्मधुरन्धरः ।
आराधनां विधायान्ते सप्रियः स्वर्गमीयिवान् ॥२०९॥ यतः–
धनदो धनमिच्छूनां कामदः काममिच्छताम् ।
धर्म एवापवर्गस्य पारम्पर्येण साधकः ॥२१०॥
प्रेतकार्यं पितुः कृत्वा मुक्त्वा शोकं शिवो नृपः ।
न्यायमार्गेण पृथिवीं पालयामास सादरम् ॥२११॥ यतः–
"दुर्बलानामनाथानां बालवृद्धतपस्विनाम् ।
अन्यायैः परिभूतानां सर्वेषां पार्थिवो गतिः ॥२१२॥

इतः सभास्थमुर्वीशं नत्वा कश्चिन्नरो जगौ ।
राजन् हीरपुरं धीरो वैरी हत्वाऽधुना ययौ ॥२१३॥
ततः सन्नह्य भूपालो जेतुं तं वैरिणं रणे ।
अचालीद् भूरिहस्त्यश्वपदातिबलसंयुतः ॥२१४॥
तुरङ्गमखुरोत्खातरजोव्याप्तनभोङ्गणः ।
शोषयन् सलिलं नद्या ययौ वैरिपुरान्तिके ॥२१५॥
दूतास्यादागतं भूपं शिवं मत्वा रिपुः क्षणात् ।
सन्नह्य निर्ययौ पुर्या बहिः कर्तुं रणं क्रुधा ॥२१६॥
द्वयोः कटकयोर्युद्धं कुर्वतोर्वैरिभूभुजा ।
यावच्छिवचमूर्भग्नाऽभिमुखा विहिता रणे ॥२१७॥
यावच्छिवो बलं स्वीयं भग्नं दृष्ट्वा स्वयं क्षणात् ।
उत्थाय विग्रहं कर्तुं प्रवृत्तोऽरुणलोचनः ॥२१८॥
ततः शिवो नृपो वैरिबलं वार्द्धिमिव क्षणात् ।
विलोड्य पक्षिवद् धीरं बबन्धाशु रणे रिपुम् ॥२१९॥

धीरस्य विद्विषः सर्वे सेवकाश्च दिशोदिशम् ।
नंष्टा ययुस्तमःपुञ्जा इव सूर्योदयेऽभितः ॥२२०॥ यतः—
"तावच्चन्द्रबलं ततो ग्रहबलं ताराबलं भूबलम्,
तावत्सिध्यति वाञ्छितार्थमखिलं तावज्जनः सज्जनः ।
मुद्रामण्डलमन्त्रतन्त्रमहिमा तावत्कृतं पौरुषं,
यावत्पुण्यमिदं महद् विजयते पुण्यक्षये क्षीयते ॥२२१॥
वृक्षं क्षीणफलं त्यजन्ति विहगा शुष्कं सरः सारसाः,
पुष्पं पर्युषितं त्यजन्ति मधुपा दग्धं वनान्तं मृगाः ।
निर्द्रव्यं पुरुषं त्यजन्ति गणिका भ्रष्टं नृपं सेवकाः,
सर्वे कार्यवशाज्जनो हि रमते कः कस्य को वल्लभः ॥२२२॥
मल्लेत्यरिः शिवं क्ष्मापं नत्वा भक्त्या जगावदः ।
राजन्निदं पुरं लाहि जातोऽस्मि तव सेवकः ॥२२३॥
मम श्रीसुन्दरीं पुत्रीं त्वमङ्गीकुरु साम्प्रतम् ।
मां मुञ्च बन्धनात्सद्यः प्रसद्य शिवभूपते ! ॥२२४॥

आकर्ण्यैतद् वचो भक्तिगर्भितं शिवभूपतिः ।
प्रसन्नीभूय धीरारिं मुमोच बन्धनात् तदा ॥२२५॥
"उत्तमानां प्रणामान्तः कोपो भवति निश्चितम् ।
नीचानां न प्रणामेऽपि कोपः शाम्यति कर्हिचित्" ॥२२६॥
दत्तां श्रीसुन्दरीं धीरभूपेन शिवभूपतिः ।
स्वीचकार रयात्पाणिपीडनाल्लसदुत्सवम् ॥२२७॥
दत्त्वा राज्यं च धीराय श्रीसुन्दर्या युतः शिवः ।
सुमहं स्वपुरे सौख्यप्रयाणैराययौ शनैः ॥२२८॥
श्रीसुन्दरी कृता राज्ञा पट्टराज्ञी लसद्गुणा ।
धर्मं चकार सर्वज्ञप्रोक्तं जीवदयामयम् ॥२२९॥
"आसन्ने परमपए पावेअव्वंमि सयलकल्लाणे ।
जीवो जिणिंदभणिअं पडिवज्जइ भावओ धम्मं ॥२३०॥
[सत्येनोत्पद्यते धर्मो दयादानेन वर्धते ।
क्षमया च स्थाप्यते धर्मः क्रोधलोभाद्विनश्यति ॥]

कुसङ्गाच्छिवभूपालो मनाग् धर्मं व्यधान्नहि ।
सेवते स्म सदा सप्त व्यसनानि च दुर्मतिः ॥२३१॥
शुभेऽह्नि श्रीमती पुत्रं प्रासूत सुन्दराकृतिम् ।
कृत्वा जन्मोत्सवं सूनोर्वीरेत्याह्वां नृपो ददौ ॥२३२॥
लाल्यमानोऽनिशं पञ्चधात्रीभिः स्तन्यपानतः ।
शुक्लपक्षे विधुरिव वर्द्धते स्म लसत्तनुः ॥२३३॥
धर्मध्यानपराऽन्येद्युः श्रीमती शीलशालिनी ।
मृत्वा प्रान्तेऽभवत्स्वर्गे देवी भासुरदीधितिः ॥२३४॥
अवधिज्ञानतो मत्वा स्वरूपं पूर्वसंसृतेः ।
बोधयितुं शिवं कान्तं समागात्श्रीमती सुरी ॥२३५॥ यतः—
"पञ्चसु जिणकल्लाणेसु महरिसितवाणुभावाओ ।
जम्मंतरनेहेण य आगच्छन्ति सुरा इहयं" ॥२३६॥
आखेटकपरद्रोहमद्यपानादिततपरम् ।
लोकयुक्तं शिवं भूपं ददर्श श्रीमती सुरी ॥२३७॥ यतः—

"भूपे धर्मं वितन्वाने प्रजा धर्मं वितन्वते ।
भूपे पापं वितन्वाने पापं कुर्वन्ति मानवाः" ॥२३८॥
तादृशं पतिमालोक्य दध्यावेवं सुरी हृदि ।
कथं मया पतिः पापान्निवार्यो भवति द्रुतम् ॥२३९॥ यतः—
"सामर्थ्ये सति यो मित्रं न निषेधति पापतः ।
तस्यात्मा तस्य पापेन लिप्यते वज्रलेपवत्" ॥२४०॥
मत्वेति श्रीमती देवी चाण्डालीरूपधारिणी ।
मलक्लिन्नाम्बरा हस्ते नृकपालं वितन्वती ॥२४१॥
पिबन्ती मदिरां मांसं भक्षयन्ती कुरूपभृत् ।
क्षिपन्त्यम्बुच्छटां राजमार्गेऽचालीच्छनैः शनैः ॥२४२॥
तादृशीं वनितां दृष्ट्वा सभास्थोऽवग् महीपतिः ।
मन्त्रिन्नियं छटां मार्गे चाण्डाली क्षिपते कथम् ? ॥२४३॥
भूपादेशेन मन्त्रीशो गत्वा चाण्डालिकान्तिके ।
पप्रच्छेति तदा वारिच्छटाक्षेपणकारणम् ॥२४४॥

हस्ते नरकपालं ते मदिरामांसभक्षणे ।
भूपः पृच्छति चाण्डालि ! मार्गे किं क्षिप्यते छटा ॥२४५॥
सभायामेत्य चाण्डाली शृण्वाने मेदिनीपतौ ।
प्रोवाचेति तदा चारुतरगीर्वाणभाषया ॥२४६॥

कूटसाक्षी मृषाभाषी कृतघ्नो दीर्घरोषणः ।
कदाचिच्चलितो मार्गे तेनेयं क्षिप्यते छटा ॥२४७॥
आखेटकपरद्रोहमद्यपानादितत्परः ।
कदाचिच्चलितो मार्गे तेनेयं क्षिप्यते छटा ॥२४८॥
मन्त्री प्रोवाच चाण्डालि ! मैवं वदतु साम्प्रतम् ।
चाण्डाला नहि शुध्यन्ति वारिणा स्नपिता अपि ॥२४९॥

चाण्डाली प्राह—

"कूटसाक्षी मृषाभाषी कृतघ्नो दीर्घरोषणः ।
मद्यपापर्द्धिकृन्नीरैर्न शुध्यति कदाचन ॥२५०॥

यतः पुराणेऽप्युक्तम्—

"चित्तमन्तर्गन्तं दुष्टं तीर्थस्नानैर्न शुध्यति ।
शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचि" ॥२५१॥
एतत्सर्वं महीशेन श्रुत्वा मन्त्रिमुखात्तदा ।
आकारिता नृपोपान्ते क्षिपन्ती आययौ छटाम् ॥२५२॥

सभाया उपरि क्षिप्त्वा छटां तस्थौ च यावता ।
तावद् भृत्यान् क्रुधा हन्तुमादिदेश च तां नृपः ॥२५३॥
मार्यमाणाऽपि चाण्डाली छिन्ना भिन्ना च नो मनाग् ।
राजा दध्याविंयं नारी व्यन्तरी किन्नरी सुरी ॥२५४॥
मानवी चेत्तदा मार्यमाणैवं म्रियते क्षणात् ।
तेनेयं किन्नरी देवी विद्यते नात्र संशयः ॥२५५॥

देवतानां मया नूनं चक्रे आशातनाऽधुना ।
एतस्मात्पापनिचयात् मुक्ष्ये(मोक्ष्ये)हमधमः कथम् ॥२५६॥
चाण्डाली भूपतेर्धर्मानुगं वीक्ष्याशु मानसम् ।
चञ्चदाभरणा देवीभूयास्थान्नृपतेः पुरः ॥२५७॥

भूपः प्रोवाच काऽसि त्वं किमर्थमागता कुतः ।
देवी प्राहात्मनः सर्वं स्वरूपं पूर्वसंसृतेः ॥२५८॥
चाण्डालीरूपनिर्माणादिकमेतन्मया कृतम् ।
भवतः प्रतिबोधाय त्वं जानीहीति भूपते ! ॥२५९॥
राजाऽवग् देवि ! पापर्द्धिर्मया मौढ्यात् [2]कृता घना ।
तेन मे नरके पातो भविष्यत्यसुखप्रदः ॥२६०॥
धर्मं जीवदयारूपं कृत्वा स्वर्गादिसौख्यदम् ।
त्वमभूदे(र्भूर्दे)वता चारुसौख्यसन्ततिभाग् दिवि ॥२६१॥
श्रुत्वैतद् भूपतिः सद्यः तत्याज व्यसनं क्षणात् ।
ततो देवी जगौ भूप ! पाल्या जीवदया दृढम् ॥२६२॥ यतः—
"आसन्ने परमपए पावेअव्वंमि सयलकल्लाणे ।
जीवो जिणिंदभणियं पडिवज्जइ भावओ धम्मं ॥२६३॥
[जं अप्पह न सुहाइ तं पुण परह न चिंतीइ ।
धम्मह एउं सार वलि वलि काहउं पूछिइ" ॥]

स्थापयित्वा नृपं धर्मवर्त्मनि श्रीमती तदा ।
भूपनन्दनयो रत्नद्वयं दत्त्वा ययौ दिवि ॥२६४॥
ततः प्रभृति भूपालस्त्यक्तव्यसनसप्तकः ।
शुभ्ररत्नमयं जैनं सद्म मध्येपुरं व्यधात् ॥२६५॥
प्रासादे शान्तिनाथस्य प्रतिमाया महीपतिः ।
प्रतिष्ठां कारयामासाकार्य सूरीन् सदुत्सवम् ॥२६६॥ यतः—
"धर्मादभ्यागतां लक्ष्मीं धर्म एव नियोजयेत् ।
यतो धर्मस्य लक्ष्म्याश्च दत्ते वृद्धिं द्वयोरपि ॥२६७॥
रम्यं येन जिनालयं निजभुजोपात्तेन कारापितं,
मोक्षार्थं स्वधनेन शुद्धमनसा पुंसा सदाचारिणा ।
बद्धं तेन नरामरेन्द्रमहितं तीर्थेश्वराणां पदं,
प्राप्तं जन्मफलं पुनर्जिनमतं गोत्रं समुद्द्योतितम्" ॥२६८॥
प्रासादः प्रतिमा यात्रा प्रतिष्ठा च प्रभावना ।
अमायुद्धोपणादीनि [3]महापुण्यानि देहिनाम् ॥२६९॥

---

१ नो पूर्वं कृतं पुण्यं मया मनाक्। तेनाभूवमहं हीनऋद्धिस्त्वत्तोऽधुना भुवि ॥ ग । २ कृताऽशुभा घ । ३ कारयामास भूपति· क ।

अन्येद्युः शान्तिनाथस्य कृत्वाऽर्चां कुसुमैर्वरैः ।
ढोकयामास नैवेद्यं भूमिपतिर्मनोहरम् ॥२७०॥
उदारैः स्तवनैर्भूमीपतिः शान्तिजिनेशितुः ।
गुणौघान् स्तोतुमारेभे भक्तिभावितमानसः ॥ अत्र स्तुतिः ॥
एकाग्र्याच्छिवभूपस्य भावयतश्च भावनाम् ।
बभूव केवलं ज्ञानं पुरः शान्तिजिनेशितुः ॥२७२॥ यतः—
"प्रणिहन्ति क्षणार्द्धेन साम्यमालम्ब्य कर्म तत् ।
यन्न हन्यान्नरस्तीव्रतपसा जन्मकोटिभिः" ॥२७३॥
देवतादत्तलिङ्गेन शिवेन ज्ञानिना तदा ।
प्रबोध्य पृथिवीं मुक्तिपुर्यां कर्मक्षयाद् गतम् ॥२७४॥ यतः—
"हत्थिपि समारूढा रिद्धिं दट्ठूण उसभसामिस्स ।
तक्खणसुहझाणेण मरुदेवी सामिणी सिद्धा" ॥२७५॥
एवं ये भावनां भव्या भावयन्ति सदादरात् ।
लभन्ते केवलज्ञानं ते कृत्वा कर्मणां क्षयम् ॥२७६॥

इति भावनोपरि शिवकथा ॥

आकर्ण्यैतन्नृपश्चित्तचमत्कारकरं जगौ ।
अहो श्रीस्त्यागयोग्येयं भोगयोग्या सतां नहि ॥२७७॥ यतः—
"दायादाः स्पृहयन्ति तस्करगणा मुष्णन्ति भूमीभुजो,
गृह्णन्ति छलमाकलय्य हुतभुग् भस्मीकरोति क्षणात् ।
अम्भः प्लावयति क्षितौ विनिहतं यक्षा हरन्ते हठात्,
दुर्वृत्तास्तनया नयन्ति निधनं धिग् बह्वधीनं धनम् ॥२७८॥
आरोहन्ति सुखासनान्यपटवो नागान् हयान् तज्जुष-
स्ताम्बूलाद्युपभुञ्जते नटविटा खादन्ति हस्त्यादयः ।
प्रासादे चटकादयो निवसन्त्येते न पात्रं स्तुतेः ।
स स्तुत्यो भुवने प्रयच्छति कृती लोकाय यः कामितम्" ॥
ध्यात्वेति विक्रमादित्यः श्रुत्वा दानफलं तदा ।
स्वर्णरूप्यमणीदानैरनृणीं मेदिनीं व्यधात् ॥२८०॥
संवत्सरपरावर्त्तं कृत्वा वीरजिनेशितुः ।
निजं संवत्सरं चक्रे भूरिदानेन विक्रमः ॥२८१॥

परोपकारमालोक्य विक्रमार्कनरेशितुः ।
वासवोऽपि सभासीनः प्रोवाचेति सुराग्रतः ॥२८२॥

"प्रायः सत्यपि वैभवे सुरजनः स्वार्थी न दत्ते धनं,
तीर्थान्नोद्धरति क्वचिन्न हरति व्याधीन्न हन्त्यापदम् ।
अप्यात्मंभरिभिर्जनैर्युगलिभिर्धन्यास्तु केचिन्नराः,
सर्वाङ्गीणपरोपकारयशसा ये द्योतयन्ते जगत्" २८३॥

अनृणीं वसुधां कृत्वा गतेषु मन्त्रिषु क्रमात् ।
प्राह श्रीविक्रमादित्यो भट्टमात्रं प्रति स्फुटम् ॥२८४॥

अनृणी विहिता क्षोणी वहुलक्ष्मीप्रदानतः ।
किमतः क्रियते मन्त्रिन् ! साम्प्रतं वद साम्प्रतम् ॥२८५॥

भट्टमात्रो जगौ पूर्वं श्रीरामादिमहीभुजः ।
भूरिशो वसुधां जित्वा कीर्तिस्तम्भं व्यधुः पृथुम् ॥२८६॥

अतश्च क्रियते कीर्तिस्तम्भो भूरिधनव्ययात् ।
राजा ततः समाकार्य सूत्रधारान् जगावदः ॥२८७॥

गृह्णन्तु द्रविणं भूरि कीर्तिस्तम्भो विधीयताम् ।
भूपदत्तं धनं लात्वा तं कर्तुं ते प्रवर्तिताः ॥२८८॥

इतो भूपो निशीथिन्यां नष्टचर्यां पुरि भ्रमन् ।
कृष्णविप्रगृहोपान्ते ययौ यावद्रहस्तदा ॥२८९॥

तावत्तत्रागतौ युद्धं कुर्वाणौ शण्ड–सैरिभौ ।
पपात सङ्कटे राजा तयोर्दैवनियोगतः ॥२९०॥

विनिद्रो वाडवोऽकस्मादुत्थाय गगनाङ्गणे ।
दृष्ट्वा दुष्टग्रहयुगमेकत्रस्थं जगावदः ॥२९१॥

प्रिये ! उत्तिष्ठ दीपं त्वं कुर्वाशु कुरुषे वलिम् ।
सङ्कटेऽद्य महीशस्य पतितस्य प्रशान्तये ॥२९२॥

प्रिया प्राह सुताः सप्त वरयोग्याश्च सन्ति नः ।
गृहे त्वद्यतनं धान्यं विद्यते न प्रियानघ ॥२९३॥

अन्नं नास्ति पयो नास्ति नास्ति मुद्रा युगन्धरी ।
धान्यान्तर्लवणं नास्ति तन्नास्ति यच्च भुज्यते ॥२९४॥

---

१ सत्कार्यं घ । २–तना तोणी क ।

नृपतिः कारयन् कीर्तिस्तम्भं न हीक्षते प्रजाः ।
दुःखिता विभवान्नाद्यभावात् सन्त्यखिला ननु ॥२९५॥
प्रायो निःस्वो जगन्निःस्वं धनी धनयुतं स्फुटम् ।
सुखी च सुखिनं लोकं मन्यते मनुजः किल ॥२९६॥
द्विजः प्राह प्रिये! भूपा आत्मीया हि भवन्ति न ।
तथापि जनता इष्टमिच्छन्ति मेदिनीपतेः ॥२९७॥
स्वयमुत्थाय भूदेवो नृपस्य शान्तिहेतवे ।
चकार शान्तिकं लात्वा चारुपुष्पादिकं बलिम् ॥२९८॥
लुलायवृषभौ युद्धं विमुच्य जग्मतुः पृथग् ।
एतद् दृष्ट्वा नृपश्चिह्नं व्यधात् विप्रस्य सद्मनि ॥२९९॥
गत्वा सौधं नृपः सुप्त्वा प्रातरुत्थाय संसदि ।
उपविश्य द्विजं ह्वातुं प्रेषयामास सेवकान् ॥३००॥
नृपस्याकारणं श्रुत्वा ब्राह्मणी प्राह भोः पते!।
वरा शान्तिः कृता रात्रौ ययेदृक्षाऽऽपदागमत् ॥३०१॥

न ज्ञायते महीशः किं करिष्यत्यावयोश्छलात् ।
न भवन्ति महीपाला आत्मीयाः पोषिता अपि ॥३०२॥
श्रुत्वैतद् भूपतिर्धीरां दत्त्वाऽऽकार्य द्विजं तदा ।
पप्रच्छ मम किं विघ्नं भवद् ज्ञातं त्वया ह्यदः ॥३०३॥
द्विजः प्राह मया ज्ञातं विघ्नं लग्नबलात्तव ।
भूपोऽवक् किं स्वयं शान्तिः कृता मम द्विज! त्वया ॥३०४॥
द्विजः प्राहोच्यते छत्रछायायां यस्य भूपतेः ।
वाञ्छ्यते विजयं तस्य लोकैः सन्ततमादरात् ॥३०५॥
नैशं वृत्तान्तमुर्वीशः प्रकाश्य निजमञ्जसा ।
ब्राह्मणं प्रीणयामास भूरिलक्ष्मीप्रदानतः ॥३०६॥
द्विजाय भूपतिः सप्तकन्योद्वाहकृते तदा ।
दापयामास द्रव्याणां सप्तलक्षं च मन्त्रिभिः ॥३०७॥
एवं द्विजं सुखीकृत्य लोकांश्च भूरिदानतः ।
कीर्तिस्तम्भं पुरे तत्र कारयामास रैव्ययात् ॥३०८॥

१ कारयन् नृपति कीर्तिस्तम्भ च नेक्षते क। २ भावादत्र पुरान्तरे क ।

इति श्रीतपागच्छनायकश्रीसोमसुन्दरसूरिपट्टालंकरण—परमगुरुश्रीमुनिसुन्दरसूरि—शिष्यपण्डितश्रीशुभशीलगणिविरचिते श्रीविक्रमादित्य-विक्रमचरित्रचरित्रे श्रीसिद्धसेनगुरुकृतप्रबोधवसुधाऽनृणीकरणकीर्तिस्तम्भविरचनवर्णनस्वरूपः सप्तमः सर्गः समाप्तः ॥

अष्टमः सर्गः ।

अन्येद्युर्विक्रमादित्यः भूपः सुन्दरविक्रमः ।
सिद्धसेनगुरोः पार्श्वे धर्मं श्रोतुं समीयिवात् ॥१॥
सिद्धसेनगुरुर्धर्मोपदेशं मेदिनीपतेः ।
पुरः प्राहेति मुक्तिश्रीशर्मसन्ततिदायकम् ॥२॥ यतः—
"चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो ।
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमंमी अ वीरिअं" ॥३॥
यः श्रीशत्रुञ्जये तीर्थे श्रीयुगादिजिनेश्वरम् ।
वन्दते भक्तितस्तस्यानन्तपुण्यं प्रजायते ॥४॥ यतः—
"शत्रुञ्जये कोटिगुणं स्वभावात् स्पर्शतो मतम् ।
मनोवचनकायानां शुद्ध्याऽनन्तगुणं भवेत् ॥५॥
एकैकस्मिन् पदे दत्ते शत्रुञ्जयं गिरिं प्रति ।
भवकोटिसहस्रेभ्यः पातकेभ्यः प्रमुच्यते ॥६॥
वज्रलेपायितैः पापैर्जन्तुरत्यन्तदुःखभाक् ।
तावद् यावन्न सिद्धाद्रिमधिरुह्य जिनं नमेत् ॥७॥
पंचाशद्योजने मुक्तिर्दर्शनात् स्पर्शनादपि ।
ये जातास्ते गमिष्यन्ति कालेनापि परां गतिम् ॥८॥
मयूरसर्पसिंहाद्या हिंस्रा अप्यत्र पर्वते ।
सिद्धाः सिद्ध्यन्ति सेत्स्यन्ति प्राणिनो जिनदर्शनात् ॥९॥

तेषां जन्म च वित्तं च जीवितं सार्थकं च ये ।
सिद्धक्षेत्राचलं यान्ति परेषां व्यर्थमेव तत् ॥१०॥
तीर्थानामुत्तमं तीर्थं नगानामुत्तमो नगः ।
क्षेत्राणामुत्तमं क्षेत्रं सिद्धाद्रिः श्रीजिनैर्मतः" ॥ पुराणेऽप्युक्तम्–
"अष्टषष्टिषु तीर्थेषु यात्रया यत्फलं भवेत् ।
आदिनाथस्य देवस्य स्मरणेनापि तद् भवेत् ॥१२॥
स्पृष्ट्वा शत्रुञ्जयं तीर्थं नत्वा रैवतकाचलम् ।
स्नात्वा गजपदे कुण्डे पुनर्जन्म न विद्यते" ॥१३॥
पल्योपमसहस्रं तु ध्यानाल्लक्षमभिग्रहाद् ।
दुष्कर्म क्षीयते मार्गे सागरोपमसंचितम् ॥१४॥
यस्मिन् शत्रुञ्जये तीर्थे सिद्धिसौख्यप्रदे सदा ।
पुण्डरीकादयोऽनेके सिद्धा गणभृतः पुरा ॥१५॥ यतः–
"चित्तस्स पुण्णिमाए समणाणं पंचकोडिपरिअरिओ ।
निम्मलो जत्थ पुंडरीओ जयउ तं पुंडरीअतित्थं ॥१६॥
जत्थाइच्चजसाई सगरंता रिसहवंसजनरिंदा ।
सिद्धिं गया असंखा जयउ तं पुडरीअतित्थं ॥१७॥
जहिं रामाइतिकोडी इगनवई नारयाइमुणिलक्खा ।
जाया उ सिद्धिराया जयउ तं पुडरीअतित्थं ॥१८॥
येनादौ निखिला लोकव्यवहाराः प्रकाशिताः ।
स श्रिये ऋषभो भूयाद् भव्याङ्गिभ्यो जिनेश्वरः ॥१९॥
यं शैलराजं समवाप्य भूरिशः श्रीपुण्डरीकादिकसाधुसत्तमाः ।
मुक्तिश्रियं प्रापुरनर्घ्यशर्मणे स स्तात् जिनानां विमलावनीधरः॥
श्रीविक्रमनृपः प्राह पुण्डरीकमहीभृतः ।
केन शत्रुञ्जयेत्याह्वा चक्रे तन्मे पुरो वद ॥२१॥
सिद्धसेनगुरुः प्राह राजन्नत्र कथानकम् ।
विद्यते शुकभूपस्य चमत्कृतिकरं नृणाम् ॥२२॥
पुण्डरीकगिरेः शत्रुञ्जयेत्याह्वा यतोऽभवत् ।
तस्य श्रीशुकराजस्य चरितं कीर्तयिष्यते ॥२३॥ तथाहि–

इहैव भरतक्षेत्रे पुरे क्षितिप्रतिष्ठिते ।
मृगध्वजाभिधो भूपो बभूव न्यायतत्परः ॥२४॥ यतः–
"यस्तेजस्वी यशस्वी शरणगतजनत्राणकर्मप्रवीणः,
शास्ता शश्वत् खलानां क्षतरिपुनिवहः पालकश्च प्रजानाम् ।
दाता भोक्ता विवेकी नयपथपथिकः सुप्रतिज्ञः कृतज्ञः,
प्राज्यं राजा स राज्यं प्रथयति पृथिवीमण्डलेऽखण्डिताज्ञः"॥
प्रजासु वृद्धिर्नृपराज्यवृद्ध्यै प्रजासु धर्मो दुरितापहः प्रभोः ।
प्रजास्वनीतिर्नृपधर्मकीर्तिहृन्नृपाय तुष्यन्ति सुराः प्रजोत्सवैः ॥
उद्यानपालकादिष्टे वसन्तसमये वने ।
सान्तःपुरो ययौ क्रीडां कर्तुकामो महीपतिः ॥२७॥
दीर्घिकासु चिरं क्रीडां कृत्वा पत्नीयुतो नृपः ।
भ्रमन् वने लसच्छायमाम्रं प्रेक्ष्येत्थमूचिवान् ॥२८॥
"सोहग ऊपरि मंजरी तूं सोहइ सहकार।
अन्नि जि तरुअर तुडि करइं ते सव्वेवि गमार" ॥२९॥

ततस्तरोस्तले राजा निविष्टः सपरिच्छदः ।
अन्तःपुरं निजं प्रेक्ष्य गर्वमित्थं दधौ हृदि ॥३०॥
विश्वे कस्यापि विद्यन्ते नहीदृश्यो मृगीदृशः ।
प्राप्यन्ते न यतः कल्पलताः सर्वत्र भूतले ॥३१॥
तदा तस्याम्रवृक्षस्य शाखायां संस्थितः शुकः ।
भूपगर्वच्छिदे श्लोकमेकमित्थं जगौ वरम् ॥३२॥
स्वचित्तकल्पितो गर्वः कस्य नाम न विद्यते ।
उत्क्षिप्य टिट्टिभः पादौ शेते भङ्गभयाद् भुवः ॥३३॥
शुकोक्तं भूपतिः श्रुत्वा यावदेवं व्यचिन्तयत् ।
अनेनाहं कथं गर्वं कुर्वाणस्तर्जितोऽधुना ॥३४॥
किमेवं काकतालीयाजाकृपाणीयनीतितः ।
स्वभावेन शुकेनेदं प्रोक्तं किंवा विजानता ॥३५॥
एवं च भूरिशस्तस्मिन् विकल्पान् हृदि कुर्वति ।
भेकहंसोक्तिसन्मिश्रं काव्यं कीरः पुनर्जगौ ॥३६॥

"रे पक्षिन्नागतस्त्वं कुत इह सरसस्तत् कियद् भो विशालम् ।
किं मद्धाम्नोऽपि बाढं नहि नहि सुमहत् पाप ! मा जल्प मिथ्या ।
इत्थं कूपोदरस्थः शपति तटगतं दर्दुरो राजहंसं,
नीचः स्वल्पेन गर्वी भवति हि विषया नापरे येन दृष्टाः" ॥३८॥

श्रुत्वा तत्काव्यमुर्वीशो दध्यावेवं निजे हृदि ।
कूपमण्डूकतुल्यं मां करोत्येष कथं शुकः ॥३९॥
कूपभेकेन राजँस्त्वं तुल्योऽसीति जगौ शुकः ।
ततो दध्याविति क्ष्मापः शुकोऽस्ति ज्ञानवानयम् ॥४०॥
ततः प्राह शुको राजन् ! त्वं ग्रामीणो भवन्नसि ।
चलद्दन्तविषाणोक्षदत्तरागानिदर्शनात् ॥४१॥

"दन्ताः सप्त चलं विषाणयुगलं पुच्छाञ्चलः कर्बुरः,
कुक्षिश्चन्द्रकितो वपुः कुसुमितं सत्त्वच्युतं चेष्टितम् ।
अस्मिन् दुष्टवृषे वृषाग्रिमगुणग्रामानभिज्ञात्मनो,
ग्रामीणस्य तथाऽपि चेतसि चिरं धुर्येति विस्फूर्जितम्" ॥

एवमुक्तोऽपि नो यावद् गर्वं मुञ्चति भूपतिः ।
तावत् प्राह पुनः कीर इति गीर्वाणभाषया ॥४३॥
तवान्तःपुरनारीभ्यः श्रीगागलिऋषेः सुता ।
चारुरूपाऽस्ति कमलमाला नाम्नी महीपते ! ॥४४॥
यद्यस्ति नृपते ! वाञ्छा तस्या रूपनिरूपणे ।
तदेहि मम पृष्ठौ त्वमित्युक्त्वोड्डीनवान् शुकः ॥४५॥
नृप उत्तालचेतस्कः प्राहेति सेवकान् प्रति ।
आनयध्वं द्रुतं भृत्या ! वायुवेगतुरंगमम् ॥४६॥
सेवकस्तत्क्षणादश्वशालातो विनयान्वितः ।
आनिनाय नृपोपान्ते वायुवेगतुरंगमम्" ॥४७॥ यतः—
"सती पत्युः प्रभोः पत्तिः गुरोः शिष्यः पितुः सुतः ।
आदेशे संशयं कुर्वन् खण्डयत्यात्मनो व्रतम्" ॥४८॥
भर्त्यानीतं हयं वायुवेगं पर्याणसुन्दरम् ।
आरुह्य नृपतिः कीरपृष्ठौ च चलितो द्रुतम् ॥४९॥ यतः—

"अश्वे खरखुरोत्खातरजः सल्लक्षणस्थितिः।
गतिर्वेगवती वक्रमास्यं धाराप्रपञ्चनम् ॥५०॥ अश्ववर्णनम्।
सर्वः परिकरो राज्ञः पृष्ठौ गत्वा कियद्भुवम्।
अवीक्ष्य च विषण्णः सन् पुरमध्यमुपागमत् ॥५१॥ यतः–
"राज्यं निःसचिवं गतप्रहरणं सैन्यं विनेत्रं मुखं,
वर्षा निर्जलदा धनी च कृपणो भोज्यं तथाऽऽज्यं विना।
दुःशीला गृहिणी सुहृन्निकृतिमान् राजा प्रतापोज्झितः,
शिष्यो भक्तिविवर्जितो नहि विना धर्मं नरः शस्यते" ॥५२॥
कीरपृष्ठौ व्रजन्नेवं योजनानि शतं नृपः।
अतिक्रम्य महाटव्यां प्राप्तो घोटकवेगतः ॥५३॥
प्रासादमेकं विलसत्सुवर्णदण्डाढ्यकुम्भं प्रचलत्पताकम्।
ददर्श यावन्नृपतिस्तदीयशृङ्गे निवेश्येति शुको जजल्प ॥५४॥
राजन् युगादीशजिनं प्रणम्य विधेहि सौवं जननं पवित्रम्।
राजा जिनेन्द्रं तुरगस्थितः सन् ननाम कीरस्य गतेर्भयेन ॥५५॥

ततः कीरः समुड्डीय गत्वा प्रासादमध्यतः।
भक्त्या नत्वा जिनं स्तोतुं प्रवृत्त इति मोदतः ॥५६॥ यतः–
"आदिनाथ जगन्नाथ विमलाचलमण्डन।
जय नाभिकुलाकाशप्रकाशनदिवाकर ॥५७॥
मूर्तिस्त्रिजगतां महार्तिशमनी मूर्तिर्जनानन्दिनी,
मूर्तिर्वाञ्छितदानकल्पलतिका मूर्तिः सुधास्यन्दिनी।
संसाराम्बुनिधिं तरितुमनसां मूर्तिर्दृढा नौरियं,
मूर्तिर्नेत्रपथं गता जिनपतेः किं किं न कर्तुं क्षमा ?॥
इत्यादि स्तुतिरत्र।
शुकस्तवध्वनिं श्रुत्वा हयादुत्तीर्य भूपतिः।
प्रासादमध्यमागत्य स्तौति स्मेति जिनं मुदा ॥५९॥
"श्रेयःसंकेतशाला सुगुणपरिमलैर्जैयमन्दारमाला,
छिन्नव्यामोहजाला प्रमदभरसरःपूरणे मेघमाला।
नम्रश्रीमन्मराला वितरणकलया निर्जितस्वर्गिशाला,
त्वन्मूर्तिः श्रीविशाला विदलतु दुरितं नन्दितक्षोणिपाला"॥

इतः प्रासादसंनीडाश्रमस्थो गागलिर्मुनिः ।
श्रुत्वा तां स्तुतिमाश्चर्यं कुर्वंस्तत्रcraftायया द्रुतम् ॥६१॥
भूपतेः स्तुतिपर्यन्ते गागलिर्मुनिपुङ्गवः ।
प्रचक्रमे स्तुतिं कर्तुं जिनस्य मधुरध्वनिः ॥६२॥
श्रीनाभिभूपालकुलावतंस ! नमत्सुपर्वाधिपराजहंस ! ।
कल्याणवल्लीततिवारिवाह ! महातमोवृक्षनदीप्रवाह ॥६३॥
इति स्तुत्वा जिनं भक्त्या मुनिः पप्रच्छ भूपतिम् ।
राजन् मृगध्वजेदानीमलंकुरु ममाश्रमम् ॥६४॥
निजनामश्रुतेर्जातचमत्कारो नरेश्वरः ।
तस्याश्रमे ययौ तावद् यावत् सन्मानितो भृशम् ॥६५॥
प्रोवाच गागली राजन् कृतार्थाः स्मोऽधुना वयम् ।
यतो भवादृशां भाग्याद् दर्शनं जायते नृणाम् ॥६६॥
ततो मुनिर्निजां पुत्रीं जिनेन्द्रार्चनतत्पराम् ।
वाटीतस्तत्र कमलमालामानीतवान् स्वयम् ॥६७॥
ऋषिः प्राहाथ भूपाल ! प्रसद्य मम सुतां मम ।
अङ्गीकुरु न कर्तव्यो विचारोऽत्र त्वया ध्रुवम् ॥६८॥
अत्याग्रहाद् ऋषिः पुत्रीं स्वर्गिनारीसहोदराम् ।
मृगध्वजमहीशाय ददौ सन्महपूर्वकम् ॥६९॥
ततो मन्त्रं सुतोत्पत्तिहेतुं सद्विधिसुन्दरम् ।
तनयायै ददाति स्म गागलिः तापसाग्रणीः ॥७०॥ यतः—
"धर्मप्रभावतोऽटव्यादिस्थानेषु तनूमताम् ।
गतानां राज्यकन्यादिलक्ष्मीप्राप्तिर्भवेद् ध्रुवम्" ॥७१॥
नृपोऽन्येद्युर्जगौ राज्यं शून्यं मे विद्यतेऽधुना ।
तेन[2] कुरु तथा सद्यश्चलिष्यामि यथा मुने ! ॥७२॥
ऋषिः[3] प्राह दुकूलादि नास्ति किंचिद् ममाधुना ।
वल्कलान्येव वस्त्राणि सन्ति मे नापरं मनाक् ॥७३॥

१ बहुमानपुरस्सरम्। ददौ राज्ञेऽङ्गजोत्पत्तिमन्त्रयुक्तां मनोरमाम् ॥ ग । २ तेनातोऽहं चलिष्यामि गमिष्यामि निजे पुरे ॥ क । ३ गागलिः प्रोक्तवान् दातुं दिव्यवासो न मेऽस्ति ते । क ।

तावत् तस्याः सुभाग्येनासन्नपादपकोटरात् ।
सर्वभूपादुकूलादिसंचयो निःसृतोऽद्भुतः ॥७४॥
पुण्यैः संभाव्यते पुंसामसंभाव्यमिति क्षितौ ।
तेरुर्मेरुसमाः शैलाः किं न रामस्य वारिधौ ॥७५॥

"पुण्यप्रभाविइं शशि सूर्य चालइं,
पुण्यप्रभाविइं फल वृक्ष आलइं ।
पुण्यप्रभाविइं जल मेघ मुंकइ,
समुद्र मर्यादथी कओ न चूकइं ॥७६॥

तदाऽऽभरणवस्त्रादिशालिनी ऋषिनन्दिनी ।
सा श्रीजिनालये प्राप मुत्कलापयितुं जिनम् ॥७७॥
सामी सुणीइं अतुलवल वल जाणीसि इहेव ।
हीअडाभ्यंतरि मइं गहीउ जइस कि नीकली देव ॥७८॥
सामी तुम्ह पयकमलयुग निरुवमसुहदातार ।
गिरि पुरि वनि रणि मज्झ हीयइ अनिश वसउ अनिवार" ॥

इत्यादि भूरिशो भव्यभक्तिभङ्गीभराः स्तुतीः ।
कृत्वा श्रीगागलेः पुत्री स्वाश्रमं समुपागमत् ॥८०॥
मृगध्वजो जिनं नत्वा हयारूढः प्रियान्वितः ।
पप्रच्छ स्वपुरं गन्तुं मार्गं गागलिसन्निधौ ॥८१॥
ऋषिः प्राह न जानेऽहं त्वत्पुरीमार्गमंशतः ।
एवमुक्ते नृपोऽवादीत् कथं मह्यमदाः सुताम् ॥८२॥
मुनिर्जगौ यावदहं स्वपुत्रीं दृष्ट्वा विवाहोत्कमना अभूवम् ।
तावच्छुकोऽवक् सहकारसंस्थश्चिन्तां मनाग् मा कुरु चित्तमध्ये ॥
मृगध्वजं नाम नृपं प्रभाते समानयेऽहं तुरगाधिरुढम् ।
तस्मै प्रदेया स्वसुता त्वयेति प्रोक्त्वा क्वचित्कीर इयाय शीघ्रम् ॥
त्वामागतं प्रगे प्रेक्ष्य तुभ्यं पुत्रीमदामहम् ।
तेनागमगमाध्वादि न जाने मेदिनीपते ! ॥८५॥
ततो यावन्नृपश्चिन्तां कुर्वाणो व्याकुलोऽजनि ।
तावच्छुकः समेत्यैकः प्राह गीर्वाणभाषया ॥८६॥

आगच्छागच्छ भो भूप मत्पृष्ठे त्वं च वेगतः ।
यतोऽहं स्वाश्रितं नैव समुपेक्षे कदाचन ॥८७॥ यतः—
"सुन्दराः सुभगाः सौम्याः कुलीनाः शीलशालिनः ।
भवन्ति धर्मतो दक्षाः शशाङ्कयशसः स्थिराः ॥८८॥
धर्मतो वश्यमायान्ति देवा अपि हि देहिनाम् ।
विघ्नावली व्रजत्याशु क्षयं ध्वान्तं रवेरिव" ॥८९॥
ततश्चमत्कृतो भूपो विसृज्य मुनिपुङ्गवम् ।
सभार्यस्तुरगारूढः शुकपृष्ठेऽचलत्तदा ॥९०॥
गच्छतो नृपतेर्यावदभूद् दृग्गोचरे पुरम् ।
तावदेकतरोः शाखामालम्ब्य तस्थिवान् शुकः ॥९१॥
भूपः प्राह कथं कीराग्रतो व्रजसि नाधुना ।
शुकोऽवक् कारणं किञ्चिदस्ति तच्छृणु साम्प्रतम् ॥९२॥
विज्ञाय[1] त्वां गतं चन्द्रवती तव प्रिया क्वचित् ।
त्वद्राज्यग्रहणाय स्वं भ्रातरं चानिनाय सा ॥९३॥
त्वत्पुरीं परिवेष्टयास्थाद् बलेन चन्द्रशेखरः ।
मध्यस्थास्ते भटा युद्धं चक्रुस्तेन सहान्वहम् ॥९४॥
दुःखेन गमनं कीराद् मत्वा दध्यौ महीपतिः ।
अहो ! असारः संसार ईदृक्षाऽस्ति प्रिया यतः ॥९५॥ यतः—
"राज्यं भोज्यं च शय्या च वरवेश्म वराङ्गना ।
धनं चैतानि शून्यत्वेऽधिष्ठीयन्ते ध्रुवं परैः ॥९६॥
अथवा विद्यते तस्या नैव दोषो मनागपि ।
यतः शून्यं पुरं दृष्ट्वा वाञ्छत्यन्यो जनोऽपि च ॥९७॥
मया येन पुरी मुक्ता रभसा मुग्धबुद्धिना ।
तेनायं विद्यते दोषो मम नान्यस्य कस्यचित् ॥९८॥ यतः—
"सगुणमपगुणं वा कुर्वता कार्यजातं
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन ।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते-
र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥९९॥

1 विज्ञाय त्वा गतं दूरे प्रिया चन्द्रवती तव । घ ।

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः" ॥
एवं चिन्तापरे भूपे यावत्कीरोऽगमत् क्वचित् ।
तावद् दूरे बलं दृष्ट्वा गच्छन् भूपोऽभवत्सभीः ॥१०१॥
नूनमेकाकिनं मत्वा मामत्र विपिने स्थितम् ।
शत्रुसैन्यमगाद् हन्तुं रक्षाम्येतां प्रियां कथम् ॥१०२॥
यावदेवाभूद् भूपो विकल्पव्याकुलाशयः ।
तावज्जयजयेत्यादिध्वनिस्तस्य पुरोऽभवत् ॥१०३॥
दृष्ट्वा निजं परीवारं दधानश्चित्रमात्मनि ।
भूपः प्रोवाच भो यूयं कथमत्राधुनाऽऽगताः ॥१०४॥
तेऽपि प्राहुर्न जानीमः केनानीता नरेण नः ।
भवतः सन्निधौ स्वामिन् घनाघनाध्वना पुनः ॥१०५॥
आगच्छन्तं नृपं तूर्यस्वानपूरितदिग्मुखम् ।
आगत्य मन्त्रिणश्चन्द्रशेखराय व्यजिज्ञपन् ॥१०६॥

राजन्नयं नृपो हन्ता भविष्यत्यात्मनः किल ।
तेनैव क्रियते बुद्धी रक्षणाय निजात्मनः ॥१०७॥ यतः—
"बलवन्तं रिपुं दृष्ट्वा किलात्मानं प्रगोपयेत् ।
बलवद्भिस्तु कर्तव्या शरच्चन्द्रप्रकाशता ॥१०८॥
उत्तमं प्रणिपातेन शूरं भेदेन योजयेत् ।
नीचमल्पप्रदानेन समशक्तिं पराक्रमैः" ॥१०९॥
गोपयित्वा निजाकारं तत्कालोत्पन्नबुद्धिकः ।
चन्द्रो मृगध्वजक्ष्मापपार्श्वे गत्वेदमूचिवान् ॥११०॥
दूरदेशे गतं स्वामिंस्त्वां मत्वाऽहं जनश्रुतेः ।
शून्यं त्वन्नगरं पातुकामोऽगां भक्तिभावितः ॥१११॥
तत् त्वद्भटैरजानद्भिरारब्धा युद् मया सह ।
प्रहारा भूरिशस्तेषां सोढारो मे भटैर्ध्रुवम् ॥११२॥
श्रुत्वैतद् भूपतिस्तस्य बहुमानं ददद् भृशम् ।
सदुत्सवं पुरीमध्ये यावदायाति वर्त्मनि ॥११३॥

तावन्निजं निजं कार्यं मुक्त्वा शीघ्रं मृगीदृशः ।
भूपं पत्नीयुतं द्रष्टुकामास्तत्र समाययुः ॥११४॥
"तीअहं तिन्नि पिआरडां दूध जमाइ तूर ।
अवर कि तिन्नि पिआरडां कलि कज्जल सिन्दूर" ॥११५॥
विधाय कमलां पत्नीं पट्टराज्ञीपदे नृपः ।
न्यायमार्गेण सकलाः प्रजाः शास्ति सदाशयः ॥११६॥
पितृदत्तसुतोत्पत्तिमन्त्रं कमलमालया ।
विश्राणितं स्वकान्ताय तनयोत्पत्तिहेतुकम् ॥
पुत्रार्थं जपितोऽन्येद्युर्मन्त्रो यावन्महीभुजा ।
तावता सर्वपत्नीनामेकैकस्तनयोऽजनि ॥११७॥
अन्येद्युरिति विज्ञप्तो भूपः कमलमालया ।
स्वामिन् ! स्वप्नोऽनघो लब्धो मयाऽद्य सुखसुप्तया ॥११८॥
मत्तातस्याश्रमोपान्ते स्थितः सर्वज्ञसद्मनि ।
नतः श्रीऋषभो देवः कल्याणीभक्तितो मया ॥११९॥

जिनेनोचेऽधुना वत्से ! गृहाणैकं शुकं वरम् ।
कियत्यपि गते काले हंसं दास्ये पुनस्तव ॥१२०॥
लब्ध्वा स्वप्नमिमं रात्रौ प्रबुद्धाऽहं ततः प्रभो ! ।
एतत्स्वप्नेन यद् भावि फलं तद् ब्रूहि साम्प्रतम् ॥१२१॥
प्रातः स्वप्नविदः पृष्ट्वा यथाविधि महीपतिः ।
प्रोवाचेति प्रियापार्श्वे इति स्वप्नफलं स्फुटम् ॥१२२॥ यतः—
यस्तु पश्यति स्वप्नान्ते राजानं कुञ्जरं हयम् ।
सुवर्णं वृषभं गावं कुटुम्बं तस्य वर्धते ॥१२३॥
दीपमन्नं फलं पद्मं कन्यां छत्रं तथा ध्वजम् ।
स्वप्नान्ते यो लभेन्मन्त्रं स सदा लभते सुखम् ॥१२४॥
कृष्णं कृत्स्नमशस्तं मुक्त्वा गोवाजिराजगजदेवान् ।
सकलं शुक्लं शस्तं मुक्त्वा कार्पासलवणानि ॥१२५॥
देवता गुरवो गावः पितरो लिङ्गिनो नृपाः ।
यद् वदन्ति नरं स्वप्ने तत्तथैव भविष्यति ॥१२६॥

एतत्स्वप्नानुसारेण भाविपुत्रद्वयं तव ।
एक आदौ सुतः शीघ्रं चार्वाचारो भविष्यति ॥१२७॥
श्रुत्वैतन्मुदिता राज्ञी काले गर्भं दधौ वरम् ।
गर्भानुभावतस्तस्या जाता रुचिरदोहदाः ॥१२८॥
भूपपूरितनिःशेषजिनार्चादिकदोहदा ।
शुभेऽहनि सुतं देवी सूते स्मेन्दुमिवेन्द्रदिग् ॥१२९॥
सन्मान्य स्वजनं सर्वमन्नपानादिनाऽऽदरात् ।
पुत्रजन्मोत्सवं स्फारं चकारावनिनायकः ॥१३०॥
विचार्य स्वजनैः सार्द्धं शुकस्वप्नानुसारतः ।
शुकराजेति पुत्रस्याभिधां धात्रीधवोऽभ्यधात् ॥१३१॥
लाल्यमानः क्रमात्पञ्चधात्रीभिः स्तन्यपानतः ।
वभूव पञ्चवर्षीयः पुत्रो जनमनोहरः ॥१३२॥ यतः—
"[1]गाहाण रसा महिलाण विब्भमा कविअणस्स वयणाइं ।
कस्स न हरन्ति चित्तं वालाण मम्मणुल्लावा ॥१३३॥
[वरवालप्पदीहडा जेह मनि राग न रोस ।
जुव्वणभरिअह माणसह पगि पगि लागइ दोस ॥]
राजाऽन्यदा वने तस्मिन् क्रीडन् पुत्रप्रियायुतः ।
माकन्दाधोनिविष्टः सन् प्रोवाचेति प्रियां प्रति ॥१३४॥
माकन्दोऽयं प्रिये ! सोऽयं यस्मात् शुकमुखोक्तितः ।
श्रुत्वा त्वन्नाम त्वत्पृष्ठौ धावितोऽहं पुरा ननु ॥१३५॥
आगत्य विपिने तस्मिन् त्वां गागिलिसुतां तदा ।
परिणीय पुनः पश्चादागां पुरमहं निजम् ॥१३६॥
नृपोत्सङ्गस्थितः पुत्रः शृण्वन्नेतत् स्फुटाक्षरम् ।
मूर्च्छितः पतितः पृथ्व्यां विद्युत्पात इवाचिरात् ॥१३७॥
तथाविधं सुतं दृष्ट्वा भूपतिर्गृहिणीयुतः ।
कोलाहलं तथाऽकार्षीद् यथा तत्रागमज्जनः ॥१३८॥
सच्चन्दनपयःकेलिदलव्रातोपचारतः ।
चक्रे सचेतनः पुत्रो भूपादिसकलैर्जनैः ॥१३९॥

---

१ गाथाना रसा महिलाना विभ्रमाः कविजनस्य वचनानि । कस्य न हरन्ति चित्तं वालाना मन्मनोल्लापा. ॥

प्रफुल्लाक्षशुकः पश्यन् जनं वक्ति न यावता ।
तावद् भूपः प्रियायुक्तो विषण्ण ऊचिवानिदम् ॥१४०॥
हे वत्स ! वचनं देहीत्युक्तो यावन्न जल्पति ।
तदा राजा जगौ पत्नि ! रत्नदोषी यमः खलु ॥१४१॥
"शशिनि खलु कलङ्कं कण्टकाः पद्मनाले,
उदधिजलमपेयं पण्डिते निर्द्धनत्वम् ।
दयितजनवियोगो दुर्भगत्वं सुरूपे,
धनपतिकृपणत्वं रत्नदोषी कृतान्तः" ॥१४२॥
उपचारास्तदाऽनेके कारिता मेदिनीभुजा ।
आकार्य भूरिशो वैद्यान् नानाशास्त्रविचक्षणान् ॥१४३॥
एवं च क्रियमाणेषूपचारेषु निरन्तरम् ।
षड्मासा अभवन् नैव शुकराजो जगौ मनाग् ॥१४४॥
"वैद्या वदन्ति कफपित्तमरुद्विकारं,
सांवत्सरा[1] ग्रहगतं प्रवदन्ति दोषम् ।
भौतोपसर्गनिपुणाः प्रवदन्ति भौतम्,
सन्तो वदन्ति च पुराऽकृतपुण्यमेव[2]" ॥१४५॥
जनाग्रहान्नृपोऽन्येद्युः कौमुद्याश्च महोत्सवे ।
पूर्वस्मिन् विपिने गच्छन् प्रोवाचेति प्रियां प्रति ॥१४६॥
यस्मिंस्तरावयं पुत्रश्छलितः केनचित्तदा ।
तेनायं दूरतस्त्याज्य इति यावन्नृपो जगौ ॥१४७॥
तस्यैव तावताऽऽम्रस्य तले दध्वान दुन्दुभिः ।
किमित्युक्ते नृपेणैत्य कश्चित्प्राहेति मानवः ॥१४८॥
स्वामिन्नस्य तरोर्मूले श्रीदत्तस्य मुनीशितुः ।
तपोध्यानपरस्याद्योत्पन्नं केवलमुज्ज्वलम् ॥१४९॥ यतः—
"प्रणिहन्ति क्षणार्द्धेन साम्यमालम्ब्य कर्म तत् ।
यन्न हन्यान्नरस्तीव्रतपसा जन्मकोटिभिः ॥१५०॥
कर्म्म जीवं च संश्लिष्टं परिजातात्मनिश्चयः ।
विभिन्नीकुरुते साधुः सामायिकशलाकया ॥१५१॥

[1] ज्योतिर्विदो घ । [2] पुराकृतकर्ममेव घ ।

रागादिध्वान्तविध्वंसे कृते सामायिकांशुना।
स्वस्मिन् स्वरूपं पश्यन्ति योगिनः परमात्मनः ॥१५२॥
समेत्य स्वर्गतो देवा भक्तिभावितमानसाः।
कुर्वन्ति केवलज्ञानोत्सवं रैपद्मकल्पनात् ॥१५३॥
"पंचसु जिणकल्लाणेसु महरिसितवाणुभावाओ।
जम्मंतरनेहेण य आगच्छन्ति सुरा इहयं" ॥१५४॥
देवी प्राह तदा नाथ! केवली पृच्छ्यतेऽधुना।
सुतस्य जल्पनोपायो गत्वा तत्र सुभक्तितः ॥१५५॥ यतः—
"सम्भिन्नं पासंतो लोगमलोगं च सव्वओ सव्वं।
तं नत्थि जं न पासइ भूयं भव्वं भविस्सं च" ॥१५६॥
ततो राजा परीवारयुतस्तत्रैत्य सप्रियः।
प्रदक्षिणादिविधिना ववन्दे श्रीगुरूत्तमान् ॥१५७॥ यतः—
"सचित्तदव्वमुज्झणमचित्तमणुज्झणं मणेगत्तं।
इगसाडी उत्तरासंग अंजली सिरसि जिणदिट्ठे ॥१५८॥
इअ पंचविहाभिगमो अहवा मुंचंति रायचिन्हाइं।
खग्गं १ छत्तो २ वाणह ३ मउडं ४ चमरे ५ अ पंचमए" ॥
उदारैः स्तवनैः स्तुत्वा भक्तितो मेदिनीपतिः।
कृतोत्सङ्गसुतः श्रोतुं देशनां समुपाविशत् ॥१६०॥ तथाहि—

"सद्वंशजन्म गृहिणी स्पृहणीयशीला,
लीलायितं वपुषि पौरुषभूषणश्रीः।
पुत्राः पवित्रचरिताः सुहृदोऽपदोषाः,
स्युर्धर्मतः खलु फलानि पचेलिमानि ॥१६१॥

विरोधिता बन्धुजनेषु नित्यं सरोगता मूर्खजनेषु सङ्गः।
क्रूरस्वभावः कटुवाक् सरोषो नरस्य चिह्नं नरकागतस्य ॥१६२॥
स्वर्गच्युतानामिह जीवलोके चत्वारि नित्यं हृदये वसन्ति।
दानप्रसङ्गो विमला च वाणी देवार्चनं सद्गुरुसेवनं च" ॥
भूपोऽवगस्य वृक्षस्य तलेऽस्य तनयस्य मे।
मुद्रिताऽभूत् कुतो वाणी प्रसद्य कथ्यतां प्रभो! ॥१६४॥

सूरिः प्रोवाच जीवानां पुण्यपापमयात्मनाम् ।
सुखदुःखानि जायन्ते भूरिशः पृथिवीतले ॥१६५॥ यतः—
केऽपि सहस्रंभरयो लक्षंभरयश्च केऽपि नराः ।
नात्मंभरयः केचिद् फलमेतत् सुकृतदुष्कृतयोः ॥१६६॥
गुरुः प्राह सुतस्तेऽद्य वक्ता शीघ्रं करिष्यते ।
राज्ञोक्तं क्रियतां सद्यः स्फुटवक्ता सुतो मम ॥१६७॥
वन्दस्व शुकराजास्मान् विधिनेति गुरूदिते ।
समुत्थाय मुदा स्पष्टाक्षरैरेवं स वन्दते ॥१६८॥
"अणुजाणह पसाउ करी'ति शुकेनोक्ते गुरुः प्राह—'इच्छं' ।
ततः प्राह शुकः—'इच्छामि खमासमणो वंदिउं
जावणिज्जाए निसीहिआए मत्थएण वंदामि" ।
ब्रुवन्नेवं मुनिं भक्त्या ववन्दे यावदेव सः ।
तावत्सर्वो जनश्चक्रे चमत्कारं भृशं हृदि ॥१६९॥
राज्ञोक्तं भगवन्नस्य सुनोरजनि किं मम ।
ततः पूर्वभवं तस्य गुरुराचष्ट शिष्टवाग् ॥१७०॥ तथाहि—

श्रीभद्दिलपुरे भूपो जितारिः संसदि स्थितः ।
प्रतीहारेण विज्ञप्त इति प्राञ्जलिनाऽन्यदा ॥१७१॥
स्वामिन्नेको नरो द्रष्टुं त्वामिच्छति बहिः स्थितः ।
समानयेति भूपोक्ते तेनानीतः पुमान् स च ॥१७२॥
भूपोऽप्राक्षीत्कुतः कस्मिन्नर्थेऽत्रासि त्वमागतः ।
दूतः प्राहास्ति पूर्वस्यां दिशि लक्ष्मीवती पुरी ॥१७३॥
तस्यां विजयदेवस्य भार्या प्रीतिमती सती ।
असूत तनयान् वर्यान् सोमभीमधनार्जुनान् ॥१७४॥
तेषां जन्मोत्सवे निष्पादिते प्रीतिमती प्रिया ।
सूते स्म तनये हंसीसारस्याह्वे क्रमात् वरे ॥१७५॥
क्रमेण पण्डितोपान्ते पाठ्यमाने सुते उभे ।
नृपेण सर्वशास्त्रेषु समभूतां विचक्षणे ॥१७६॥ यतः—
"आहारनिद्राभयमैथुनानि, सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
ज्ञानं विशेषः खलु मानुषाणां, ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः"॥

मिथःप्रीतिपरे हंसीसारस्यौ नृपतेः सुते ।
देहच्छाये इवाभीक्ष्णं तिष्ठतो न कदा पृथक् ॥१७८॥
अन्येद्युर्नृपतिः प्रेक्ष्योद्वाहयोग्ये सुते उभे ।
प्राह हे तनये ! कस्मै कुत्र देशे ददाम्यहम् ॥१७९॥
ऊचतुर्यदि तुष्टोऽसि तातेदानीं त्वमावयोः ।
तदैकस्मै वरायावां ददस्व स्याद् यतः सुखम् ॥१८०॥
वरं वरयते कन्या माता वित्तं पिता कुलम्[1] ।
बान्धवाः धनमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जनाः ॥१८१॥
एकं वरं ददामीति गदित्वा नृपतिर्व्यधात्[2] ।
विचार्य सज्जनैः सार्धं स स्वयंवरमण्डपम् ॥१८२॥
लग्नं लात्वाऽनघं माघसिताष्टम्यां महीपतिः ।
प्रेषयामास भूयिष्ठदेशे कुङ्कुमपत्रिकाः ॥१८३॥
तेनात्राहं महीशेन प्रेषितो भवदन्तिके ।
तत्रागच्छेत् भवान् वाचयित्वा कुङ्कुमपत्रिकाम् ॥१८४॥

जितारिभूपतिर्वाचयित्वा कुङ्कुमपत्रिकाम् ।
सद्यः शुद्धपरिवारो ययौ तत्र स्वयंवरे ॥१८५॥
अंगवंगतिलंगादिदेशाधीशान् बहून् वरान् ।
दूतीकीर्तिततद्वंशान् समतीत्य क्रमात्तदा ॥१८६॥
सुखासनसमासीने भूपपुत्र्यावुभे अपि ।
जितारेश्चक्रतुः[3] कण्ठे वरमालां मनोरमाम् ॥१८७॥ युग्मम् ॥
सद्रूपे नृपतेः पुत्र्यौ परिणीय सदुत्सवम् ।
लब्धभूरितुरङ्गेभो जितारिरचलत्ततः ॥१८८॥
प्रियायुग्मयुतं भूपं जितारिं समहोत्सवम् ।
आगच्छन्तं निजावासे श्रुत्वा तत्रैति स्त्रीजनः ॥१८९॥
एकनेत्राञ्जनक्षेपा काचिन्नारी कृतत्वरा ।
द्रष्टुं भूमीपतिं पत्नीयुतं तत्र समागमत् ॥१९०॥
एवं कृतार्द्धकार्याणि मुक्त्वा बह्व्यो मृगेक्षणाः ।
राजमार्गे नृपं द्रष्टुं समाजग्मुः कृतत्वराः ॥१९१॥ यतः—

१ श्रुत घ। २ स्वजन–ग–घ। ३ जितारेर्दधतु कंठे ग।

"तिअहं तिन्नि पीआरडां कलि कज्जल सिन्दूर ।
अनि जि तिन्नि पीआरडां दूध जमाइ तूर" ॥१९२॥
जितारिर्भूपतिर्हंसीसारसीभ्यां समन्वितः ।
शोभते रतिप्रीतिभ्यामिवाभीक्ष्णं मनोभवः ॥१९३॥
अन्येद्युर्गृहिणीयुग्मयुतो जितारिभूपतिः ।
उद्याने श्रीधराचार्यान् वन्दितुं समुपागमत् ॥१९४॥
"धर्माज्जन्म कुले शरीरपटुता सौभाग्यमायुर्बलम् ,
धर्मेणैव भवन्ति निर्मलयशोविद्यार्थसम्पत्तयः ।
कान्ताराच्च महाभयाच्च सततं धर्मः परित्रायते,
धर्मः सम्यगुपासितो भवति च स्वर्गापवर्गप्रदः ॥१९५॥
अत्र धर्मोपदेशः ।
धर्मं जीवदयामूलं जितारिर्मेदिनीपतिः ।
गृहीत्वा गृहिणीयुक्तो निजावासं समीयिवान् ॥१९६॥
"आसन्ने परमपए पावेयव्वम्मि सयलकल्लाणे ।
जीवो जिणिंदभणिअं पडिवज्जइ भावओ धम्मं" ॥१९७॥

बबन्ध सरला हंसी नृयोग्यं कर्म धर्मतः ।
स्त्रीयोग्यं सारसी मायाविनी वक्राशया सदा ॥१९८॥ यतः—
"संतुट्ठा सुविणीया अज्जवजुत्ता य जो थिरा निच्चं ।
सच्चं जंपइ महिला सा पुरिसो होइ मरिऊणं ॥१९९॥
जो चवलो सढभावो मायाकवडेहिं वञ्चए सयणं ।
नहि कस्स य वीसत्थो सो पुरिसो महिलिआ होइ" ॥२००॥
कियत्यपि गते काले सारसी कुटिलाशया ।
कुर्वाणा कलहं हंस्या सार्द्धं तिष्ठति संततम् ॥२०१॥ यतः—
एकद्रव्याभिलाषे हि जीवानां द्विविधं मनः ।
विशेषतः सपत्नीनां सरलत्वं सुदुर्लभम् ॥२०२॥
गवाक्षस्थो बहिः सार्थं व्रजन्तं मेदिनीपतिः ।
दृष्ट्वाऽन्यदा जगौ भर्त्यान् प्रतीदं वचनं द्रुतम् ॥२०३॥
कुत्रत्योऽयं व्रजन् सार्थो दृश्यते साम्प्रतं ततः ।
ज्ञात्वेति सेवकैरूचे भूपतेरग्रतः स्फुटम् ॥२०४॥

श्री शङ्खपुरवास्तव्यः संघः श्रीविमलाचले।
युगादीशं जिनं नन्तुं साम्प्रतं याति भूपते! ॥२०५॥
सङ्घमध्ये नृपो गत्वा सद्यः श्रीश्रुतसागरान्।
कल्याणीभक्तितो नत्वा पप्रच्छेति कृताञ्जलिः ॥२०६॥यतः-
"विनयं राजपुत्रेभ्यः पण्डितेभ्यः सुभाषितम्।
अनृतं द्यूतकारेभ्यः स्त्रीभ्यः शिक्षेत कौतुकम् (कैतवम्) ॥
किमर्थं गम्यते तत्र भवद्भिर्विमलाचले।
प्रोचुः श्रीसूरयस्तस्य माहात्म्यं विद्यते महत् ॥२०८॥ यतः-
"सुधाञ्जनं सज्जनलोचनेषु, मिथ्यादृशामक्षिषु धूमरेखाम्।
पश्यन्ति तत्रादिममर्हतं(न्तं) ये, संसारसिंधुं लघु ते तरन्ति ॥
पुण्यं चिनोति नरजन्म फलं तनोति,
पापं लुनाति नयनानि सतां पुनाति।
दूरेऽपि दर्शनपथं समुपागतो यः,
श्रीमानसौ विजयतां गिरिपुण्डरीकः" ॥२१०॥

तस्मिन् तीर्थे जिनाधीशाश्चत्वारः समवासरन्।
अतश्च संसरिष्यन्ति जिना एकोनविंशतिः ॥२११॥ यतः-
"सिरिनेमिनाहवज्जा जत्थ जिणा रिसहपमुहवीरंता।
तेवीसं समोसरीआ सो विमलगिरी जयउ तित्थं" ॥२१२॥
पुण्डरीकमुखा यत्र मुनयः पञ्चकोटयः।
सिद्धा नमिविनम्याद्या जितात्मानो द्विकोटयः ॥२१३॥
द्रविडो वालखिल्यश्च साधुभिर्दशकोटिभिः।
प्रद्युम्नः शाम्बकः सिद्धः सार्धं सार्धं त्रिकोटिभिः ॥२१४॥
पाण्डवा नारदा मुक्ता शुकसेलगसूरयः।
निर्वृतो भरतो रामः परे दशरथात्मजाः ॥ ॥२१५॥
को ममावङ्गुलर्व्योम्नः को वा नीरं सरस्वतः।
श्रीशत्रुञ्जयसंसिद्धान् गणयेदमरोऽपि कः" ॥२१६॥
निशम्य तीर्थमाहात्म्यं तत्क्षणात् भूपतिस्तदा।
पश्यतां मन्त्रिणामादादभिग्रहमिति स्फुटम् ॥२१७॥

नत्वैव श्रीयुगादीशं मया विमलपर्वते ।
ग्राह्यमन्नं पयः पादचारिणा गम्यमेव च ॥२१८॥
जितारिर्भूपतिः सङ्घसार्द्धेन गृहिणीयुतः ।
चचाल श्रीयुगादीशं नन्तुं श्रीविमलाचले ॥२१९॥
गच्छतो नृपतेः शीघ्रमभूवन् सप्त वासराः ।
महाटव्यामभूत् सर्वः सङ्घो व्याकुलमानसः ॥२२०॥
मन्त्रिणा सूरयः पृष्टाः कियान् मार्गोऽस्ति साम्प्रतम् ।
गुरुणोचे च काश्मीरदेशोऽयं विद्यते ननु ॥२२१॥
मन्त्री प्रोवाच भूपेनाभिग्रहो दुष्करो लले ।
देव्यादिः सकलो लोको व्याकुलोऽजनि सम्प्रति ॥२२२॥
आकार्य नृपतिं सूरिः प्रोवाचेति स्फुटाक्षरम् ।
सहसाऽभिग्रहो लातो भवता तेन पार्यताम् ॥२२३॥ यतः—
उक्तं सहसागारेणमित्यादि ।
इत्यादि कथिते भूपोऽभिग्रहं नैव मुञ्चति ।
ततश्चिन्तापरो मन्त्री बभूवातीव दुःखितः ॥२२४॥

सुप्तस्य मन्त्रिणः स्वप्ने तीर्थेशो गोमुखोऽगदत् ।
चिन्तां कुरुष्व मा चित्ते करिष्येऽहं तवेप्सितम् ॥२२५॥
प्रभाते प्रथमे यामे सङ्घस्य गच्छतोऽध्वनि ।
आनयिष्याम्यहं सत्यं सम्मुखं विमलाचलम् ॥२२६॥
नत्वा देवं महीशाद्यैः पूरणीया अभिग्रहाः ।
एवं स्वप्नो ददे तेनान्येषां प्रत्ययहेतवे ॥२२७॥
प्रभाते सूरिभूपालामात्याद्या बहवो जनाः ।
मिलित्वा स्वप्नवृत्तान्तं नैशमूचुः परस्परम् ॥२२८॥
चलन् मार्गे नृपस्तीर्थं दृष्ट्वा श्रीसङ्घसंयुतः ।
अपूरिष्ट जिनार्चादिचारुकृत्यैरभिग्रहम् ॥२२९॥
द्रव्यभावस्तवं चारुपुष्पैः स्तोत्रैश्च सुन्दरैः ।
कृत्वा महीपतिर्जन्म चकार सफलं निजम् ॥२३०॥
प्रभुं नत्वा नृपस्यांह्री न गन्तुं वहतोऽग्रतः ।
जिनं नत्वा चलित्वा च वलते च महीपतिः ॥२३१॥

एवं पुनः पुनर्भूपं कुर्वाणं वीक्ष्य मन्त्रिणः ।
प्रोचुः स्वामिन् ! किमारब्धमीदृक्षं वलनादिभिः ॥२३२॥
राज्ञोक्तं नहि जानामि क्रमौ मे चलतश्च न ।
मन्त्री प्राहात्र नगरं स्थाप्यते स्थीयते पुनः ॥२३३॥
संस्थाप्य नगरीं नानाजिनेभ्यालयमालिताम् ।
श्रीविमलाभिधां तत्र तस्थौ धर्मपरो नृपः ॥२३४॥
इतो गोमुखयक्षेणागत्योक्तं नृपतेः पुरः ।
विकुर्व्य रचितः शैलः पुण्डरीकाभिधो मया ॥२३५॥
भवतोऽभिग्रहः पूर्णः सङ्घस्य चाखिलः पुनः ।
तेनामुं पर्वतं संहरिष्यामि साम्प्रतं द्रुतम् ॥२३६॥
त्वयाऽतो मुख्यसिद्धाद्रौ सुराष्ट्रादेशभूषणे ।
गत्वा श्रीऋषभो देवो वन्दितव्यः सुभावतः ॥२३७॥ यतः–
विकुर्वितं समं वस्तु गेहादि चित्तहर्षदम् ।
पक्षादुपरि नो कुत्र तिष्ठत्युक्तं जिनागमे ॥२३८॥

ततोऽन्येद्युर्नृपः सङ्घसहितो विमलाचले ।
युगादीशं जिनं नन्तुं ययौ मुदितमानसः ॥२३९॥
चारुस्नात्रमहापूजाध्वजारोपादिभिर्भृशम् ।
श्रीसङ्घसहितो भूपश्चकृवान् सफलं जनुः ॥२४०॥
विधाय रुचिरां यात्रां गृह्णन् मर्त्यजनुःफलम् ।
श्रीविमलां पुरीं भूपः समागात् सङ्घसंयुतः ॥२४१॥
ततो जितारिर्नृपतिः पुरीतो, गजाश्वसत्पत्तिरथादिशाली ।
प्रियायुतश्चारुमहोत्सवेन श्रीभद्दिलायां पुरि द्रागियाय ॥
अन्येद्युस्तत्पुरोद्याने गुरून् सिद्धान्तसागरान् ।
श्रुत्वाऽऽगतान् नृपः सान्तःपुरो वन्दितुमीयिवान् ॥२४३॥
पूज्यपूजा दया दानं तीर्थयात्रा जपस्तपः ।
श्रुतं परोपकारश्च मर्त्यजन्मफलाष्टकम् ॥२४४॥
जिनार्चादिफलं स्वर्गापवर्गादिसुखं तदा ।
श्रुत्वा राजाऽभवज्जीवदयाधर्मणि (में च) कर्मठः ॥२४५॥

कुर्वन् राज्यं महीशोऽन्ते गृहीत्वाऽनशनं मुदा ।
दीयमानान् नमस्कारान् शुश्राव ध्यानतत्परः ॥२४६॥
अत्रान्तरे युगादीशप्रासादशिखरस्थितम् ।
शब्दायन्तं शुकं श्रुत्वा ददौ तत्र मनो नृपः ॥२४७॥
पश्यन् महीपतिः कीरं प्रासादशिखरस्थितम् ।
मृत्वा प्रान्ते शुकीभावं प्राप कर्मनियोगतः[1] ॥२४८॥ यतः-
"ठाणं उच्चुच्चयरं मज्झं हीणं च हीणतरगं वा ।
जेण जहा गंतव्वं चिट्ठा वि से तारिसी होइ" ॥२४९॥
निरन्तरं कृतानेकपुण्यपापमयात्मनाम् ।
जायते प्राणिनामन्ते या मतिः सा गतिर्भवेत्" ॥२५०॥
लोकैरुक्तमयं भूपः पुण्यवान् जग्मिवान् दिवम् ।
यतो गतागतिं सम्यक् छद्मस्थो वेत्ति नो जनः ॥२५१॥
मृत्युकार्ये कृते हंसीसारस्यौ गुरुसन्निधौ ।
वैराग्यवासितस्वान्ते प्रव्रज्यां ललतुर्मुदा ॥२५२॥

कुर्वत्यौ षष्ठकल्पादि तपो घोरं निरन्तरम् ।
सद्ध्यानाद् ययतुर्हंसीसारस्यौ प्रथमं दिवम् ॥२५३॥
हंसीसारसिकाजीवौ तत्र देव्यौ सुखस्थितौ ।
पश्चाद् भवस्य संबन्धं पश्यतः स्मेति सादरम् ॥२५४॥
अवधिज्ञानतो ज्ञात्वा निजं कान्तं शुकं वने ।
समेत्य प्रतिबोधाय ते देव्याविदमूचतुः ॥२५५॥
त्वया पूर्वभवे कीर ! कृतं पुण्यं बहु स्फुटम् ।
आर्तध्यानेन च प्रान्ते तिर्यक्त्वं प्रापि दैवतः ॥२५६॥
तेनाधुना शुभं ध्यानं कुरु कीर ! स्वमानसे ।
येन ते जायते स्वर्गापवर्गादिसुखं क्रमात् ॥२५७॥
एवं धर्म्मोपदेशेन ग्राहितोऽनशनं शुकः ।
मृत्वा स्वर्गेऽगमत् तत्र पूर्वपत्नीविराजिते ॥२५८॥
देवस्ताभ्यां सुरीभ्यां सोऽनुभवन् सुखमन्वहम् ।
न जानाति गतं कालं भूयिष्ठमपि ताविषे ॥२५९॥

१-ऽभवत्कीरस्तादृग्ध्याननियोगत. घ।

द्वित्रिवारं दिवश्च्युत्वा प्राप्याथ मानुषं जनुः ।
पुनर्जितारिदेवस्य पत्न्यौ वर्ये बभूवतुः ॥२६०॥
च्युते देवीद्वये पूर्वं देवो दुःखेन पूरितः ।
न चिक्रीड मनाग् वापीवनादिषु कदाचन ॥२६१॥ यतः—
"ईसाविसायमयकोहमायालोभेहिं एवमाईहिं ।
देवा वि समभिभूआ तेसिं कुत्तो सुहं नाम ॥२६२॥
देवा विसयपसत्ता नेरइआ विविहदुःखसंतत्ता ।
तिरिआ विवेगविगला मणुआणं धम्मसामग्गी" ॥२६३॥
धर्मं श्रोतुमना धर्मघोषकेवलिसन्निधौ ।
अन्येद्युः स सुरो लक्ष्मीपुरोद्याने समागमत् ॥२६४॥

अत्रोपदेशः ।

देशनान्ते सुरोऽप्राक्षीत् जितारिर्गुरुसंनिधौ ।
बोधिः किं सुलभा मे स्याद् दुर्लभा वा निगद्यताम् ॥२६५॥
गुरुः प्रोवाच सुलभा बोधिस्तेऽत्र भविष्यति ।
देवेन कथमित्युक्ते पुनः प्राहेति केवली ॥२६६॥
ये त्वत्प्रिये च्युते पूर्वं तन्मध्यात् शुभकर्मतः ।
हंसीजीवः क्षितिप्रतिष्ठितेशोऽभून्मृगध्वजः ॥२६७॥
वनमध्ये युगादीशसद्मोपान्ताश्रमेऽभवत् ।
श्रीगागलिऋषेः पुत्री सारसा जीव इत्यपि ॥२६८॥
जाताऽस्ति सारसीजीवः श्रीगागलिऋषेः पुनः ।
सुता कमलमालेति विमलाचलसन्निधौ ॥२६९॥
त्वं तयोस्तनयो भूत्वा लब्ध्वा जातिस्मृतिं पुनः ।
लप्स्यसे विमलां बोधिं संसाराब्धितरीनिभाम् ॥२७०॥
आकर्ण्यैतद् गुरोरास्यात् स सुरो मुदिताशयः ।
कीररूपं चकाराशु सर्वावयवसुन्दरम् ॥२७१॥
त्वां च तत्राश्रमे नीत्वा परिणाय्य ऋषेः सुताम् ।
प्रददौ स्फारशृङ्गारं स्नेहेन निर्जरः स च ॥२७२॥

---

१ मृगध्वजस्य कमलमालायास्तनयो भवान् । अभविष्यद् यदि ते बोधिबीजं तदा भविष्यति ॥ इति कपुस्तकेऽधिकः पाठ ।

पुनस्तेनैव रूपेण त्वां नीला नगरे निजे ।
मन्वानः सुलभां बोधिं स्वस्मिन् स्वर्गे ययौ सुरः ॥२७३॥
काले च्युत्वा सुरः सोऽपि जितारिस्तेऽभवत् सुतः ।
शुकराजेति तस्याह्वां त्वमदाः समहोत्सवम् ॥२७४॥
त्वामत्र भार्यया सार्द्धं वार्तां कुर्वाणमैक्ष्य च ।
प्राप्तजातिस्मृतिर्दध्यावेवं सूनुरयं तव ॥२७५॥
एतौ मे पितरौ पूर्वभवेऽभूतां प्रिये प्रिये ।
ब्रवीम्यहं कथं तात ! मातरेवं च साम्प्रतम् ॥२७६॥
अतो मे श्रेयसे मौनं विचिन्त्येति निजाशये ।
मौनी बभूव ते पुत्रो ज्ञेयं सत्यमिदं त्वया ॥२७७॥
दधानं मानसे दुःखं शुकराजं समीक्ष्य च ।
प्रोवाच केवली चित्रं विद्यते भवनाटकम् ॥२७८॥ यतः—
"देवो नेरइउत्ति अ कीडपयंगुत्ति माणुसो वेसो ।
रूवस्सी य विरूवो सुहभागी दुक्खभागी अ ॥२७९॥
रायत्ति अ दमगुत्ति अ, एस सपागुत्ति एस वेयविऊ ।
सामी दासो पुज्जो, खलत्ति अधणो धणवइत्ति ॥२८०॥
नवि इत्थ कोइ नियमो, सकम्मविणिविट्ठसरिसकयचिट्ठो ।
अनुन्नरूववेसो, नडुव्व परियत्तए जीवो" ॥२८१॥
यः पिता स भवेत्पुत्रो यः पुत्रः स पिता भवेत् ।
या कान्ता सा भवेन्माता या माता सा भवेत् पिता ॥२८२॥
तस्मान्न रागो कर्त्तव्यो विद्वेषश्च मनागपि ।
व्यवहारो विधातव्यः केवलं समताविदा ॥२८३॥
न सा जाई न सा जोणी न तं ठाणं न तं कुलम् ।
न जाया न मुआ जत्थ सव्वे जीवा अणंतसो ॥२८४॥
"मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
संसारेऽत्र व्यतीतानि कस्याहं कस्य बान्धवाः ॥२८५॥
अहं तात ! त्वया जातो मया त्वं च सहस्रशः ।
सुत एव पिता जातस्तात ! मायाविजृम्भितम्" ॥२८६॥

वभूव मम वैराग्यं यथाऽऽशु श्रूयतां तथा ।
भरतेऽत्र पुरं रम्यमभून्मन्दिरनामतः ॥२८७॥ [श्रीदत्तकथा]
सूरकान्तो नृपस्तत्र प्रशशास[1] प्रजां नयात् ।
तस्य मान्योऽभवत्सोमश्रेष्ठी श्रेष्ठिशिरोमणिः ॥२८८॥
गृहिणी तस्य सोमश्रीः श्रीदत्तस्तनयस्तयोः ।
श्रीमतीति प्रिया तस्य वभूव शीलशालिनी ॥२८९॥ यतः—
"पत्नी प्रेमवती सुतः सविनयो भ्राता गुणालंकृतः,
स्निग्धो वन्धुजनः सखाऽतिचतुरो नित्यं प्रसन्नः प्रभुः ।
निर्लोभोऽनुचरः परार्त्तिशमने प्राप्तोपयोगं धनम्,
कल्याणाभ्युदयेन सन्ततमिदं कस्यापि संपद्यते" ॥२९०॥
सोमोऽन्यदा प्रियायुक्तः क्रीडितुं विपिने ययौ ।
तावत्तत्रागतः सूरकान्तः सान्तःपुरस्तदा ॥२९१॥
निजरूपजितस्वर्गिवधूं सोमश्रियं तदा ।
वीक्ष्य रागान्नृपः स्वान्तःपुरे चिक्षेप दुष्टधीः ॥२९२॥ यतः—

"प्रायः परधनस्त्रीषु मूढानां हि मतिर्भवेत् ।
यदपथ्यं शरीरस्य तद्धि मन्दाय रोचते ॥२९३॥
विकलयति कलाकुशलं हसति शुचिं पण्डितं विडम्बयति ।
अधरयति धीरपुरुषं क्षणेन मकरध्वजो देवः" ॥२९४॥
दीनः श्रेष्ठी द्रुतं भूपमान्यानामेत्य मन्दिरम् ।
प्राह प्रियापहारादिस्वरूपं गद्गदस्वरम् ॥२९५॥
तेऽपि गत्वा नृपोपान्ते प्रोचुरेवं स्फुटाक्षरम् ।
जायते दुष्कृतं घोरं परस्त्रीहरणे भृशम् ॥२९६॥ यतः—
"भक्खणे देवदव्वस्स परत्थी गमणेण य ।
सत्तमं नरयं जंति सत्तवारा उ गोयमा !" ॥२९७॥
सूरकान्तः नृपः प्राह सोमश्रियं वणिक्प्रियाम् ।
नहि मुञ्चाम्यहं प्राणात्ययेऽपि किं प्रजल्पनैः ॥२९८॥
ततस्तैर्मन्त्रिभिः प्रोक्तं आगत्य श्रेष्ठिसन्निधौ ।
गजः कर्णे कथं धार्यो निवार्यो नृपतिः कथम् ॥२९९॥

१ ररक्ष जनता न—क ।

विद्युत्पातः कथं धार्यो नदीवेगः कथं पुनः ।
कथं धार्योऽनिलस्तीव्रः सदा वह्निः शरीरिणा ॥३००॥

माता यदि विषं दद्यात् पिता विक्रयते सुतम् ।
राजा हरति सर्वस्वं का तत्र परिदेवना ॥३०१॥

ततः श्रेष्ठी समेत्यौकः स्वं प्राहेति सुतं प्रति ।
राज्ञा दुष्टेन त्वन्माता गृहीता साम्प्रतं बलात् ॥३०२॥

तथापि वीक्ष्यते पुत्र ! वालिता द्रविणव्ययात् ।
स्वगृहे सन्ति द्रव्यस्य षट् लक्षा साम्प्रतं ननु ॥३०३॥

तन्मध्यादर्द्धमादाय सेवित्वा बलिनं नृपम् ।
वालयिष्ये बलादेव शीघ्रं च तव मातरम् ॥३०४॥

विमृश्येति धनं भूरि लात्वा श्रेष्ठी रहस्तदा ।
चचाल दिशि कस्यांचित् मुत्कलाप्य सुतं द्रुतम् ॥३०५॥

श्रीदत्तस्य गृहस्थस्य प्रियाऽसूतान्यदा सुताम् ।
पुत्रीजन्म समाकर्ण्य श्रीदत्तो ध्यातवानिति ॥३०६॥ यतः—

"मायपिअराण विरहो धणनासो अज्ज पुत्तिआजम्म ।
नरनाहोपि विरुद्धो दइवं रुट्ठं न किं देइ ॥३०७॥

जम्मंतीए सोगो वड्ढन्तीए वड्ढए चिन्ता ।
परिणीआए दण्डो जुवइपिआ दुक्खिओ निच्चम् ॥३०८॥

निअघरसोसा परगेहमण्डणी कलिकलङ्ककुलभवणम् ।
जेहिं न जाया धूआ ते सुहिआ जीवलोगम्मि" ॥३०९॥

शङ्खदत्तेन मित्रेण श्रीदत्त इति भाषितः ।
धनं विना न ना भाति तेन श्रीरर्ज्यतेऽधुना ॥३१०॥ यतः—

"शीलं शौचं तपः क्षान्तिर्दाक्षिण्यं मधुरता कुले जन्म ।
न विराजन्ति हि सर्वे वित्तहीनस्य पुरुषस्य ॥३११॥

साकारोऽपि सविद्योऽपि निःश्रीकः क्वापि नार्घ्यते ।
व्यक्ताक्षरः सुवृत्तोऽपि द्रमः कूटो यथा जने" ॥३१२॥

गत्वा तेनाम्बुधौ लक्ष्मीरर्ज्यते भूयसी किल ।
अर्धमर्धं गृहीष्यावस्तस्या आवां विभागतः ॥३१३॥

कृत्वेति निश्चयं पत्नीं दशाहतनयायुताम् ।
विमुच्य सदनेऽचालीत् श्रीदत्तोऽम्बुधिवर्त्मनि ॥३१४॥
श्रीदत्तो मित्रसंयुक्तो महाम्भोधौ व्रजन् क्रमात् ।
लक्ष्म्यर्थं सिंहलद्वीपं समागान्मुदिताशयः ॥३१५॥ [युग्मम्]
स्थित्वा तत्र नवाब्दानि समुपार्ज्य धनं बहु ।
श्रुत्वा लाभं कटाहाह्वद्वीपं प्रति प्रचेलतुः ॥३१६॥ यतः–
"धनहीनः शतमेकं सहस्रं शतवानपि ।
सहस्राधिपतिर्लक्षं कोटिं लक्षेश्वरोऽपि च ॥३१७॥
कोटीश्वरो नरेन्द्रत्वं नरेन्द्रश्चक्रवर्तिताम् ।
चक्रवर्ती तु देवत्वं देवोऽपीन्द्रत्वमिच्छति" ॥३१८॥
विहृतिं तत्र कुर्वद्भ्यां द्वाभ्यां लेखे कृते सति ।
अष्टौ कोट्यो धनस्यासन् पूर्वपुण्योदयात्तयोः ॥३१९॥
क्रयाणकानि भूयांसि गजाश्वादींश्च भूरिशः ।
गृहीत्वा चेलतुस्तौ स्वं स्थानं प्रत्यब्धिवर्त्मना ॥३२०॥

गच्छन्तौ तौ निरीक्ष्यैकां मञ्जुषां जलमध्यतः ।
निन्यतुर्धीवरात्प्रेक्ष्य निजोपान्ते प्रमोदतः ॥३२१॥
ताभ्यामिति मिथः प्रोक्तं यन्मध्येऽस्या भविष्यति ।
स्वर्णरत्नादि तत्सर्वं विभज्यार्द्धेन गृह्यते ॥३२२॥
इत्युक्त्वोद्घाटिता पेटा वणिग्भ्यां यावदेव हि ।
तावदेका कनी दृष्टा निम्बपत्रोपरि स्थिता ॥३२३॥
निरीक्ष्याचेतनां नीलवर्णां तामिति जल्पतः ।
नूनमेषाऽहिना दष्टा जले केन प्रवाहिता ॥३२४॥
शङ्खदत्तो जगावेवं जीवयिष्याम्यहं ननु ।
इत्युक्त्वा मन्त्रपूतेनाम्बुना सज्जीकृता द्रुतम् ॥३२५॥
सद्रूपां तां निरीक्ष्यावक् शङ्खदत्त इति स्फुटम् ।
एतामहं हि लास्यामि जीवितव्यप्रदानतः ॥३२६॥
श्रीदत्तः प्राह मा वादीर्मित्रैवं साम्प्रतं स्फुटम् ।
यतोऽर्द्धमर्द्धमावां हि लास्याव इति जल्पितम् ॥३२७॥

त्वं किञ्चिद् विभवं लात्वा मह्यमेनां प्रदेहि भोः ।
शङ्खदत्तोऽपि तत्रैवं जगावरुणलोचनः ॥३२८॥
मयि जीवति रे दुष्ट पापिष्ठ निष्कृपाशय ।
ग्रहीष्यसि कथं कन्यामेनां श्रीदत्त ! साम्प्रतम् ॥३२९॥यतः
"हा नारी निर्मिता केन सिद्धिस्वर्गार्गला खलु ।
यत्र स्खलन्ति हा मूढाः सुरा अपि नरा अपि ॥३३०॥
बाला अपि बलात्कारान् मनो बलवतामपि ।
गृहीत्वा मीनमिव हा पीडयन्ति मृगेक्षणाः ॥३३१॥
रामाभिर्मोहितो जीवो न जानाति हिताहितम् ।
हताखिलविवेकाभिर्वारुणीभिरिव स्फुटम् ॥३३२॥
प्राप्तुं पारमपारस्य पारावारस्य पार्यते ।
स्त्रीणां प्रकृतिवक्राणां, दुश्चरित्रस्य नो पुनः ॥३३३॥
विवदन्तौ भृशं तौ च दृष्ट्वा निर्यामका जगुः ।
विवादो विद्यते भूरिदुःखदायी न संशयम् ॥३३४॥

दिनद्वयाध्वनि स्वर्णकूलं नाम्ना तटं पुरम् ।
विद्यन्ते चतुरास्तत्र भूरिशो भूपतेर्नराः ॥३३५॥
विवादं युवयोस्तत्र ते भङ्क्ष्यन्ति नरोत्तमाः ।
श्रुत्वैतत्तौ तदा वादं मुञ्चेते स्म परस्परम् ॥३३६॥
श्रीदत्तोऽचिन्तयन्मार्गे नूनमेषा मृगेक्षणा ।
अस्मै जीवितदानत्वात् लोकेन दापयिष्यते ॥३३७॥
अतोऽधुना करिष्याम्युपायं किंचिदहं रहः ।
ध्यात्वेति मायया मित्रं विश्वासयति निर्दयः ॥३३८॥यतः—
"मुखं पद्मदलाकारं वाचा चन्दनशीतला ।
हृदयं कर्त्तरीतुल्यं त्रिविधं धूर्तलक्षणम्" ॥३३९॥
रात्रावट्टालके स्थित्वा श्रीदत्तः प्रोचिवानिदम् ।
हे मित्र ! कौतुकं चारु दृश्यतेऽब्धौ महत्तरम् ॥३४०॥
मत्स्योऽष्टवदनो याति यानस्याधोऽधुना महान् ।
शङ्खदत्तस्ततो द्रष्टुं लग्नो यावत्प्रयत्नतः ॥३४१॥

श्रीदत्तश्छद्मना मित्रं क्षिप्त्वा पाथोनिधौ द्रुतम् ।
तन्वानो निकृतिं प्राह जनाग्रे गद्गदस्वरम् ॥३४२॥
मित्र ! त्वां विना प्राणा यास्यन्ति मम निश्चितम् ।
इत्यादि बहुशो जल्पन् रोदयत्यखिलं जनम् ॥३४३॥
लोकवाक्यात् शुचं मुक्त्वा स्वयं प्रीतस्ततोऽचलत् ।
श्रीदत्तः प्रययौ स्वर्णकूलं नाम्ना तटं पुरम् ॥३४४॥
श्रीदत्तेन तुरङ्गेभा ढौकिता धनभूपतेः ।
नैगमाय[1] ददे तस्मै सन्मानं दुष्टचेतसे ॥३४५॥
यानात्कन्यान्वितं वस्तु समुत्तार्याखिलं तदा ।
पणायामास वस्तूनि मुक्तशुल्को वणिग्वरः ॥३४६॥
आकार्य गणकान् कन्यामङ्गीकर्तुं वणिक् तदा ।
लाला मुहूर्तमनिशं ययौ भूपतिसंसदि ॥३४७॥
श्रीदत्तो नृपतेः पार्श्वे चार्वीं चामरहारिणीम् ।
दृष्ट्वाऽप्राक्षीत् स्त्रियस्तस्याः स्वरूपमेककं[2] नरम् ॥३४८॥

तेनोक्तमनया राजमान्यया स्वर्णरेखया ।
सार्द्धं वार्तां करोत्येकवारमेव नरः स च ॥३४९॥
योऽस्या ददाति पञ्चाशद्दीनारान्मानपूर्वकम् ।
यतोऽस्तीयं महीशस्य मान्यं पात्रं मनोहरम् ॥३५०॥ युग्मम् ।
श्रीदत्तो मोहितो दत्त्वा दीनारान् तत्क्षणाद् रहः ।
रथारूढां कनीयुक्तां तामादाय वनं ययौ ॥३५१॥
निविश्य चम्पकस्याधः श्रीदत्ते स्त्रीद्वयान्विते ।
क्रीडां कुर्वति तत्रागात् वानरीसहितः कपिः ॥३५२॥
स्वर्णरेखां प्रति प्राह श्रीदत्तः कौतुकी तदा ।
वानर्योऽस्य कपेः किं स्युरेतास्त्वं ब्रूहि मेऽग्रतः ॥३५३॥
तयोक्तं जननी काचित् स्वसा काचित्सुता पुनः ।
भवन्त्यन्येऽपि सम्बन्धा भूरिशः किं ब्रवीम्यहम् ॥३५४॥ यतः
"धिग् जन्म पशुजन्तूनां यत्र नास्ति विवेकिता ।
कृत्याकृत्यविचारेण विना जन्म निरर्थकम् ॥३५५॥

---

१ राज्ञा तस्मै महामूल्य दत्त सन्मानपूर्वकम् घ । २ स्वरूपमेकमङ्गिनम् घ ।

आस्तन्यपानाज्जननी पशूनामादारलाभाच्च नराधमानाम् ।
आगेहकर्मैव तु मध्यमानामाजीवितात्तीर्थमिवोत्तमानाम्" ॥
श्रुत्वैतद् वानरो गच्छन् वलित्वाऽरुणलोचनः ।
श्रीदत्तं प्रोचिवानेवं स्फारयन् वचनं दृढम् ॥३५७॥

पश्यस्यद्रौ ज्वलन्तं त्वं न पश्यसि पदोरधः ।
रे दुराचार पापिष्ठ परदोषावलोकक ॥३५८॥ यतः—
"राईसरिसवमित्ताणि परछिद्दाणि पिच्छइ ।
अप्पणो बिल्लमित्ताणि पिच्छंतो वि न पिच्छइ ॥३५९॥
सर्वः परस्य पश्यति वालाग्रादपि तनूनि छिद्राणि ।
नात्मगतानि पश्यति हिमगिरिशिखरप्रमाणानि ॥३६०॥

सर्वः स्वात्मनि गुणवान्, सर्वः परदोषदर्शने दक्षः ।
सर्वस्य चास्ति वाच्यं, न चात्मदोषान् वदति कश्चित्" ॥
क्षिप्त्वाऽब्धौ मित्रमाधाय स्वाङ्के मातृसुते पुनः ।
परदोषान् वदन् श्वभ्रकूपे आशु पतिष्यसि ॥३६२॥ यतः—

"मन्मनत्वं काहलत्वं मूकत्वं मुखरोगिताम् ।
वीक्ष्यासत्यफलं नैव पुमान् (वदेत्) कूटं कदाचन ॥३६३॥
इत्युक्त्वोत्प्लुत्य सहसा क्वचिद् दूरे ययौ कपिः ।
श्रीदत्तो ध्यातवानेवं गदितं कपिना कथम् ॥३६४॥

मम मातृसुते दूरे स्यातां वर्णादिनीदृशे ।
तेन तयोः कथंकारमत्र संभावना भवेत् ॥३६५॥
श्रीदत्तः प्राह काऽसि त्वं स्वर्णरेखे ! वदाधुना ।
पशुवाक्ये मुधा मूढः पतितोऽसीति सा जगौ ॥३६६॥
तत उत्थाय श्रीदत्तो वने भ्राम्यन्नितस्ततः ।
दृष्ट्वैकं मुनिमानम्य पप्रच्छेति कृताञ्जलिः ॥३६७॥

भो मुने ! कपिना भ्रान्तिसमुद्रे पातितोऽस्मि हा ! ।
तेन सज्ज्ञानयानेन मामुत्तारय सत्तम ! ॥३६८॥ यतः—
"हुन्ति परकज्जनिरया निअकज्जपरंमुहा फुडं सुअणा ।
चन्दो धवलेइ महीं न कलङ्कं अत्तणो फुसे" ॥३६९॥

अवधिज्ञानतो ज्ञात्वा मुनिराचष्ट शिष्टवाग् ।
यदुक्तं कपिना सत्यं तत् त्वं जानीहि निश्चितम् ॥३७०॥
श्रीदत्तोऽवक् सुतामात्रोः सम्बन्धं कथयाधुना ।
मुनिः प्राह तनूजायाः सम्बन्धः श्रूयतां धुरि ॥३७१॥

दशाहजातां तनयां यदा त्वं मुक्त्वा धनार्थं चटितोऽसि याने ।
तदा पुरे तत्र विपक्षभीतेश्चलाचलोऽशेषजनो बभूव ॥३७२॥
गङ्गातटस्थिते सिंहपुरे त्वद्गृहिणी द्रुतम् ।
लात्वा सुतामगात् स्वीयबान्धवानां च सन्निधौ ॥३७३॥
जग्मुरेकादशाब्दानि त्वत्पत्न्या बन्धुसन्निधौ ।
दष्टा सर्पेण दुष्टेनान्यदा त्वत्तनया निशि ॥३७४॥

जनन्या मातुलैश्चौपचारास्तत्रैव कारिताः ।
परं मनाग् गुणो नाभूत् तस्या दुष्कर्मयोगतः ॥३७५॥ यतः–
"जं चिअ विहिणा लिहिअं तं चिअ परिणमइ सयललोअस्स ।
इअ जाणेविणु धीरा विहुरे वि न कायरा हुन्ति" ॥३७६॥

मात्रा स्नेहेन पेटान्तः क्षिप्त्वा पुत्री सरिज्जले ।
महावृष्टिपयःपूरप्लाविताऽब्धौ समागमत् ॥३७७॥
भवतश्चटिता सेयं त्वत्पुत्रीति विभाव्यताम् ।
अथ मातृस्वरूपं हि कथ्यमानं निशम्यताम् ॥३७८॥

त्वदम्बा सूरकान्तेन क्षिप्ता स्वान्तःपुरे तदा ।
जिघृक्षुस्त्वत्पिता द्रव्यं लात्वा पल्लयां रहो ययौ ॥३७९॥
सोमेन रञ्जितोऽत्यन्तं प्राह पल्लीपतिस्तदा ।
विद्यते भवतः कार्यं यत् तदाशु निगद्यताम् ॥३८०॥
सोमोऽवक् सूरकान्तेन गृहिताऽस्ति मम प्रिया ।
तेनाऽहं वालयिष्यामि गृहिणीं त्वद्बलान्नृप ! ॥३८१॥

दृश्यन्ते बहवो लोकाः स्वकार्यकरणक्षमाः ।
परकार्यं तु कुर्वन्ति ये ते स्तोका महीतले ॥३८२॥
पल्लीशकटकं लात्वा सोमोऽगात् सूरसद्मनि ।
सूरकान्तो महासैन्यं निरीक्ष्य व्याकुलोऽभवत् ॥३८३॥

समेत्य सम्मुखं सूरकान्तः कुर्वन् युधं द्विपा ।
भग्नसैन्यः स्वयं नंष्ट्वा वप्रमध्ये समीयिवान् ॥३८४॥
तस्थौ सन्नह्य भूपालो यावद्दत्त्वा प्रतोलिकाम् ।
भङ्क्त्वा तावच्च तां सोमो बलादागात्पुरान्तरे ॥३८५॥
सोमस्य कुर्वतो युद्धं भाले लग्नः शरो दृढम् ।
तेन श्रेष्ठी क्षणात्प्राणैर्मुक्तो मृत्युं समीयिवान् ॥३८६॥
अन्यथा चिन्तितं कार्यं दैवेन कृतमन्यथा ।
भार्यां वालयतस्तस्य स्वस्य प्राणाः स्वयं ययुः ॥३८७॥
सूरकान्तो रणं कुर्वन् नष्टो भग्नबलः क्वचित् ।
चकार लुण्टनं पुर्यां भिल्लसैन्यं निरर्गलम् ॥३८८॥ यतः–
"तावच्चन्द्रबलं ततो ग्रहबलं तावद्बलं भूबलं,
तावत्सिध्यति वाञ्छितार्थमखिलं तावज्जनः सज्जनः ।
मुद्रामण्डलमन्त्रतन्त्रमहिमा तावत्कृतं पौरुषम्,
यावत्पुण्यमिदं नृणां विजयते पुण्यक्षयात्क्षीयते ॥३८९॥

लात्वा सोमश्रियं कश्चिद् भिल्लः सपदि निर्गतः ।
रात्रौ प्राप्य छलं तस्मात् नष्टं सोमश्रिया क्वचित् ॥३९०॥
भ्रमन्ती विपिने कस्यचित् तरोः फलमाद सा ।
तत्प्रभावात् तनौ तस्या गौरहस्वे समागते ॥३९१॥ यतः–
"अमन्त्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलमनौषधम् ।
अनाथा पृथिवी नास्ति आम्नायाः खलु दुर्लभाः" ॥३९२॥
वनेऽन्यदा तां सुरसुन्दरीश्री–रूपां हि दृष्ट्वा धनसार्थवाहः ।
रहो गृहीत्वा मुदितो जगाम, सुवर्णकूलस्य तटं रयेण ॥३९३॥
यावद् बहूनि वस्तूनि सार्थवाहो गृहीतवान् ।
समर्घं नगरे तत्र वस्तु तावदजायत ॥३९४॥
द्रव्यं विना कथं वस्तु समर्घं गृह्यतेऽधुना ।
श्रेष्ठी ध्यात्वेति विक्रेतुं तां निनाय चतुष्पथे ॥३९५॥
वेश्या रूपवती द्रव्यलक्षेणादाय तां द्रुतम् ।
नृत्यादि निखिलं सम्यग् शिक्षयामास यत्नतः ॥३९६॥

दृष्ट्वा तां तादृशीं नारीं वपुःकान्तिजितार्जुनाम् ।
स्वर्णरेखेति नामादात् तस्या नगरनायिका ॥३९७॥
ततो नृत्यं वितन्वन्तीं तां च स्वीयान्तिकेऽन्यदा ।
महीपतिः स्वयं स्वस्मिन् चक्रे चामरहारिणीम् ॥३९८॥
सेयं जानीहि जननीं निजां श्रीदत्त ! सम्प्रति ।
लोभेन लज्जया न स्वं प्रादुश्चक्रेऽनया स्त्रिया ॥३९९॥ यतः–
"लोभस्य राजधानीयं ज्ञेयः पण्याङ्गनाजनः ।
ततः प्रयाणकं कृत्वा विश्वं विश्वं जयत्यसौ ॥४००॥
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् क्रियायामन्यदेव हि ।
यासां साधारणस्त्रीणां ताः कथं सुखहेतवे" ॥४०१॥
श्रीदत्तोऽवक् कथं वेत्ति वानरोऽयं स्फुटं पशुः ।
मुनिः प्राह पिता यस्ते सोमो दूरं तदा ययौ ॥४०२॥
मन्दिराह्वपुरे बाणविद्धः सोमः पिता तव ।
सोमश्रीध्यानतो मृत्वा व्यन्तरत्वमुपेयिवान् ॥४०३॥ यतः–
"रज्जुग्गहविसभक्खणजलजलणपवेसतण्हछुहदुहओ ।
गिरिसिरपडणाउ मुआ सुहभावा हुन्ति वंतरिआ ॥४०४॥
दृष्ट्वा त्वामत्र सोमश्रीमातृपुत्रीसमन्वितम् ।
ज्ञात्वा ज्ञानात्कपिरूपं कृत्वेदं व्यन्तरो जगौ ॥४०५॥ यतः–
"संखिज्जजोअणा खलु देवाण अद्धसागरे ऊणे ।
तेण परमसंखिज्जा जहन्नयं पन्नवीसं तु ॥४०६॥
गृहीत्वा व्यन्तरः प्राच्यमोहादेतां गमिष्यति ।
इत्युक्ते वानरोऽकस्मात् तामुत्पाट्य क्वचिद् ययौ ॥४०७॥
श्रीदत्तो मुनिमानम्य चित्ते चित्रं दधद् भृशम् ।
पुरमध्ये समागत्य तस्थौ यावन्निजाश्रये ॥४०८॥
इतो रूपवती प्राह स्वर्णरेखा क्व विद्यते ।
सख्यः प्रोचुस्ततः स्पष्टं स्वामिनीं प्रति सद्गिरः ॥४०९॥
तुभ्यं दास्यामि पञ्चाशद्दीनारानहमञ्जसा ।
इत्युक्त्वा तां समादाय श्रीदत्तो विपिने ययौ ॥४१०॥

तयाऽथ प्रेपिताश्चेख्यो गत्वा तस्यान्तिके जगुः ।
श्रीदत्त ! विद्यते स्वर्णरेखा क्व जल्प साम्प्रतम् ॥४११॥
श्रीदत्तोऽवग् न जानेऽहं श्रुत्वेति ता इदं जगुः ।
किं कूटं जल्प प्रत्यक्षं दुष्ट पापिष्ठ साम्प्रतम् ॥४१२॥
ततो रूपवती भूपपार्श्वे गत्वेति जल्पति ।
हा प्रभो वसतिग्रामे धूर्तेन मुषिताऽस्म्यहम् ॥४१३॥
केन त्वं मुषितेत्युक्ते भूपेन रूपवत्यवग् ।
स्वर्णरेखा हृतेदानीं श्रीदत्तेन शठात्मना ॥४१४॥
श्रीदत्तो भूभुजाऽऽकार्य पृष्टस्स ध्यातवानिति ।
वच्मि कपिकृतं चेद्धि तदा कोऽपि न मन्यते ॥४१५॥
मत्वेति कृतमौनं तं श्रीदत्तं गुप्तिसद्मनि ।
चिक्षिपू रुष्टभूपालादेशेन दण्डपाशकाः ॥४१६॥
दत्त्वा तद् भाण्डशालायां मुद्रामानीय तत्सुताम् ।
स्वगृहे भूपतिः शीघ्रं स्थापयामास दुष्टधीः ॥४१७॥

"काके शौचं द्यूतकारे च सत्यं
सर्प्पे क्षान्तिः स्त्रीषु कामोपशान्तिः ।
क्लीबे धैर्यं मद्यपे तत्त्वचिन्ता
राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा ॥४१८॥
सत्यं वच्म्यधुनाऽत्रैव यद् भाव्यं तद् भविष्यति ।
मत्वेति प्राह भूपाग्रे श्रीदत्तः कपिचेष्टितम् ॥४१९॥
श्रीदत्तगदितं श्रुत्वा भूपालादिजनो जगौ ।
श्रीदत्तेनाधुना सत्यमपूर्वं जल्पितं ननु ॥४२०॥ यतः—
"असंभाव्यं न वक्तव्यं प्रत्यक्षं यदि दृश्यते ।
यथा वानरगीतानि तथा तु तरिता शिला" ॥४२१॥ तथाहि—
श्रीपुराधीशभीमस्य भूपस्य सचिवोऽन्यदा ।
दृष्ट्वाऽम्भोधौ शिलामेकां तरन्तीं पुरमागमत् ॥४२२॥
शिलातरणवृत्तान्तं श्रुत्वा प्राहेति भूपतिः ।
असंभाव्यं न वक्तव्यं प्रत्यक्षं यदि दृश्यते ॥४२३॥

समाकर्ण्येति मन्त्रीशो मौनमाधाय तस्थिवान् ।
इतोऽन्यदा महीशोऽश्वापहृतो दूरमीयिवान् ॥४२४॥
अपूर्वं गीतनृत्यादि कपीनां वीक्ष्य भूपतिः ।
पश्चादेत्य च पौराणामग्रे जजल्प यावता ॥४२५॥
तावत् कोऽपि जनो नैवासंभाव्यं मन्यते मनाक् ।
ततो विलक्षवदनो महीपतिरजायत ॥४२६॥
इतश्चागत्य मन्त्रीशः पश्यन्तीषु प्रजासु च ।
भूपस्याग्रे जगौ श्लोकं स्वभूपदृष्टगर्भितम् ॥४२७॥
असंभाव्यं न वक्तव्यं० [श्लो० ४२१] ॥४२८॥
इदमेव न किं वेत्सीत्युक्त्वा भूपोऽरुणेक्षणः ।
श्रीदत्तं चालयामास शूलारोपकृते तदा ॥४२९॥ यतः–

"क्व च हरिचन्द्रः क्वान्त्यजदास्यं,
क्व च पृथुसूनुः क्व च नटलास्यम् ।
क्व च वनवासः क्वासौ रामः,
कटरे विकटो विधिपरिणामः ॥४३०॥

अतीतं नैव शोचन्ति भविष्यं नव चिन्तयेत् ।
वर्त्तमानेन कालेन वर्त्तयन्ति विचक्षणाः" ॥४३१॥
इत उद्यानपालास्यात् श्रुत्वा ज्ञानिनमागतम् ।
वन्दितुं भूपतिस्तत्र जगाम सपरिच्छदः ॥४३२॥
प्रणम्य विधिवद् भूपो ययाचे देशनां मुनिम् ।
तावद् तद्बोधविधये प्रोवाचेति मुनीश्वरः ॥४३३॥
यस्य न्यायो न धर्म्मो न तत्र का देशना भवेत् ।
भूपोऽवग् भगवन्! न्यायधर्ममेव करोम्यहम् ॥४३४॥
मुनिश्चन्द्रो जगौ राजन् न न्यायः क्रियते त्वया ।
श्रीदत्तस्य सदा सत्यवादिनो मारणं मुधा ॥४३५॥

"सीदन्ति सन्तो विलसन्त्यसन्तः,
पुत्रा म्रियन्ते जनकश्चिरायुः ।
दाता दरिद्रः कृपणो धनाढ्यः,
पश्यन्तु लोकाः कलिचेष्टितानि" ॥४३६॥

विस्मितो नृपतिः प्रेष्य प्रेष्यान् श्रीदत्तमञ्जसा ।
तत्रानीय निजे पार्श्वे निविवेश कृतादरम् ॥४३७॥
श्रीदत्तस्य कथं सत्यवादित्वं भवतोदितम् ।
यावदेव महीपालो मुनिं पप्रच्छ भक्तितः ॥४३८॥

तावता वानरः स्वर्णरेखां पृष्ठे वहन् द्रुतम् ।
तत्रैत्य विधिनाऽनंसीत् गुरुं सर्वस्य पश्यतः ॥४३९॥
तामुत्तार्य गुरोः पार्श्वे शुश्रूषुर्देशनां कपिः ।
उपविष्टो महाश्चर्यं कुर्वाणः संसदस्तदा ॥४४०॥ यतः—
अनीदृशे वचःकार्ये पशूनां मरुतां नृणाम् ।
निरीक्ष्य तनुते को न कौतुकं हृदि मानवः ॥४४१॥

श्रीदत्तो देशनान्तेऽवग् भगवन् ! केन कर्मणा ।
अनुरागः कथं पुत्रीजनन्योर्विषये मम ॥४४२॥
मुनिश्चन्द्रो जगौ पूर्वभवाज्ञातोऽस्ति निश्चितम् ।
श्रीदत्तः प्राह कीदृक्षोऽजनि पूर्वभवो मम ॥४४३॥

मुनिः प्रोवाच श्रीदत्त ! शृणु पूर्वभवं निजम् ।
पाञ्चालविषये चाभूत् काम्पील्यपुरपत्तनम् ॥४४४॥
तत्र द्विजस्य चैत्रस्य गौरीगङ्गे उभे प्रिये ।
अभूतां पञ्चबाणस्य रतिप्रीत्याविवाद्भुते ॥४४५॥

सोऽन्यदा मैत्रनामानं मित्रमिति जगौ रहः ।
गम्यतेऽन्यत्र लक्ष्म्यर्थं विषये मित्र ! सम्प्रति ॥४४६॥ यतः—
"सभीताः परदेशस्य बह्वालस्याः प्रमादतः ।
स्वदेशे निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः" ॥४४७॥
यो न निर्गत्य निःशेषामवलोकयति मेदिनीम् ।
अनेकाश्चर्यसम्पूर्णां स नरः कूपदर्दुरः ॥४४८॥

एवं विमृश्य द्रव्यार्थं गत्वा कुङ्कणनीवृति ।
चैत्रमैत्रौ रमां बह्वीमर्जयामासतुः क्रमात् ॥४४९॥
उपार्ज्य द्रविणं भूरिलोभाद् मैत्रोऽन्यदाऽध्वनि ।
सुप्तं चैत्रं रहो हन्तुमुत्थाय ध्यातवानिति ॥४५०॥

नैवास्ति नरके स्थानं मम विश्वस्तघातिनः ।
यतो हि प्राणिनः श्वभ्रे गच्छेयुः पापकारकाः ॥४५१॥ यतः–
"लोभमूलानि पापानि रसमूलाश्च व्याधयः ।
स्नेहमूलानि दुःखानि त्रीणि त्यक्त्वा सुखी भव ॥४५२॥
न हि मे पर्वता भारा न च मे सप्त सागराः ।
कृतघ्नाश्च महाभारा भारा विश्वासघातिनः ॥४५३॥
कूटसाक्षी मृषाभाषी कृतघ्नो दीर्घरोषणः ।
चत्वारः कर्म्मचाण्डालाः पञ्चमो जातिसम्भवः ॥४५४॥
विचिन्त्येति निजात्मानं निन्दन् मैत्रो भृशं हृदि ।
उपविष्टः स्वके स्थाने करुणावासिताशयः ॥४५५॥ यतः–
"उत्तमानां मनो गच्छत् कुमार्गाद् वलति स्वयम् ।
दुष्टानां पापिनां नृणां नोपदेशशतैरपि ॥४५६॥
ततस्तौ भूरिदेशेषु भ्रान्त्वोपार्ज्य धनं बहु ।
मार्गे नदीप्रवाहान्तः पतितौ मृत्युमीयतुः ॥४५७॥ यतः–

"मज्जत्वम्भसि यातु मेरुशिखरं शत्रुं जयत्वाहवे,
वाणिज्यं कृपिसेवनादि सकला विद्याकलाः शिक्षतु ।
आकाशं विपुलं प्रयातु खगवत् कृत्वा प्रयत्नं परं,
नाभाव्यं भवतीह कर्मवशतो भाव्यस्य नाशः कुतः ॥४५८॥
छानउं म करिसि रांकडा हुं तूंनी लज वेचि ।
छन्नुकोडि सतोरणइ रावणि मूंकी लंक" ॥४५९॥
तिर्यग्योनौ तृषादीनि कष्टानि प्राप्य भूरिशः ।
चैत्रजीवस्ततोऽभूस्त्वं श्रीदत्ताभिधयाऽधुना ॥४६०॥ यतः–
"तिरिआ कसंकुसाआरानिवायवहबंधमारणसयाइं ।
नवि इहइं पाविंता परत्थ जइ निअमिआ हुंति" ॥४६१॥
भ्रान्त्वा भूरिभवं दुःखसन्ततिं प्राप्य सन्ततम् ।
मैत्रजीवोऽभवत् शङ्खदत्तनामा सुहृत्तव ॥४६२॥
ततश्चैत्रप्रिये गौरीगङ्गे कालं कियत्तदा ।
भर्तुमार्गं समालोक्याभूतां भवपराङ्मुखे ॥४६३॥

कुर्वाणे ते स्त्रियौ मासोपवासादि तपो बहु।
दृष्ट्वा गङ्गातटे चार्वीं वेश्यां वीक्ष्येति दध्यतुः ॥४६४॥
धन्यैषा वृणुते चित्तचिन्तितं नरमन्वहम्।
अस्तु धिगावयोर्भर्तुः शुद्धिर्न ज्ञायते कुतः ॥४६५॥
सदेत्थं चिन्तयन्त्यौ ते अनालोच्य स्वकर्म तत्।
मृत्वा ज्योतिष्कदेवीषु देवीत्वं प्रापतुः क्रमात् ॥४६६॥ यतः—
"वालतवे पडिवद्धा उक्कडरोसा तवेण गारविआ।
वेरेण य पडिवद्धा मरिउं असुरेसु जायन्ति ॥४६७॥
रज्जुग्गहविसभक्खणजलजलणपवेसतण्हछुहदुहओ।
गिरिसिरपडणाउ मुआ सुहभावा हुंति वंतरिआ ॥४६८॥
तावस जा जोइसीआ चरगपरिव्वाय बंभलोगो जा।
जा सहसारो पंचिंदिअतिरिअ जा अच्चुओ सड्ढा" ॥४६९॥
ततश्च्युते ते क्रमतो गृहीण्यौ गङ्गा च गौरी च वरस्वभावे।
श्रीदत्त! ते मातृसुते अभूतां मनोहरे पूर्वभवानुरागात् ॥

शङ्खं पुनः पूर्वभवार्जितेन वैरेण पानीयनिधावपारे।
क्षिप्तस्त्वयोत्पन्नमहाक्रुधेव श्रीदत्त! जानीहि निजं कुकर्म ॥
गुरोर्मुखादेतदवेत्य जज्ञे श्रीदत्तवैदेहमनोविरागम्।
एवं हि जीवाः कृतपूर्वकर्म्मवशाल्लभन्ते सुखदुःखयोगम् ॥
"क्षणं सक्तः क्षणं मुक्तः क्षणं क्रुद्धः क्षणं क्षमी।
मोहाद्यैः क्रीडयैवाहं कारितः कपिचापलम् ॥४७३॥
स्वामिन्नपारसंसारविषमाम्बुधितारणे।
उपायं दर्शयेदानीं प्रसद्य मम साम्प्रतम् ॥४७४॥ यतः—
"हुंति परकज्जनिरया निअकज्जपरंमुहा फुडं सुअणा।
चन्दो धवलेइ महीं न कलंकं अत्तणो फंसे" ॥४७५॥
तारणे भवपाथोधेर्धर्म एव तरीसमः।
चारित्रमेव चारित्रतुलां तत्र बिभर्त्त्यलम् ॥४७६॥
दो चेव जिणवरेहिं जाइजरामरणविप्पमुक्केहिं।
लोगम्मि पहा भणिआ सुसमणसुसावओ वावि ॥४७७॥

श्रीदत्तोऽवक् प्रभो ! कस्मै ददामि तनयामहम् ।
साधुः प्राह त्वया किं न शङ्खदत्ताय दीयते ॥४७८॥
मुञ्चन्नश्रूणि श्रीदत्तः प्राहेति गद्गदस्वरम् ।
मम तेनाऽब्धिक्षिप्तेन मित्रेण सङ्गतिः कथम् ॥४७९॥ यतः–
"पुनर्लक्ष्मीः पुनर्भार्या पुनर्माता पुनः पिता ।
भवान्तरे भवन्त्येव न पुनः साधुसङ्गतिः" ॥४८०॥
मा विषीद क्षणाद् मित्रमेष्यतीति तवानघ ।
श्रुत्वेति कौतुकं यावत् श्रीदत्तस्तनुते हृदि ॥४८१॥
तावद् रक्तेक्षणः शङ्खदत्तस्तत्रैत्य तत्क्षणात् ।
उपविष्टो मुनिं नत्वा विधिना भूपसन्निधौ ॥४८२॥
कषायग्रसितस्वान्तं शङ्खदत्तं समीक्ष्य तम् ।
मुनिः क्रोधोपशान्त्यर्थं दिदेश देशनामिति ॥४८३॥ यतः–
"कोहो पीइं पणासेइ माणो विणयणासणो ।
माया मित्ताणि णासेइ लोहो सव्वविणासणो ॥४८४॥
कोह पइट्ठो देहघरि तिन्नि विकार करेइ ।
आपूं तावइ पर तवइ पर तह हाणि करेइ ॥४८५॥
अणथोवं वणथोवं अग्गिथोवं कसायथोवं च ।
नहु भे वीससिअव्वं थेवं पि हु तं बहुं होइ ॥४८६॥
दासत्तं देइ रणं अइरा मरणं वणो विसप्पंतो ।
सव्वस्सदाहमग्गी दिंति कसाया भवमणंतं" ॥४८७॥
शङ्खदत्तं ततः शान्तं निवेश्य निजसन्निधौ ।
मुनिं पप्रच्छ श्रीदत्तः शङ्खदत्तागतिः कुतः ॥४८८॥
मुनिः प्राहाम्बुधेर्मध्ये पतन् मित्रं तदा तव ।
फलकं प्राप्य सप्ताह्वा ययौ सारस्वतं तटम् ॥४८९॥
तत्रैनं संवरो नाम मातुलो मिलितस्तटे ।
आपृच्छ्य कुशलोदन्तं निनाय निजमन्दिरम् ॥४९०॥
रसवत्यादिनाऽत्यन्तं प्रीणितः प्राह नैगमः ।
हे मातुल ! कियन् मार्गे विद्यते स्वर्णकूलकम् ॥४९१॥

पट्त्रिंशद्योजनेऽस्तीति श्रुत्वा मातुलपार्श्वतः ।
अयमत्रागतो लातुं वस्तुकन्यादिकं निजम् ॥४९२॥
मत्वा वैरं तयोः पूर्वं श्रीदत्तशङ्खदत्तयोः ।
प्रोवाचेति मुनिः शङ्खदत्तं प्रति हिताशयः ॥४९३॥ यतः—
"कृपाकवचितं चेतो वचः पीयूषपेशलम् ।
परोपकारव्यापारं वपुः स्यात् सुकृतात्मनाम्" ॥४९४॥
श्रीदत्तोऽयं त्वया पूर्वभवे हन्तुं समीहितः ।
श्रीदत्तेनाधुना त्वं च हन्तुं क्षिप्तोऽसि वारिधौ ॥४९५॥
इदानीं भवतो घातप्रतिघातप्रदानतः ।
गतं वैरमतः प्रीतिं कुरुतं च युवां ध्रुवम् ॥४९६॥ यतः—
"कृतकर्मक्षयो नास्ति कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमेव हि भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥४९७॥
भूपः श्रुत्वेति सम्यक्त्वमूलं श्रीद्वादशव्रतीम् ।
लात्वा (ललौ) सदुत्सवं भावात् साधोस्तस्यान्तिके सदा ॥ यतः

"सम्यक्त्वमूलानि पञ्चाणुव्रतानि गुणास्त्रयः ।
शिक्षापदानि चत्वारि व्रतानि गृहमेधिनाम् ॥४९९॥
अंतोमुहुत्तमित्तं पि फासिअं हुज्ज जेहिं सम्मत्तं ।
तेसिं अवड्ढपुग्गलपरिअट्टो चेव संसारो" ॥५००॥
उपदेशं गुरोः पार्श्वे आकर्ण्य व्यन्तरस्तदा ।
पूर्वसंसृतिगेहिन्यामनुरागं मुमोच च ॥५०१॥
श्रीदत्तशङ्खदत्तक्ष्मारमणव्यन्तराः क्रमात् ।
श्रीदत्ततनयासोमश्रीयुताः क्षामणं व्यधुः ॥५०२॥
वेश्याकर्म विहायाथ स्वर्णरेखा जिनोदितम् ।
धर्मं कृत्वाऽगमत्स्वर्गे गमिष्यति शिवं पुनः ॥५०३॥
अन्येऽपि बहवो भव्यलोका धर्मं प्रपेदिरे ।
व्यन्तरोऽप्यवधीज्जैनजनविघ्नावलीं सदा ॥५०४॥
श्रीदत्तशङ्खदत्ताभ्यामादाय धर्ममार्हतम् ।
नत्वा मुनिं निजं स्थानं जग्माते रंगतस्तदा ॥५०५॥

द्रव्यार्धेन समं पुत्रीं शङ्खदत्ताय सोत्सवम् ।
दत्त्वा शेषधनं सप्तक्षेत्र्यां श्रीदत्त उप्तवान् ॥५०६॥
लात्वा केवलिनः पार्श्वे दीक्षां संसारतारिणीम् ।
श्रीदत्तस्तीव्रमातन्वन् तपो विहृतवांस्ततः ॥५०७॥ यतः—
"सुहिओ न चयइ भोए चयइ जहा दुक्खिओत्ति अलियमिणं।
चिक्कणकम्मोलित्तो न इमो न इमो परिच्चयइ ॥५०८॥
जह चयइ चक्कवट्टी पवित्थरं तत्तिअं मुहुत्तेणं ।
न चयइ तहा अहन्नो दुब्बुद्धी खप्परं दमओ ॥५०९॥
तपोऽग्निना दहन् दुष्टकर्माष्टेन्धनसञ्चये(यम्) ।
श्रीदत्तः क्षपकश्रेणीमारुरोह क्रमात्तदा" ॥५१०॥ यतः—
तमस्तमांसि भिन्दानः शुक्लध्यानोग्ररोचिषा ।
श्रीदत्तार्योऽनघज्ञानप्रकाशं प्राप्तवान् क्षणात् ॥५११॥
सोऽहं विहरमानो भूपीठे संजातकेवलः ।
अत्रागतोऽस्मि भव्यानामुपकारकृतेऽधुना ॥५१२॥
चैत्रस्य मे प्रिये गौरीगङ्गे पूर्वं बभूवतुः ।
साम्प्रतं जननीपुत्र्यौ ते जाते मम कर्मतः ॥५१३॥
अज्ञानतो मया मातृपुत्र्योरुपरि सम्प्रति ।
अकारि मानसं रक्तं दुष्टकर्मनियोगतः ॥५१४॥

[इति श्रीदत्तकथा]

शुकोऽभवन् मे प्रिये हंसीसारस्यौ ये बभूवतुः ।
अभूतामत्र ते मातापितरौ साम्प्रतं मम ॥५१५॥
तात मातरिति कथमहं वच्म्यधुना तयोः ।
प्रोवाच केवली चित्रं विद्यते भवनाटकम् ॥५१६॥ यतः—
"न सा जाई न सा जोणी न तं ठाणं न तं कुलं ।
न जाया न मुआ जत्थ सव्वे जीवा अणंतसो ॥५१७॥
संसारे भ्रमतां देहभृतामेव निरन्तरम् ।
मातापित्रादिसम्बन्धा बभूवुर्भूरिशो मिथः" ॥५१८॥
इति न्यायान्न मोक्तव्यो व्यवहारो हि धीमता ।
निश्चयाद्विद्यते यस्माद् व्यवहारो बली नयः ॥५१९॥ उक्तं च

"[1]ववहारो वि हु बलवं जं छउमत्थं पि वंदई अरिहा ।
जा होइ अणाभिन्नो जाणंतो धम्मयं एयं" ॥५२०॥
संसारं नाटकप्रायं विज्ञायेति शुकं तदा ।
मातस्तातेति जल्पन्तं दृष्ट्वा प्राह मृगध्वजः ॥५२१॥
ते धन्या मानवा युष्मादृशाः सन्ति महीतले ।
येषां स्याद् यौवने चित्तं वैराग्यरसवासितम् ॥५२२॥
संसारविमुखं चेतः कदा मम भविष्यति ।
इति भूपोदिते प्राह श्रीदत्तः केवली तदा ॥५२३॥
यदा सुतश्चन्द्रवतीप्रियाया दृग्गोचरे एष्यति ते नरेन्द्र ।
वैराग्यरङ्गो रुचिरस्तदानीं भविष्यति श्राक् शिवशर्मणे हि ॥
मुनीश्वरोक्तं नृपतिर्मनोऽन्तो धृत्वा दृढं केवलिनं प्रणम्य ।
विभावयन् स्वप्नसमं समस्तं पुत्रादियोगं गृहमाजगाम ॥५२५॥
ततो भव्यजनाम्भोजबोधाय मुनिपुङ्गवः ।
विजहार लसज्ज्ञानदीप्तिभिर्भास्वानिवावनौ ॥५२६॥
बभूव दशवर्षीयो यावद् भूपसुतः शुकः ।
तावत् कमलमालाया द्वितीयोऽभूत् सुतोऽनघः ॥५२७॥
कृत्वा जन्मोत्सवं भूमिपतिः स्वप्नानुसारतः ।
हंसराजाभिधां तस्य सूनोश्चक्रे प्रमोदतः ॥५२८॥
भूपतिर्दशवर्षीयहंसयुक्तशुकान्वितः ।
सभायां यावदासीनो द्वास्थस्तावज्जगाविदम् ॥५२९॥
स्वामिंस्त्वां द्रष्टुकामोऽथ समागाद् द्वारि गागलिः ।
यद्यादेशोऽधुना च स्यादत्रायाति तदा यतिः ॥५३०॥
आनीयतामिति प्रोक्ते भूपेन द्वारपालकः ।
तत्रानयद् ऋषिं शिष्यत्रययुक्तं जटाधरम् ॥५३१॥
प्रतिपत्तिं ऋषेः कृत्वा लब्धाशीर्मुनिपुङ्गवम् ।
उपवेश्यासनेऽप्राक्षीद् भूपो भद्रं जिनौकसः ॥५३२॥

१ व्यवहारोऽपि खलु बलवान् वर्तते, यत् छद्मस्थमपि सन्तं चिरप्रव्रजितं अर्हन्–केवली वन्दते, यावद्भवत्यनभिज्ञः स चिरप्रव्रजित, जानानो धर्मतामेनां व्यवहारगोचरामिति ॥

ऋषिः प्राहाधुना युष्मत्तुल्यानां रक्षतां क्षितिम् ।
कथं भवति(वन्ति) लोकेषु विघ्नान्यत्र मनागपि ॥५३३॥

त्वयि क्षितिं पालयति क्षितीश,
क्षितिः कथं स्यात् कुशलस्य लोके ।
धाराधरे वर्षति वारिधारां,
दुर्भिक्षमाविर्भवति क्वचित्किम् ॥५३४॥

आगतं पितरं तत्र श्रुत्वा कमलमालया ।
तत्रैत्य तातचरणौ नत्वैकत्र स्थितं तदा ॥५३५॥
भूपः प्राहात्र भवतोऽधुना किमर्थमागमः ।
ऋषिः प्राहागमे हेतुं (तुः) श्रूयतां नृपते! मम[1] ॥५३६॥
मामथ गोमुखो यक्षः स्वप्नेऽभ्येत्य जगाविदम् ।
चलितोऽहं जिनं नन्तुं मुख्यश्रीविमलाचले ॥५३७॥
त्वमागच्छेति यक्षेण प्रोक्तेऽहमित्यवादिषम् ।
कर्ताऽऽश्रमस्य कः सारां ततः स निर्जरो जगौ ॥५३८॥
दौहित्रमेकमानीय मध्यतः शुकहंसयोः ।
विमुञ्चात्र ततस्तीर्थं भविष्यति निरत्ययम् ॥५३९॥
ततो यक्षप्रभावेणात्रागमं स्तोकवेलया ।
तेनैकं तनयं देहि सद्यो मम मृगध्वज! ॥५४०॥
राजाऽऽचष्ट लघू पुत्रावमू मे स्तोऽधुना ननु ।
तेनोच्यते कथं गन्तुमादेशश्च तयोर्ध्रुवम् ॥५४१॥
ततो राज्ञा सुतौ पृष्टौ तत्र गन्तुं वनान्तरे ।
प्रणम्यांह्री पितुर्हंसो विनयेन जगाविति ॥५४२॥
गागलेर्विद्यते वाञ्छा नन्तुं शत्रुञ्जये जिनम् ।
ताताहमाश्रमं यामि रक्षितुं त्वन्नियोगतः ॥५४३॥ यतः—
"ते धन्या ये पितुर्मातुर्वाक्यं च शृण्वते मुदा ।
ते च धन्यतमा लोके गुरूणां च वचो हितम्" ॥५४४॥
श्रुत्वा पुत्रोदितं मातापितरावुचतुर्मुदा ।
धन्यस्त्वं तनयो यस्मादीदृशं वचनं वद (तव) ॥५४५॥ यतः—

---

१ आकर्ण्यैतन्मुनेर्वाक्यं हंस. स्पष्टं जगाविदम् । ताताहमाश्रमं यामि रक्षितुं त्वन्नियोगत ॥ इति श्लोकत्रयस्थाने अयमेव श्लोक. । क–घ ।

"दीपाः स्थितं वस्तु विभासयन्ति, कुलप्रदीपास्तु पुनर्नवीनाः ।
चिरं व्यतीतानपि पूर्वजान् ये, प्रकाशयन्ति स्वगुणप्रकर्षात्" ॥
निशम्यैतच्छुकः प्राह तातादेशं ददस्व मे ।
विमलाचलतीर्थेशनिनंसाऽस्ति पुरा मम ॥५४७॥ यतः–
"आदौ तन्व्यो बृहन्मध्या विस्तारिण्यः पदे पदे ।
यायिन्यो न निवर्तन्ते सतामाशाः सरित्समाः" ॥५४८॥
श्रुत्वा विनयसंयुक्तं पुत्रयोर्वचनं नृपः ।
ईक्षते मन्त्रिणामास्यं यावत् तावच्च ते जगुः ॥५४९॥
मुनीन्द्रोऽर्थी भवान् दाता रक्षणीयौ जिनाश्रमौ ।
रक्षिता शुकराजश्चेदनुमन्यामहेतराम् ॥५५०॥
मन्त्रिणां वचनं श्रुत्वा मातापित्रोः क्रमाम्बुजम् ।
नत्वा सिंह इवाचालीत् शुको गागलिसंयुतः ॥५५१॥ यतः–
"सोनउं चंदन सपुरिसह आपण पीड सहंति ।
कुलकसवट्टइ जाणीइ जइ परउपगार करंति" ॥५५२॥ ततश्च–

गागलिर्भूपदत्ताशीर्वादः शुकसमन्वितः ।
लङ्घयन् पृथिवीं स्तोकवेलयाऽगान्निजाश्रमम् ॥५५३॥
नत्वा स्तुत्वाऽऽदिमं देवं तस्थौ तत्राश्रमे शुकः ।
बबन्ध स्वर्गमुक्तिश्रीयोग्यं कर्म शुभं बहु ॥५५४॥
श्रीतीर्थाश्रमयोः सारां कुर्वाणो यत्नतः शुकः ।
चचाल गागलिर्नन्तुं जिनं श्रीविमलाचले ॥५५५॥ यतः–

"श्रीतीर्थपान्थरजसा विरजीभवन्ति,
तीर्थेषु बंभ्रमणतो न भवे भ्रमन्ति ।
तीर्थव्ययादिह नराः स्थिरसम्पदः स्युः,
तीर्थेश्वरार्चनकृतो जगदर्चनीयाः ॥५५६॥

शशाम वृष्ट्याऽपि विना दवाग्निरासीद्विशेषा फलपुष्पवृष्टिः ।
ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे शुके वनं गोप्तरि गाहमाने ॥
दूरेऽन्यदा निशीथिन्यां श्रुत्वा स्त्रीरुदितं भृशम् ।
गत्वा तत्राशु पप्रच्छ शुको रोदनकारणम् ॥५५८॥

स्त्री प्राह विद्यते चम्पापुर्यां भूपोऽरिमर्दनः ।
तस्यासीच्छ्रीमतीपत्नीभवा पद्मावती सुता ॥५५९॥
पद्मावतीमहं धात्री पालयामि रमाऽभिधा ।
स्तन्यपानादिनाऽपत्यमिव माता निरन्तरम् ॥५६०॥

पद्मावतीं मया युक्तां रागात् कश्चिन्नभश्चरः ।
विमानस्थां विधायाशु चचालाम्बरवर्त्मनि ॥५६१॥
अत्राहं पतिताऽकस्माद्विमानाद् दैवयोगतः ।
लात्वा पद्मावतीं खेटः क्वाप्यगात्तेन रोदिमि ॥५६२॥ यतः—
"पितृमातृसुहृत्पुत्रगृहिणीनां निरन्तरम् ।
वियोगो दुस्सहो नृणां जायते नात्र संशयः ॥५६३॥

मधुरैर्वचनैः स्वस्थीकृत्वा तामुटजे क्वचित् ।
मुक्त्वा ततोऽचलद् द्रष्टुं ययौ पद्मावतीं द्रुतम् ॥५६४॥
प्रासादपृष्ठितश्चैकं क्रन्दन्तं पतितं नरम् ।
निरीक्ष्येति शुकः प्राह कस्त्वमत्रागतः कुतः ॥५६५॥

वैताढ्याद्रिशिरोरत्नात्पुराद् गगनवल्लभात् ।
खेटोऽहं वायुवेगाह्वोऽचलं द्रष्टुं महीतलम् ॥५६६॥
चम्पापुरीपतेः पुत्रीमेकां लात्वाऽम्बरे व्रजन् ।
यावदत्रागमं तावद्विमानं स्खलितं मम ॥५६७॥

पूर्वमेका पपात स्त्री ततो भूमिपतेः सुता ।
ततोऽहं पतितोऽस्मीह ज्ञायते कारणं नहि ॥५६८॥
शुकः प्राहास्य तीर्थस्य प्रभावात् खेचरेश्वर ।
विमानात्पतनं जातं तवात्र साम्प्रतं ननु ॥५६९॥
ततः शुको जिनं नन्तुं वायुवेगसमन्वितः ।
गत्वा प्रासादमध्ये प्राग् ववन्दे भव्यभक्तितः ॥५७०॥

प्रेक्ष्य पद्मावतीं तत्र वायुवेगो जगाविदम् ।
इयमेव मया बाला गृहीताऽस्ति दुरात्मना ॥५७१॥
"सर्पः क्रूरः खलः क्रूरः सर्पात्क्रूरतरः खलः ।
मन्त्रौषधिवशः सर्पः खलः केनोपशाम्यते" ॥५७२॥

नत्वा स्तुत्वा जिनं वायुवेगं पद्मावतीयुतम् ।
शुकः परोपकारार्थी निनायाश्रममञ्जसा ॥५७३॥
धात्री पद्मावतीं प्रेक्ष्य जहर्षेन्दुमिवाम्बुधिः ।
गौरवं वायुवेगाय रसवत्या शुकोऽकरोत् ॥५७४॥ यतः—
"पानीयस्य रसः शैत्यं परान्नस्यादरो रसः ।
आनुकूल्यं रसः स्त्रीणां मित्राणां वचनं रसः ॥५७५॥
अत्र सज्जनपद्धतिः ।
[प्रसन्ना दृग् मनः शुद्धं ललिता वाग् नतं शिरः ।
सहसाऽर्थिष्वियं पूजा विनाऽपि विभवं सताम्" ॥].
शुकः आहान्यदा वायुवेगं विद्याधरं प्रति ।
वियद्गमनविद्या ते समेति विस्मृताऽथवा ॥५७६॥
व्योमविद्या समायाति परं स्फुरति नो मनाक् ।
शुकोऽवक् तर्हि मह्यं त्वं तां श्रावय खगेश्वर ॥५७७॥
वियद्विद्यां खगेनोक्तां लात्वा गत्वा जिनालये ।
देवदृष्टौ तपोजापपरोऽजनि शुको भृशम् ॥५७८॥
व्योमविद्या शुकेनाशु सिद्धा दत्ता खचारिणे ।
खेटौ द्वावपि संजातौ परस्परोपकारतः ॥५७९॥ यतः—
"ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति ।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ॥५८०॥
अत्रान्तरे श्रीविमलाद्रितीर्थे नत्वा जिनेन्द्रं प्रथमं प्रमोदात् ।
समागतो गागलिरैक्ष्य विद्यां खगां शुकस्याशु मुदं ततान ॥
यतः—परस्य कमलां वर्धमानां संवीक्ष्य सज्जनाः ।
मोमुद्यते पयोराशिरिव चन्द्रस्य सन्ततम् ॥५८२॥
आपृच्छ्य गागलिमुनिं लघु वायुवेग-
स्त्रीयुग्मयुक्तमधिरुह्य लसद्विमानम् ।
क्रामन्नभस्तलमनेकपुराकराद्रिं,
पश्यन् मृगध्वजसुतः समियाय चम्पाम् ॥५८३॥ यतः—

विद्याधराच्छुकचरित्रमनन्यरूपं
श्रुत्वाऽरिमर्दनमहीपतिराद्रि(र्द्रि)ताशः ।
पद्मावतीं करितुरंगमभूरियुक्तां
तस्मै ददौ वरमहोत्सवपूर्वमाशु ॥५८४॥

यस्याशये तिष्ठति जीवरक्षामूलो जिनोक्तः प्रवरो हि धर्मः ।
सुरासुरोर्वीपतियक्षरक्षोभूतादयस्तस्य वशीभवन्ति ॥५८५॥
अनुज्ञाप्य नृपं तत्र मुक्त्वा पद्मावतीं प्रियाम् ।
शुकः शाश्वतचैत्यानि वन्दितुं चलितस्ततः ॥५८६॥ यतः—
"पनरस कोडिसयाइं दुचत्तकोडीऽवन्नलक्खाइं ।
छत्तीससहस असीआ तिहुअणबिंबाणि पणमामि" ॥५८७॥
नत्वा शाश्वतचैत्यानि पुरे गगनवल्लभे ।
शुकराजः सुहृद्युक्तः पश्यन् ग्रामाकरान् ययौ ॥५८८॥
मातापित्रोः पुरो वायुवेगः प्राहेति रञ्जतः ।
उपकारः कृतोऽनेन शुकेनैव महात्मना ॥५८९॥

वायुवेगपिता वायुवेगां पुत्रीं निजां वराम् ।
प्रददौ शुकराजाय चारूत्सवपुरस्सरम् ॥५९०॥
वायुवेगां प्रियां तत्र मुक्त्वा मित्रयुतः शुकः ।
श्रुत्वाऽष्टापदमाहात्म्यं वन्दितुं चलितो जिनान् ॥५९१॥
चत्तारि अट्ठ दस दोअ वंदिआ जिणवरा चउव्वीसं ।
परमट्ठनिट्ठिअट्ठा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥५९२॥
थूभसयभाउआणं(णे) चउवीसं चेव जिणघरे कासी ।
सव्वजिणाणं पडिमा वन्नपमाणेण नामेणं" ॥५९३॥
शुकराजेति जल्पन्तीं कांश्चिन्नारीं पुनः पुनः ।
पृष्ठौ श्रुत्वा शुको मार्गे यावत् पश्चाद्विलोकते ॥५९४॥
तावत्तत्रागमत् काऽपि नारी दिव्यविभूषणा ।
काऽत्रागास्त्वं शुकेनोक्तं प्रोवाचेति मृगेक्षणा ॥५९५॥
अहं चक्रेश्वरी देवी जिनेन्द्रक्रमसेविका ।
हन्मि विघ्नानि भूयांसि भव्यानां सन्ततं स्फुटम् ॥५९६॥

पुण्डरीकाद्रिसारार्थं गोमुखादेशतोऽधुना ।
चलन्त्यहमगां क्षोणिप्रतिष्ठस्योपरि स्फुटम् ॥५९७॥
गृहवाट्यन्तरे नारीरुदितं करुणस्वरम् ।
श्रुत्वा तत्रैत्य सा पृष्टा मया रोदनकारणम् ॥५९८॥
तयोक्तं मे शुकः पुत्रोऽचालीद्रागलिना समम् ।
अद्यापि तस्य नो शुद्धिर्जाता तेनैव रोदिमि ॥५९९॥
एवंविधा लसद्भक्तियुक्ताः पित्रोस्तनूद्भवाः ।
न लभ्यन्ते विना पुण्यं मानवैः कर्हिचित्क्वचित् ॥६००॥यतः
"किं जातैर्बहुभिः पुत्रैः शोकसन्तापकारकैः ।
वरमेकः कुलालम्बी यत्र विश्रमते(श्रूयते) कुलम्" ॥६०१॥
मयोक्तं तव पुत्रस्य विज्ञाय कुशलं द्रुतम् ।
कथयिष्याम्यहं तुभ्यं वलमाना सती पुनः ॥६०२॥
समाश्वास्येति वचनैर्मातरं तव तत्क्षणात् ।
अवधिज्ञानतो ज्ञात्वा त्वामत्राहं समागमम् ॥६०३॥

पश्चादेत्य शुकाह्वाय साम्प्रतं निजपत्तने ।
गत्वा मातुः क्रमौ स्वीयचरित्रैः प्रीणयोत्तम ॥६०४॥ यतः—
"असार्थप्रार्थनं तीर्थमदेहद्रोहणं तपः ।
अनम्भःसंभवं स्नानं मातुश्चरणचर्चनम् ॥६०५॥
ऊढो गर्भः प्रसवसमये सोढमत्युग्रशूलं,
पथ्याहारैः स्नपनविधिभिः स्तन्यपानप्रयत्नैः ।
विष्टामूत्रप्रभृतिमलिनैः कष्टमासाद्य सद्य—
स्त्रातः पुत्रः कथमपि यया स्तूयतां सैव माता" ॥६०६॥
आकर्ण्यैतच्छुकः साश्रुः प्राह चक्रेश्वरीं प्रति ।
अनत्वा तीर्थमासन्नं पश्चादायाम्यहं कथम् ॥६०७॥ यतः—
"अवाप्य धर्मावसरं विवेकी, कुर्याद्विलम्बं न हि विस्तराय ।
ततो जिनस्तक्षशिलाधिपेन रात्रिं व्यतिक्रम्य पुनर्न नेमे ॥
तायंमि पूइए पूइअं चक्कं पूअणारिहो ताओ ।
इहलोइअं तु चक्कं परलोअसुहावहो ताओ" ॥६०९॥

एतद् बाहुबलिगतं कथानकमत्र वाच्यम् ।
इत्यादि भूरिशो युक्तीरुक्त्वा मृगध्वजाङ्गजः ।
विनयेन जगावेवं तदा चक्रेश्वरीं प्रति ॥६१०॥
शीघ्रं तव सुतो देवान् नत्वा स्तुत्वा समेष्यति ।
वक्तव्यं च त्वया देवि ! मम मातुः पुरः स्फुटम् ॥६११॥
गदित्वेति शुकः शीघ्रं मित्रयुक्तः प्रमोदतः ।
नन्तुमष्टापदे तीर्थे चलितः श्रीजिनाधिपान् ॥६१२॥
एतत्सन्देशकं चक्रेश्वरीप्रोक्तं द्रुतं तदा ।
स्वस्थीचकार कमलमालां मधुरयुक्तिभिः ॥६१३॥
नत्वा शुको जिनान् वायुवेगपद्मावतीयुतः ।
क्षितिप्रतिष्ठितोद्याने विमानस्थः समागमत् ॥६१४॥
तस्मिन्नेव दिने पुत्रागमनं जननी पिता ।
आकर्ण्य मुदितौ पुर्यां चक्राते तलिकादिकम् ॥६१५॥
मुहूर्ते विशदे चारुमहोत्सवपुरस्सरम् ।
मातापित्रोः पदाम्भोजं विनयेनानमच्छुकः ॥६१६॥ यतः—

"यैर्वृद्धिं नीयते धर्मो बन्धुवर्गः कुलं यशः ।
पितुः पुत्रास्त एव स्युर्वैरिणः स्वैरिणः परे" ॥६१७॥
जिनौकःस्नात्रकरणाद् बहुदानप्रदानतः ।
मृगध्वजक्षमापालो व्यधात् पुत्रागमोत्सवम् ॥६१८॥
"देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
श्रुतं परोपकारश्च मर्त्यजन्मफलाष्टकम्" ॥६१९॥
शुकहंसयुतोऽन्येद्युरुद्याने मेदिनीपतिः ।
क्रीडां कर्तुं समेत्याशु प्रवृत्तः परिवारयुग् ॥६२०॥
तदाऽकस्मान्नृपः कोलाहलमाकर्ण्य दूरतः ।
प्रेषयामास तं ज्ञातुं भृत्यमेकं निजं द्रुतम् ॥६२१॥
तज्ज्ञात्वा निखिलं भृत्यः प्रोवाचेति नृपाग्रतः ।
श्रीसारङ्गपुरे वीराङ्गद आसीन्महीपतिः ॥६२२॥
वीराङ्गदसुतः सूरो हंसेन तव सूनुना ।
वहन् वैरमियायात्र युद्धार्थी बहुसैन्यकः ॥६२३॥

राज्यं करोम्यहं तर्हि हंसेऽसौ कुरुते कथम् ।
इति प्राह नृपो यावत्तावत्तत्रागतौ सुतौ ॥६२४॥
सून्वोरग्रे रणं कर्तुं यावद्वार्तां नृपोऽकरोत् ।
तावच्छत्रुबलादेको भृत्योऽभ्येत्य जगाविदम् ॥६२५॥
पराजितः पूर्वभवे त्वदीयपुत्रेण हंसेन दृढं हि सूरः ।
वैरं स्मरन् तत्समुपाजगाम युद्धं विधातुं बहुसैन्ययुक्तः ॥ यतः—
"यस्मिन्दृष्टे मनस्तोषो द्वेषश्च प्रलयं व्रजेत् ।
स विज्ञेयो मनुष्येण बान्धवः पूर्वजन्मनः" ॥६२७॥
मृगध्वजशुकौ स्नेहात् पुत्रसोदरयोस्तदा ।
सज्जीभूतौ प्रति प्राह युद्धे हंस इति स्फुटम् ॥६२८॥
वैरमस्ति मया सार्धं सूरस्यास्य महीपतेः ।
कुर्वाणं समरं तेन समं मां पश्यथोऽधुना ॥६२९॥
इत्युक्त्वा रथमारूढो हंसः कीनाशसोदरः ।
मुष्टामुष्टि रणं कर्तुं प्रवृत्तः सूरभूभुजा ॥६३०॥

बांधी बाणि गयणि ठाठरी, रविकर मूंक्या तिणि आवरी ।
खांडां झलकइ वीजल जिस्यां, सुहड तणां मण तीणइ कस्यां ॥

अत्र युद्धवर्णनम् ।

हंसेन सूरशस्त्राणि भिन्नानि भूरिशस्तदा ।
मृगध्वजादिभूपेषु पश्यत्सु बहुषु स्फुटम् ॥६३२॥
सूरो हंसं क्रुधा हन्तुमुत्तस्थौ यावता रणे ।
तावता पातितः सूरो हंसेन पृथिवीतले ॥६३३॥
पुनर्हंसेन तत्रैत्य शीतवातोपचारतः ।
सूरः सज्जीकृतः सद्यो बान्धवेनेव तत्क्षणात् ॥६३४॥
एवं सज्जीकृतः सूरो हंसेन बहुशो जगौ ।
दत्तं हंसेन चैतन्यं द्विधा बाह्यान्तरं मम ॥६३५॥
मृत्वाऽहं नरकं गच्छन् रौद्रध्यानेन साम्प्रतम् ।
रक्षितोऽनेन हंसेन गुरुणा करुणात्मना ॥६३६॥
हंसेन साम्प्रतं ज्ञानदृष्टिर्विश्राणिता मम ।
यत एवमभूत् शुद्धो विवेकः शिवशर्मदः ॥६३७॥ यतः—

"सुजनो न याति विकृतिं परहितनिरतो विनाशकालेऽपि ।
छेदेऽपि चन्दनतरुः सुरभयति मुखं कुठारस्य" ॥६३८॥
ततः सूरः समुत्थाय मुक्तवैरपरम्परः ।
भक्तितः क्षमयामास हंसं साधुरिवादरात् ॥६३९॥
दृष्ट्वैतत्कौतुकं सूरं पप्रच्छेति मृगध्वजः ।
किमर्थं भवताऽऽरब्धं समरं मम सूनुना ॥६४०॥
सूरः प्रोवाच सारङ्गपुरोद्यानेऽन्यदा मुनिः ।
श्रीदत्तकेवली पृथ्वीं पावयन् समुपागमत् ॥६४१॥
मुनिं नन्तुमहं पित्रा सहोद्याने समागमम् ।
ज्ञानिना विहिता धर्मदेशना शिवशर्मदा ॥६४२॥ तथाहि–
"धर्मोऽयं धनवल्लभेषु धनदः कामार्थिनां कामदः,
सौभाग्यार्थिषु तत्प्रदः किमपरं पुत्रार्थिनां पुत्रदः ।
राज्यार्थिष्वपि राज्यदः किमथवा नानाविकल्पैर्नृणां,
तत् किं यन्न ददाति किं च कुरुते स्वर्गापवर्गावपि"॥ इत्यादि

देशनान्ते मया प्रोक्तं किं पुण्यं मे पुराऽभवत् ।
ततोऽवक् केवली सूरं जिनार्चा विहिता त्वया ॥६४४॥
सूरः प्राह मया कस्मिन् भवे चक्रे जिनार्चना ।
ज्ञान्याह भद्दिलापुर्यां जितारिरभवन्नृपः ॥६४५॥
यात्रार्थं नृपतिर्हंसीसारसीसहितो यदा ।
शङ्खपुरीयसङ्घेन सहाचालीत्प्रमोदतः ॥६४६॥
इत्यादि भूपतेर्देवनत्यादि मरणान्तिकम् ।
वाच्यं पूर्वोदितं सर्वं चरित्रमथ धीमता ॥६४७॥
ततो जितारिभूपालमन्त्री सिंहाभिधोऽनघः ।
सर्वलोकयुतोऽचालीत् श्रीभद्दिलपुरीं प्रति ॥६४८॥
अर्धमार्गागतः सिंहः प्राह चरकसेवकम् ।
नगरस्थानके रत्नकुण्डलं विस्मृतं मम ॥६४९॥
आनीय कुण्डलं शीघ्रं मह्यमर्पय सम्प्रति ।
इत्युक्तो मन्त्रिणा भृत्यस्तदर्थमचलत्तदा ॥६५०॥ यतः–

"सेवया धनमिच्छद्भिः सेवकैः पश्य यत्कृतम् ।
स्वातन्त्र्यं यच्छरीरस्य मूढैस्तदपि हारितम्" ॥६५१॥
तत्रैत्य चरकः शीघ्रमप्राप्तरत्नकुण्डलः ।
पुनः पश्चात्समागत्य मन्त्रिणोऽग्रे जगाविदम् ॥६५२॥
न लब्धं कुण्डलं मन्त्रीन्! मया तत्र गवेषता ।
केनाप्यङ्गीकृतं नूनं भिल्लेन तत्क्षणात्तदा ॥६५३॥
त्वयैवाङ्गीकृतं नूनं कुण्डलं चरकाधम ।
वदन्नेवं तदा मन्त्री कर्कशं तमताडयत् ॥६५४॥ यतः–
"सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता,
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ।
अहं करोमीति वृथाभिमानः,
स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः ॥६५५॥
तत्र तं मूर्च्छितं मुक्त्वा मन्त्री लोकयुतस्तदा ।
क्रामन्पृथ्वीं क्रमात् सद्यः समागाद् भद्दिलं पुरम् ॥६५६॥

शीतवातादिना सज्जीभूताङ्गश्चरको द्रुतम् ।
दध्यावित्थं प्रभुत्वादिगर्विणं मन्त्रिणं हि धिग् ॥६५७॥
"चौरा चुल्लुकावि अ बंभण विज्ञा य भट्ट पाहुणया ।
नच्चणधुत्तनरिंदा परस्स पीडं न याणंति" ॥६५८॥
रौद्रध्यानपरः सद्यश्चरकस्तृषयाऽर्दितः ।
मृत्वा सर्पोऽभवद् दुष्टो भद्दिलपुरसन्निधौ ॥६५९॥ यतः–
"आर्ते तिर्यग्गतिस्तथा गतिरधो ध्याने तु रौद्रे सदा,
धर्मे देवगतिः शुभं च हि फलं शुक्ले च जन्मक्षयः ।
तस्माद् व्याधिरुगन्तके हितकरे संसारनिस्तारके,
ध्याने शुक्लवरे रजःप्रमथने कुर्यात्प्रयत्नं बुधः" ॥६६०॥
तेनाहिनाऽऽगतस्तत्र मन्त्री दष्टो रुषा द्रुतम् ।
मृत्वाऽऽगान्नरके घोरे महादुःखशतप्रदे ॥६६१॥
मृत्वा सरीसृपः सोऽपि रौद्रध्यानपरायणः ।
तत्रैव नरके दुष्टकर्मयोगात्समीयिवान् ॥६६२॥

नरकेऽपि मिथोऽत्यन्तं कुर्वाणौ कलहं सदा ।
भूरिदुःखभराक्रान्तौ निन्यतुः समयं मुधा ॥६६३॥ यतः—
"वाला दाढी पक्खी जलयर नरयागया उ अइकूरा ।
हुंति पुणो नरएसुं वाहुल्लेणं न उण नियमो ॥६६४॥
तह मारणअभक्खाणदाणपरधणविलोवणाईणं ।
सव्वजहन्नो उदओ दसगुणिओ इक्कसि कयाणं" ॥६६५॥
श्वभ्रादुद्धृत्य चरकजीवो लक्ष्मीपुरे वरे ।
धनश्रेष्ठिसुतो भीमनामाजनि मनोहरः ॥६६६॥
तत्र श्रीजिननाथार्चां विधाय कुसुमैर्वरैः ।
भवानेवाभवद्वीराङ्गदस्य तनयोऽत्र हि ॥६६७॥
"जं चिअ विहिणा लिहिअं तं चिअ परिणमइ सयललोयस्स ।
इअ जाणेविणु धीरा विहुरे वि न कायरा हुंति" ॥६६८॥
सिंहमन्त्री महादुःखं सहित्वा नरके भृशम् ।
श्रीविमलाचले वापीजले हंसस्ततोऽभवत् ॥६६९॥ यतः—
"नरएसु जाइं अइकक्खडाइं दुक्खाइं परमतिक्खाइं ।
को वन्नेहि ताइं जीवंतो वासकोडीवि ॥६७०॥
कक्खडदाहं सामलिअसिवणवयरणिपहरणभयाईहिं ।
जा जायणाओ पावंति नारया तं अहम्मफलं" ॥६७१॥
हंसस्तीर्थं समालोक्य जातजातिस्मृतिस्तदा ।
पक्षाभ्यां जलमानीय व्यधात् स्नानं जिनेशितुः ॥६७२॥
वनादानीय पुष्पाणि चारूणि चञ्चुना विराट् ।
पूजयामास भावेन युगादीशं जिनेश्वरम् ॥६७३॥
एवं शश्वज्जिनेन्द्रार्चां कृत्वा हंसोऽमरोऽभवत् ।
मृगध्वजाङ्गजो हंसनामाभूदधुना स च ॥६७४॥
निशम्यैतन्मुनेः पार्श्वे हंसं हत्वा रिपुं निजम् ।
वालयामीत्यहं वैरं जल्पन् यावत्क्रुधाऽचलम् ॥६७५॥
क्रोधोपशमनोक्तिभिर्बोध्यमानोऽप्यहं भृशम् ।
यदा न वलितः प्रोचे श्रीदत्तेन तदेति हि ॥६७६॥

"लग्गइ कोहपलेवणइ डज्झइं गुणरयणाइं ।
उवसमजलि नवि उल्हहइ सहइ ते दुक्खसयाइं ॥६७७॥
कोहो माणो माया लोभो हासो रई अरई य ।
सोगो भयं दुगंछा पच्चक्ख कली इमे सव्वे ॥६७८॥
वाली जोइउ नहु वलइं हीइडइ धरइं कसाय ।
मेल्ही टारस सींदरो जहिं भावइ तहि जाइ ॥६७९॥ इत्यादि ।
इत्यादि भूरिशो युक्तीरवमन्याचिरादहम् ।
आगामत्र रणं कर्तुं समं हंसेन सम्प्रति ॥६८०॥
इदानीं तव पुत्रेण हंसेन बलशालिना ।
कुर्वता समरं सद्यः पराभूतोऽस्म्यहं ननु ॥६८१॥
तेन वैरमहं मुक्त्वा गत्वा श्रीदत्तसन्निधौ ।
ग्रहीष्यामि व्रतं सद्यो भवपाथोधितारकम् ॥६८२॥
क्षमयित्वा तदा सूरो हंसं सुन्दरभक्तितः ।
ग्रहीतुं चरणं सद्योऽचालीत् श्रीदत्तसन्निधौ ॥६८३॥

"विषयगणः कापुरुषं करोति वशवर्तिनं न सत्पुरुषम् ।
बध्नाति मशकमेव हि लूतातन्तुर्न मातङ्गम् ॥६८४॥
भवन्ति भूरिभिर्भाग्यैः धर्मकर्ममनोरथाः ।
फलन्ति यत्पुनस्तेऽपि तत्सुवर्णस्य सौरभम् ॥६८५॥
निरीक्ष्यैतन्नृपो दध्याविति चित्ते मृगध्वजः ।
गृह्णन्ति ये व्रतं मर्त्यास्ते धन्याः स्युर्महीतले ॥६८६॥
"धन्ना जणणी जणया धन्ना वि य बंधवा वि सुकयत्था ।
पव्वज्जाए जुग्गं पुत्तं परिपालिअं जेहिं" ॥६८७॥
"तावद् भ्रमन्ति संसारे पितरः पिण्डकाङ्क्षिणः ।
यावत्कुले विशुद्धात्मा यतिः पुत्रो न जायते" ॥ इति पुराणे ।
ज्ञानिनोक्तं पुरा चन्द्रवतीपुत्रं यदेक्षसे ।
भविष्यति तदा सम्यग् वैराग्यं तव मानसे ॥६८९॥
अद्य यावन्न दृष्टोऽस्ति चन्द्रवत्याः सुतो मया ।
जातोऽहं स्थविरस्तेनान्यथा स्याज्ज्ञानिवाक् किमु ॥६९०॥

ध्यायन्नेवं महीपालो यावत्तत्र वने स्थितः ।
तावदेकोऽष्टवर्षीयोऽभ्येत्य बालोऽनमन्नृपम् ॥६९१॥
कस्त्वं कुतः समायातो यावदेव नृपो जगौ ।
तावद् व्योम्नीति वाग् जाता ह्येष चन्द्रवतीसुतः ॥६९२॥

यद्यस्ति भवतश्चित्ते सन्देहस्तव भूपते ।
तदेशानककुप्कोणे व्रज क्रोशेषु पञ्चसु ॥६९३॥
तत्र गिर्योर्द्वयोर्मध्ये संस्थिते केलिकानने ।
चकार योगिनी तीव्रं तपो नित्यं यशोमती ॥६९४॥
तत्र गत्वा त्वया शीघ्रं समापृच्छ्य यशोमतीम् ।
चन्द्रवतीसुतोत्पत्तिस्वरूपं ज्ञास्यते स्फुटम् ॥६९५॥

श्रुत्वैतद् भूपतिस्तेन युक्तः कौतुकिताशयः ।
चलन् शीघ्रं ययौ तस्मिन् पूर्वोक्ते कदलीवने ॥६९६॥
निरीक्ष्य नृपतिर्ध्यानतत्परां योगिनीं तदा ।
नत्वा प्राहेति किं चन्द्रवत्या एष सुतो ननु ॥६९७॥

श्रुत्वाऽऽह योगिनी राजन् ! सत्यं चन्द्रवतीसुतः ।
यतोऽस्ति विषमोऽसारः संसारोऽयं विषादपि ॥६९८॥यतः–
"कोऽहं कस्त्वं कुत आयातः का मे जननी को मे तातः ।
यद्येवं दृष्टः संसारः सर्वोऽयं स्वप्नव्यवहारः ॥६९९॥

पुनरपि रजनी पुनरपि दिवसः पुनरपि मासः पुनरपि वर्षम् ।
पुनरपि वृद्धः पुनरपि बालः पुनरपि याति समेति च कालः" ॥
योगिन्याहाभवच्चण्डपुर्यां सोममहीपतिः ।
प्रवर्तयन् प्रजा न्यायमार्गे शक्र इवानिशम् ॥७०१॥
निखिलान्तःपुरश्रेष्ठा तस्य भानुमती प्रिया ।
बभूवेन्दोरिव ब्राह्मी सीतेव रामभूपतेः ॥७०२॥

हिमवत्क्षेत्रतो युग्ममेकं गत्वाऽऽदिमं दिवम् ।
भानुमत्युदरे सद्योऽवतीर्णं स्वप्नसूचितम् ॥७०३॥ यतः–
"नरतिरि असंखजीवी सव्वे निअमेण जंति देवेसु ।
निअआउअसमहीणाउएसु ईसाणअंतेसु" ॥७०४॥

सम्पूर्णे समये भानुमती पूरितदोहदा ।
असूत युगलं पुत्रपुत्रीरूपं मनोरमम् ॥७०५॥
चन्द्रशेखरनामेति सूनोर्भूमीपतिर्ददौ ।
पुत्र्याश्चन्द्रवतीत्याह्वा सोत्सवं मुदिताशयः ॥७०६॥
वर्धमानौ क्रमात्तत्र जातजातिस्मृती मिथः ।
युग्मधर्मं समीहेते रागाद्धुपसुताङ्गजे ॥७०७॥ यतः—
"अक्खाणसणी कम्माण मोहणी तह वयाण बंभवयं ।
गुत्तीण य मणगुत्ती चउरो दुक्खेण जिप्पंति" ॥७०८॥
अत्रान्तरे महीनाथस्तुभ्यं चन्द्रवतीं ददौ ।
चन्द्रशेखरभूपेन परिणीता यशोमती ॥७०९॥
पुरोद्यानात्ततः छद्म विधाय बहुशो यदा ।
निनाय त्वां शुकः सद्यो गागलेराश्रमं नृप ! ॥७१०॥
पूर्ववाञ्छितसिद्ध्यर्थं पत्नी चन्द्रवती तदा ।
त्वद्राज्यस्यापहारार्थमानिन्ये चन्द्रशेखरम् ॥७११॥

अत्रान्तरे समायास्त्वं पश्चात्तत्र महीपते ! ।
परीप्सितोऽसि तेनैव प्रपञ्चरचनादिना ॥७१२॥ यतः—
मुखं पद्मदलाकारं वाचा चन्दनशीतला ।
हृदयं कर्तरीतुल्यं त्रिविधं धूर्तलक्षणम्" ॥७१३॥
अन्येद्युर्भक्तितश्चन्द्रशेखरः स्मरदैवतम् ।
आराध्य मार्गयामास रागाच्चन्द्रवतीं स्वयम् ॥७१४॥
तुष्टेन कामदेवेनादृष्टीकरणकज्जलम् ।
दत्त्वा तस्मै तदा सद्यः प्रोवाचेति स्फुटाक्षरम् ॥७१५॥
यावन्मृगध्वजश्चन्द्रवतीपुत्रं न द्रक्ष्यति ।
तावत्त्वमञ्जनक्षेपाददृश्यांगो भविष्यसि ॥७१६॥
चन्द्रवतीसुते दृष्टे मृगध्वजमहीभुजा ।
पुत्रस्वरूपमुक्त्वाऽहं गमिष्यामि निजालयम् ॥७१७॥
अञ्जनाञ्जितचक्षुस्सो हृष्टोऽदृष्टवपुस्तदा ।
ययौ चन्द्रवतीपार्श्वे चन्द्रशेखरभूपतिः ॥७१८॥

देवदत्तवरोदन्तं चन्द्रवत्याः पुरस्तदा ।
चन्द्रशेखर उक्त्वाऽऽह क्रियते साम्प्रतं किमु ॥७१९॥
चन्द्रवती जगौ गूढगर्भाया मे प्रगे सुतः ।
भावी चेत्किं प्रगे कार्यं भवताऽत्र निगद्यताम् ॥७२०॥
चन्द्रशेखर आचष्ट जातमात्रं सुतं तव ।
लात्वा रहो यशोमत्यै पत्न्यै दास्याम्यहं किल ॥७२१॥
तत आवां सुखेनैव कामसौख्यैकतत्परौ ।
स्थास्यावोऽन्तःपुरेऽत्रैव कोऽपि मां नैव पश्यति ॥७२२॥
विचार्येति सुतं चन्द्रवत्या यक्षप्रभावतः ।
नीत्वा रहो यशोमत्यै दत्त्वा चेति स ऊचिवान् ॥७२३॥
मृगध्वजप्रियाचन्द्रवतीपुत्रो ह्ययं वरः ।
चन्द्राङ्काह्वः सदा पाल्यः पुत्रवत् पुण्यहेतवे ॥७२४॥
एवं प्रोक्त्वा रहश्चन्द्रशेखरः स्वेष्टसिद्धये ।
ययौ चन्द्रवतीपार्श्वेऽदृष्टीकरणविद्यया ॥७२५॥

इतो दिने दिने वर्धमानं वीक्ष्य स्फुरद्द्युतिम् ।
वालं चन्द्राङ्कमालोक्य दध्यावेवं यशोमती ॥७२६॥
कस्मिंश्चिद्दिवसे कान्तमुखं पश्याम्यहं न हि ।
तेनास्य पालितशिशुतरोर्गृह्णाम्यहं फलम् ॥७२७॥
ध्यात्वेति साऽऽह चन्द्राङ्क यदि त्वं मां निरीक्षसे ।
तदा राज्ययुताऽहं ते भवामि वशवर्तिनी ॥७२८॥ यतः-
"नमो लुब्धकधर्माय तस्मै कुसुमधन्विने ।
समस्तमपि यस्यैतद् भुवनं मृगयावनम् ॥७२९॥
लोकेशकेशवशिवत्रिदिवप्रभूणां
चूडामणिप्रणयिनी प्रथते यदाज्ञा ।
निःशेषविश्वविजयी विषमेषुरेष
कं नावधीरयति धीरमपि प्रवीरः ॥७३०॥
पुरतोऽपि स्थितं वस्तु नैवान्धा द्रष्टुमीशते ।
अहो चित्रं यदीक्षन्ते रागान्धाः स्त्रीमयं जगत्" ॥७३१॥

श्रुत्वैतत्प्राह चन्द्राङ्को वज्राहत इवाचिरात् ।
अनौचित्यं कथं मातरिदानीमुच्यते त्वया ॥७३२॥ यतः—
"स्त्रीणामुत्तानवृत्तीनां न मनस्तिष्ठति स्थिरम् ।
सारणिं(णेः) वारिणः पश्य प्रत्यवारं परिप्लवः ॥७३३॥
अरक्ता रञ्जयत्युच्चैरस्निग्धाः स्नेहयन्ति च ।
अमूढा मोहयन्त्येताश्चेतांसि मृगलोचनाः" ॥७३४॥
यशोमती ततः प्राह नाहं ते जननी शिशो ।
मृगध्वजप्रिया चन्द्रवती माताऽस्ति ते ध्रुवम् ॥७३५॥
अतस्त्वं मे मनः स्वीयवचसा प्रीणयाधुना ।
जननीपुत्रसम्बन्धो यतो नास्त्यावयोर्ध्रुवम् ॥७३६॥
श्रुत्वा तस्या वचो दध्यौ चन्द्राङ्को निजचेतसि ।
अहो दुष्टाशया नार्य ईदृक्षा विधिना कृताः ॥७३७॥ यतः—
"कामं कुलकलङ्काय कुलजाताऽपि कामिनी ।
शृङ्खला स्वर्णजाता हि बन्धनाय न संशयः ॥७३८॥
राजपत्नी गुरोः पत्नी मित्रपत्नी तथैव च ।
स्वमाता पत्नीमाता च पञ्चैता मातरः स्मृताः" ॥७३९॥
विचिन्त्येत्यबलावृत्तमनादृत्य च तद्वचः ।
चन्द्राङ्कश्चलितो मातापित्रोश्चरणमीक्षितुम् ॥७४०॥
द्विधा यशोमती भ्रष्टा विषादं दधती हृदि ।
मुक्त्वा संसारसम्बन्धं समजायत योगिनी ॥७४१॥
साऽहं यशोमती ध्यानसंप्राप्तावधिशेमुषी ।
जानामि तव भार्यायाः स्वरूपं मेदिनीपते ! ॥७४२॥
यक्षेण खे गिरं प्रोक्त्वा प्रियावृत्तं विलोकितुम् ।
प्रेषितोऽस्यधुना मामकीनपार्श्वे मृगध्वज ! ॥७४३॥
भूपस्योत्पन्नक्रोधाग्निशान्त्यै योगिनी तदा ।
बभाषे शिष्टया वाणीरीत्या मेघालितुल्यया ॥७४४॥
"पुत्रमित्ता हुइं अनेरा नरह नारि अनेरी—
मोहइं मोहिओ मूढ जंपइ मुहिआं मोरी मोरी ।

अतिह गहना अतिह अपारा संसारसायर खारा,
बूज्झउ बूज्झउ गोरख बोलइ सारा धम्म विचारा ॥
कवण केरा तुरङ्ग हाथी कवण केरी नारी,
नरकिं जातां कोइ न राखए हीअडइ जोइ विचारी ॥७४६॥
क्रोध परिहरि मान मन करि माया लोभ निवारे,
अवर वइरि मनि म आणे केवल आपुं तारे" ॥७४७॥
इत्याकर्ण्य नृपः शान्तो भूत्वा नत्वा च योगिनीम् ।
चन्द्राङ्केन सह स्वीयपुरोद्यानमुपागमत् ॥७४८॥
आगतान् संमुखं मन्त्रिवरान् प्राहेति भूपतिः ।
भवद्भिः शुकराजाय राज्यं दातव्यमेव हि ॥७४९॥
अत्रस्थोऽहं गुरोः पार्श्वे ग्रहीष्याम्यधुना व्रतम् ।
पुरमध्ये यतो दोषा लगन्त्येव यतेरपि ॥७५०॥
प्रोचुर्मन्त्रीश्वरा राजभवनं ह्येकशः प्रभो ! ।
पावनीयं वने दोषा संभवन्त्यजितात्मनाम् ॥७५१॥ यतः-

"वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां,
गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः ।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते,
निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्" ॥७५२॥
समायातं गृहे भूपं चन्द्राङ्कसहितं तदा ।
दृष्ट्वा रहो द्रुतं चन्द्रशेखरः स्वपुरं ययौ ॥७५३॥
दत्त्वा सदुत्सवं राज्यं शुकराजाय भूपतिः ।
सप्तक्षेत्र्यां व्ययन् द्रव्यं चकाराष्टाहिकामहः ॥७५४॥
सर्वसंगपरित्यागं कृत्वा प्रातरहं व्रतम् ।
लास्यामीति क्षितीशस्य ध्यायतो भावनां हृदि ॥७५५॥
शुभध्यानाधिरूढस्य क्षिपतः कर्मसञ्चयम् ।
उत्पन्नं केवलज्ञानं रात्रौ सर्वप्रकाशकम् ॥७५६॥ यतः-
"मन राजा मन धीर तुं विषमभुअंगम सोइ ।
रुठु घालइ सातमइ तूठुं लिइ सुरलोइ" ॥७५७॥

स्वर्गाद्देवाः समेत्येति जगू राजऋषेः पुरः ।
वेषं लाहि वयं वन्दामहे त्वत्पादपङ्कजम् ॥७५८॥
[प्रणिहन्ति क्षणार्धेन साम्यमालम्ब्य कर्म तत् ।
यन्न हन्यान्नरस्तीव्रतपसा जन्मकोटिभिः" ॥]

दारिद्र्यनाशनं दानं शीलं दुर्गतिनाशनम् ।
अज्ञाननाशिनी प्रज्ञा भावना भवनाशिनी" ॥७५९॥
भूपेनाङ्गीकृते वेषे देवा नत्वा नरा मुनिम् ।
वितेनुः केवलज्ञानोत्पत्तिचारुमहोत्सवम् ॥७६०॥
शुकहंसादयो मन्त्रिवरा आश्चर्यपूरिताः ।
तत्रैत्य भक्तितो नत्वा चक्रुश्चारुमहोत्सवम् ॥७६१॥
राजर्षिर्भवपाथोधितारणे तरणीनिभाम् ।
धर्मोपदेशनां कर्तुं प्रवृत्तो मञ्जुभाषया ॥७६२॥ तथाहि—
अनित्यमारोग्यमनित्ययौवनं, विभूतयो जीवितमप्यनित्यम् ।
तथाप्यवज्ञा परलोकसाधने, अहो नृणां विस्मयकारि चेष्टितम् ॥

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं,
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते ।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते,
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥

गतसारेऽत्र संसारे सुखभ्रान्तिः शरीरिणाम् ।
लालापानमिवाङ्गुष्ठे बालानां स्तन्यविभ्रमः ॥७६५॥
व्याख्यान्ते हंसचन्द्राङ्कौ युक्तौ कमलमालया ।
जगृहाते व्रतं सद्यः तस्य राजर्षिसन्निधौ ॥७६६॥
"सुहिओ न चयइ भोए चयइ जहा दुक्खिओत्ति अलियमिणं ।
चिक्कणकम्मोलित्तो न इमो न इमो परिच्चयइ ॥७६७॥
जह चयइ चक्कवट्टी पवित्थरं तत्तिअं मुहुत्तेण ।
न चयइ तहा अहन्नो दुब्बुद्धी खप्परं दमओ ॥७६८॥
चन्द्रवत्याः स्वरूपं तं जानन्तौ मूलतः स्वयम् ।
मृगध्वजर्षिचन्द्राङ्कौ कस्याप्यग्रे न जल्पतः ॥७६९॥

चकार राजर्षिरविर्विहारं, भव्याङ्गिराजीवविबोधनार्थम् ।
शुकः क्षितीशश्च चकार राज्यं प्रवर्तयन्न्यायपथे प्रजौघम् ॥
स्नेहं चन्द्रवती चन्द्रशेखरे दधती भृशम् ।
राज्याधिष्ठायिकां देवीमारराध सुभक्तितः ॥७७१॥

प्रत्यक्षीभूय राज्यश्रीस्तुष्टा प्राहेति तां प्रति ।
चित्तेप्सितं वरं चन्द्रवति ! प्रार्थय सम्प्रति ॥७७२॥ यतः-
"नोपकारं विना प्रीतिः कथंचित्कस्यचिद्भवेत् ।
उपयाचितदानेन यतो देवा अभीष्टदाः" ॥७७३॥
प्राह चन्द्रवती सद्यः शुकराज्यं महत्तरम् ।
सुप्रसन्नाऽधुना चन्द्रशेखराय समर्पय ॥७७४॥

प्रोवाच यक्षिणी क्वापि शुकराजो यदैष्यति ।
तदाऽऽकार्यो द्रुतं चन्द्रशेखरो राज्यलब्धये ॥७७५॥
शुकदेहनिभं चन्द्रशेखरस्य वपुस्तदा ।
वर्णरूपादिना सद्यः करिष्येऽहं न संशयम् ॥७७६॥

दत्त्वा वरं गता देवी हृष्टा चन्द्रवती ततः ।
ईहते शुकराजस्य क्वापि गमनं हृदि ॥७७७॥ यतः-
"क्रूरकर्मा जनोऽन्यस्य छिद्राण्यासाद्य वेगतः ।
हरते सकलां लक्ष्मीं मार्जार इव पायसम्" ॥७७८॥

शाश्वतानर्हतो नन्तुं शुकश्चलति यावता ।
तावत्पद्मावतीवायुवेगे पत्न्यौ जजल्पतुः ॥७७९॥
स्वामिन्नावां सहिष्यावो भवतैवाधुना खलु ।
यतोऽस्माकं भवेत्पुण्यं शाश्वतार्हन्नमस्कृतेः ॥७८०॥
"निक्खमणनाणनिव्वाणजम्मभूमीओ वंदइ जिणाणं ।
न य विसइ साहुविरहियंमि देसे बहुगुणे वि ॥७८१॥

यास्यामीति जिनालयं प्रतिदिनं ध्यायंश्चतुर्थं फलम्,
षष्ठं चोत्थित उद्यतोऽष्टममथो गन्तुं प्रवृत्तोऽध्वनि ।
श्रद्धालुर्दशमं बहिर्जिनगृहान्प्राप्तस्ततो द्वादशम्,
मध्ये पाक्षिकमीक्षिते जिनपतौ मासोपवासं फलम् ॥७८२॥

पूजाकोटिसमं स्तोत्रं स्तोत्रकोटिसमो जपः ।
जपकोटिसमं ध्यानं ध्यानकोटिसमो लयः ॥७८३॥
पल्योपमसहस्रं तु ध्यानाल्लक्षमभिग्रहात् ।
दुष्कर्म क्षीयते मार्गे सागरोपमसञ्चितम्" ॥७८४॥
मत्वा मनस्तयोर्भूपः प्राहेति सचिवान् प्रति ।
अधुनाऽहं गमिष्यामि तीर्थयात्राकृते ननु ॥७८५॥
कृत्वा यावदहं यात्रामैष्यामि च मन्त्रिणः ।
भवद्भिस्तावता राज्यं रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥७८६॥
गदित्वेति महीपालः पत्नीद्वययुतः शुकः ।
व्योम्नि विमानमारुह्याचालीन्नन्तुं जिनेश्वरान् ॥७८७॥
देवतापार्श्वतश्चन्द्रवती प्रोक्त्वा स्वयं रहः ।
शुकरूपधरं तत्र चन्द्रशेखरमानयत् ॥७८८॥
सत्यरूपधरो देवीप्रभावाच्चन्द्रशेखरः ।
कुर्वाणो निशि पूत्कारमुत्तस्थाविति तत्क्षणात् ॥७८९॥

कश्चिद्विद्याधरो याति गृहीत्वा मे प्रियाद्वयम् ।
तस्य पृष्ठौ द्रुतं भो भो लोका धावत धावत ॥७९०॥
तत्रैत्य मन्त्रिभिः प्रोक्तं कदा यूयं समागताः ।
भूपः प्राहाधुना यात्रामकृत्वाऽगामहं निशि ॥७९१॥
दुष्टो विद्याधरः कश्चिल्लात्वा मम प्रियाद्वयम् ।
पश्यतो मे गतः कृत्वा छलं पूर्वदिशि द्रुतम् ॥७९२॥
श्रुत्वैतन्मन्त्रिणः प्रोचुर्विद्या क्व स्वामिनो गता ।
नृपोऽवक् तेन दुष्टेन हृता विद्याऽपि व्योमगा ॥७९३॥
अवोचन्मन्त्रिणो विद्या यातु पत्नीद्वयान्विता ।
साम्प्रतं भवतो देहे विद्यते कुशलं प्रभो ॥७९४॥
नृपोऽवग् विद्यते देहे कुशलं साम्प्रतं मयि ।
प्रिये विना द्रुतं प्राणा यास्यन्ति यममन्दिरे ॥७९५॥ यतः—
"आदौ धर्मधुरा कुटुम्बनिचये क्षीणे च सा धारिणी,
विश्वासे च सखी हिते च भगिनी लज्जावशाच्च स्नुषा ।

व्याधौ शोकपरिवृते च जननी शय्यास्थिते कामिनी,
त्रैलोक्येऽपि न विद्यते भुवि नृणां भार्यासमो बान्धवः" ॥
उक्तं च मन्त्रिभिः स्वामिन् ! लक्ष्मीपत्नीसुतादयः ।
भवन्ति भूरिशो भूयो जीवितं न कदाचन ॥७९७॥
"मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
संसारेऽत्र व्यतीतानि कस्य कोऽयं भवेज्जनः ॥७९८॥
यत्प्रातस्तन्न मध्याह्ने यन्मध्याह्ने न तन्निशि ।
निरीक्ष्यते भवेऽस्मिन् ही पदार्थानामनित्यता" ॥इत्यादि ॥
इत्युक्ते मन्त्रिभिः मायां कुर्वाणश्चन्द्रशेखरः ।
कृत्वा प्रत्ययं राजकुलं राज्यं चकार सः ॥८००॥ यतः–
"नहि मायां विना कश्चित्परस्य हरते धनम् ।
बको मुञ्चन् शनैः पादौ किं मत्स्यान् ग्रसते नहि ॥८०१॥
विधाय मायां विविधैरुपायैः परस्य ये वञ्चनमाचरन्ति ।
ते वञ्चयन्ते त्रिदिवापवर्गसुखात्महामोहसखाः स्वमेव" ॥८०२॥

शुकरूपधरो देवीप्रभावाच्चन्द्रशेखरः ।
प्रजाः पाति सदा सत्यशुकवन्निखिलाः किल ॥८०३॥
प्रीतिं कुर्वन् रहश्चन्द्रवत्या सार्धं दुराशयः ।
मायाया सदनं चन्द्रशेखरोऽभून्महीपतिः ॥८०४॥
इतः शुकोऽर्हतो नित्यान्नमन्नष्टापदे ययौ ।
ननाम भक्तिभावेन चतुर्विंशतिमर्हतः ॥८०५॥
[शुकराजस्ततस्तत्र चारणश्रमणान्तिके ।
शुश्राव देशनामेवं भवाम्भोधितरीनिभाम् ॥८०६॥ यतः–
"यः प्राप्य दुष्प्रापमिदं नरत्वं, धर्मं न यत्नेन करोति मूढः ।
क्लेशप्रबन्धेन स लब्धमब्धौ, चिन्तामणिं पातयति प्रमादात् ॥
ते धत्तूरतरुं वपन्ति भवने प्रोन्मूल्य कल्पद्रुमं,
चिन्तारत्नमपास्य काचशकलं स्वीकुर्वते ते जडाः ।
विक्रीय द्विरदं गिरीन्द्रसदृशं क्रीणन्ति ते रासभं,
ये लब्धं परिहृत्य धर्ममधमा धावन्ति भोगाशया"] ॥

नत्वा देवान् प्रियायुक्तो गत्वा च श्वसुरालये ।
स्थित्वा त्रीणि दिनान्येव ततोऽचालीच्छुकः सुधीः ॥ यतः—
"श्वसुरगृहनिवासः स्वर्गतुल्यो नराणाम्,
यदि वसति दिनानि त्रीणि वा पञ्च सप्त ।
अथ कथमपि तिष्ठेन्मृष्टलुब्धो वराको,
निपतति खलु पात्रे काञ्जिकं क्षिप्रयुक्तम्" ॥८१०॥
ततः शीघ्रं चलन्मार्गे शुकराजो विमानगः ।
आगात्स्वीयपुरोद्यानमुदयाद्रिमिवार्यमा ॥८११॥
वनागतं शुकं वातायनस्थश्चन्द्रशेखरः ।
दृष्ट्वा भीतः समाकार्य मन्त्रिणोऽग्रे जगाविदम् ॥८१२॥
येन मम प्रिये व्योमगतिविद्यायुते हृते ।
मदीयं रूपमाधाय स एवागाद् बहिः खगः ॥८१३॥
अनेन चावलावश्यकारिण्या विद्यया खलु ।
नार्यो वशीकृता अस्य पक्षपातं वितन्वते ॥८१४॥

हत्वा मामधमो राज्यमयं दुष्टो ग्रहीष्यति ।
ततः पश्चात्परीप्सयय भवद्भिः प्रेष्यतां द्रुतम् ॥८१५॥ यतः—
"बलवन्तं रिपुं दृष्ट्वा किलात्मानं प्रगोपयेत् ।
बलवद्भिस्तु कर्तव्या शरच्चन्द्रप्रकाशता ॥८१६॥
न तदस्त्रैर्न नागेन्द्रैर्न हयैर्न पदातिभिः ।
कार्यं संसिद्धिमभ्येति यथा बुद्ध्या प्रसाधितम् ॥८१७॥
राजा तुष्टोऽपि भृत्यानामर्थमात्रं प्रयच्छति ।
तेऽपि सन्मानमात्रेण प्राणैरप्युपकुर्वते ॥८१८॥
अरैः संधार्यते नाभिर्नाभौ चाराः प्रतिष्ठिताः ।
स्वामिसेवकयोरेवं वृत्तिचक्रं प्रवर्तते ॥८१९॥
ततो बुद्धिनिधिनामा मन्त्री गत्वा बहिर्वने ।
दृष्ट्वा तं विस्मितः प्राह वाचा मधुरया तदा ॥८२०॥
भो खेट! भवतः शक्तिर्दृष्टेदानीं मयाऽखिला ।
पूर्वमसत्प्रभोः पत्न्यौ त्वं हृत्वा दूरमीयिवान् ॥८२१॥

अधुनाऽस्मत्प्रभो राज्यं ग्रहीतुमागतोऽसि किम् ।
परस्त्रीहरणे पापं जायते श्वभ्रदायकम् ॥८२२॥ यतः–
"प्राणसन्देहजननं परमं वैरकारणम् ।
लोकद्वयविरुद्धं च परस्त्रीगमनं त्यजेत् ॥८२३॥
सर्वस्वहरणं बन्धं शरीरावयवच्छिदाम् ।
मृतश्च नरकं घोरं लभते पारदारिकः" ॥८२४॥ इत्यादि ।
एकस्यैकं क्षणं दुःखं मार्यमाणस्य जायते ।
सपुत्रपौत्रस्य पुनर्यावज्जीवं हृते धने" ॥८२५॥ इत्यादि ।
श्रुत्वैतद्विस्मयं चित्ते तन्वन् प्राह शुकः खगः ।
दातव्य उपदेशोऽयं भवता स्वस्य स्वामिनः ॥८२६॥
अहमेव शुकोऽसीति पुरस्यास्य पतिः पुनः ।
मन्त्री प्राह कथं कूटं जल्प्यते भवताऽधुना ॥८२७॥
मृगध्वजसुतोऽस्तीति पुरमध्येऽधुना ननु ।
तेन त्वं दूरतो याहि न चेन्मृत्युं च लप्स्यसे ॥८२८॥

वहूक्तेनापि भवता न त्वां कोऽप्यत्र मन्यते ।
ततः पद्मावतीवायुवेगे एवं जजल्पतुः ॥८२९॥
अयमेवावयोः स्वामी मृगध्वजसुतः शुकः ।
ततः प्रोवाच मन्त्रीशः किं कूटं जल्प्यते स्त्रियौ ॥८३०॥ यतः–
"अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमविवेकिता ।
अशौचं निर्दयत्वं च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ॥८३१॥
आसन्नमेव नृपतिर्भजते मनुष्यं,
विद्याविहीनमकुलीनमसंस्तुतं च ।
प्रायेण भूमिपतयः प्रमदा लताश्च,
यत्पार्श्वतो भवति तत्परिवेष्टयन्ति ॥८३२॥
अश्वः शस्त्रं शास्त्रं वीणा वाणी नरश्च नारी च ।
पुरुषविशेषं प्राप्ता भवन्त्ययोग्याश्च योग्याश्च" ॥८३३॥
आकर्ण्येति शुको दध्यौ कृत्वा रूपं ममाधुना ।
केनाप्यङ्गीकृतं राज्यं ततः किं क्रियते मया ॥८३४॥ यतः–

"तावच्चन्द्रबलं ततो ग्रहबलं तावद्बलं भूबलम्,
तावत्सिध्यति वाञ्छितार्थमखिलं तावज्जनः सज्जनः।
मुद्रामण्डलमन्त्रतन्त्रमहिमा तावत्कृतं पौरुषम्,
यावत्पुण्यमिदं नृणां विजयते पुण्यक्षयात्क्षीयते ॥८३५॥

आन्ध्यं यद् ब्रह्मदत्ते भरतनृपजयः सर्वनाशश्च कृष्णे,
नीचैर्जन्मावतारश्चरमजिनपतेर्मल्लिनाथेऽबलात्वम्।
निर्वाणं नारदेऽपि प्रशमपरिणतिः सा चिलातीसुतेऽपि,
इत्थं कर्मात्मवीर्ये स्फुटमिह जयतः स्पर्द्धया तुल्यरूपे॥

अट्ठोत्तरसउ बुद्धडी रावणतणइ कपालि।
एक बुद्धी न सांपडी लंका भंजणकालि" ॥८३७॥

यद्येवं नृपतिं हत्वा राज्यं लास्याम्यहं बलात्।
वदिष्यन्ति तदा लोका एवं विविधभाषया ॥८३८॥

मृगध्वजाङ्गजं हत्वा ललौ राज्यमसौ शठः।
यतो लोकापवादो हि बलवानत्र विद्यते ॥८३९॥ यतः—

"चित्ते चित्ते मतिर्भिन्ना कुण्डे कुण्डे नवं पयः।
देशे देशे नवाचारा नवा वाणी मुखे मुखे ॥८४०॥

उन्मत्तकुम्भिपश्वास्यदुष्टाहिशुकसारिकाः।
बध्यन्ते मुखतो ह्येते लोकानां वदनं नहि" ॥८४१॥

ततो दध्यौ शुकश्चित्ते किं खेदोऽत्र विधीयते।
यतोऽस्ति बलवान् कर्मपरिणामः सतामपि ॥८४२॥

राजानः खेचरेन्द्राश्च केशवाश्चक्रवर्तिनः।
देवेन्द्रा वीतरागाश्च मुच्यन्ते नैव कर्मणः ॥८४३॥

"हरिणह खुरी दुअंगुली वागडलक्खसवाउ।
जं विहि करइ तं हवइ जिहां पासउ तिहां पाय" ॥८४४॥

कार्यः सम्पदि नानन्दः पूर्वपुण्यभिदे हि सा।
नैवापदि विषादः स्यात् सा हि प्राक्पापपिष्टये ॥८४५॥

ध्यात्वेति मानसे धैर्यमवलम्ब्य शुकस्ततः।
व्योम्नि विमानमारुह्य चचाल गृहिणीयुतः ॥८४६॥

हृष्टो मन्त्री समेत्याह चन्द्रशेखरसन्निधौ ।
नंष्ट्वा कूटशुकः सद्यो ययौ मद्युक्तितः क्वचित् ॥८४७॥
निशम्यैतच्छुकः कूटः तत्क्षणाद् हृष्टमानसः ।
प्रददौ मन्त्रिणे तस्मै ग्रामाणां विंशतिं तदा ॥८४८॥ यतः—
"तुष्यन्ति भोजनैर्विप्रा मयूरा घनगर्जितैः ।
साधवः परसम्पत्त्या खलाः परविपत्तिभिः" ॥८४९॥
ततः शून्यमनाः स्थाने स्थाने भ्राम्यन् शुकोऽम्बरे ।
पत्नीभ्यां प्रेरितो ह्रीणो नागात् श्वसुरमन्दिरम् ॥८५०॥ यतः—
"उत्तमाः स्वगुणैः ख्याता मध्यमास्तु पितुर्गुणैः ।
अधमा मातुलैः ख्याता श्वसुरैश्चाधमाधमाः" ॥८५१॥
अदीनवदनः कर्मविपाकं चिन्तयन् शुकः ।
षण्मासान्ते भ्रमन् तत्र ययौ सौराष्ट्रमण्डलम् ॥८५२॥ यतः—
"सम्पदि यस्य न हर्षो, विपदि विषादो रणे च धीरत्वम् ।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम्" ॥८५३॥

गच्छन् व्योम्न्यन्यदा वीक्ष्य विमानं स्खलितं निजम् ।
शुको दध्यौ च किं दग्धोपरि मे स्फोटकोऽपतत् ॥ यतः—
"क्षते प्रहाराः प्रपतन्त्यवश्यं, धान्यक्षये स्फूर्जति जाठराग्निः ।
आपत्सु मित्राणि विसंवदन्ति, छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति" ॥
ततः पश्यन्नधो भूमौ वने शुक इतस्ततः ।
ज्ञानिनं तातमात्मीयं स्वर्णाब्जस्थं ददर्श च ॥८५६॥
सुरासुरमहीपालसेवितक्रमयामलम् ।
विमानाच्छुक उत्तीर्य ननाम विधिपूर्वकम् ॥ उपदेशोऽत्र—
"धम्मो मंगलमउलं ओसहमउलं च सव्वदुक्खाणं ।
धम्मो बलं च विउलं धम्मो ताणं च सरणं च" ॥८५८॥
मायामानमदक्रोधपरदोषादिवर्जनम् ।
धर्म एवोच्यते स्वर्गापवर्गदो जिनेश्वरैः ॥८५९॥ यतः—
प्राणात्ययेऽपि सम्पन्ने उत्तमा मानवाः खलु ।
परदोषं न गृह्णन्ति कुर्युर्जीववधं न च" ॥८६०॥

देशनान्ते शुकः साश्रुनेत्रः प्राहेति गद्गदम् ।
मत्तुल्यरूपमाधाय राज्यं कश्चिन्नरो ललौ ॥८६१॥
मुनिश्चन्द्रवतीचन्द्रशेखरयोर्विचेष्टितम् ।
जानन्नपि जगौ नैवानर्थदण्डस्य हेतुतः ॥८६२॥ यतः—
"जोइसनिमित्तअक्खरकोऊअआएसभूइकम्मेहिं ।
करणाणुमोअणेहिं साहुस्स तवक्खओ होइ" ॥८६३॥
शुकः प्राह प्रभो वर्ये जाते त्वद्दर्शने सति ।
राज्यं मे याति यद्येवमभाग्यं विद्यते तदा ॥८६४॥ यतः—
"पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किम्,
नोलूको हि विलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम् ।
वर्षा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणम्,
यत्पूर्वं विधिना ललाटफलकेऽलेखि प्रमाणं हि तत्" ॥
इत्याद्यभ्यर्थितः प्राह मृगध्वजो मुनिस्तदा ।
विमलाद्रिं महातीर्थं विद्यते शिवशर्मदम् ॥८६६॥

अस्य तीर्थगुहामध्ये षण्मासान् यदि सन्ततम् ।
स्मर्यते भवता पञ्चपरमेष्ठी तु मन्त्रराट् ॥८६७॥
यदा चैव गुहामध्ये महत्तेजः स्फुरिष्यति ।
तदा शत्रुः स्वयं याति विना युद्धं निजौकसि ॥८६८॥ यतः—
नमस्कारसमो मन्त्रः शत्रुञ्जयसमो गिरिः ।
गजेन्द्रपदजं नीरं निर्द्वन्द्वं भुवनत्रये ॥८६९॥
अमन्त्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलमनौषधम् ।
अनाथा पृथिवी नास्ति आम्नायाः खलु दुर्लभाः" ॥८७०॥
नत्वा मुनिं शुको हृष्टो विमानमधिरुह्य च ।
मन्त्रं साधयितुं सद्यो जगाम विमलाचलम् ॥८७१॥
गुरूक्तविधिना मन्त्रं ध्यायता शुकभूभुजा ।
षण्मासातिक्रमे तेजः स्फुरद् दृष्टं गुहान्तरे ॥८७२॥
ततो विमानमारूढः शुकः पत्नीद्वयान्वितः ।
चचाल यावता सौवपुरं प्रति प्रमोदितः ॥८७३॥

इतः कूटशुकं प्राह राज्याधिष्ठायिका सुरी ।
शुकरूपं गतं चान्द्रशेखरं ते समागतम् ॥८७४॥
आकर्ण्यैतद् रहश्चन्द्रशेखरः सभयस्ततः ।
निर्गत्य नगराद्यावद्वने तस्थौ क्वचित् द्रुतम् ॥८७५॥

तावद्विमानमारूढः पत्नीद्वययुतः शुकः ।
तत्रागत्य निजं राज्यमलंचक्रे स बुद्धिमान् ॥८७६॥
सर्वैरपि तदा मन्त्रीश्वरैः सन्मानितः शुकः ।
पृष्टो भार्यागमोदन्तं जगाद निखिलं तदा ॥८७७॥
शुकराजस्ततोऽनेकविद्याधरसमन्वितः ।
अचालीद् ऋषभं नन्तुं संघेशो विमलाचले ॥८७८॥

स्नात्रपूजाध्वजारोपादीनि कार्याण्यनेकशः ।
कृत्वा संघपतिः प्राह मन्त्रीशानिति मोदतः ॥८७९॥
ममात्रैवाभवच्छत्रुजयः सन्मन्त्रजापतः ।
तेनास्यैव गिरेः शत्रुञ्जयेत्याह्वा निगद्यताम् ॥८८०॥

इतस्तत्रागतश्चन्द्रशेखरः पृथिवीपतिः ।
नत्वाऽभ्यर्च्य युगादीशं दध्यावेवं निजे हृदि ॥८८१॥
मया च यान्यकार्याणि कृतानि सन्ति भूरिशः ।
तैरेव दुर्गतौ पातो भविष्यति ननु द्रुतम् ॥८८२॥

ध्यात्वेति मनसि प्राप्तवैराग्यश्चन्द्रशेखरः ।
महोदयमुनेः पार्श्वे दीक्षां जग्राह भावतः ॥८८३॥
तदा महोदयज्ञानिपार्श्वेऽभ्येत्य शुको नृपः ।
धर्मं जीवदयामूलं शुश्राव भक्तिपूर्वकम् ॥८८४॥
देशनान्ते शुकः क्ष्मापः पप्रच्छेति यतीश्वरम् ।
राज्यं केन छलं कृत्वा गृहीतं पूर्वमञ्जसा ॥८८५॥

महोदयमुनिः प्राह शुकराजाधुना शृणु ।
इतो भवाद् द्विपञ्चाशत्तमे भूपभवे त्वया ॥८८६॥
उद्दाल्य छलतो राज्यं गृहीतं यस्य वेगतः ।
तेन तेऽस्मिन् भवे राज्यं जगृहे शुकभूपतेः ॥८८७॥

शुकराजो जगौ कस्य राज्यं पूर्वं लले मया ।
यतीश्वरो जगौ वत्स चन्द्रशेखरभूपतेः ॥८८८॥ यतः—
"कृतकर्मक्षयो नास्ति कल्पकोटीशतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" ॥८८९॥

शुकराजस्ततः शीघ्रमुत्थाय विस्मिताशयः ।
क्षमयामास भावेन चन्द्रशेखरसंयतम् ॥८९०॥
तदा तथाऽऽत्मनः कर्म कृतं निन्दन् मुहुर्मुहुः ।
क्षीणकर्माष्टकश्चन्द्रशेखरः प्राप केवलम् ॥८९१॥ यतः—
"गोबंभगब्भगब्भिणिभूणघायाइं गुरुअपावाइं ।
काऊण वि कणयं पिव तवेण सिद्धो दढपहारी" ॥८९२॥

विधाय सोत्सवं यात्रां तीर्थे शत्रुञ्जयाभिधे ।
शुकराजश्चलन्मार्गे स्वपुरीं समुपाययौ ॥८९३॥
आद्या सुप्ताऽन्यदा राज्ञी प्रविशन्तं निशाकरम् ।
मुखे वीक्ष्य जजागार मुदिताऽभूच्च चेतसि ॥८९४॥

यो योऽभूद् दोहदस्तस्या दानशीलादिकोऽनघः ।
स स भूमीभुजा पूर्णीचक्रे मुदितचेतसा ॥८९५॥
सम्पूर्णे समये चारुदिवसे सुन्दरक्षणे ।
साऽसूत तनयं भानुं पूर्वेव प्रसरत्प्रभम् ॥८९६॥

सन्मान्य स्वजनानन्नपानवस्त्रादिभिस्तदा ।
कृत्वा जन्मोत्सवं चन्द्र इत्याह्वां भूपतिर्ददौ ॥८९७॥
वर्धमानः क्रमात्पित्राऽपाठि पण्डितसन्निधौ ।
सूरभूपाङ्गजां लक्ष्मीं चन्द्रश्च परिणायितः ॥८९८॥
अन्येद्युः कमलाचार्या विहरन्तोऽवनीतले ।
आययुस्तत्पुरोद्याने भूरिसाधुसमन्विताः ॥८९९॥

श्रुत्वाऽऽगतान् गुरून् धर्मं श्रोतुं शुकमहिपतिः ।
पत्नीपुत्रान्वितो गत्वा नत्वा चोपाविशत्पुरः ॥९००॥ तथाहि
"त्रिवर्गसंसाधनमन्तरेण, पशोरिवायुर्विफलं नरस्य ।
तत्रापि धर्मं प्रवरं वदन्ति, न तं विना यद्भवतोऽर्थकामौ ॥

भवकोटीदुष्प्रापामवाप्य नृभवादिसकलसामग्रीम् ।
भवजलधियानपात्रे धर्मे यत्नः सदा कार्यः" ॥९०२॥
उपक्रमं विना कर्मयोगादपि तनूभृतः ।
धीरनैगमवन्नैव लभन्ते सातसन्ततिम् ॥९०३॥
आसीद्विश्वपुरे धीरो वणिग् दारिद्र्यपीडितः ।
प्रिया धीरमतीनाम्नी पुत्रो धरणसंज्ञकः ॥९०४॥
आनीय काननादेधस्तृणकाष्ठादि सन्ततम् ।
विक्रीणन्तो नयन्ते ते समयं कष्टतस्त्रयः ॥९०५॥ यतः
"दौस्थ्यं नाम पराभूतेः स्थानमाद्यं न संशयः ।
राजाऽपि गोपतेः पादान् क्षीणः संसेवते चिरम् ॥९०६॥
सहोदयव्ययाः पञ्च दारिद्र्यस्यानुजीविनः ।
ऋणं दौर्भाग्यमालस्यं बुभुक्षाऽपत्यसन्ततिः ॥९०७॥
जीवन्तो मृतकाः पञ्च श्रूयन्ते किल भारते ।
दरिद्रो व्याधितो मूर्खः प्रवासी नित्यसेवकः ॥९०८॥

विवदेते मिथः कर्मोपक्रमाविति सन्ततम् ।
अहं सर्वजगज्जन्तोर्ददामि सुखसन्ततिम् ॥९०९॥
उपक्रमो जगौ सातततिर्मत्तो भवेन्नृणाम् ।
कर्म प्राह त्वया किं स्यान्मां विना वाञ्छितप्रदम् ॥९१०॥
त्वं चापि मत्प्रसादेन प्रतिष्ठां प्रगमिष्यसि ।
सेवते मां जगत्सर्वं भृत्यवन्मेदिनीपतिम् ॥९११॥
मां विना चेद्ददासि त्वं वाञ्छितं देहिनामिह ।
तदाऽस्य धीरनिःस्वस्य विश्राणय समीहितम् ॥९१२॥
तत उपक्रमो हारं लक्षमूल्यं मनोहरम् ।
आनीयाशु ददौ तस्मै धीराय काननान्तरे ॥९१३॥
हृष्टो गच्छन् गृहं काष्ठभारस्योपरि धीरकः ।
मुक्त्वा हारं पयः पातुं ययौ मध्येसरोवरम् ॥९१४॥
इतोऽकस्माच्छकुनिका मांसस्य भ्रान्तितस्तदा ।
दृष्ट्वा हारं वने दूरं मुमोच तरुकोटरे ॥९१५॥

तेन द्वित्रिचतुर्वारं हारो विश्राणितस्तदा ।
मुक्तस्तत्र वने हृत्वा शकुन्या दैवयोगतः ॥९१६॥
तेनैव हि कोटिमूल्यं रत्नं विश्राणितं तदा ।
मुक्तं तत्र सरःकण्ठे मत्स्येन गलितं पुनः ॥९१७॥ यतः—
"किं करोति नरः प्राज्ञः प्रेर्यमाणः स्वकर्मभिः ।
प्रायेण हि मनुष्याणां बुद्धिः कर्मानुसारिणी" ॥९१८॥
ततश्चोपक्रमस्तस्य मध्येगेहं निधिं द्रुतम् ।
मुमोच यावता तावद् दृष्टस्तेन तदा क्षणात् ॥९१९॥
सोऽपि श्रेष्ठी प्रयत्नेन सुस्थाने तं निधिं व्यधात् ।
इतोऽकस्मात्समागत्य चौरेण च हृतो निशि ॥९२०॥
एवमुपक्रमस्तस्य धीरस्य भूरिशस्तदा ।
विधायोपकृतिं खिन्नो मिलितः कर्मणा पुनः ॥९२१॥
कर्म प्रोवाच नाद्यापि धीरोऽयं नैगमस्त्वया ।
महेभ्यो विहितस्तेन पश्य सम्प्रति मत्कृतम् ॥९२२॥

कर्मणा प्रददे यद्यद् धीराय काञ्चनादिकम् ।
उपक्रमं विना तत्तत्काकनाशं गतं क्षणात् ॥९२३॥
विज्ञाय चिन्तितं चित्ते गर्वं करोम्यहं मुधा ।
उपक्रमं विना किंचिद्दातुं न शक्यते मया ॥९२४॥
एकीभूय ततः कर्मोपक्रमौ धीरनैगमम् ।
ग्राहयामासतुर्हारं लक्षमूल्यं मनोहरम् ॥९२५॥
ततो भूरिधनो धीरः कर्मोपक्रमयोगतः ।
कृत्वा धर्मं शुभध्यानपरोऽन्ते त्रिदिवं ययौ ॥९२६॥ यतः—
"सुखदुःखानां कर्ता हर्ता च न कोऽपि कस्यचिज्जन्तोः ।
इति चिन्तय सद्बुद्ध्या पुरा कृतं भुज्यते कर्म" ॥९२७॥

इति कर्मोपक्रमस्थितिविषये धीरकथा ॥

श्रुत्वा केचिज्जनाः किञ्चिद्वचो वर्यं सुखप्रदम् ।
अवलेपं त्यजन्तीह वणिक्पुत्र इवाचिरात् ॥९२८॥
श्रीपुरे धनदः श्रेष्ठी भार्या धनवती प्रिया ।
पुत्रो लक्ष्मीधरो नाम्ना रूपलावण्यसुन्दरः ॥९२९॥

जलस्थलपथे तस्य वणिक्पुत्राश्च भूरिशः।
लक्ष्मीमर्जयितुं यान्ति चतुर्षु दिक्षु सन्ततम् ॥९३०॥
पाठितः पण्डितोपान्ते पित्रा लक्ष्मीधरः सुतः।
विनीतः सन्ततं देवगुरूणां सेवनं व्यधात् ॥९३१॥ यतः–
"किं जातैर्बहुभिः पुत्रैः शोकसन्तापकारकैः।
वरमेकः कुलालम्बी यत्र विश्रमते कुलम् ॥९३२॥
एकेन वनवृक्षेण पुष्पितेन सुगन्धिना।
आमोदितं वनं सर्वं सुपुत्रेण कुलं यथा" ॥९३३॥
शनैः शनैः रमा कर्मयोगात्क्षयमुपाययौ।
तस्य चन्द्रो वणिक्पुत्रो लक्ष्मीवानजनि क्रमात् ॥ यतः–

"कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजखण्डं,
त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः।
उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं,
हतविधिललितानां ही विचित्रो विपाकः" ॥९३५॥

चन्द्रेण तनयो भीमनामा लक्ष्मीपुरेऽन्यदा।
धीरश्रेष्ठिसुतां चङ्गवतीं च परिणायितः ॥९३६॥
दीपालीपर्वणः पूर्वं भीमं धीरवणिग् वरम्।
आकारयितुमप्रैषीत् दीपालीहेलयाऽन्यदा ॥९३७॥
भूषणानि परिधाय सदृक्चतुःकुमारयुग्।
चलन् श्रेष्ठिसुतं लक्ष्मीधरमाह्वातुमीयिवान् ॥९३८॥
तादृग्वेषविभूषाद्यभावाल्लक्ष्मीधरस्तदा।
तेन सार्धं तदा गन्तुं वणिक्पुत्रेण नेहते ॥९३९॥
बलात्पित्रा समं तेन लक्ष्मीधरश्च चालितः।
ततो वणिक्सुतः श्वश्रूगेहे हृष्टमना ययौ ॥९४०॥
सदन्नपानपक्वान्नदानभक्तिपुरस्सरम्।
तत्र गौरवितः श्वश्र्वा जामाता सखिसंयुतः ॥९४१॥
श्रेष्ठिसूनोः सदादेशं यत्तद्दत्ते वणिक्सुतः।
प्रेषितोऽम्भोऽन्यदाऽऽनेतुं तेन श्रेष्ठितनूरुहः ॥९४२॥

यावच्चलति तावच्च तस्य पृष्ठौ पटे तदा ।
छिद्रं वीक्ष्य वणिक्पुत्रो जहासान्यसुहृद्युतः ॥९४३॥
श्रुत्वैतद्वचनं पश्चाद्वलित्वा श्रेष्ठिनन्दनः ।
अन्योक्तिगर्भितां वाचं जगौ वणिक्सुतं प्रति ॥९४४॥

"आपद्गतं हससि किं द्रविणान्धमूढ,
लक्ष्मीः स्थिरा भवति नैव कदापि कस्य ।
यत्किं न पश्यसि घटीजलयन्त्रचक्रे,
रिक्ता भवन्ति भरिताः पुनरेव रिक्ताः" ॥९४५॥

श्रेष्ठिसूनोर्वचः श्रुत्वोत्तीर्णगर्वो वणिक्सुतः ।
क्षमयामास सन्मान्य वस्त्राभरणदानतः ॥९४६॥
ततो वणिक्सुतः श्रेष्ठिसुतं लक्ष्मीप्रदानतः ।
सखं चकार विधिवत्सन्ततं विनयान्वितः ॥९४७॥
अतिकुपिता अपि सुजना, योगेन मृदूभवन्ति न तु नीचाः ।
हेम्नः कठिनस्यापि, द्रवणोपायोऽस्ति न तृणानाम् ॥९४८॥
एवमन्योक्तमाकर्ण्य केचनोत्तममानवाः ।
मार्गमायान्ति सहसा वणिक्पुत्र इवाचिरात् ॥९४९॥

इति गर्वोत्तारविषये वणिक्पुत्रकथानकम् ।

धर्मप्रभावतश्चित्तचिन्तितां सातसन्ततिम् ।
अरिमर्दनभूपाल इवाप्नोति जनोऽचिरात् ॥९५०॥
इहैव भरतक्षेत्रेऽभवत्स्वर्णपुरं पुरम् ।
अभ्रंलिहजिनागारसौधश्रेणिविराजितम् ॥९५१॥
तत्रारिमर्दनक्षोणिपतेः सन्न्यायशालिनः ।
लक्ष्मीवती प्रिया शीलगुणरत्नावलीखनिः ॥९५२॥
मतिसाराभिधो मन्त्री वृद्धो नीतिविचक्षणः ।
भूपस्य मानसं शश्वद् रञ्जयामास सत्तमः ॥९५३॥ यतः–
"अलंकरोति हि जरा राजामात्यभिषग्यतीन् ।
विडम्बयति पण्यस्त्रीमल्लगायनसेवकान् ॥९५४॥
सद्विमानवनावासदीर्घिकादिविराजितम् ।
स्वर्गं भूपोऽन्यदा सुप्तो दृष्ट्वा जागरितो निशि ॥९५५॥

ममेदृक्षं पुरं नैव यदि स्यात्स्वर्गसंनिभम् ।
तदा मे जीवितं सर्वं निष्फलं समजायत ॥९५६॥
प्रातः श्यामाननं भूपं निरीक्ष्य मन्त्रिराड् जगौ ।
स्वामिंस्तव क्वचिच्चिन्ता विद्यते वद साम्प्रतम् ॥९५७॥
राजाऽवक् कथितुं नैव शक्यते साम्प्रतं मनाक् ।
मन्त्री प्राहाधुना स्वामिन्! दुःसाधमपि कथ्यताम् ॥९५८॥
राजा प्राह मया स्वप्ने दृष्टोऽत्र त्रिदशालयः ।
तेन स्वर्गोपमं द्रव्यव्ययात्कारय मत्पुरम् ॥९५९॥
ततोऽर्काश्मशशाङ्काश्मस्फटिकाश्ममणीचयैः ।
मन्त्री सर्वाणि गेहानि कारयामास सर्वतः ॥९६०॥ यतः–
"ते धन्या मन्त्रिणः शिष्याः सेवकास्तनयाः प्रियाः ।
भूपादीनां वचः प्रोक्तं ये कुर्वन्ति स्म हर्षिताः ॥९६१॥
महीशसप्तभूसद्मपुरतस्तोरणं वरम् ।
कारयामास रैकुम्भमयूरोद्भासि मन्त्रिराट् ॥९६२॥

पशुः पुण्यं धनं गोष्ठी भोगधर्मजिनालयाः ।
क्रमशो भूमयः सप्त सप्तभूमिनिकेतने ॥९६३॥
गवाक्षस्थः पुरीशोभां पश्यन् भूपो जगावदः ।
प्रिये ईदृक् पुरं नास्ति क्वापि भूमितले वरम् ॥९६४॥ यतः–
"स्वचित्तकल्पितो गर्वः कस्य नाम न विद्यते ।
उत्क्षिप्य टिट्टिभः पादौ शेते भङ्गभयाद्दिवः" ॥९६५॥
श्रुत्वैतत्तोरणारूढा शुकी प्राह शुकं प्रति ।
ईदृक् क्वापि पुरं रम्यं मह्यां दृष्टं त्वया शुक ॥९६६॥
शुकः प्राह प्रिये साररत्नसौधसमन्वितम् ।
रत्नकेतुपुरं स्वर्गिपुरस्पर्द्धिश्रि विद्यते ॥९६७॥
तत्रासीद्रत्नचन्द्राह्वो भूपो रत्नवती प्रिया ।
लक्ष्मीवती सुता चारुरूपसौभाग्यसुन्दरी ॥९६८॥
एतच्चतुष्टयस्याग्रेऽत्रत्यद्रङ्गनृपादयः ।
अङ्गारकतुलां स्वर्णस्येवाग्रे दधतेतराम् ॥९६९॥ यतः–

"वारिवृक्षमहीप्रस्थकाष्ठवस्त्रावलानृणाम् ।
पुराचलविशेषाणामन्तरं विद्यते महत्" ॥९७०॥
तेनायं नृपतिर्गर्वं मुधा धत्ते पुरेक्षणात् ।
उत्तमानां न युज्येत कर्तुं गर्वं क्वचिन्मनाक् ॥९७१॥ यतः—
"जातिलाभकुलैश्वर्यबलरूपतपःश्रुतैः ।
कुर्वन् मदं पुनस्तानि हीनानि लभते पुमान्" ॥९७२॥
श्रुत्वैतन्नृपतिः कीरपार्श्वे यावद् व्रजेत्ततः ।
तावत्तन्मिथुनं दृष्टिगोचरात्प्रययौ क्वचित् ॥९७३॥
दध्यौ भूपः पुरं द्रव्यव्ययेन कारितं मया ।
एवमुक्त्वा कथं कीरयुग्ममुड्डीय जग्मिवान् ॥९७४॥
एवं पुनः पुनश्चित्ते चिन्तयन्नृपतिर्भृशम् ।
श्यामास्यो मन्त्रिणा पृष्टोऽशेषं दुःखं निजं जगौ ॥९७५॥
रत्नकेतुपुरं द्रष्टुं रत्नचन्द्रं च भूपतिम् ।
सर्वासु दिक्षु भूमीशः प्रेषयामास सेवकान् ॥९७६॥

भ्रान्त्वा ककुप्सु सर्वास्वलब्धतत्पुरवार्तिकाः ।
श्यामास्याः सेवका भूपपार्श्वेऽभ्येत्य जगुः शनैः ॥९७७॥
पुरनामादि न ज्ञातमस्माभिर्वसुधातले ।
ततोऽवग् भूपतिर्मन्त्रिन्! मृत्युर्मेऽत्र समागमत् ॥९७८॥
ज्ञास्यते सा पुरी चेन्न तदाऽग्निः शरणं मम ।
मन्त्री प्राह कियत्कालं प्रतीक्षस्व नरेश्वर! ॥९७९॥
भ्रान्त्वा सर्वत्र षण्मासमध्ये चेत् तत्पुरस्य च ।
आनयिष्यामि नो शुद्धिं मर्तव्यं भवता तदा ॥९८०॥
भूपोऽवग् नैव शक्नोमि स्थातुं सम्प्रति मन्त्रिणः ।
मन्त्रीश्वरा जगुः कार्यं शोभते त्वरितं न हि ॥९८१॥ यतः—
"सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः" ॥
एवमुक्ते यदा भूपो न मुञ्चति कदाग्रहं ।
तदाऽवग् मन्त्रिराड् राजन्! सन्नराः कथयन्ति यत् ॥९८३॥

तत्सर्वं सुखकृन्नूनं जायते देहिनामिह ।
भीमस्य वणिज इव स्थाने स्थाने न संशयः ॥[युग्मम्] तथाहि—
श्रीपुरे धीधनः श्रेष्ठी वसति स धनी महान् ।
तस्याट्टे बुद्धयो बह्वयो लभ्यन्त एव नित्यशः ॥९८५॥
तत्र गतोऽन्यदा भीमो विहृत्यर्थं रमापुरात् ।
ग्राममध्ये भ्रमन् बुद्धिहट्टे च समुपागमत् ॥९८६॥
भीमोऽवग् वस्तु लभ्येत किं किं श्रेष्ठिन् तवापणे ।
श्रेष्ठी प्राह धियश्चार्व्यो लभ्यन्ते न क्रयाणकम् ॥९८७॥
चतुःशतं द्रमान् लात्वा श्रेष्ठ्यदाद् धीचतुष्टयम् ।
चत्वारः पुरुषा यद्यद्वदन्ति क्रियते हि तत् ॥९८८॥
सरसो नारके स्नानं कर्त्तव्यं भवता क्वचित् ।
नाध्वन्येकेन गन्तव्यं वाच्यं गुह्यं न च स्त्रियः ॥९८९॥
मूढे कार्ये ममोपान्ते आगन्तव्यं त्वयाऽचिरात् ॥
बुद्धिचतुष्टयं लात्वा भीमोऽचालीत् ततः पुरात् ।
क्रमाद् भ्रमन् ययौ चन्द्रपुर्यां क्षुतृड्विबाधितः ॥९९०॥

सुप्तो देवकुले रात्रौ धीस्मरणपरायणः ।
तासां फलं यथा जातं श्रोतव्यं तत्सभासदैः ॥९९१॥
इतो वैदेशिकः कश्चिदेत्य तस्मिन् पुरे तदा ।
कस्यचित् श्रेष्ठिनो हट्टे सुष्वाप निशि निर्भरम् ॥९९२॥
उत्पन्नशूलरोगेणाकस्माद्वैदेशिके मृते ।
हट्टस्वामी समायातः प्रगे स्वीयनिकेतनात् ॥९९३॥
दृष्ट्वा मृतं नरं दध्यौ किमयं कर्षयिष्यते ।
मिलिता मानवा द्रष्टुं जल्पन्ति सेति ते तदा ॥९९४॥
कृष्यतामापणात् शीघ्रमित्युक्तेऽट्टपतिर्जगौ ।
ज्ञातिर्न ज्ञायते स्पर्शः क्रियतेऽस्य कथं स्वयम् ॥९९५॥
ततो महाजनाः प्रोचुर्निःस्वस्य कस्यचित्पुनः ।
दीयते भोजनं शस्तं कर्षयिष्यति हट्टतः ॥९९६॥
ययुर्महाजना हट्टस्वामियुक्ता मरुत्कुले ।
दृष्ट्वा भीमं जगुर्हट्टात्कर्षय त्वं मृतं जनम् ॥९९७॥

हट्टस्वाम्यदनं तुभ्यं दास्यत्येषोऽद्य सुन्दरम् ।
ततो भीमो वचस्तेषामङ्गीकृत्य मृतं च तम् ॥९९८॥
रज्जुबन्धनतः प्रेतगृहेऽमुञ्चच्छनैस्तदा ।
तस्य वस्त्राञ्चलेऽपश्यद् दीप्यद्रत्नचतुष्टयम् ॥९९९॥[युग्मम्]
लात्वा तानि ययौ स्नानं कर्तुं भीमः सरोवरम् ।
आरके स विशन् दध्यावात्तैका धिषणा मया ॥१०००॥
अनारके ततः स्नानं कृत्वा श्रेष्ठिगृहे गतः ।
भोक्तुं चोपाविशद् यावत् तावत्तान्यसस्मरत् ॥१००१॥
समेत्यानारके रत्नचतुष्कं विस्मृतं तदा ।
लात्वा स्तौति स तां बुद्धिं विक्रीतामादिमां तदा ॥१००२॥
हृष्टो रत्नाप्तितः पश्चादेत्य श्रेष्ठिनिकेतने ।
भुक्त्वा मध्येपुरं नानाकौतुकानि निरीक्षते ॥१००३॥
एकाकिना न गन्तव्यमिति स्मृत्वा धियं स च ।
व्रजन्तं सेहलं लात्वा द्वितीयं चलितोऽग्रतः ॥१००४॥

पश्यन् ग्रामादि ग्रीष्मर्तौ मध्याह्ने विपिने क्वचित् ।
मुत्कलं सेहलं मुक्त्वा सुप्तो वटतरोरधः ॥१००५॥
वृक्षाद् बहिः समेत्याहिः भीमं दशति यावता ।
सेहलेन कृतस्तावच्छतखण्डो रुषा क्षणात् ॥१००६॥
भीमः सुप्तोत्थितः सर्पं सेहलेन हतं तदा ।
वीक्ष्य बुद्धिं तृतीयां च स्तवीति स्मात्मनो हिताम् ॥१००७॥
ततो हरपुरे हीरसुतां रूपवतीं वराम् ।
सद्यः सदुत्सवं भीमः परिणीय स्थितः सुखम् ॥१००८॥
स्वर्णद्वीपेऽब्धिमार्गेण गत्वा प्राप धनं बहु ।
सद्यःफलानि चिर्भट्या बीजानि श्रेष्ठिराट् पुनः ॥१००९॥
पश्चादेत्य निजे गेहे तानि बीजानि नित्यशः ।
उप्त्वा फलानि भार्यायै चिर्भट्याः प्रददौ रहः ॥१०१०॥
भार्ययोक्तं च चिर्भट्याः फलानि नित्यशः कुतः ।
आनयसि ततस्तेन तत्स्वरूपं निवेदितम् ॥१०११॥

पूर्वं रूपवती श्रीदश्रेष्ठिसंसक्तमानसा।
उपायाद् गन्तुकामाऽपि कियत्कालं स्थिताऽस्ति च ॥१०१२॥
श्रीदाग्रे रूपवत्योक्तमेष्यामि त्वद्गृहेऽहकम्।
श्रीदोऽवग् यदि भो वाले! समेष्यसि ममालये ॥१०१३॥

तदा रहसि वीजानि वह्नौ क्षिप्त्वा च पाचय।
छलं कृत्वा न चेद् गेहे मदीये त्वं समेष्यसि ॥१०१४॥
तदा भूमीपती रुष्टः सर्वस्वं मे हरिष्यति।
रूपवती जगौ वाक्यं करिष्येऽहं तवोदितम् ॥१०१५॥
ततोऽभ्येत्य नृपास्थायां श्रीदः श्रेष्ठी उपाविशत्।
तदा भीमो महीपालमिलनाय समाययौ ॥१०१६॥

तदा श्रीदो जगौ सद्यःफलानि वीजकानि हि।
दृश्यन्ते साम्प्रतं केषां जनानां न निकेतने ॥१०१७॥
तदाऽभिमानतो भीमो जगौ नैवं प्रजल्प्यते।
सद्यःफलानि वीजानि सन्त्येव मम सद्मनि ॥१०१८॥

श्रीदोऽवग् नहि जल्प्येत कूटं कुत्रापि मानवैः।
भवन्ति यदि वीजानि तादृक्षाणि तवालये ॥१०१९॥
तदाऽखिला रमा सद्यो ग्रहीतव्या त्वया मम।
तादृक्षाणि च वीजानि न सन्ति तव सद्मनि ॥१०२०॥

तदाऽहकं शयं यस्योपरि दास्यामि तत्क्षणात्।
तं ग्रहीष्याम्यहं भीमाभीष्टं तव निकेतनात् ॥१०२१॥
वीजान्यानीय भूपाग्रे उप्तानि वणिजा यदा।
न फलितानि भीमेन हारितं च तदाऽचिरात् ॥१०२२॥
जारोऽवग् गम्यते गेहे तव भीमाधुना द्रुतम्।
द्विपदादि ग्रहीष्यामि वस्तु रम्यमहं स्फुटम् ॥१०२३॥

गृहिणीग्रहणे वाञ्छा मत्त्वैतज्जल्पनात्तदा।
वुद्धिदस्य धनस्यान्ते गत्वा सर्वं जगौ च तत् ॥१०२४॥
हारिता गृहिणी याति यद्यन्यस्य निकेतने।
तदा वर्यमतिरपि पुमान् (न) शोभां समाप्नुयात् ॥१०२५॥

धन्नोऽवग् वस्तु निःशेषं पत्नीयुक्तं द्वितीयकौ[1]।
मुक्त्वा दत्त्वा च निःश्रेणीं श्रीदे प्रतिवदेरिति ॥१०२६॥
चाटिखोपरि गेहस्य निःश्रेण्या लाहि वस्तु च।
चटने स च यदा पाणिं दत्ते निःश्रेणिकोपरि ॥१०२७॥
जल्पेथास्त्वं तदा तं च प्रत्येवं स्फुटया गिरा।
इमां निःश्रेणिकां पाणिस्पर्शनाल्लाहि नैगम! ॥१०२८॥
भीमः पश्चाद् गृहेऽभ्येत्य बुद्धिदोक्तमशेषतः।
कृत्वा यावत्स्थितस्तावज्जारस्तत्र समागमत् ॥१०२९॥
गृहोपरि स्थिता भीमपत्नी रूपवती शठा।
आत्मानं ज्ञापयामास जाराय वणिजे तदा ॥१०३०॥
तां तादृक्षं स्वसङ्केतं कुर्वाणां वीक्ष्य गेहिनीम्।
भीमो निजसधर्मिण्या जज्ञौ दुश्चरितं तदा ॥१०३१॥
जारो यावच्च निःश्रेण्या उपरिष्टान्निजं शयम्।
दत्त्वोर्ध्वं चटति स्माशु लातुं भीमनितम्बिनीम् ॥१०३२॥

तावद् भीमो जगौ स्वीयहस्तस्पृष्टाधिरोहिणीम्।
गृहीत्वा गच्छ जार! त्वं सद्यः स्वीयनिकेतनम् ॥१०३३॥
छलितश्च तदा जारः किंकर्तव्यजडोऽभवत्।
ततः श्रेष्ठी प्रियां जज्ञौ तादृक्षां भीमनैगमः ॥१०३४॥
दुश्चारिणीं प्रियां भीमः कर्षयित्वा गृहाद् बहिः।
पर्यणैषीत्प्रियामन्यां विनीतां लसदुत्सवम् ॥१०३५॥ यतः—
"त्यजेद् धर्मं दयाहीनं क्रियाहीनं गुरुं त्यजेत्।
दुश्चारिणीं त्यजेद् भार्यां निःस्नेहान् बान्धवान् त्यजेत्" ॥
एवं ये महतां वाक्यमङ्गीकुर्वन्ति सादरम्।
तेषां समीहितं कार्यं सेत्स्यति नात्र संशयः ॥१०३७॥
मासत्रयावधिः क्ष्मापः कारितो मन्त्रिणा तदा।
ज्ञातुं तत्पुरभूपादि चचाल सचिवेश्वरः ॥१०३८॥
भूरिदेशपुरग्रामाकरशैलवनादिषु।
भ्रमन्मन्त्रीश्वरः खिन्नो रत्नवत्यां ययौ पुरि ॥१०३९॥

1 द्वितीयभूमौ।

गत्वा जिनालये नत्वा स्तुत्वा श्रीऋषभं जिनम् ।
मेहीकुन्दुविकागेहे भोक्तुं मन्त्री उपाविशत् ॥१०४०॥
श्यामास्यं मन्त्रिणं दृष्ट्वा कुन्दुविका जगावदः ।
कुतोऽस्ति श्यामलं वक्त्रं दुःखं कथय सम्प्रति ॥१०४१॥
ततो मन्त्री निजं कार्यं भूपसत्कमचीकथत् ।
मेही प्राह भव स्वस्थः कार्यशुद्धिर्भविष्यति ॥१०४२॥
रत्नकेतुपुरे गन्तुं यद्यस्तीहा तवानघ ।
तदाऽत्रानय भूपालं कार्यशुद्धिकृते द्रुतम् ॥१०४३॥
हृष्टो मन्त्री ततोऽभ्येत्य स्वपुर्यां भूपसन्निधौ ।
कार्यशुद्धिकरीं वार्तां कथयामास मूलतः ॥१०४४॥
सपादलक्षमूल्यानि रत्नान्यानीय भूपतिः ।
मन्त्रियुक्तो ययौ रत्नवत्यां पुरि प्रमोदितः ॥१०४५॥
मिलितो भूपतिर्मेह्याः प्रीणितो भोजनादिभिः ।
उक्तं चेतः पुरात् तच्च योजनानां शतत्रयम् ॥१०४६॥
सौभाग्यसुन्दरी कन्या विद्यते नरद्वेषिणी ।
राज्ञोक्तं तत्र यानेच्छा विद्यते तेन मां नय ॥१०४७॥
मेही प्राह रुचिस्तेऽस्ति तत्र गन्तुं पुरि द्रुतम् ।
तदा त्वं मन्त्रियुक् शय्यामलङ्कुरु निवेशनात् ॥१०४८॥
शय्यासीनो नृपो मन्त्रियुक्तो मेह्या क्षणात्तदा ।
नीतो द्युविद्यया रत्नकेतुपुर्यां बहिर्वने ॥१०४९॥
उत्तीर्णाब्धि नृपं मेह्या प्रोक्तमेतत्पुरं हि तत् ।
अहं पश्चाद्गमिष्यामि निजं कार्यं च साधय ॥१०५०॥
राजा प्राह गतिः का नो विद्यते मे द्युगामिनी ।
तेन पश्चात्कथं पुर्यां स्वस्यां मया गमिष्यते ॥१०५१॥
मेह्योक्तं च पुरावासभूपसौभाग्यसुन्दरीः ।
प्रपश्यतं युवां सम्यग् स्वस्थीभूय निरन्तरम् ॥१०५२॥
गत्वा स्वसदने सद्य इत एकादशाहनि ।
आयास्यामि वनेऽत्राहं प्रोक्त्वा कुंदुविका ययौ ॥१०५३॥

विद्यया नृपतिः कन्या बभूव रूपशालिनी ।
द्विजरूपधरो मन्त्री चक्रे तां कन्यकां करे ॥ [युग्मम्]
पश्यन् पदे पदे पुर्यां शोभां मन्त्री मनोहराम् ।
गत्वा संसदि भूपस्याशीर्वादं प्रददौ स्फुटम् ॥१०५५॥
भूपेनोक्तं कुतः स्थानात्किंकृतेऽत्रागतो वद ।
द्विजोऽवक् त्वत्पुरं द्रष्टुं श्रुत्वा दूरादिहागमम् ॥१०५६॥
भूपोऽवग् नगरीं पश्य रत्नसौधविराजिताम् ।
द्विजः प्रोवाच कन्यायाः प्रतिबन्धोऽस्ति मेऽधुना ॥१०५७॥
तेनेयं कन्यका भूप ! त्वदीयेऽन्तःपुरेऽधुना ।
तिष्ठत्वहं पुनर्यावत्करोमि नगरेक्षणम् ॥१०५८॥
भूपादेशात्सुतां विप्रो विमुच्यान्तःपुरे तदा ।
पुरीं द्रष्टुं ययौ हट्टश्रेण्यादिषु प्रमोदितः ॥१०५९॥
प्रश्नप्रहेलिकाभिश्च द्विजकन्या नृपाङ्गजाम् ।
अरञ्जयत्तथा नित्यं यथा साऽजनि भक्तिभाग् ॥१०६०॥

विप्रपुत्र्याऽन्यदा भूपपुत्री पृष्टेति हे सखि ! ।
किमर्थं क्रियते द्वेषो नृषु भूपाङ्गजा जगौ ॥१०६१॥
मलयाद्रिमहाटव्यां चुटिकचुटकद्वयम् ।
प्रासादे आदिदेवस्य सदा पूजां चकार च ॥१०६२॥
चुटी प्राह चुटेदानीं नीडं च क्रियते पते ! ।
आसन्नः प्रसवानेहा विद्यते साम्प्रतं मम ॥१०६३॥
एवमुक्तोऽपि बहुशो जजल्प नो मनागपि ।
तृणान्यानीय भूयांसि नीडं चुटी व्यधात्तदा ॥१०६४॥
ततस्तया कृते नीडे तिष्ठति स्म स सन्ततम् ।
इतो लग्नो दवस्तस्मिन् वने वंशालिघर्षणात् ॥१०६५॥
चुटी प्राह पते ! नीरमानीय साम्प्रतं ह्रदात् ।
सिच्यते आत्मनो नीडं दह्यते न यथा मनाग् ॥१०६६॥
एवमुक्तोऽपि बहु नोत्तस्थौ च चुटको यदा ।
तदानीय जलं नीडं सिक्तं चुटिकया तया ॥१०६७॥

एवं तस्याश्च कुर्वन्त्यास्तत्र दावाग्निरायययौ ।
उत्थाय चुटको दुष्टो ययौ कुत्रापि कानने ॥१०६८॥
दग्धा दावाग्निना साऽहं नाभेरर्चाविधानतः ।
अस्मिन् पुरेऽभवं रत्नकेतुराजाङ्गजा ननु ॥१०६९॥
जातिस्मरणतो ज्ञात्वा नृषु द्वेषो ममाजनि ।
दुष्टाशया नराः प्रायो भवन्त्येव न संशयः ॥१०७०॥
विप्रपुत्री जगौ भूपपुत्रि ! सारङ्गलोचनाः ।
कूटाऽसत्यमृषावादवादिन्यः स्यू रुषाऽरुणाः ॥१०७१॥
आकर्ण्यैतज्जगौ राजपुत्री विप्रसुतां प्रति ।
नृषु द्वेषो न यात्येष क्रियते सखि किं मया ॥१०७२॥
विप्रपुत्री जगौ भूपपुत्रि ! क्रोधेन तत्क्षणात् ।
विहितं सुकृतं याति वायुनेवाभ्रसन्ततिः ॥१०७३॥
इतो दृष्ट्वा पुरीशोभां भूपान्तेऽभ्येत्य स द्विजः ।
ययाचे भूपतिं पुत्रीं निजां मुक्तां पुरा स्फुटम् ॥१०७४॥

आनेतुं तत्सुतां चेटी प्रेषिताऽगात्सुतान्तिके ।
प्रोक्तं चास्याः पिताऽऽयातः प्रेषयेमां नृपान्तिके ॥१०७५॥
राजपुत्री जगावस्या वियोगं न सहे क्षणम् ।
एतच्चेटी महीपालपार्श्वे गत्वा जगाद च ॥१०७६॥
श्रुत्वैतद् ब्राह्मणः प्राह भूपार्पय सुतां मम ।
नोचेदहं करिष्यामि हत्यां स्वस्यात्मनोऽचिरात् ॥१०७७॥
ततस्तां कन्यकां पुत्रीपार्श्वादानीय भूपतिः ।
ददौ द्विजन्मने तस्मै सोऽपि विप्रोऽचलत्ततः ॥१०७८॥
स्मारं स्मारं गुणग्रामं तस्या भूपालनन्दिनी ।
बभूव दुःखिनी जातिमिव रोलम्बगेहिनी ॥१०७९॥
द्विजोऽखिलं पुरं तस्या दर्शयित्वाऽभितः क्रमात् ।
ईदृक् पुरं न कुत्रास्तीति प्रजल्पन् ययौ बहिः ॥१०८०॥
पूर्वसंकेतिते स्थाने गत्वा रूपं निजं नृपः ।
प्रादुश्चकार यावच्च तावन्मेही समाययौ ॥१०८१॥

खद्वाप्रयोगतः पुर्यां नीत्वा मन्त्रिमहीपती।
मेहीकुन्दुविका भक्तिं व्यधाद्भोजनदानतः ॥१०८२॥
भूपोऽवक् सत्परीवारं लात्वाऽत्रैष्याम्यहं पुरि।
खद्वाप्रयोगतस्तत्र नेतव्योऽहं त्वयाऽङ्गने ! ॥१०८३॥
मेही प्राह त्वया शीघ्रमागन्तव्यं महीपते ! ।
ईहितं ते करिष्यामि नात्र कार्या विचारणा ॥१०८४॥
भूपोऽवग् तव केनैषा दत्ता खद्वा नरेण च।
मेही प्राह धरापुर्यामभूच्छ्रेष्ठी धनाभिधः ॥१०८५॥
शत्रुञ्जयादितीर्थेषु तस्य धन्याभिधा प्रिया।
कृत्वा यात्रां सदा धर्मपरा प्रापादिमं दिवम् ॥१०८६॥
च्युत्वा चास्मिन् पुरे स्वर्गात् मेही जाता मृगेक्षणा।
धनो धर्मपरो मृत्वा द्वितीयां दिवमीयिवान् ॥१०८७॥
स्मृत्वा पूर्वं भवं सोऽपि स्वर्गादेत्य सुधाशनः।
मोहान्मेह्यै ददौ खद्वामेकामाकाशगामिनीम् ॥१०८८॥ यतः—
"पंचसु जिणकल्लाणेसु, महरिसितवाणुभावाओ।
जम्मंतरनेहेण य आगच्छंती सुरा इहयं ॥१०८९॥"
ततः प्रभृति सा मेही कुर्वत्युपकृतिं सदा।
धर्मकर्मपरा कालं गमयामास किञ्चन ॥१०९०॥ यतः—
"आरोग्यं सौभाग्यं धनाढ्यता नायकत्वमानन्दः।
कृतपुण्यस्य स्यादिह सदा जयो वाञ्छितावाप्तिः" ॥ इत्यादि।
साऽहं ज्ञेया ततो भूपो हृष्ट आपृच्छ्य तां तदा।
मतिसारयुतः स्वीयां नगरीं समुपागमत् ॥१०९२॥
ततो यात्राछलेनोर्वीपतिः सारचमूवृतः।
गत्वा रत्नवतीपुर्यां मेह्याश्च मिलितो रहः ॥१०९३॥
प्रोक्तं राज्ञा च मां तत्र प्रापयाशु बलान्वितम्।
ततोऽहमात्मना कन्यां परिणेष्यामि तां छलात् ॥१०९४॥
मेह्योक्तं भवतोऽशेषा चमूः स्पृशतु खद्विकाम्।
तथा स्पर्शनतः खद्वा चचाल गगने क्रमात् ॥१०९५॥

राजा चमूयुतः खड्वायोगात्तस्मिन्मरुद्वने ।
मुक्तो मेद्या ततः सीम व्यापयन् तुरगादिभिः ॥१०९६॥
परचक्रागमभ्रान्त्या रत्नकेतुमहीपतिः ।
संनह्य विग्रहं कर्तुं निस्ससार पुराद् बहिः ॥१०९७॥
इतोऽरिमर्दनक्ष्मापशिक्षितो निजसेवकः ।
समेत्य रत्नकेतुक्ष्मापालोपान्ते जगावदः ॥१०९८॥
अरिमर्दनभूपालो धर्मिष्ठो धर्मशेखरः ।
अत्राद्य परदेशीयो यात्रां कर्तुं समागमत् ॥१०९९॥
नालोकते मुखं स्त्रीणां स्त्रीणां वाक्यं शृणोति न ।
यद्येति वनिता दृष्टिगोचरे स तदा मृतः ॥११००॥
आकर्ण्यैतन्नृपः स्वस्थो रत्नकेतुमहीपतिः ।
अरिमर्दनभूपालचमूमध्ये समीयिवान् ॥११०१॥
इतोऽरिमर्दनक्ष्मापः श्रीयुगादिजिनेशितुः ।
अर्चां चक्रेऽष्टधा चारुपुष्पगन्धाक्षतादिभिः ॥११०२॥

"वरगंधधूवचुक्खक्खएहिं कुसुमेहिं पवरदीवेहिं ।
नेवेज्जफलजलेहि अ जिणपूआ अट्ठहा भणिया ॥११०३॥
जो पूएइ तिसंझं जिणिंदरायं तहा विगयदोसं ।
सो तइअभवे सिज्झइ अहवा सत्तट्ठमे जम्मे ॥११०४॥
पूजां कृत्वा नृपौ द्वौ च मिलितौ भक्तिपूरितौ ।
रत्नकेतुर्जगौ कुत्र किमर्थं गम्यतेऽधुना ॥११०५॥
अरिमर्दनभूपालो जगौ यात्रां जिनेशितुः ।
कर्तुं समागतोऽत्राहं संसारभ्रमणाच्छिदे ॥११०६॥ यतः–
"श्रीतीर्थपान्थरजसा विरजीभवन्ति,
तीर्थेषु बंभ्रमणतो न भवे भ्रमन्ति ।
द्रव्यव्ययादिह नराः स्थिरसम्पदः स्युः,
पूज्या भवन्ति जगदीशमथार्चयन्तः ॥११०७॥
पल्योपमसहस्रं तु ध्यानाल्लक्षमभिग्रहात् ।
दुष्कर्म क्षीयते मार्गे सागरोपमसञ्चितम् ॥११०८॥

वपुः पवित्रीकुरु तीर्थयात्रया, चित्तं पवित्रीकुरु धर्मवाञ्छया।
वित्तं पवित्रीकुरु पात्रदानतः, कुलं पवित्रीकुरु सच्चरित्रैः" ॥
धर्मिष्ठं भूपतिं दृष्ट्वा रत्नकेतुर्जगावदः।
भोजनं कुरु मद्गेहे प्रसद्य साम्प्रतं द्रुतम् ॥१११०॥ यतः—
"अभयं सुपत्तदाणं अणुकंपा उचिअकित्तिदाणं च।
दोहिवि मुक्खो भणिओ तिन्नि उ भोगाइअं दिंति ॥११११॥
न कयं दीणुद्धरणं न कयं साहम्मिआण वच्छल्लं।
हिअयंमि वीअराओ न धारिओ हारिओ जम्मो ॥१११२॥
केसिं च होइ चित्तं वित्तमन्नेसिमुभयमन्नेसिं।
चित्तं वित्तं पत्तं तिन्नि वि केसिं चि धन्नाणं" ॥१११३॥
पान्थभूपो जगौ मध्येपुरं नैष्याम्यहं कदा।
यद्यायाति ममाप्येका भामिनी नेत्रगोचरे ॥१११४॥
तदा मया विधातव्यः प्राणत्यागः स्वयं खलु।
तेन त्वया न वक्तव्यं भोजनाय महीपते ! ॥१११५॥

राज्ञोक्तं निखिला नार्यः क्षेप्स्यन्ते स्वगृहान्तरे।
अस्मत्पत्न्योऽपि रहसि स्थास्यन्ते वचनान्मम ॥१११६॥
अरिमर्दनभूपेन मानिते सति भूपतिः।
एत्य स्वसदने सर्वां पुरीं सद्यस्तथाऽकरोत् ॥१११७॥
विधाय नगरीशोभां भोजनं सुन्दरं पुनः।
रत्नकेतुर्नृपं पान्थमानयामास सद्मनि ॥१११८॥
नृद्वेषिणीसुतावासोपान्ते भोजनमण्डपे।
चकार गौरवं भूपो वातक्षेपादिभिर्भृशम् ॥१११९॥ यतः—
"पानीयस्य रसः शैत्यं परान्नस्यादरो रसः।
आनुकूल्यं रसः स्त्रीणां मित्राणां वचनं रसः" ॥११२०॥
पुत्रीगेहान्तरे तस्यारिमर्दनमहीपतेः।
विश्रामाय ददौ स्थानं रत्नकेतुर्नृपस्तदा ॥११२१॥
भूपः पप्रच्छ भो भूप द्वेषो नार्यां कथं तव।
प्राहारिमर्दनः पूर्वभवोद्भूतोऽभवन्मम ॥११२२॥

श्रुत्वैतद्वचनं भूमिपतेः पूर्वभवं तदा।
श्रोतुं भूपाङ्गजा छन्नं तस्थौ कौतुकिताशया ॥११२३॥
तदाऽवग् नृपतिरत्नकेतुर्भूधार्मिकाग्रणीः।
त्वं प्राचीनभवं स्वीयं विस्तराज्जल्प मेऽग्रतः ॥११२४॥
प्राहारिमर्दनः पूर्वभवे मलयपर्वते।
चटिकाचटकद्वयं वसति स्म निजेच्छया ॥११२५॥
प्रासादे ऋषभं देवं वारिपुष्पफलादिभिः।
भक्त्या चुटचुटीयुग्मं पूजयामास शर्मणे ॥११२६॥
चुटः प्राहान्यदा नीडं क्रियते चुटि ! साम्प्रतम्।
एवं भूयश्चुटेनोक्ता नाशृणोन्न जजल्प च ॥११२७॥
चुटः स्वयं व्यधान्नीडं यावत्कष्टेन पादपे।
तावद्दावानलो वंशघर्षाज्ज्वाल कानने ॥११२८॥
आगच्छन्तं दवं वीक्ष्य चुटोऽवक् चुटिकां प्रति।
आनीय सलिलं नीडं क्लिन्नं च क्रियते द्रुतम् ॥११२९॥

एवं भूयश्चुटेनोक्ता चुटी दुष्टाशया तदा।
नोत्तस्थौ न जगौ किन्तु मौनं कृत्वा स्थिता भृशम् ॥११३०॥
नीडं सिञ्चन् चुटो नाभिपुत्रध्यानपरायणः।
दग्धो दवाग्निना सोऽहं जातो भूपोऽरिमर्दनः ॥११३१॥
श्रुत्वा भूपाङ्गजा दध्यौ मृषा किमेष जल्पति।
मयाऽथवा भवः पूर्वो विपरीतो निरीक्षितः ॥११३२॥ यतः—
"अज्ञानेनावृता जीवा न जानन्ति हिताहितम्।
धत्तूरिता जनाः किं न पश्यन्ति कनकं जगत्" ॥११३३॥
ध्यात्वेति भूपभूः प्राह कूटं किं भूप ! जल्पसि।
समानीय मया नीरं नीडं सिक्तं जलाशयात् ॥११३४॥
भूपपुत्रो जगौ नीडं सिक्तं च वारिणा मया।
एवं मिथः कलिर्द्वाभ्यां चक्रे भूयः प्रजल्पनात् ॥११३५॥
उत्सार्य द्विपटीं यावद् वीक्षते भूमिभुग्मुखम्।
नृषु द्वेषो गतस्तावत्तस्या ध्वान्तं रवेरिव ॥११३६॥

दृष्ट्वैतन्नृपतिं हृष्टं मुत्कलाप्यारिमर्दनः ।
यावच्चचाल तावच्च भूपपुत्री जगावदः ॥११३७॥
पूर्वं भवेऽभवत्कान्तो ममायं मेदिनीपतिः ।
भवेऽस्मिन् भवतादेष पतिर्नो चेद्विभावसुः ॥११३८॥

ततो बलात्तदा रत्नकेतुर्भूपो निजाङ्गजाम् ।
अरिमर्दनभूपाय ददौ चारुतरोत्सवम् ॥११३९॥ यतः–
"धर्मोयं धनवल्लभेषु धनदः कामार्थिनां कामदः,
सौभाग्यार्थिषु तत्प्रदः किमपरं पुत्रार्थिनां पुत्रदः ।
राज्यार्थिष्वपि राज्यदः किमथवा नानाविकल्पैर्नृणाम्,
तत्किं यन्न ददाति किं च तनुते स्वर्गापवर्गावपि" ॥

ततो रत्नवतीं कन्यां परिणीयारिमर्दनः ।
मेहीसांनिध्यतो रत्नवत्याः पुर्याः समाययौ ॥११४१॥
रसवत्यादिना भक्त्ती राज्ञो मेह्या कृताऽऽदरात् ।
मणीचतुष्टयं लक्षमूल्यं मेह्यै नृपो ददौ ॥११४२॥

मुत्कलाप्य च तां कैश्चित्प्रयाणैर्भूमिपोऽध्वनि ।
वन्दमानश्च तीर्थानि स्वं पुरोद्यानमागमत् ॥११४३॥
तलिकातोरणे वारिच्छटां वन्दनमालिकाम् ।
मन्त्रीशः कारयामास पुरीशोभां च सर्वतः ॥११४४॥

सुमुहूर्ते लसद्वाद्यातोद्यगीतपुरस्सरम् ।
यावदायाति भूपालः पत्नीयुक्तो नृपाध्वनि ॥११४५॥
तावत्तूर्यारवं श्रुत्वा द्रष्टुं भूपं प्रियान्वितम् ।
त्यक्त्वा निजं निजं कार्यं मिलिता मानवाः स्त्रियः ॥११४६॥
एकनेत्राञ्जिता काचिदर्धगुम्फितमस्तका ।
अर्धमण्डितवक्त्राब्जा काचिद् द्रष्टुं समाययौ ॥११४७॥ यतः

"तीअहं तिन्नि पीआरडां कलि कज्जल सिंदूर ।
अन्न तिन्नि अइवल्लहां दूध जमाई तूर" ॥११४८॥
पदे पदे ददद् दानं गीतनृत्यपुरस्सरम् ।
अलंचकार भूपालः सौधं पत्नीयुतस्तदा ॥११४९॥

संयोगः शशिरोहिण्योः पार्वतीश्वरयोरिव ।
जातस्तयोर्महीपालपत्न्योः सौभाग्यशालिनोः ॥११५०॥
गर्भे सौभाग्यसुन्दर्याः कोऽपि पीवरपुण्यवान् ।
अवतीर्णः शुभे घस्रे जीवः सत्स्वप्नसूचितः ॥११५१॥
गर्भानुभावतस्तस्या ये येऽभूवन् मनोरथाः ।
देवपूजादयस्ते ते पूरिता मेदिनीभुजा ॥११५२॥
नृपपत्नी शुभे घस्रे सुतं सूते स्म सुन्दरम् ।
जन्मोत्सवं नृपः कृत्वा मेघ इत्यभिधां ददौ ॥११५३॥
धात्रीभिः पञ्चभिस्तन्यपानदानादिभिः सदा ।
लाल्यमानः क्रमाद् वृद्धिं जगाम नृपनन्दनः ॥११५४॥ यतः
"उत्पतन् निपतन् रिङ्खन् हसन् लालावलीं वमन् ।
कस्याश्चिदेव धन्यायाः क्रोडमाक्रमते सुतः" ॥११५५॥
पाठाय लेखशालायां मुक्तो मेघो महीभुजा ।
पण्डितान्ते पठन् कर्मधर्मशास्त्राणि भूरिशः ॥११५६॥ यतः—

"जायंमि जीवलोए दो चेव नरेण सिक्खिअव्वाइं ।
कम्मेण जेण जीवइ जेण मओ सुग्गइं जाइ ॥११५७॥
आहारनिद्राभयमैथुनानि, सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
ज्ञानं विशेषः खलु मानुषाणां, ज्ञानेन हीनाः पशवो मनुष्याः"॥
ततश्चन्द्रपुरस्वामिचन्द्रभूपाङ्गजां वराम् ।
नाम्ना मेघवतीं मेघः परिणिन्ये शुभेऽहनि ॥११५९॥
श्रीसुन्दरे वने नाभिनन्दनं नन्तुमर्हतम् ।
वरवध्वौ गतौ नानानृत्यगीतपुरस्सरम् ॥११६०॥
मूर्त्तिं दृष्ट्वाऽऽदिनाथस्य मुमूर्छतुर्वधूवरौ ।
शीतोपचारतः सज्जीकृतौ नैव जजल्पतुः ॥११६१॥
उपचाराः कृता मन्त्रतन्त्रैर्भूपेन भूरिशः ।
न जजल्प मनाग् मेघकुमारो गृहिणीयुतः ॥११६२॥ यतः
"वैद्या वदन्ति कफपित्तमरुद्विकारम्,
सांवत्सरा ग्रहगतं प्रवदन्ति दोषम् ।

भूतोपसर्गमथ मन्त्रविदो वदन्ति,
कर्माणि पूर्वविहितानि वदन्ति सन्तः" ॥११६३॥
इतस्तत्र पुरोद्याने विहरन् गुणसूरिराट् ।
बोधयितुं जनान् भव्यानाययौ केवली क्रमात् ॥११६४॥
उद्यानपालकमुखान्निशम्यागमनं गुरोः ।
राजा पुत्रवधूपत्नीयुक्तो वन्दितुमीयिवान् ॥ अत्रोपदेशः–
"धर्मो विशिष्टः पितृमातृपत्नीसुहृत्सुतस्वामिसहोदरेभ्यः ।
सनातनोऽयं सह याति मृत्यौ, दुःखापहोऽमी पुनरीदृशा न ॥
धर्मो महामङ्गलमङ्गभाजां धर्मो जनन्युद्दलिताखिलार्तिः ।
धर्मः पिता पूरितचिन्तितार्थो, धर्मः सुहृद्वर्धितनित्यहर्षः ॥
दानं विपच्छेदनिदानदानं, शीलं सुखोन्मीलनशालिशीलम् ।
तपः स्फुरत्पङ्कतपातपश्रि सद्भावना स्याद् भवभावनाशा ॥
भूपः पप्रच्छ भगवन्न जल्पतः सुतस्नुषे ।
कर्मणा केन स प्राह गुरुः श्रीगुणसूरिराट् ॥११६९॥

अजल्पकारणे प्रोक्ते त्यक्त्वा द्वावपि मन्दिरम् ।
ग्रहीष्यतो व्रतं सद्यः संसाराम्बुधितारकम् ॥११७०॥
भूपः प्रोवाच यद् भावि गुरो ! भवतु तद् द्रुतम् ।
जल्पन्तौ क्रियेतां पुत्रस्नुषे च भवताऽधुना ॥११७१॥
गुरुः प्राहानयोः पूर्वं श्रूयतां चरितं स्फुटम् ।
पुरा भीमपुरे शूरो महीपालोऽभवन्नयी ॥११७२॥
शूरेण वैरिणो वीरपुरं भग्नं जितो रिपुः ।
भटेन केनचित् सोमश्रेष्ठिनः सुतपुत्रिके ॥११७३॥
धीरवीरमतीनाम्न्यौ रूपलावण्यसुन्दरे ।
त्रिद्विवर्षमिते लात्वा नीते सौवपुरे तदा ॥११७४॥
कमलश्रेष्ठिनो दत्ते द्रव्येण भूयसा रहः ।
क्रमेण यौवनं प्राप्ते तावेव परिणायिते ॥ त्रिभिर्विशेषकम् ।
तत्रान्यदा गुरुर्धर्मघोषो ज्ञानी समाययौ ।
कमलः प्रययौ नन्तुं गुरुराजं प्रियान्वितः ॥ अत्रोपदेशः–

व्याख्याप्रान्ते प्रियायुक्तः कमलोऽथ जगावदः ।
स्वामिन् किमनयोः प्रीतिर्बभूव कान्तकान्तयोः ॥११७७॥
जामिसोदर्यसम्बन्धे गुरूक्ते तद्भवोद्भवे ।
श्रीसुन्दरे वने गत्वा नत्वा श्रीनाभिनन्दनम् ॥११७८॥
धीरस्त्यक्त्वा गृहं सद्यो ललौ दीक्षां प्रियायुतः ।
तप्त्वा तीव्रं तपः स्वर्गलोकं द्वावपि जग्मतुः ॥११७९॥
च्युत्वा ततो दिवस्तौ च जातौ तव सुतस्नुषे ।
स्मृत्वा जातिस्मृतेः पूर्वभवं मौनं च चक्रतुः ॥११८०॥
ततः स्नुषासुते त्यक्त्वा मोहं पार्श्वे गुरोस्तदा ।
व्रतं जगृहतुर्भीमसंसाराम्बुधितारकम् ॥११८१॥ यतः–
"जह चयइ चक्कवट्टी पवित्थरं तत्तिअं मुहुत्तेण ।
न चयइ तहा अहन्नो दुब्बुद्धी खप्परं दमओ" ॥११८२॥
तप्त्वा तीव्रतपः कर्मग्रन्थिं छित्त्वाऽखिलां द्रुतम् ।
लब्ध्वा केवलविज्ञानं जग्मतुस्तौ शिवं क्रमात् ॥११८३॥ यतः-

"प्रणिहन्ति क्षणार्द्धेन साम्यमालम्ब्य कर्म तत् ।
यन्न हन्यान्नरस्तीव्रतपसा जन्मकोटिभिः" ॥११८४॥
श्रुत्वाऽरिमर्दनो धर्मं प्राह किं सुकृतं कृतम् ।
मम येन मनोऽभीष्टं भवेऽस्मिन्वाऽजनि स्फुटम् ॥११८५॥
गुरुः प्राह त्वया पूर्वभवेऽकारि जिनार्चना ।
तेनाभूच्चिन्तितं तेऽत्र भवे सर्वं नरेश्वर ! ॥११८६॥
श्रुत्वैवं जिनधर्मं स सम्यक्त्वं गुरुसंनिधौ ।
लात्वाऽरिमर्दनः क्ष्मापः सप्रियो गृहमाययौ ॥११८७॥ यतः–
"संमत्तंमि अ लद्धे ठइआइं नरयतिरियदाराइं ।
दिव्वाणि माणुसाणि अ मुक्खसुहाइं सहीणाइं" ॥११८८॥
अरिमर्दनभूपालः सम्यक्त्वं विशदं ततः ।
प्रपाल्यागाच्छिवं सर्वकर्मराशिक्षयात्क्रमात् ॥११८९॥
इति श्रुत्वोपदेशं श्रीगुरुपार्श्वे शुको नृपः ।
वैराग्यवासितस्वान्तोऽभ्यागाच्च स्वीयमन्दिरम् ॥११९०॥

न्यस्य राज्ये सुतं लात्वा दीक्षां पार्श्वे गुरोः शुकः ।
कृत्वा कर्मक्षयं सद्यो जगाम शिवपत्तनम् ॥११९१॥
एवं शत्रुञ्जये यात्रां ये कुर्वन्ति तनूभुजः ।
लभन्ते ते शिवश्रेयः शुकराज इवाचिरात् ॥११९२॥
इति शुकराजकथा समाप्ता ॥
श्रुत्वैतद् विक्रमादित्यः प्रोवाच हे गुरूत्तम ! ।
देवान् शत्रुञ्जये तीर्थे नन्तुमिच्छाऽस्ति मेऽधुना ॥११९३॥
विधायानुग्रहं साधंगमनेन गुरूत्तम ! ।
वन्दापयतु सर्वज्ञान् तीर्थे शत्रुञ्जये मम ॥११९४॥ यतः—
"अवद्यमुक्ते पथि यः प्रवर्तते, प्रवर्तयत्यन्यजनं च निःस्पृहः ।
स एव सेव्यः स्वहितैषिणा गुरुः, स्वयं तरंस्तारयितुं परं क्षमः ॥
महाव्रतधरा धीरा भैक्ष्यमात्रोपजीविनः ।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः" ॥११९६॥
श्रीगुर्वादेशमासाद्य श्रीविक्रममहीपतिः ।
श्रीसंघं मेलयामास प्रेष्य कुंकुमपत्रिकाः ॥११९७॥

शुभेऽह्नि विक्रमादित्यो नन्तुं शत्रुञ्जये जिनम् ।
अनर्गलं ददद् दानं प्रस्थानं प्रददौ मुदा ॥११९८॥
चतुर्दश नृपास्तस्य संघे मुकुटवर्धनाः ।
शुद्धश्राद्धकुटुम्बानां लक्षा सप्ततिरेव च ॥११९९॥
सिद्धसेनादिसूरीशाः शतानि पञ्च सद्गुणाः ।
क्रियाकलापकुशलाश्चेलुर्नन्तुं जिनेश्वरम् ॥१२००॥
एकोनसप्ततिशतं हैमा देवालया वराः ।
शतत्रयमिता रूप्यमया जनमनोहराः ॥१२०१॥
शतपञ्चमिता दन्तमया देवालयास्तथा ।
अष्टादशशतं काष्ठमयाश्च चलिताः पुनः ॥१२०२॥
एका कोटी रथा लक्षद्वयं नवशतानि च ।
लक्षा अष्टादशार्वाणः षट् सहस्राणि हस्तिनः ॥१२०३॥
वेसरोष्ट्रवृषादीनां मनुष्याणां च योषिताम् ।
विक्रमादित्यभूपालसंघे संख्या न विद्यते ॥१२०४॥

सिद्धसेनो गुरुः प्राह कारिताज्जिनमन्दिरात् ।
उद्धारेऽष्टगुणं पुण्यं प्रोक्तं श्रीजिननायकैः ॥१२१९॥ यतः—
"कारयन्ति मरुद्गेहं ख्यात्यर्थं केचनात्मनः ।
केचित्स्वस्यैव पुण्याय स्वश्रेयोऽर्थं च केचन" ॥१२२०॥
नूतनार्हद्गृहावासे विधाने यत्फलं भवेत् ।
तस्मादष्टगुणं पुण्यं जीर्णोद्धारे विवेकिनाम् ॥१२२१॥
प्रासादोद्धारकरणे भूरि पुण्यं निगद्यते ।
उद्धारान्न परं पुण्यं विद्यते जिनशासने ॥१२२२॥
पुराऽत्र पर्वते चक्रे प्रासादं भरतो नृपः ।
श्रीनाभेयजिनेशस्य मणिरूप्यमयं महत् ॥१२२३॥
अस्मिन्नेव महातीर्थे, प्रासादमृषभप्रभोः ।
कारयामास सगरः, चक्रवर्ती द्वितीयकः ॥१२२४॥ यतः—
"मणिरूप्यकणयपडिमं जत्थ रिसहचेइअं भरहविहिअं ।
सदुवीसजिणाययणं सो विमलगिरी जयउ तित्थम् ॥१२२५॥
कयजिणपडिमुद्धारा पंडवा जत्थ वीसकोडिजुआ ।
मुत्तिनिलयंमि पत्ता तं सित्तुंजयमहातित्थं ॥१२२६॥
असंखा उद्धारा असंखपडिमाउ चेइआसंखा ।
जहिं जाया जयउ तयं सिरिसित्तुंजयमहातित्थं" ॥१२२७॥
पूर्वं बहुभिरुर्वीशैर्महेभ्यैश्च स्वभावतः ।
प्रासादाः कारिता अस्मिंस्तीर्थे भूरिधनव्ययात् ॥१२२८॥
शत्रुञ्जये ततः सारकीरकाष्ठमयं महत् ।
प्रासादोद्धारमुर्वीशः कारयामास विक्रमः ॥१२२९॥
ततः श्रीविक्रमादित्यश्चलन् शत्रुञ्जयात्क्रमात् ।
श्रीरैवतगिरौ नेमिनाथं नन्तुं समागमत् ॥१२३०॥
स्नात्रपूजाध्वजारोपावारिकावाहनादिकम् ।
कार्यं सर्वं नृपः कृत्वा चकारेति स्तुतिं मुदा ॥१२३१॥
अत्र नेमिनाथस्तवनं वाच्यम् ।
यात्रां विस्तरतः कृत्वा द्वयोः श्रीतीर्थयोस्तदा ।
विक्रमार्कनृपोऽवन्तीं समागात्समहं पुरीम् ॥१२३२॥

सिद्धसेनगुरोः पार्श्वे शृण्वन् धर्मकथां सदा।
श्रीविक्रमार्कभूपालश्चक्रे स्वं सफलं जनुः ॥१२३३॥

पालयन्न्यायमार्गेण पृथ्वीं साहसिकाग्रणीः।
दानधर्मपरोऽत्यन्तं बभूव विक्रमार्यमा ॥१२३४॥

अन्यदा विक्रमादित्यः सभायां दीनमानवम्।
समायान्तमजल्पन्तं निरीक्ष्य ध्यातवानिति ॥१२३५॥

"गतेर्भङ्गः स्वरो दीनो गात्रखेदो महाभयम्।
मरणे यानि चिह्नानि तानि चिह्नानि याचके" ॥१२३६॥

कृपाकवचितस्वान्तस्ततो विक्रमभूपतिः।
दापयामास दीनारसहस्रं च दरिद्रिणे ॥१२३७॥

ततो न याचको यावद्वक्ति तावन्नृपो जगौ।
कस्मान्न वदसीत्युक्तो स प्राहेति च दीनवाक् ॥१२३८॥

"लज्जा वारेइ महं असंपया भणइ मग्गिरे मग्गि।
दिन्नं माणकवाडं देहीति न निग्गया वाणी" ॥१२३९॥

आकर्ण्यैतद् भृशं दीनमर्थिनो वचनं तदा।
दापयामास भूपालो दीनारायुतमञ्जसा ॥१२४०॥

चमत्कारकरं ब्रूहीत्युक्ते भूमीभुजा तदा।
याचको वचनं स्फारं प्रोवाचेति पुनस्तदा ॥१२४१॥

"अनिस्सरन्तीमपि देहगर्भात्कीर्तिं परेषामसतीं वदन्ति।
स्वैरं भ्रमन्तीमपि च त्रिलोक्यां त्वत्कीर्तिमाहुः कवयः सतीं तु"॥

आकर्ण्यैतद् भृशं वर्यमर्थिनो वचनं तदा।
दापयामास दीनारलक्षं तस्य महीपतिः ॥१२४३॥

पुनर्ब्रूहीति भूपोक्ते मुदितो याचकस्तदा।
चमत्कारकरं प्राह बहुश्रुतकथानकम् ॥१२४४॥

"संग्रहेण कुलीनानां राज्यं कुर्वन्ति पार्थिवाः।
आदिमध्यावसाने च न ते यास्यन्ति विक्रियाम् ॥१२४५॥

विशालायां पुरि क्षोणीपतिर्नन्दाभिधोऽभवत्।
भार्या भानुमती पुत्र आसीद् विजयपालकः ॥१२४६॥

मन्त्री बहुश्रुतो नाम्ना सर्वनीतिविशारदः।
नानाशास्त्ररहस्यज्ञः शारदानन्दनो गुरुः ॥१२४७॥
भूपं भानुमतीं पार्श्वे स्थापयन्तं सभान्तरे।
मन्त्रिणोक्तं महाराज! नोचितं क्रियते त्वया ॥१२४८॥
"वैद्यो गुरुश्च मन्त्री च यस्य राज्ञः प्रियंवदाः।
शरीरधर्मकोशेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते" ॥१२४९॥
अत्यासन्ना विनाशाय नातिदूरे फलप्रदाः।
सेव्या मध्यमभावेन राजा वह्निर्गुरुः स्त्रियः ॥१२५०॥
नृपः प्राहाथ भो मन्त्रिन्! साधु त्वयोदितं परम्।
अहमेनां विनाऽत्रैव स्थातुं शक्नोमि नो मनाक् ॥१२५१॥
मन्त्री प्राह विभो! तर्हि रूपं पट्टगतं खलु।
कारयित्वा समीपे स सभायां स्थाप्यते ततः ॥१२५२॥
अथ भूपेन चित्रामकरस्य दर्शितं हि तत्।
तदनुमानात्तेनैव तद्रूपं लिखितं वरम् ॥१२५३॥

शारदानन्दनायाथ पत्न्या रूपं प्रदर्शितम्।
गुरुः प्रोवाच नो रूपे गुह्यस्थं तिलकं कृतम् ॥१२५४॥
रुष्टो राजा बहुश्रुतमन्त्रिपार्श्वाद्रहो गुरुम्।
हननायार्पयामास स्थापितस्तेन भूगृहे ॥१२५५॥ यतः—
सगुणमपगुणं वा कुर्वता कार्यजातं,
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते—
भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥१२५६॥
मृगयायां गतोऽन्येद्युः सूनुर्विजयपालकः।
अशिक्षिताश्वमारूढो मृगपृष्ठौ वनेऽचलत् ॥१२५७॥
स्वसेवकेऽखिले दृष्टिपथातीते नृपाङ्गभूः।
आगच्छन्तं हरिं वीक्ष्यारुरोह भयतस्तरुम् ॥१२५८॥
तत्रस्थो वानरः प्राह कुमार! कुरु मा भयं।
किं करिष्यत्ययं व्याघ्रोऽत्रस्थयोरावयोः खलु ॥१२५९॥

कुमारवानरौ मैत्रीभावं प्राप्तौ तरौ स्थितौ।
व्याघ्रस्तु पादपस्याधः स्थितस्तौ जग्धुमिच्छति ॥१२६०॥
शयालुं भूमिभुक्पुत्रं स्वाङ्के सुप्तं विधाय च।
यावत्कपिः स्थितस्तावद् व्याघ्र एव जगौ स्फुटम् ॥१२६१॥
भो कपे! मे बुभुक्षाऽस्ति तेनामुं भूपनन्दनम्।
मुञ्चाधोऽहं बुभुक्षित्वा भविष्याम्याशितंभवः ॥१२६२॥
वानरोऽवग् न ददे तुभ्यं स्वाश्रितं नृपनन्दनम्।
व्याघ्रः प्राह मनुष्याश्च[1] भवन्त्याश्रितघातकाः ॥१२६३॥
बुद्धोऽथ क्षितिभुक्पुत्रः शयालुं वानरं तदा।
स्वाङ्के कृत्वा स्थितो यावत्तावद् व्याघ्रो जगावदः ॥१२६४॥
भूपाङ्गज! ममातीव बुभुक्षा विद्यतेऽधुना।
तेनामुं वानरं भक्ष्यं मह्यं दत्त्वा सुखी भव ॥१२६५॥
भुक्त्वाऽमुं वानरं याति व्याघ्रोऽयं स्थानके निजे।
ध्यात्वेति भूपभूरङ्कान्मुमोचाधः कपिं तदा ॥१२६६॥

पतन् कपिर्हरेरास्ये हसित्वा त्वरितं तदा।
गत्वा मित्रान्तिकेऽतीव रुरोद करुणस्वरम् ॥१२६७॥
व्याघ्रोऽवग् भो कपेऽत्रैतोऽहासीस्त्वं किं भयप्रदे।
मित्रोपान्ते गतोऽतीव रोदनं कुरुषे कथम् ॥१२६८॥
कपिः प्राहायतोऽमुष्मान्मदीयोऽयं सुहृत्तमः।
श्वभ्रे यास्यति तेनाहं करोमि रोदनं भृशम् ॥१२६९॥
सत्यमेतदिति प्रोक्त्वा व्याघ्रः स्वस्थानकं ययौ।
विसेमेरेति कपिना पाठितो भूपभूस्तदा ॥१२७०॥
इतश्च भूपपुत्रस्य व्याघ्राद्भीतो तुरङ्गमः।
त्रस्तः स्वनगरं गत्वा हेषाशब्दान् करोत्यलम् ॥१२७१॥
अश्वं दृष्ट्वा राजगृहं सकलं दुःखपूरितम्।
परिवारवृतो राजाऽन्वेषणाय वने गतः ॥११७२॥
ग्रथिलं भूमिभुक्पुत्रं वीक्ष्येतोऽनुगाः क्रमात्।
निन्युर्भूपान्तिके भूपस्ततोऽतिदुःखितोऽजनि ॥१२७३॥

१ मुञ्चाशु दुष्ट भो भ्रातर्भविष्यत्यशनं द्वयो ॥ घ। २ विना भक्ष्यं मरीष्यामीति शीघ्रतः ग।

भूयिष्ठेपूपचारेषु कृतेषु कारितेष्वपि ।
यदा नाभूद् गुणः सूनोस्तदेति भूपतिर्जगौ ॥१२७४॥
शारदानन्दनो नो चेन्मारितोऽत्र मुधा मया ।
तदाऽधुना द्रुतं सज्ञमकरिष्यन्ममाङ्गजम् ॥१२७५॥

ततो भूपोदितं प्रोक्त्वा शारदानन्दनाग्रतः ।
मन्त्रीशः शारदापुत्रप्रोक्तमेवमचीकथत् ॥१२७६॥
स्वामिन्ममास्ति पुत्र्येका सर्वशास्त्रेषु कोविदा ।
सैव करिष्यते सज्ञं भवत्पुत्रं सुमन्त्रतः ॥१२७७॥
ततः पट्यन्तरे कृत्वा शारदानन्दनं रहः ।
कन्यावेषधरं मन्त्री तस्थौ भूपादिलोकयुग् ॥१२७८॥

भूपोऽवक् कन्यके! सज्ञं कुरुष्व मम नन्दनम् ।
ततः स गुरुराचष्ट श्लोकानेवं पृथक् पृथक् ॥१२७९॥तथाहि–
"विश्वासप्रतिपन्नानां वञ्चने का विदग्धता ।
अङ्कमारुह्य सुप्तानां हन्तुं किं नाम पौरुषम्" ॥१२८०॥

प्रथमं श्लोकं श्रुत्वा प्रथमाक्षरं मुक्त्वा कुमारः 'सेमिरा'इति पठति । ततस्तेन पुनर्द्वितीयः श्लोकः पठितः । इति सर्वत्र ज्ञेयम् ।
"सेतुं गत्वा समुद्रस्य गङ्गासागरसङ्गमे ।
ब्रह्महा मुच्यते पापैर्मित्रद्रोही न मुच्यते ॥१२८१॥

मित्रद्रोही कृतघ्नश्च स्तेयी विश्वासघातकः ।
चत्वारो नरकं यान्ति यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥१२८२॥
राजंस्त्वं राजपुत्रस्य यदि कल्याणमिच्छसि ।
देहि दानं सुपात्रेभ्यो गृही दानेन शुद्ध्यति" ॥ राजाऽवक्–
"ग्रामे वससि हे बाले! वनस्थं चरितं खलु ।
कपिव्याघ्रमनुष्याणां कथं जानासि बालिके! ॥१२८४॥

यवनिकान्तरितः स प्राह—
देवगुरुप्रसादेन जिह्वाग्रे मे सरस्वती ।
तेनाहं नृप! जानामि भानुमतीतिलकं यथा ॥१२८५॥
एकैकस्मिंस्तदा श्लोके कथिते भूपतेः पुरः ।

वालिकावेपभृद्वाणीनन्दनेन स्फुटाक्षरम् ॥१२८६॥
एकमेकं तदा मुञ्चन्नक्षरं भूपनन्दनः ।
स्वस्थीवभूव भूपालश्चमत्कारं व्यधात्पुनः ॥१२८७॥
उत्थाय द्विपटीं पश्चात् कृत्वा यावद्विलोकते ।
तावद् दृष्ट्वा गुरुं वाणीपुत्रं च मुमुदे नृपः ॥१२८८॥
ततो भूपो द्वयोर्मन्त्रिगुरुराजोर्मुदाऽचिरात् ।
भूरिलक्ष्मीप्रदानेन प्रीणयामास पूर्ववत् ॥१२८९॥

इति विजयपालवहुश्रुतकथा ।

वहुश्रुतकथां श्रुत्वा भूप आश्चर्यकारिणीम् ।
दापयामास दीनारकोटिं तस्मै प्रमोदितः ॥१२९०॥
कोशाध्यक्षं समाकार्य प्रोवाचेति महीपतिः ।
एतत्त्वया प्रदातव्यमर्थिने मन्निदेशतः ॥१२९१॥ तथाहि
"आर्ते दर्शनमागते दशशती संभापिते चायुतम्,
यद्वाचा व(च) हसेयमाशु भवता लक्षोऽस्य विश्राण्यताम् ।
निष्काणां परितोपके मम पुनः कोटिर्मदाज्ञा परा,
कोशाधीश! सदेति विक्रमनृपश्चक्रे वदान्यस्थितिम् ॥१२९२॥
मण्डिते विक्रमार्केण दानपुण्योत्सवेऽन्यदा ।
निमन्त्रिता जना ऐयुर्भूरिशः स्वस्वदेशतः ॥१२९३॥
अष्टादशप्रजा राजकरमुक्ता कृता तदा ।
ककुप्पालाह्वानकृते दक्षा भूपेन चालिताः ॥१२९४॥
श्रीधराह्वो द्विजः सिन्धुदेवाह्वानकृते तदा ।
प्रेपितो जलधेः कूलं गत्वा स्तौतीति तं द्रुतम् ॥१२९५॥
"किं ब्रूमो जलधेः श्रियं स हि खलु श्रीजन्मभूमिः स्वयम्,
वाच्यः किं महिमाऽपि यस्य हि किल द्वीपं महीति श्रुतिः ।
त्यागः कोऽपि स तस्य विभ्रति जगद्यस्यार्थिनोऽप्यम्बुदाः,
शक्तेः कैव कथाऽपि यस्य भवति क्षोभेण कल्पान्तरम्" ॥
प्रत्यक्षीभूय तुष्टोऽब्धिदेवः प्राहेति सादरम् ।
दूरस्थोऽपि नृपोऽस्माकमासन्नो विद्यते सदा ॥१२९७॥ यतः–

“सूर्यचन्द्रोदयेऽम्भोजकुमुदे दूरसंस्थिते ।
प्रतिपन्नसुहृद्भावे तन्वाने प्रमदं क्रमात् ॥१२९८॥
गृहाणेदं वरं रत्नचतुष्कं विक्रमांशवे ।
असन्मित्राय दातव्यं प्रभावश्चेति कथ्यताम् ॥१२९९॥
आद्यं चित्तेप्सितश्रीदं द्वितीयं भोज्यदं पुनः ।
तृतीयं सैन्यदं तुर्यं सर्वभूषणदायकम् ॥१३००॥
तान्यादाय द्विजः पश्चात्समेत्य नृपसन्निधौ ।
मणीन् भूपाय दत्त्वाऽवग् माहात्म्यं सागरोदितम् ॥१३०१॥
तानि रत्नानि देदीप्यमानानि वीक्ष्य भूपतिः ।
हृष्टः[1] प्राह गृहाणैकं रत्नं यद्रोचते तव ॥१३०२॥
विप्रः प्राह कुटुम्बं स्वं पृष्ट्वा लास्याम्यहं नृप ! ।
गत्वा गेहे कुटुम्बाग्रे रत्नवार्तां जगौ तदा ॥१३०३॥
पुत्रः प्राह मणिः सैन्यदायी भार्या च भोज्यदः ।
स्नुषा भूषणदो द्रव्यदायी विप्रश्च लास्यते ॥१३०४॥
मिथस्तेषां कलौ जाते तानि रत्नानि भूभुजे ।
अर्पयित्वा द्विजेनोक्तः कुटुम्बकलहो निजः ॥१३०५॥
तेषां राज्ञाऽतितुष्टेन चतुर्णामपि तुष्टये ।
दत्तानि तानि चत्वारि रत्नानि तत्क्षणात् तदा ॥१३०६॥
एवं श्रीविक्रमादित्यो ददद् दानं सदाऽर्थिने ।
विख्यातोऽभूद्वदान्येषु कर्णभूप इवाभितः ॥ इति दाने ।
विक्रमार्को जगौ भट्टमात्र लोकः कथं सुखी ।
भट्टोऽवग् भूपते ! सौम्यविलोचनविलोकनात् ॥१३०८॥
प्रजानां सुखदुःखे च भवेतां नात्र संशयः ।
विलोक्यंते मया ह्येतदित्युक्तं मेदिनीभुजा ॥१३०९॥
प्रसन्नं मानसं कृत्वा लोकस्योपरि तत्क्षणात् ।
वेषान्तरधरो भूमिपालोऽगादिक्षुवाटके ॥१३१०॥
भूपः प्राहेक्षुवाटस्य स्वामिनीं प्रति दीनवाग् ।
मातरिक्षुरसं देहि मह्यं तृषितवक्षसे ॥१३११॥

---

१ हर्षितः । राजा प्राह घ ।

इक्षुमेकं करे कृत्वा पीडयन्ती मृगेक्षणा ।
प्राह हस्तं धराधस्त्वं भ्रातरिक्षुरसं पिब ॥१३१२॥
इक्षुरसेन भूपस्य बभारोदरमञ्जसा ।
एतन्नृपो गृहे गत्वा भट्टमात्रपुरो जगौ ॥१३१३॥
इक्षुवाटपतिर्मे न दत्ते किमपि साम्प्रतम् ।
तेनेक्षुवाटकं हृत्वा लामीति ध्यातवान्नृपः ॥१३१४॥
गत्वेक्षुवाटके भूपः प्राहेक्षुवाटकेश्वरीम् ।
देहि इक्षुरसं आक् त्वं मह्यं तृपितवक्षसे ॥१३१५॥
एकमिक्षुं करे कृत्वा मर्दयन्ती मृगेक्षणा ।
प्राह हस्तं धराधस्त्वं भ्रातरिक्षुरसं पिब ॥१३१६॥
पीडितेष्विक्षुदण्डेषु भूयस्सु च तदा तया ।
निस्ससार छटा नैका ततोऽवग् विक्रमार्यमा ॥१३१७॥
मातः ! कल्ये मया भूरिः पीतो नेति कुतोऽधुना ।
नारी प्राह महीशस्य कल्ये दृष्टिर्वराऽभवद् ॥१३१८॥

अद्य तस्याजनि क्रूरा दृष्टिर्भूमीपतेर्ननु ।
एतन्नृपो गृहे गत्वा भट्टमात्रपुरो जगौ ॥१३१९॥
भट्टमात्रो जगौ राजन् ! दृष्टं दृक्सौम्यचेष्टितम् ।
राजा प्रोवाच ते सत्यं भट्टमात्र ! वचः स्फुटम् ॥१३२०॥
राजा प्रोवाच मे कावाडिकानां मारणे मनः ।
भट्टमात्रो जगावेवं तेषामपि भविष्यति ॥१३२१॥
वेषान्तरं ततः कृत्वा भूपो भट्टान्वितो वहिः ।
प्रेक्ष्य कावाडिकं प्राह विक्रमार्कोऽधुना मृतः ॥१३२२॥
कावाडिका जगुः सुष्ठु जातं भूपे मृतिं गते ।
इन्धनानि लभिष्यन्तेऽस्माकं मूल्यं बहु स्फुटम् ॥१३२३॥
श्रुत्वैतद् विक्रमादित्यः प्रोवाचेति तदग्रतः ।
आभीरीपूजने चित्तं साम्प्रतं विद्यते मम ॥१३२४॥
भट्टमात्रो जगावेवं तासामपि तथाऽस्ति हि ।
विक्रमार्कयुतो भट्टमात्रः पुर्या बहिर्गतः ॥१३२५॥

प्राहेत्याभीरिकां वीक्ष्य विक्रमार्कोऽधुना मृतः।
श्रुत्वैतद्गोरसामत्रं भङ्क्त्वा रौति स्म सा तदा ॥१३२६॥
हा वत्स विक्रमादित्य! हा कारुण्यमहोदधे!।
क्व गतोऽसि कथं पृथ्वी त्वां विनाऽत्र भविष्यति ॥१३२७॥
इत्यादिरोदनपरां प्रकटीभूय तां नृपः।
नीत्वा स्वसदनं लक्ष्म्या मानयामास सादरम् ॥१३२८॥
प्राप्य भूमीपतेः पार्श्वाद् वह्वीं लक्ष्मीं तदाऽचिरात्।
आभीरी स्वगृहे हृष्टमानसा समुपागमत् ॥१३२९॥
ततो विक्रममार्तण्डः सुन्दरन्यायमार्गतः।
पालयामास सकलां वसुधां विशदाशयः॥ इति न्यायमार्गे।
अवन्त्यां विक्रमादित्यः पालयन् पृथिवीं नयात्।
दानशीलतपश्चारुभावनाः कुरुते सदा ॥१३३१॥
निशायामेकदा लोकस्वरूपं विक्रमार्यमा।
निरीक्षितुं पुरीमध्ये [1]बभ्रामाविभ्रमो रहः ॥१३३२॥

एकस्य श्रेष्ठिनो गेहोपरिष्टात्कज्जलध्वजान्।
संवीक्ष्य चतुरशीतिं विक्रमो विस्मितोऽभवत् ॥१३३३॥
एवं द्वित्रिदिनेष्वेवं भ्रमन् विक्रमभूपतिः।
संवीक्ष्य चतुरशीतिदीपांस्तत्र च सिष्मिये ॥१३३४॥
किमस्य श्रेष्ठिनो गेहे न न्यूना अधिका न हि।
वीक्ष्यन्ते दीपकाः कस्मान्न ज्ञायतेऽत्र कारणम् ॥१३३५॥
प्रातस्तं श्रेष्ठिनं भूमीपतिराकार्य संसदि।
दीपानां करणे हेतुं पप्रच्छ जनसाक्षिकम् ॥१३३६॥
तेनोक्तमेष आचारो गेहे मम महीपते!।
यावन्तः स्वर्णलक्षाः स्युस्तावन्तो दीपकाः खलु ॥१३३७॥
निशीथिन्यां विधीयन्ते गेहोपरि स्फुटं मया।
तेन स्वामिंस्त्वया कार्योऽपराधो नो मनाग् मयि ॥१३३८॥
ततो विहस्य भूपालः प्रोवाच श्रेष्ठिनं प्रति।
त्वं न कोटीश्वरोऽद्यापि तेन खेदोऽस्ति मे ननु ॥१३३९॥

---

१ बभ्राम छन्नमन्वहम् ग।

समाकार्य ततः कोशाध्यक्षान् विक्रमभूपतिः ।
लक्षा षोडश निष्काणामर्पयामास तस्य तु ॥१३४०॥ यतः–
"एके सत्पुरुषाः परार्थनिरताः स्वार्थं परित्यज्य ये,
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये ।
तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये,
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे" ॥१३४१॥
ततः कोटीश्वरो जज्ञे श्रेष्ठी विक्रमभूपतः ।
विक्रमोऽपि पुरीं वीक्ष्येदृक्षां प्रमुमुदेतराम् ॥ इति लोकवात्सल्ये
विक्रमादित्यभूपालो जित्वाऽशेषद्विपोऽन्यदा ।
देशान्निष्कासयामास निजाद् व्यसनसप्तकम् ॥१३४३॥
"द्यूतं च मांसं च सुरा च वेश्या पापर्द्धिचौरीपरदारसेवाः ।
एतानि सप्त व्यसनानि लोके घोरातिघोरं नरकं नयन्ति" ॥
न नीतिलङ्घनं लोके नैवासत्यप्ररूपणम् ।
परचक्रागमो नैव प्रजापीडा न कर्हिचित् ॥१३४५॥

देवताप्रतिमाभङ्गो वर्णस्थितिव्यतिक्रमः ।
पुण्यभङ्गोऽपकीर्तिश्च यस्य देशे न विद्यते ॥१३४६॥
अन्येद्युस्तस्करा लोकं मुष्णन्ति निशि नित्यशः ।
इभ्यीभूय दिने स्वैरं विलसन्ति पुरान्तरे १३४७॥
स्वर्णहट्टमणीहट्टवस्त्रहट्टादिनायकाः ।
एत्य प्रोचुर्नृपोपान्ते धनं स्तेनैर्हृतं बहु ॥१३४८॥
स्तेनान् धर्तुं तलारक्षा मुक्ताः सर्वचतुष्पथे ।
वीक्षिता अपि न प्राप्तास्ततो दध्याविदं नृपः ॥१३४९॥
सत्यां शक्तौ यदि क्ष्मापः पीड्यमानां प्रजां भृशम् ।
न रक्षति तदा तस्य नरके पतनं भवेत् ॥१३५०॥ यतः–
"दुर्बलानामनाथानां बालवृद्धतपस्विनाम् ।
अन्यायैः परिभूतानां सर्वेषां पार्थिवो गतिः ॥१३५१॥
लोकेभ्यः करमादाता चौरेभ्यस्तान्न रक्षिता ।
तदीयैर्लिप्यते राजा पातकैरिति हि स्मृतिः" ॥१३५२॥

ध्यात्वेति भूपती रात्रावेकाकी खड्गसंयुतः ।
द्रष्टुं चौरं निशीथिन्यां निस्ससार गृहात् बहिः ॥ यतः—
"सीह सउण न चंदबल न वि जोइ धणरिद्धि ।
एकल्लउ लक्खिहिं भिडइ जिहां साहस तिहां सिद्धि" ॥
भ्रान्त्वा रहसि माणिक्यचतुष्कान्ते गतो नृपः ।
दध्यौ चौरादयः प्रायो भवन्त्यत्र चतुष्कके ॥१३५५॥
ततः शनैः शनैर्यावद्गतो रत्नचतुष्कके ।
तावत् पश्चान्नरान् वीक्ष्यायातो दध्याविदं नृपः ॥१३५६॥
आगच्छन्तस्तलारक्षा मामज्ञात्वा कदाचन ।
हनिष्यन्ति तदा मे स्याद् गतिः केति रहःस्थितः ॥१३५७॥
आगच्छन्तः शनैर्दृष्ट्वा चौरेमे(रा इमे) निश्चितं हृदि ।
कृतायां चौरसंज्ञायां भूपेन तस्करैः कृता ॥१३५८॥
चत्वारस्तस्करास्तत्र मिलिता भूपतेर्निशि ।
भूपः प्राहाधुना यूयं किमर्थं कुत्र यास्यथ ॥१३५९॥
तैरुक्तमद्य मेघस्य श्रेष्ठिनोऽस्माभिरालये ।
हेरिता रैकुशाः सन्ति विदेशादागता घनाः ॥१३६०॥
तानाहर्तुं गमिष्यामो वयं चौरा धनार्थिनः ।
त्वं कः कुत्र किमर्थं वा यास्यती(सी)ति नृपो जगौ ॥१३६१॥
तस्करोऽहं प्रजापालाभिधानो विदितो भुवि ।
अद्य भूमीपतेः कोशो हेरितोऽस्ति मया खलु ॥१३६२॥
विक्रीय तैलमुद्रादि कष्टाद् येषां धनं भवेत् ।
तेषां श्रीहरणे मृत्युर्जायते निश्चितं द्रुतम् ॥१३६३॥ यतः—
"एकैकस्य क्षणं दुःखं मार्यमाणस्य जायते ।
सपुत्रपौत्रस्य पुनर्यावज्जीवं हृते धने ॥१३६४॥
सुखेन भूपतेर्लक्ष्मीर्बह्वी भवति सद्मनि ।
तस्य श्रीहरणे स्तोकं दुःखं भवति निश्चितम् ॥१३६५॥
ततश्चौरा जगुः सत्यं प्रोक्तं भोः तस्कर ! त्वया ।
गम्यते नृपतेर्गेहेऽस्माभिर्हर्तुं श्रियं घनाम्॥१३६६॥

१ चटन्त्यत्र घ । २ तान् हर्तुं प्रगमिष्याव॰ (म) घ ।

विक्रमोऽवक् चतुर्णां वो भागोऽस्त्यन्यस्य वा पुनः ।
तैरुक्तं विक्रमार्कस्य व्यवहारोऽस्ति दुःशकः ॥१३६७॥
सेल्लहस्ततलारादिभृत्या विक्रमभूपतेः ।
राज्ये चौर्यं न कुर्वन्ति शिरश्छेदनभीतितः ॥१३६८॥
विक्रमः प्राह युष्माभिः सत्यमुक्तं च साम्प्रतम् ।
आगमिष्याम्यहं सार्धं भवतां यदि रोचते ॥१३६९॥
तैरुक्तं न हि भागेन महर्घ्या चौरिका भवेत् ।
आगच्छ त्वं महीशस्य सदने गम्यतेऽधुना ॥१३७०॥
विक्रमः प्राह का काऽस्ति शक्तिश्च भवतामिह ।
आद्येनोक्तं गृहान्तःस्थं वस्तु जानामि गन्धतः ॥१३७१॥
द्वितीयोऽवक् करस्पर्शात् स्फारताला[1]ररादि च ।
उद्घाटयाम्यहं सद्यो भिनद्मि वाऽब्जनालवत् ॥१३७२॥
तृतीयोऽवग् मया यस्यैकशः शब्दः श्रुतो मनाक् ।
वर्षशतेऽपि तं नूनं वाचोपलक्षयाम्यहम् ॥१३७३॥

चतुर्थस्तस्करः प्राह सर्वेषां पशुपक्षिणाम् ।
भाषां जानामि निनदश्रवणात्तत्क्षणादहम् ॥१३७४॥
तैरुक्तं काऽस्ति ते शक्तिर्विक्रमार्को जगौ ततः ।
येषां मध्येऽस्म्यहं तेषां न भीर्भवति भूपतेः ॥१३७५॥
चौराः प्रोचुर्लसद्भाग्यात्त्वं मिलितोऽसि साम्प्रतम् ।
हरिष्यते महेभ्यानां धनं भूरि निजेच्छया ॥१३७६॥
दध्यौ विक्रममार्तण्डो हन्म्येतानसिनाऽधुना ।
पुनश्चिन्तितवानेते हन्यन्ते स्म मुधा कथम् ॥१३७७॥
आदावेषां चरित्रं तु द्रक्ष्यामि गौणवृत्तितः ।
उपायेन शनैः सौवं कार्यजातं करिष्यते ॥१३७८॥ यतः—
"उपायेन हि तत्कुर्याद् यन्न शक्यं पराक्रमैः ।
काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्पो निपातितः" ॥१३७९॥
ततो वप्रप्रतोल्यादि समुल्लङ्घ्य नृपालये ।
गत्वा तान् तस्करान् भूपः प्रोवाचेति शनैः शनैः ॥१३८०॥

---

१ ताल—द्वारयन्त्रम्, अररादि—कपाटादि ।

गन्धज्ञानिन् ! गृहेऽस्मिन् किं विद्यते वद साम्प्रतम् ।
तेनोक्तं गन्धतो ज्ञात्वा स्पर्द्धकानि च भूरिशः ॥१३८१॥
द्वितीये रजतं गेहे तृतीये हेम सद्मनि ।
चतुर्थे रत्नराशिश्च विद्यते स जगाविति ॥१३८२॥ युग्मम् ।

भूपः प्राह ग्रहीष्यन्ते मणयः कोटिमूल्यकाः ।
तालकभिद् ! द्रुतं भिन्धि तालकं करस्पर्शतः ॥१३८३॥
तेन पश्चात्कृतं पाणिस्पर्शेन तालकं तदा ।
खात्रं दातुं प्रवृत्तास्ते शिवाशब्दोऽभवद् बहिः ॥१३८४॥
शब्दज्ञानी जगौ वक्ति शिवेयमिति भूरिशः ।
मध्येऽस्ति धनिकः खात्रं भवद्भिर्दीयते कथम् ॥१३८५॥

ततस्तेषु निवृत्तेषु विक्रमार्को जगावदः ।
सप्तभौमगृहे भूपाः स्वपन्ति स्म यतः सदा ॥१३८६॥
मुधा वक्ति शिवा रत्नसञ्चयं(यो) गृह्यतां द्रुतम् ।
शब्दज्ञान्यथवा सम्यग् न वेत्ति शकुनारवम् ॥१३८७॥

खात्रं दातुं पुनस्तेषु लग्नेषु शब्दविज्जगौ ।
शिवा वक्ति गृहस्वामीक्षते खात्रं न दीयते ॥१३८८॥
आकर्ण्यैतन्निवृत्तेषु तेषु प्राह महीपतिः ।
अस्मासु विद्यते नैव कश्चिद् गृहपतिर्ध्रुवम् ॥१३८९॥

शिवेयं जल्पति मुधा गृह्यतां रत्नसंचयम् (यः) ।
पुनस्तेषु प्रवृत्तेषु शब्दज्ञानी जगावदः ॥१३९०॥
शिवा वक्ति शुनि ! क्ष्मापगृहे स्निग्धादनादिकम् ।
जग्धं त्वया कथं खात्रदानं न वक्षि भूभुजे ॥१३९१॥
ज्ञातं नीचा भवन्त्येवंविधाः कृतघ्नमानसाः ।
शुनी प्रोवाच मध्यस्थः स्वामी किं ह्रियते धनम् ॥१३९२॥

ततस्ते वलिताः सर्वे बिभ्यतो यावता द्रुतम् ।
तावद् विक्रमभूपोऽवग् मध्यस्थोऽस्ति महीपतिः ॥१३९३॥
येषां मध्ये त्वहं तेषां न भीर्भवति भूपतेः ।
पक्षिणां निनदं मूढा मन्वते न विचक्षणाः ॥१३९४॥

ततस्ते तस्कराः खात्रं दत्त्वा मध्येगृहं गताः ।
एकैका पञ्चभिः पेटा गृहीता रत्नपूरिता ॥१३९५॥
भूपः प्राह न मध्येऽस्ति स्वामी प्राह मुधा शिवा ।
अस्माकं पेटिका रत्नपूरिताश्चटिताः करे ॥१३९६॥
मणिचतुष्ककेऽभ्येत्य गच्छतस्तस्करान् गृहं ।
भूपोऽवग् मिलनं भूयो वन्धूनां वः कथं भवेत् ॥१३९७॥
तैरुक्तं मिलनं सन्ध्यासमयेऽत्र भविष्यति ।
भूपः प्राह शतस्थानेऽत्र प्राप्यन्ते नराः सदा ॥१३९८॥
तेनोपलक्षणं नैव भवत्यत्र चतुष्कके ।
चौरा जगुः शये येषां वीजपूरा भवन्ति च ॥१३९९॥
ज्ञातव्यास्ते त्वया सौवबान्धवा आत्मनः खलु ।
एवं विधाय संकेतं ययुश्चौरा निजं गृहम् ॥१४००॥
राजाऽभ्येत्य निजावासे पेटां मुक्त्वा रहस्तदा ।
सुप्तः प्रगे जजागार वन्दिमङ्गलनिस्वनैः ॥१४०१॥

स्मृतपञ्चनमस्कारः कृतप्राभातिकक्रियः ।
अलंचकार भूपालः सभां सभ्यसमन्विताम् ॥१४०२॥
इतः कोशगृहे कोशाध्यक्षो यावद्ययौ प्रगे ।
तावत्खात्रं महद् दृष्ट्वा मध्येऽगाद्वीक्षितुं मणीन् ॥१४०३॥
पञ्च पेटा गता ज्ञात्वा दध्यौ भाण्डारिकस्तदा ।
येन पेटा गृहीताः स्युः स वली विद्यते भृशम् ॥१४०४॥
तेनाहं पेटकामेकां रहः कृत्वा नृपान्तिके ।
गत्वा वुम्बारवं कुर्वे पेटागमनपूर्वकम् ॥१४०५॥
रत्नपेटा हृता राज्ञः केनचित् खात्रदानतः ।
धावन्त(वत) पदिकाः शीघ्रं तलारक्षा भटा अपि ॥१४०६॥
खात्रं दृष्ट्वा तलारक्षैर्भाण्डागारसमन्वितैः ।
उक्तं भूमिपतेरग्रे पट् ययू रत्नपेटिकाः ॥१४०७॥
राजा प्राह तलारक्ष ! पुररक्षां करोषि न ।
न त्वं कर्पयसि स्तेनं चोरदण्डस्तदा तव ॥१४०८॥

विलोकिते पुरे नैव लब्धाश्चौराश्च कुत्रचित् ।
विलक्षः स्वगृहेऽभ्येत्य तलारक्ष उपाविशत् ॥१४०९॥
पत्न्या पृष्टं किमास्यं ते वीक्ष्यते श्यामलं किल ।
तलारः कथयामास पेटागमनकारणम् ॥१४१०॥
प्रिया प्रोवाच दोदूया क्रियते न मनाक् प्रिय ! ।
कातरत्वेन नो कार्यसिद्धिर्भवति कर्हिचित् ॥१४११॥ यतः–
"सदाचारस्य धीरस्य धर्मतो दीर्घदर्शिनः ।
न्यायप्रवृत्तस्य सतः सन्तु वा यान्तु वा श्रियः ॥१४१२॥
एकोऽहमसहायोऽहं कृशोऽहमपरिच्छदः ।
स्वप्नेऽप्येवंविधा चिन्ता मृगेन्द्रस्य न जायते ॥१४१३॥
अतीतं नैव शोचन्ति भविष्यं नैव चिन्तयेत् ।
वर्तमानेन कालेन वर्तन्ते च विचक्षणाः" ॥१४१४॥
मुष्णन्ति सततं चौरा नगरं निर्दयाशयाः ।
भूप एवंविधो जातो दुष्टवाक्यप्रजल्पनात् ॥१४१५॥ यतः–

"काके शौचं द्यूतकारे च सत्यं सर्पे क्षान्तिः स्त्रीषु कामोपशान्तिः।
क्लीबे धैर्यं मद्यपे तत्त्वचिन्ता, राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा"॥
आत्मगेहरमाः सर्वा अर्पयित्वा महीपतेः ।
कथ्यतेऽहं गमिष्याम्यन्यत्र चाजीविकाकृते ॥१४१७॥
भवानेवंविधोऽभूस्त्वं भृत्यस्योपरि सम्प्रति ।
तेन स्थातुं न शक्येतास्माभिरत्र तवान्तिके ॥१४१८॥
विचार्यैतत् तलारक्षोऽभ्येत्य भूपान्तिके जगौ ।
स्वामिन्नहं गमिष्याम्यन्यत्र त्वं चेदृशोऽभवः ॥१४१९॥
भूपः प्राह तलारक्ष ! न भेतव्यं त्वया मनाक् ।
चौराश्चटन्तु वा मा वा पाणौ मुष्णन्तु वा पुरम् ॥१४२०॥
तलारक्षाधुना स्वस्थो गच्छेर्मणिचतुष्कके ।
बीजपूरयुता ये स्युरत्रानेयास्त्वया च ते ॥१४२१॥
आदेशं भूपतेः प्राप्य तलारक्षः प्रमोदितः ।
निःसृतो नृपतेः कार्यं कर्तुं मणिचतुष्कके ॥१४२२॥ यतः–

"सती पत्युः प्रभोः पत्तिर्गुरोः शिष्यः पितुः सुतः ।
आदेशे संशयं कुर्वन् खण्डयत्यात्मनो व्रतम्" ॥१४२३॥
इतस्तत्रागताश्चौरा बन्धोः पश्यन्ति वर्त्म च ।
शब्दज्ञानी [1]द्विकारावं श्रुत्वा चावक् तदग्रतः ॥१४२४॥
[2]द्विको वक्ति द्रुतं यूयं नश्यतेतः प्रदेशतः ।
आयाति (न्ति) वाहना(रा) धर्तुं युष्माकमत्र सम्प्रति ॥१४२५॥
प्रोचुः स्तेनास्त्रयो मौनं कुरुष्व त्वं च बान्धव ! ।
पूर्वं कृतं वचस्ते चेत् रत्नपेटास्तदा कुतः ॥१४२६॥
गम्यते चेत्तदा तादृग्बन्धोर्योगः कथं भवेत् ।
विमृश्येति स्थितास्तस्य पश्यन्तो वर्त्म हर्षिताः ॥१४२७॥
एत्य तत्र तलारक्षो बीजपूरसमन्वितान् ।
तानादाय नृपोपान्ते नेतुं च चलितो यदा ॥१४२८॥
तदा स्तेना जगुर्लक्ष्मीं गृहाण भूयसीं मम ।
अस्मान् मुञ्चाथवा वृद्धा आयास्यन्ति नृपान्तिके ॥१४२९॥

तलारोऽवग् नृपेणोक्तं बीजपूरसमन्विताः ।
आनेतव्या नरा अत्र नियम्य दृढबन्धनैः ॥१४३०॥
आनीता नृपतेः पार्श्वे तलारेण मलिम्लुचाः ।
राजाऽवक् पेटिका यूयमर्पयन्तु द्रुतं मम ॥१४३१॥
नो चेत्करिष्यते चोरदण्डोऽत्र भवतां द्रुतम् ।
श्रुत्वैतत्तस्करा दध्युरेष बन्धुर्निशातनः ॥१४३२॥
मत्वेति पेटिका दत्ताश्चतस्रस्तैर्महीभुजे ।
भूपोऽवग् भ्रकुटिं कृत्वा वीक्ष्यते पेटिकाद्वयम् ॥१४३३॥
चौराः प्रोचुश्चतस्रोऽत्र गृहीता नाधिकाः किल ।
भूपोऽवक् त्वं तलारैतान् शूलायां क्षिप तस्करान् ॥१४३४॥
भूपप्रोक्तं तलारक्षः कर्तुं चलति यावता ।
तावच्छब्दविदा प्रोक्तं स्तेनानां पुरतो रहः ॥१४३५॥
रात्रावनेन भूपेनात्मना सार्धं च चौरिकाम् ।
कुर्वतोक्तमहं येषु स्यां तेषां नृपतो न भीः ॥१४३६॥

१ द्विक काक, तस्याराव –शब्दस्तम्। शिवारावं ग। २ शिवा ग।

विमृश्येति तलारक्षं प्रति प्रोचुर्मलिम्लुचाः ।
नयास्मान् भूपतेः पार्श्वे वयं दद्मश्च पेटिके ॥१४३७॥
आनीतेषु जगौ शब्दज्ञानीति भूपसंनिधौ ।
एकोऽस्माकं नरो रात्रौ स्तैन्यार्थं मिलितो जगौ ॥१४३८॥
येषां मध्येऽस्म्यहं तेषां न भीर्भवति भूपतेः ।
अद्यास्माकं भवेद् मृत्युर्ज्ञायते कारणं न हि ॥१४३९॥
पेटयोर्द्रव्यमूल्यं तं गृहाणास्मन्निकेतनात् ।
राजा रुष्टो नृणां किं किं हरते न धनादिकम् ॥१४४०॥
एकां पेटां समानीय भूपेनोक्तमिति स्फुटम् ।
कोशाध्यक्ष ! द्वितीयां त्वं मणिपेटां समानय ॥१४४१॥
मार्यमाणो महीशेन बिभ्यत् कोशाधिपस्तदा ।
रत्नपेटां ददौ भूमीभुजे दूनमना द्रुतम् ॥१४४२॥
राजाऽवग् बान्धवा यूयं मम सत्या बभूव च ।
सार्धं च चौर्यकरणाद्भेतव्यं न मनागपि ॥१४४३॥

भवतां संनिधावेकं मार्गयाम्यधुनाऽहकम् ।
ते प्रोचुर्भूपते ! चौर्यं मुक्त्वैकं मार्गयाधुना ॥१४४४॥
राजाऽवक् चौर्यतो जीवा भवन्त्यत्र परत्र च ।
दुःखभाजो भृशं भूयो भ्रमन्ति भवकानने ॥१४४५॥ यतः—
"अयं लोकः परो लोको धर्मो धैर्यं धृतिः मतिः ।
मुष्णता परकीयं स्वं मुषितं सर्वमप्यदः" ॥१४४६॥
सम्बन्ध्यपि निगृह्येत चौर्यान्मंडिकवन्नृपैः ।
चौरोऽपि त्यक्तचौर्यः स्यात् स्वर्गभाग् रौहिणेयवत् ॥१४४७
ततस्तैस्तस्करैश्चौर्यकरणे नियमस्तदा ।
गृहीतो भूपतेः पार्श्वे बभूवुः सुखिनश्च ते ॥१४४८॥
तस्करैर्नियमे[1] स्तैन्ये गृहीते भूपसंनिधौ ।
अवन्तीवासिनो लोका बभूवुः सुखिनो भृशम् ॥१४४९॥
चौरेभ्यस्त्यक्तचौर्येभ्यो ग्रामाणां शतपञ्चकम् ।
सन्मानपूर्वकं भूपो दत्ते स्म मुदिताशयः ॥१४५०॥

१ चौराणा नियमो जातः प्रसिद्धो पृथिवीतले घ ।

इति श्रीमत्तपागच्छनायक–श्रीसोमसुन्दरसूरिपट्टालंकरणश्रीमुनिसुन्दरसूरि–शिष्यशुभशीलगणिविरचिते श्रीविक्रमादित्य-विक्रमचरित्रचरित्रे श्रीशत्रुञ्जयोद्धारकरणस्वरूपवर्णनो नामाष्टमः सर्गः समाप्तः ॥

नवमः सर्गः।

[पञ्चदण्डच्छत्रकथा]

अन्येद्युर्विक्रमादित्यः क्रीडां कृत्वा बहिर्वने ।
आगच्छन् स्वगृहे राजमार्गे गान्छिकपाटके ॥१॥
तत्रैव पाटके नागदमन्यास्तनयाऽनघा ।
देवदमन्यभिधा बाला विद्यते रूपशालिनी ॥२॥
निरीक्ष्य गान्छिकाचेटीं मार्जयन्तीं नृपानुगाः ।
प्रोचुर्भूपतिरायाति धूलिं मोच्छार(ल)याधुना ॥३॥
श्रुत्वैतद्वचनं देवदमनी प्राह किं नृपः ।
पञ्चदण्डमयं छत्रं धत्ते स निजमस्तके ॥४॥
तदेतद्वचनं तस्या आकर्ण्य चलितो नृपः ।
पञ्चदण्डस्य वृत्तान्तं प्रष्टुकामोऽभवत् भृशम् ॥५॥ यतः—
"अपूर्वामश्रुतां वार्तां समाकर्ण्य जनो द्रुतम् ।
श्रोतुकामो भवेद् बाढं शून्यचित्त इवानिशम्" ॥६॥
प्रष्टुकामोऽपि भूपालो गत्वा निजनिकेतने ।
कृत्वा देवार्चनां चाशु बुभुजे विक्रमार्यमा ॥७॥
तामाकारयितुं भृत्याः प्रेपिता भूभुजा गृहात् ।
गान्छिकालयमभ्येत्य जगदुस्तामिति स्फुटम् ॥८॥

भो गाञ्छिके ! च ते पुत्री वक्ति भूपं यथा तथा ।
तेन तां भूपतेः पार्श्वे प्रेषयाधिकजल्पिकाम् ॥९॥
गाञ्छिका च जगादैवं चेत्कुप्यति क्षमापतिः ।
तदा लोकाः कथंकारं प्रजल्पिष्यन्ति साम्प्रतम् ॥१०॥ यतः-
"यथा तथा नृणां वाक्यमाकर्ण्य कर्णदुर्बलाः ।
ये भवन्ति नृपास्तेषां देशो वसति नो मनाक्" ॥११॥
लोकानां वचनं श्रुत्वा महीपाला यथा तथा ।
अपत्यानामिव श्राग् नो रुष्यन्ति मातृपितृवत् ॥१२॥
भूपानुगा जगू राजा नास्या दण्डं करिष्यति ।
किं तु प्रक्ष्यति वृत्तान्तं पञ्चदण्डस्य किंचन ॥१३॥
प्रोवाच गाञ्छिका विद्या न कदा विनयं विना ।
प्राप्यते मनुजैर्भूप इति विज्ञप्यतां द्रुतम् ॥१४॥ यतः-
"विनयेन विद्या ग्राह्या पुष्कलेन धनेन वा ।
अथवा विद्यया विद्या तुर्योपायो न विद्यते" ॥१५॥

भृत्याः प्रोचुः सुतां स्वीयां प्रेपय त्वं नृपान्तिके ।
गाञ्छिकाऽऽहाहमेष्यामि तैरुक्तमस्त्वति स्फुटम् ॥१६॥
गाञ्छिका भूपतेः पार्श्वे गत्वा प्राहेत्यदः स्फुटम् ।
यथा तथा वचो बालादिभिर्मौढ्यान्निगद्यते ॥१७॥
आकर्ण्यैतन्नृपः कुप्येद् यदि नः का गतिस्तदा ।
भूपोऽवग् नैव बालानां वाक्यैः कोपो भवेन्मम ॥१८॥
प्रष्टुकामोऽस्म्यहं पञ्चदण्डच्छत्रस्वरूपकम् ।
तेन त्वं तस्य छत्रस्य स्वरूपं वद किञ्चन ॥१९॥
गाञ्छिका प्राह भो भूप ! कार्यं चेद्विद्यते तव ।
तदा त्वं प्रथमं मामकीनत्वत्सदनान्तरे ॥२०॥
संलग्नां पद्यकां चार्वीं कारयित्वा धनैर्घनैः ।
मत्सुतां सारिपाशेन त्रिर्वारं लघुलाघवात् ॥२१॥
विजित्य परिणीयाशु पुत्र्या विनयपूर्वकम् ।
सद्यो विक्रमभूपाल ! पश्चादेशान् करिष्यसि ॥२२॥

तदा मम सुताऽहं वा छत्रस्योत्पत्तिमञ्जसा ।
आमूलचूलतस्तुभ्यं वदिष्याम्यवनीपते ! ॥२३॥
राजा जगाद नास्माभिः पञ्चदण्डं कदाचन ।
छत्रं श्रुतं क्वचिद् दृष्टं भूर्भुवःस्वस्त्रये ननु ॥२४॥
तथापि प्रेष्यतां पुत्री भवत्योक्तं करिष्यते ।
प्रोक्तेति नागदमनी जगाम निजमन्दिरम् ॥२५॥
द्वितीयदिवसे प्रातरधिष्ठायासनं महत् ।
गाङ्छिकोक्तां नृपः पद्यां कारयामास सेवकः ॥२६॥
आहूता भूभुजा देवदमनी दीव्यभूषणा ।
दीव्यदुकूलवसना सभायां समुपेयुषी ॥२७॥
दीव्यत्तनुच्छविं देवदमनीं वीक्ष्य भूपतिः ।
मन्मथग्रसितस्वान्तो बभूवातीव संसदि ॥२८॥
विधायाष्टापदं द्यूतमण्डपे सारिपाशकैः ।
रन्तुं भूपस्तया सार्धं चकारोपक्रमं तदा ॥२९॥

पतत्यलं समे दावे राज्ञाऽचिन्तीति मानसे ।
कन्यकेयं कदाचिन्मां जेत्री मे का गतिस्तदा ॥३०॥
ममापभ्राजना लोके भविष्यति न संशयः ।
विमृश्येति स्मृतो वह्निवेतालो मेदिनीभुजा ॥३१॥
तदाऽऽशु वह्निवेतालो भूपपार्श्वे समागमत् ।
ततोऽग्निकस्य सांनिध्याद्रन्तुं राजा प्रवर्तितः ॥३२॥
मध्याह्ने च महामात्यैर्विज्ञप्तमिति कोविदैः ।
देव ! भोजनवेलाया भवतीह व्यतिक्रमः ॥३३॥
राज्ञोक्तं सचिवा यूयं भुङ्ध्वं स्वयमेव हि ।
उत्थातुं विद्यते नो मेऽवसरः साम्प्रतं मनाक् ॥३४॥
सचिवाश्च जगुः स्वामिन् ! वपुस्तव क्लमिष्यति ।
आधारे निखिला पृथ्वी विद्यते तव निश्चितम् ॥३५॥ यतः—
“जेण कुलं आयत्तं तं पुरिसं आयरेण रक्खिज्जा ।
न हु तुबंमि विणट्ठे अरया साहारया हुंति” ॥३६॥

एवं पुनः पुनः प्रोक्ते मन्त्रिभिर्बहुभिस्तदा ।
सन्ध्याघटीद्वयं यावद्रममाणो नृपः स्थितः ॥३७॥
निशादनंतमोभीत्या वस्त्रेण फलकं तदा ।
आच्छाद्य नृपतिर्भोक्तुं मध्येगेहमुपागमत् ॥३८॥ यतः—
"अस्तं गते दिवानाथे आपो रुधिरमुच्यते ।
अन्नं मांससमं प्रोक्तं मार्कण्डेन महर्षिणा ॥३९॥ इत्यादि ।
वैकालिकं ततः कृत्वा निशायां वीरचर्यया ।
श्रोतुं स्वचरितं पुर्यां रहो बभ्राम भूपतिः ॥४०॥
चतुरशीत्यट्टश्रेण्यां रहः परिभ्रमन् नृपः ।
लोकानां वचनादेतत् शुश्राव निशि सर्वतः ॥४१॥
यद्राजा रमते देवदमन्येह सहानया ।
तदाऽयं ज्ञायते मूर्खो न पुनश्चतुरो मनाक् ॥४२॥
कोऽप्यस्य नृपतेः शिक्षां दाताऽमात्यो न विद्यते ।
नानेन भूभुजा युक्तं कृतं द्यूतनिषेवणात् ॥४३॥

सिद्धसीकोतरी ह्येषा केनापि जीयते नहि ।
श्रुत्वैतन्नृपतिः सौधं स्वमागात् खिन्नमानसः ॥४४॥
शेषां निशामतिक्रम्य द्वितीयदिवसे प्रगे ।
तथैव च तया सार्धं रन्तुं प्रववृते नृपः ॥४५॥
पूर्ववद्दिवसं द्यूतान्नीत्वा सायं नृपस्ततः ।
कृत्वा वैकालिकं रात्रौ श्रोतुं स्वं वृत्तमीयिवान् ॥४६॥
कारुवारुनिकेतेषु ययौ विक्रमभानुमान् ।
श्रोतुं स्वं चरितं लोकमुखात्सद्यो दिनात्यये ॥४७॥
चक्रिको मोचिको लोहकारो रजकगंच्छिकौ ।
माछिकः शूचिको भिल्लो जालिकः कारवो नव ॥४८॥
स्वर्णकृन्नापितः कान्दविकः कौटुम्बिकस्तथा ।
मालिकः काछिकश्चापि ताम्बूलिकश्च सप्तमः ॥४९॥
गन्धर्वः कुम्भकारः स्यादेते च नारवः स्मृताः ।
कारुनारुनिकायेषु भ्रमन्नेतन्नृपोऽशृणोत् ।
श्रुतिभ्यां गञ्छिका राज्ञा धृताऽनेन मुधाऽधुना ॥ [षट्पदी]

आलेनाङ्ग ददे तेन दुःसाध्या कपिकच्छिका ।
निश्चितं सा नृपं कष्टे पातयिष्यति दुष्टधीः ॥५१॥
देवा अपि हि दम्यन्तेऽनयाऽन्येषु च का कथा ।
अतो हेतोर्नृभिर्देवदमन्येषा प्रजल्प्यते ॥५२॥
श्रुत्वैतन्नृपतिः खिन्नोऽभ्येत्य गेहं ततो निशि ।
सुष्वाप चिन्तयन्नेवं जीयते सा कथं मया ॥५३॥
अतीत्य भूपतिश्चिन्तापरोऽशेषां निशीथिनीम् ।
प्रभाते पूर्ववद्रन्तुं प्रवृत्तश्चिन्तया सह ॥५४॥
तृतीयदिवसेऽप्येवं रन्त्वा सार्धं तया पुनः ।
पुर्याः परिसरे ज्ञातुं वृत्तं भूपोऽगमन्निशि ॥५५॥
परिभ्रमन्नृपो गन्धवाहाह्वपितृसद्मनि ।
शृण्वन् डमरुकध्वानं तस्थौ देवकुलान्तरे ॥५६॥
"उष्ट्रोष्ठमोतुनयनं खरवृन्ददन्तं,
कुद्दालकल्पनखरं द्दपदङ्गुलीकम् ।
स्थूलोदरं चिपिटनासिकमाखुकर्णं,
कस्तूरिकाञ्जनसमानशरीरवर्णम् ॥५७॥
वीभत्सवक्त्रमतिकर्बुरकेशपाशं,
झोटिङ्गवृन्दसहितं गलरुण्डमालम् ।
हुङ्कारयुक्तरवभापितसर्वलोकं,
खड्गोरुखेटकविभासिभुजद्वयाङ्कम् ॥५८॥
पद्भ्यां प्रकम्पितमहीतलमश्वरूढं,
साक्षाद्यमाकृतिधरं भयदानदक्षम् ।
क्षेत्राधिनाथमयमानमवेक्ष्य भूपः
पप्रच्छ कस्त्वमिति कोऽसि कुतः समागात् (गाः) ॥

[त्रिभिर्विशेषकम्]

क्षेत्रपोऽवक् पुरस्यास्य रक्षां कुर्वेऽहमन्वहम् ।
राज्ञोक्तमस्म्यहं देशान्तरिको विक्रमाभिधः ॥६०॥
राजाऽवक् क्षेत्रपश्चेत्त्वं राज्ञो रक्षां तदा कुरु ।

ज्ञानेन क्षेत्रपो ज्ञात्वा प्रोवाचेति च तं प्रति ॥६१॥
भूपोऽस्ति पतितो देवदमन्याः सङ्कटेऽधुना ।
दुःखेन सङ्कटादस्माद् भाग्यादेव छुटिष्यति ॥६२॥
तया सार्धं मुधा स्पर्धां धत्ते धात्रीधवोऽधुना ।
जेतुं न शक्यते केन दैत्येन मरुताऽपि सा ॥६३॥
राजाऽवक् क्षेत्रपेदानीं तथा कुरु यथा द्रुतम् ।
भविष्यति जयो भूमिपतेः कष्टविमोचनात् ॥६४॥
क्षेत्रपोऽवक् तवाग्रे किं कथितेन प्रयोजनम् ।
कृत्वा बल्यादि चेत्प्रष्टा भूमीपः कथ्यते तदा ॥६५॥
राजा प्राह करिष्यामि तव पूजामहं मरुत् ।
निवेदय जयोपायं प्रसद्य मेदिनीपतेः ॥६६॥
ज्ञात्वा भूपं ततः क्षेत्रपालः प्राह महीपते ! ।
तवानया समं द्यूतं मण्डितं यच्च साम्प्रतम् ॥६७॥
तन्नो हि विहितं चारु दुःशकाऽस्ति यतश्च सा ।
भूपोऽवक् क्षेत्रपालाद्य मया द्यूतं च मण्डितम् ॥६८॥
मोक्तुं च शक्यते नैव प्रतिज्ञाभङ्गभीतितः ।
बलिं तुभ्यं प्रदास्येऽहं जयोपायं वदाधुना ॥६९॥
क्षेत्रपोऽवग् न मे देवदमन्याः पुरतोऽभिधा ।
ग्राह्या यतोऽस्ति सा देवदैत्यानामपि दुःशका ॥७०॥
भूभुजाऽङ्गीकृते तस्मिन् क्षेत्रपालो जगावदः ।
सीकोत्तराभिधे शैले नानावृक्षसमाकुले ॥७१॥
सिद्धसीकोतरीगेहं विद्यते विलसत्तमम् ।
सिद्धसीकोतरीदेवी सप्रभावाऽवतिष्ठते ॥७२॥ [युग्मम्]
रात्रौ कृष्णचतुर्दश्या मध्ये शक्रः समेष्यति ।
चतुःषष्टिस्तु योगिन्यो द्विपञ्चाशच्च वीरकाः ॥७३॥
आयास्यन्ति गणाधीशभूतप्रेतादिषण्मुखाः ।
सा च करिष्यते देवदमनी नृत्यमद्भुतम् ॥७४॥
[इन्द्रसंसदि साऽभ्येत्य देवी नृत्यं करिष्यति ।]

तत्र गत्वा य एतस्याः कुर्वत्या नर्तनं वरम् ।
चित्तक्षोभनतो लात्वा वस्तुत्रयं रहः स्थितः ॥७५॥
एत्य च स्वपुरे दीव्यन् दर्शयति पृथक् पृथक् ।
स देवदमनीं देवदुर्दमामपि जेष्यति ॥७६॥
क्षेत्रपोक्तं नृपोऽशेषं प्रतिपद्य मुदा तदा ।
दध्यौ समीहितं सिद्धं सर्वं ममाधुना ध्रुवम् ॥७७॥
भाग्यं विना न केषाश्चिन्नराणां चित्तचिन्तितम् ।
समेष्यति द्रुतं सिद्धिं दैत्यानां मरुतामपि ॥७८॥ यतः—
"श्रियमनुभवन्ति धीरा न भीरवः किमपि पश्य शस्त्रहतः ।
कर्णः स्वर्णालङ्कृतिमञ्जनरेखाङ्कितं चक्षुः" ॥७९॥
"सत्तुसरीरहआ य तुं देवायत्ती रिद्धि ।
इक्कछउ बहुहिं भिडइ जिहां साहस तिहां सिद्धि" ॥८०॥
सिद्धं समीहितं कार्यं मन्वानो मेदिनीपतिः ।
सौधमेत्य सुखं सुप्तो निनाय निखिलां निशाम् ॥८१॥

क्षेत्रपस्य अग्रे भक्तिदानं भूमीभुजा कृतम् ।
मूटकाष्टबलिं दत्त्वा नानापुष्पादिढौकनात् ॥८२॥
रन्त्वा तया समं वस्रे पूर्ववन्मेदिनीपतिः ।
समेत्य स्वगृहेऽस्मार्षीद् वेतालं कार्यहेतवे ॥८३॥
स्मृतो भूमीभुजा वह्निवेतालस्तत्क्षणादगात् ।
जगाद च तव क्ष्माप ! किं कार्यं विद्यते वद ॥८४॥
राज्ञोक्तं निखिलं कार्यमग्निवेतालकाग्रतः ।
साम्प्रतं गम्यते सिद्धसीकोत्तरशिलोच्चये ॥८५॥
सीकोत्तरगिराविन्द्रसभायामग्निकोऽसुरः ।
स्कन्धे कृत्वा नृपं रात्रौ निनायानघमानसम् ॥८६॥
नृत्यं तस्मिन्क्षणे देवदमनीं कुर्वतीं वरम् ।
वीक्ष्य भूपो जगावग्निवेताल ! क्षोभयाधुना ॥८७॥
अग्निको भ्रमरीभूय तत्क्षणान्मूर्धतस्तदा ।
पुष्पं तस्याः तुलाकोटेरुर्ध्वं शीघ्रमपातयत् ॥८८॥

१ मन. । क्षोभयिष्यति संकेतं वेत्ति ता स जेष्यति ॥ ग ।

पुष्पस्य पतनाद् देवदमनी तत्र संसदि ।
नर्तयन्ती क्षणं क्षोभं ययौ भ्रमरदर्शनात् ॥८९॥
आलाप्यालाप्य मधुरं गायन्त्या गीतमद्भुतम् ।
आकर्ण्य निखिला संसद् मुदिताऽजनि तत्क्षणात् ॥९०॥
तादृशं गीतमाकर्ण्य तस्याश्चालोक्य नर्तनम् ।
चमत्कृतो नृपोऽतीव दध्यावेवं तदा हृदि ॥९१॥
यदीयं कन्यका न स्यान्मदीयगृहिणी वरा ।
तदा मम गतं जन्म निष्फलं ह्यवकेशिवत् ॥९२॥
हृष्टः शक्रो ददौ देवदमन्यै कुसुमस्रजम् ।
नृत्यन्ती सहसा देवदमनी मुदिताशया ॥९३॥
स्वसख्यै ददते यावत्पार्श्वस्थायै शयेन सा ।
अग्निकेनान्तरा तावद् हृत्वा दत्ता महीभुजे ॥९४॥
आलाप्यालाप्य गायन्त्या मधुरं गीतमद्भुतम् ।
तस्याः श्रुत्वा तदा शक्रादयः सर्वे प्रमोदिताः ॥९५॥

हृष्टः शक्रो ददौ देवदमन्यै वरनूपुरम् ।
नृत्यन्ती सहसा देवदमनी मुदिताशया ॥९६॥
स्वसख्यै ददते यावत्पार्श्वस्थायै शयेन सा ।
अग्निकेनान्तरा तावद् हृत्वा दत्तं महीभुजे ॥९७॥ [युग्मम्]
पुनः शक्रो ददौ देवदमन्यै पत्रबीटकम् ।
यावत् तावत्तदप्यागात्पूर्ववद् वैक्रमे करे ॥९८॥
स्रजं च नूपुरं दिव्यं शक्रदत्तं च बीटकम् ।
लात्वा वेतालसांनिध्याद् भूपः स्वस्थानमागमत् ॥९९॥
सुप्तं भूपं प्रगे देवदमनी भृत्यपार्श्वतः ।
उत्थाप्य प्रजगौ भूप ! किमिदं मण्डितं त्वया ॥१००॥
पूर्वं मया समं द्यूतक्रीडाऽऽरब्धा त्वया स्फुटम् ।
निश्चिन्तेनाधुना भूप ! एवं किं सुप्यते सुखम् ॥१०१॥
आगताऽद्य प्रमीला मे प्रोक्त्वेति मेदिनीपतिः ।
उत्थाय पूर्ववद्रन्तुं प्रवृत्तो द्यूतकर्मणा ॥१०२॥

दीव्यन् राजा जगौ भ्रातः किं त्वयोत्थापितो बलात् ।
गञ्छिकाऽवग् मयाऽमा किं स्पर्द्धां कृत्वेह सुप्यते ॥१०३॥
निद्रायन्तं नृपं कूटाद्वीक्ष्यावग् गञ्छिका तदा।
किमेति भवतो निद्रा ततो भूपो जगौ छली ॥१०४॥
ममाद्य नागता निद्रा शीकोत्तरशिलोच्चये ।
गमनात्तत्र यामिन्यां कौतुकं पश्यतः सतः ॥१०५॥
दीव्यरूपधरं पात्रं श्रीपुरन्दरसंसदि ।
ननर्त रुचिरं गर्वादेकदा स्खलितं पुनः ॥१०६॥
उक्त्वेति दर्शयामास यावद् भूमीपतिः स्रजम् ।
हारितं फलकं तावत्तयैकं चित्तविप्लवात् ॥१०७॥
"चलं चित्तं चलं वित्तं चलं यौवनमेव च ।
चलमायुर्नदीवेगगजकर्णध्वजान्तवत् ॥१०८॥
कुर्वाणः पूर्ववद्वार्ता यावता बीटकं नृपः ।
अदीदृशत्तया तावद् द्वितीयं हारितं फलम् ॥१०९॥

कुर्वंश्च पूर्ववद्वार्तां यावता नूपुरं नृपः ।
अदीदृशत्तया तावत्तृतीयं हारितं फलम् ॥११०॥
"चिन्तातुरस्य मर्त्यस्य भूरिलक्ष्मीवतोऽपि च ।
विसंस्थुलं भवेच्चित्तं कुर्वतः कार्यमञ्जसा" ॥१११॥ यतः—
"क्षणं सक्तः क्षणं मुक्तः क्षणं क्रुद्धः क्षणं क्षमी ।
मोहाद्यैः क्रीडयेवाहं कारितः कपिचापलम्" ॥११२॥
त्रिर्वारं भूभुजा देवदमनी द्यूतकर्मणि ।
विजित्य जननीसाक्षि परिणीता सदुत्सवम् ॥११३॥
"बालादपि हितं ग्राह्यममेध्यादपि काञ्चनम् ।
नीचादप्युत्तमां विद्यां स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि" ॥११४॥
अभूज्जयजयारावः पुरीमध्येऽभितस्तदा ।
प्रशंसा विहिता लोकैर्भूपस्यैतद्विधानतः ॥११५॥
तलिकातोरणादीनि स्थाने स्थाने महीपतिः ।
बन्धयामास कुर्वाणो नृत्यगीतोत्सवं पुरि ॥११६॥ यतः—
"सा सा संपद्यते बुद्धिः सा मतिः सा च भावना ।

सहायास्तादृशा ज्ञेया यादृशी भवितव्यता" ॥११७॥

इति देवदमनीपरिणयसम्बन्धः ।

महीपालो जगौ नागदमन्यत्र त्वयोदितम् ।
पुत्री जयनसम्बन्धं विहितं मयका खलु ॥११८॥
परिणीता मयेदानीं भवत्यास्तनया पुनः ।
नीचे कुलेऽपि संजाता प्रतिज्ञापालनात् स्फुटम् ॥११९॥ यतः—
"विपादप्यमृतं ग्राह्यममेध्यादपि काञ्चनम् ।
अधमादुत्तमां विद्यां स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि" ॥१२०॥
अतस्त्वं गञ्छिके ! वक्षि कार्यं प्रथममञ्जसा ।
ततोऽवग् नागदमनी स्फुटं भूमीपतिं प्रति ॥१२१॥
तामलिप्त्यां महीपालसदने तृतीयावनौ ।
रत्नानि सन्ति पेटायां भासुराणि नरोत्तम ! ॥१२२॥
त्वं तान्यानय तैश्छत्रे जालिकानि भवन्ति हि ।
तादृक्षाणि न भवतः कोशे सन्ति महीपते ! ॥१२३॥

आकर्ण्यैतन्नृपो नागदमन्या वचनं स्फुटम् ।
राज्यरक्षाकृते भट्टमात्रं मुक्त्वाऽचलत्ततः ॥१२४॥
विलोकयन् पुरग्रामाकरान् विक्रमभूपतिः ।
तामलिप्तीपुरोद्याने ययौ देववनोपमे ॥१२५॥
एलालवङ्गलवलीद्राक्षेक्षुखण्डसुन्दरे ।
पुरीपरिसरे सर्वं पौरलोकं समागतम् ॥१२६॥
भोजनार्थं च सामग्रीं कुर्वाणं वीक्ष्य विक्रमः ।
पप्रच्छ मनुजं कञ्चित् किमत्र कुरुते जनः ॥१२७॥ [युग्मम्]
लोकोऽवक् चन्द्रभूपेन पुर्यामस्यां च सर्वतः ।
रत्नमयानि गेहानि कारितानि धनव्ययात् ॥१२८॥
गेहाली शालते यत्र चित्रशालोद्भदन्तकैः ।
दन्तपुत्तलिकामत्तवारणैस्तोरणादिभिः ॥१२९॥
तस्यां चन्द्रोदयादूर्ध्वं भान्ति मौक्तिकजालकाः ।
अधश्चन्दनकर्पूरमृगनाभिच्छटाः पुनः ॥१३०॥

न कोऽपि कुरुते पाकक्रियां तत्र जनो मनाक् ।
मालिन्यभयतश्चात्र कुरुते रन्धनादिकम् ॥१३१॥
भुक्त्वा विश्रम्य वृक्षाणां छायासु मनुजाः क्षणम् ।
सन्ध्यायां नगरीमध्ये गमिष्यन्ति नृपोऽपि च ॥१३२॥

न काऽपि नगरी लङ्कामरावत्यादिका पुनः ।
अस्माकं लभते शोभां पुर्या अस्याः पुरः क्वचित् ॥१३३॥
सर्वज्ञहरगोविन्दप्रासादश्रेणिभिस्सदा ।
कैलाशशैलतुल्याभिर्नगरीयं विराजते ॥१३४॥
श्रुत्वैतच्चिन्तितं राज्ञा निष्पन्नं मे समीहितम् ।
ईदृग्नगरभूपालमहेभ्यजनवीक्षणात् ॥१३५॥

गजाश्वेभमहीपालछत्रचामरवीक्षणात् ।
चारुशब्दश्रुतेश्चापि कार्यसिद्धिर्निगद्यते ॥१३६॥
ततः श्रीविक्रमादित्यो भुक्त्वा तत्रैव भूपतिः ।
दृष्ट्वोद्यानं वनं सम्यग् पुरद्वारमुपाययौ ॥१३७॥

गजाश्वाभ्रंलिहागारश्रेणीं पश्यन् पदे पदे ।
शतपञ्चभटादृश्यरूपोऽगात् नगरान्तरे ॥१३८॥
इतश्चन्द्रमहीपालः सर्वलोकसमन्वितः ।
सन्ध्यायां सदनं स्वं स्वं जगाम मुदिताशयः ॥१३९॥

चन्द्रभूपाङ्गजा लक्ष्मीवती सप्तावनौ गृहे ।
गत्वा च कारयामास नृत्यं चारु पणाङ्गनाः ॥१४०॥
विक्रमार्कनृपोऽदृश्यरूपश्च सप्तमक्षितौ ।
गत्वा पणाङ्गनानृत्यं पश्यति स प्रमोदितः ॥१४१॥
कारयित्वा चिरं नृत्यं दत्त्वा ताम्बूलमादरात् ।
विसर्ज्य नर्तकीर्द्वारं दापयामास भूपभूः ॥१४२॥

ग्रहीतुं विक्रमादित्यः पेटां रत्नभृतां नृपः ।
छन्नं तस्थौ क्षणं पार्श्वे एकतः सद्मनस्तदा ॥१४३॥
इतो भीमो नृपः संढीं घट्या योजनगामिनीम् ।
मुक्त्वा वंशेन गेहस्य गत्वोर्ध्वं कन्यकां जगौ ॥१४४॥

आगच्छ त्वरितं भूमौ चट संढीं च गम्यते ।
कन्याऽवक् प्रथमं रत्नपेटामुत्तारयाचिरात् ॥१४५॥
पश्चादहं समेष्यामीत्युक्ते भीमस्तथाऽकरोत् ।
ततो लक्ष्मीवतीं लात्वा यावदुत्तरति स्म सः ॥१४६॥
तावत् श्रीविक्रमादित्यो दध्यावेवं तदा हृदि ।
पेटां रत्नभृतां कन्यां लात्वाऽसावाशु यास्यति ॥१४७॥
मत्वेत्यदृश्यरूपोऽग्निवेतालस्य प्रयोगतः ।
नीरङ्गीं शिरसस्तस्या भूपोऽलाल्लघुलाघवात् ॥१४८॥
लज्जन्ती वसनं लातुं द्वितीयं कन्यका गता ।
तावत् श्रीविक्रमादित्यो वह्निवेतालपार्श्वतः ॥१४९॥
उत्पाट्य सहसा भीमं कुमारं दूरदेशतः ।
मोचयित्वा स्वयं तस्य स्थानके तस्थिवान्नृपः ॥१५०॥[युग्मम्]
नीरङ्गीमपरां लात्वा गता लक्ष्मीवती तदा ।
नृपः कुत्वोष्ट्रिकारूढां कन्यां पेटायुतोऽचलत् ॥१५१॥

उज्जयिनीं समुद्दिश्य चलन्तं वीक्ष्य कन्यका ।
प्राह स्वामिन् ! क्व पूर्वाशां मुक्त्वा गच्छसि दक्षिणाम् ॥१५२॥
विक्रमार्को जगौ पल्लयामस्ति भीमाभिधं पुरम् ।
तस्मिन् नटविटा धूर्ता दूताश्च सन्ति भूरिशः ॥१५३॥
चतुरङ्गाभिधो भिल्लस्तत्रान्येद्युरहं गतः ।
मयका कन्यका चैका द्रव्यं च हारितं तदा ॥१५४॥
गत्वा तत्र धनं त्वां च दत्त्वा स्यामनृणोऽचिरात् ।
श्रुत्वैतद् बिभ्यती मार्गे पूर्वं कर्म निनिन्द सा ॥१५५॥
किं कृतं मयकाऽकस्मादविमृश्येति साम्प्रतम् ।
कथमस्मान्नरान्मे स्याच्छुटनं सुखदायकम् ॥१५६॥
अन्यथा चिन्तितं कार्यं दैवेन कृतमन्यथा ।
क्रियते किं मया दुःखं मानसे साम्प्रतं स्फुटम् ॥१५७॥यतः—
"सुखदुःखानां कर्ता हर्ता च न कोऽपि कस्यचिज्जन्तोः ।
इति चिन्तय सद्बुद्ध्या पुरा कृतं भुज्यते कर्म ॥१५८॥

जं चिअ विहिणा लिहिअं तं चिअ परिणमइ सयललोयस्स।
इअ जाणेविणु धीरा विहुरे वि न कायरा हुंति॥१५९॥
हिअडा करि संतोस जं होणाहर तं होइसिइ।
देव न दीजइ दोस छेहा लाभ न छुटीइ" ॥१६०॥

उन्मार्गे वृक्षशाखाभिः पीडिता वक्ति कन्यका।
शनैः शनैर्व्रज त्वं हि यतो मे पीड्यते तनुः ॥१६१॥
विक्रमार्को जगौ वृक्षकण्टकैर्यदि बाध्यसे।
मम द्यूतस्य हस्ते किं चटिता न सहिष्यसे ॥१६२॥
श्रुत्वैतत् कन्यका मौनं कृत्वाऽस्थाद् दुःखिता भृशम्।
बह्वीं भुवं नृपः क्रान्त्वा गतः स्वदेशसिमनि ॥१६३॥

तटिनीपुलिने चासावुपाविश्योष्ट्रिकां नृपः।
स्त्रि! मे पादौ परामर्शेत्युक्त्वा सुष्वाप यावता ॥१६४॥
कन्या संवाहनामंह्र्योर्भूपस्य यावता व्यधात्।
तावच्च शुश्रुवे सिंहारवो दूरात्तया तदा ॥१६५॥

श्रुत्वैतत्कन्यका जागरयित्वा भूपतिं जगौ।
इतः सिंहारवोऽकस्मात् श्रूयते दुःश्रवोऽधुना ॥१६६॥
उत्थाय नृपतिर्बाणं क्षिप्त्वा सिंहध्वनिं प्रति।
तथैव निर्भरं सुप्तः सद्यः साहसिकाग्रणीः ॥१६७॥

ततः क्षणात्तया व्याघ्रध्वनिं श्रुत्वाऽतिदुःश्रवम्।
बिभ्यत्या भूपतिं जागरयित्वाऽवक् सगद्गदम् ॥१६८॥
इतो व्याघ्रारवोऽकस्मात् श्रूयते दुःश्रवो नर!।
उत्थाय नृपतिर्बाणं क्षिप्त्वा व्याघ्रारवं प्रति॥१६९॥
मा भैषीर्बालिके! प्रोक्त्वेत्येवं साहसिकाग्रणीः।
तथैव निर्भरं सुप्तः सद्यो भयविवर्जितः ॥१७०॥

प्रातः कन्यां नृपोऽप्रैषीत् बाणानयनहेतवे।
साऽपि व्याघ्रस्य सिंहस्य मृतस्य संनिधौ ययौ ॥१७१॥
व्याघ्रसिंहौ मृतौ वीक्ष्य लात्वा बाणौ कनीनिका।
महीशाय ददौ सोऽपि तूणे चिक्षेप तत्क्षणात् ॥१७२॥

प्रोवाच भूपतिर्बाले ! इदं कर्म मया कृतम् ।
कस्याप्यग्रे न वक्तव्यं भवत्या चारुवृत्तया ॥१७३॥

श्रुत्वैतत्कन्यका दध्यौ अयं कोऽपि नरोत्तमः ।
विद्यते निश्चितं धीरजल्पनादिति मे मतिः ॥१७४॥ यतः–

"एकोऽहमसहायोऽहं कृशोऽहमपरिच्छदः ।
स्वप्नेऽप्येवंविधा चिन्ता मृगेन्द्रस्य न जायते ॥१७५॥

अप्रकटीकृतशक्तिः शक्तोऽपि जनात्तिरस्क्रियां लभते ।
निवसन्नन्तर्दारुणि लङ्घ्यो वह्निर्न तु ज्वलितः ॥१७६॥

ततश्चलन् क्रमाल्लक्ष्मीपुरोद्याननदीतटे।
मुक्त्वा पेटां स्त्रियं सार्धं भोजनार्थं पुरेऽगमत् ॥१७७॥

इतस्तत्पुरवास्तव्यरूपश्रीः पुरनायिका ।
कन्यासांढियुतां पेटां लात्वा च स्वगृहे ययौ ॥१७८॥

वेश्या दध्याविंयं नारी सुरूपा विद्यते भृशम् ।
तेनानया रमा बह्वी भविष्यति गृहे मम ॥१७९॥

आयास्यन्ति महीपालमहेभ्यतनया ननु ।
अनया मोहिता गेहे मदीये बहवस्सदा ॥१८०॥

वेश्याऽवग् मद्गृहे लोकानागतान् रञ्जयाचिरात् ।
अस्माकं राजनारीभ्योऽधिकं सौख्यं प्रजायते ॥१८१॥

श्रुत्वैतद्राजतनया वेश्ययोक्तं जगावदः ।
नाहमङ्गीकरिष्यामि त्वद्धर्मं दुर्गतिप्रदम् ॥१८२॥ यतः–

"कश्चुम्बति कुलपुरुषो वेश्याधरपल्लवं मनोज्ञमपि ।
चारभटचोरचेटकनटविटनिष्ठीवनशरावम् ॥१८३॥

या विचित्रविटकोटिनिघृष्टा मद्यमांसनिरताऽतिनिकृष्टा ।
कोमला वचसि चेतसि दुष्टा तां भजन्ति गणिकां न विशिष्टाः"॥

इह लोके सदा नीचनरसङ्गं वितन्वते ।
परलोके सहन्ते च श्वभ्रे दुःखं पुराङ्गनाः ॥१८५॥

एवमुक्तवतीं कन्यां तां सेल्लहस्तसूनवे ।
अर्पयामास नगरनायिका दुष्टमानसा ॥१८६॥

दध्यौ राजसुता कीदृक्सङ्कटे पतिताऽस्म्यहम् ।
यतश्च कर्मणः पूर्वात् छुट्यन्ते न जनाः कृतात् ॥१८७॥
किं कृतं दुष्कृतं पूर्वभवे दुष्टं मया खलु ।
येन मे ईदृशी दुःस्थाऽवस्था जाताऽतिदुःखदा ॥१८८॥
"काला करम न रुसीइ दैव न दीजइ दोस ।
लिखिउं लाभइ सिरतणउं अधिक न कीजइ सोस" ॥१८९॥
कल्ये त्वां परिणेष्यामीत्युक्त्वा वातायने तदा ।
सदनस्योपरि क्षिप्रं मुमोच सेल्लहस्तभूः ॥१९०॥
सेल्लहस्तसुतः प्रोक्त्वेत्येवं डिम्भैस्समैस्सह ।
क्रीडां कर्तुं ययौ स्वस्य वाटके सद्मनस्तदा ॥१९१॥
क्रीडन् डिम्भैः समं दृष्ट्वोन्दुरमेकं बिलानने ।
मृत्साखण्डेन हत्वाऽऽशु प्राहेति सेल्लहस्तभूः ॥१९२॥
यूयमेवात्र मे बाह्वोर्बलं पश्यत साम्प्रतम् ।
चुंपनं कुरुताह्वाय कृत्यं स्तुत मदीयकम् ॥१९३॥

मयाऽधुनोन्दुरो मृत्स्नाखण्डेनैकेन पातितः ।
मम तुल्यो जगन्मध्ये बली नास्त्यपरो नरः ॥१९४॥ यतः—
"अहो सदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च ।
स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम्" ॥१९५॥
सेल्लहस्तसुतस्येतो वृत्तं वीक्ष्य गवाक्षगा ।
कन्या दध्याविति स्वीयं विहितं कर्म निन्दती ॥१९६॥
एकस्तावदयं स्वीयमिदृक्षचरितं स्फुटम् ।
प्रकटीकुरुते कुर्वन् गर्वमित्थं भुजौजसः ॥१९७॥
पुंसा तेन पुरा सिंहं व्याघ्रं हत्वैकबाणतः ।
उक्तं च मे न कस्याग्रे वक्तव्यं चरितं त्वया ॥१९८॥
अन्तरं विद्यते नीचानीचयोर्नरयोर्महत् ।
स्वगुणावर्णनस्वीयगुणवर्णनहेतुतः ॥१९९॥
अन्तरं यादृशं काकहंसयोः फेरुसिंहयोः ।
बब्बूलचूतयोरश्वखरयोर्दैत्यदेवयोः ॥२००॥

सुधासलिलयोर्निम्बचूतयो राजभृत्ययोः ।
सरःसागरयो राहुचन्द्रयोरजहस्तिनोः ॥२०१॥
रात्रिवासरयोर्ग्रामपुरयोस्तैलसर्पिषोः ।
अन्तरं तादृशं तस्यास्य च सम्प्रति दृश्यते ॥[त्रिभिर्विशेषकम्]
ध्यात्वेति गणिकोपान्ते गत्वा प्रोवाच कन्यका ।
कथं प्रदातुमिच्छेस्त्वं यादृक्तादृग्नराय माम् ॥२०३॥
पूर्वदृष्टो नरश्चेन्मे वेश्ये ! नैव मिलिष्यति ।
तदाऽहकं करिष्यामि काष्ठभक्षणमञ्जसा ॥२०४॥
यादृक्तादृग्मनुष्याय दत्से त्वं यदि मां हठात् ।
गत्वा रावां करिष्यामि नृपोपान्ते तदाऽहकम् ॥२०५॥
येनात्र नगरे नीता पुरुषेणाहकं ध्रुवम् ।
तमेवाहं वरिष्यामि नान्यमिभ्यमपि स्फुटम् ॥२०६॥
श्रुत्वैतद् बिभ्यती वेश्या गत्वा भूपान्तिके जगौ ।
मदीया तनया पत्युर्वियोगात्काष्ठमिच्छति ॥२०७॥

राजाऽवक् शोभनं नैव नारीणां काष्ठभक्षणम् ।
काष्ठभक्षणतो जीवो लभते दुर्गतिं पुनः ॥२०८॥
पत्युर्मोहेन चेन्नारी कुरुते काष्ठभक्षणम् ।
तदा वारयितुं तां च कः शक्नोति नरो बली ॥२०९॥
अनुज्ञां नृपतेः प्राप्य हृष्टा दध्यौ पणाङ्गना ।
यदि सा कुरुते काष्ठभक्षणं साम्प्रतं द्रुतम् ॥२१०॥
तदा रत्नभृता पेटा सांढियुक्ता मनोरमा ।
तिष्ठति स्म गृहे मामकीने सत्कर्मयोगतः ॥२११॥
एवं दुष्टां धियं चित्ते कुर्वती पणभामिनी ।
मुत्कलाप्य नृपं स्वीयसदनं समुपागता ॥२१२॥ यतः—
"मृगमीनसज्जनानां तृणजलसन्तोषविहितवृत्तीनाम् ।
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति" ॥
नृपतेराज्ञया वेश्याऽश्वारूढां कन्यकां तदा ।
कृत्वा मार्गे ययौ यावत्तावद् दृष्टा महीभुजा ॥२१४॥

॥१६८॥

तस्या रूपं नृपो वीक्ष्यावक् कस्य सुताऽसि भो ! ।
कन्याऽऽहास्याः सुता नास्मि छलाच्च जगृहेऽनया ॥२१५॥
नास्मिन् पुरे मनुष्याणां दीनानां दुःखिनामपि ।
रक्षिता कोऽपि पुरुषो विद्यते न मनोहरः ॥२१६॥
राजाऽपि तादृशो नास्ति दीनानाथादिपालकः ।
कृत्याकृत्ये च न कदा पश्यति स्म मनागपि ॥२१७॥ यतः—
"दुर्बलानामनाथानां बालवृद्धतपस्विनाम् ।
अन्यायैः परिभूतानां सर्वेषां पार्थिवो गुरुः ॥२१८॥
राजा प्राह कथं वक्षि बालिके ! ईदृशं वचः ।
न्यायमार्गेण पृथ्वीं पालयामि निरन्तरम् ॥२१९॥
कन्या प्राह प्रधानोऽयं न्यायमार्गोऽत्र साम्प्रतम् ।
भवता क्रियते चारुः कृत्याकृत्याविचारतः ॥२२०॥
राजा प्रोवाच काऽसि त्वं कस्य पुत्री कुतोऽगमत् (मः) ।
कन्याऽवग् बहुजल्पेन मम नास्ति प्रयोजनम् ॥२२१॥

येनात्र नगरे नीता तामलिप्त्या पुरोऽहकम् ।
तं पुरुषं विहायान्यं वरिष्यामि न कर्हिचित् ॥२२२॥
राजा जगौ स कुत्रास्ति गतो वा कुत्र साम्प्रतम् ।
कन्या प्राह पुरेऽत्रागात् दृश्यते न च कुत्रचित् ॥२२३॥
राजा प्राह किमात्मानं त्वं भस्मीकुरुषे मुधा ।
जीवन् नरो यतो भूरिभद्राणि लभतेऽचिरात् ॥२२४॥
एतेषु पौरलोकेषूपलक्ष्य पुरुषं निजम् ।
अङ्गीकुरुष्व बाले ! त्वं यथारुचि सदाशये ! ॥२२५॥
आकर्ण्यतद्वचो भूमीपतेः कन्या प्रमोदिता ।
द्रष्टुं निजेप्सितं कान्तं ददौ लोकेषु लोचने ॥२२६॥
इतो विक्रममार्तण्डो लात्वा भक्तं पुराद्बहिः ।
आगतो वनितां तां चादृष्ट्वा चिन्तितवानिदम् ॥२२७॥
किं करोमि क्व गच्छामि कस्याग्रे च वदाम्यहम् ।
आनीताऽपि च मञ्जूषा गतेदानीं तया सह ॥२२८॥

दध्यौ च कातरा एवं चिन्तयन्ति जना हृदि ।
साहसं क्रियते पुंसा यद्भाव्यं तद्भविष्यति ॥२२९॥ यतः—
"यद्भाव्यं तद्भवत्येव नालिकेरफलाम्बुवत् ।
गन्तव्यं गतमेव स्याद् गजभुक्तकपित्थवत्" ॥२३०॥
दर्शं दर्शं बहिः पुर्यां विक्रमार्कः पुरान्तरे ।
मिलितेषु सतीं द्रष्टुं लोकेषु समुपेयिवान् ॥२३१॥
पश्यन्ती मिलितान् लोकान् क्रमादालोक्य तं नरम् ।
प्राह सैष ममाभीष्टः पुरुषो विद्यते नृप! ॥२३२॥
नृपतिः संमुखं पश्यन्नुपलक्ष्य च विक्रमम् ।
ननाम भूयसीभक्त्या विक्रमार्कपदाम्बुजम् ॥२३३॥
विक्रमार्को जगौ भूप! न्याय ईदृक् पुरे तव ।
न शिष्टाशिष्टयोर्येन परीक्षा क्रियते त्वया ॥२३४॥
अस्या एव स्त्रियाः काष्ठभिक्षायै जल्पितं च यत् ।
सिंहः प्राह मया मौढ्यात्परीक्षा न कृताऽधुना ॥२३५॥

मया स्वामिन् कृताऽवज्ञा भृशं तव दुरात्मना ।
क्षम्यतामिति भूपांह्र्योः पतितः सिंहसेवकः ॥२३६॥
विक्रमार्को जगौ भूप! नापराधो मनाक् तव ।
अज्ञानस्यापराधोऽयं न दुःखं क्रियते ततः ॥२३७॥
स्वकार्यार्थं गतस्तामलिप्त्यां पुर्यामहं पुरा ।
आनैषं कन्यकां पेटां रत्नराशिभृतां पुनः ॥२३८॥
ज्ञातेऽथ सर्ववृत्तान्ते सिंहो विक्रमभूपतेः ।
पाणिग्रहोत्सवं कन्यां कारयामास विस्तरात् ॥२३९॥
वेश्याया अभयं दत्त्वा पेटामानीय भूपतिः ।
लक्ष्मीवतीप्रियायुक्तोऽचालीत् स्वीयपुरीं प्रति ॥२४०॥यतः—
"अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां च वसुधैव कुटुम्बकम् ॥२४१॥
कुसुमान्यञ्जलिस्थानि वासयन्ति करद्वयम् ।
प्रायः सुमनसां वृत्तिर्वामदक्षिणयोः समा" ॥२४२॥

सिंहं सत्कृत्य भूपालो मार्गे विसृज्य विक्रमः ।
उज्जयिनीपुरोद्याने आजगाम मनोरमे ॥२४३॥
महेन महता भूपो निजावासं समीयिवान् ।
तस्यै पत्न्यै महद्गेहं दत्तं लक्ष्मीसमन्वितम् ॥२४४॥
आकार्य नागदमनीं दत्त्वा पेटां जगौ नृपः ।
तवादेशः कृतश्छत्रं कुरुष्व पञ्चदण्डकम् ॥२४५॥
प्राह नागदमा नैवं छत्रं निष्पाद्यते मया ।
मणिभिर्मौक्तिकैरेभिर्भासुरद्युतिभिर्नृप ! ॥२४६॥
पञ्चदण्डमये छत्रे जालकाली भविष्यति ।
कुरु द्वितीयमादेशं ततश्छत्रं च जायते ॥२४७॥
स विक्रमादित्यभूपोऽवग् दुष्करं सुकरं पुनः ।
कार्यं गच्छे ! वदेदानीं करिष्येऽहं यतोऽचिरात् ॥२४८॥

इति रत्नपेटिकाऽऽनयनसम्बन्धः ।

नागदमन्यवग् वर्ये श्रीसोपारकपत्तने ।
सोमशर्माह्वविप्रस्य नाम्नोमादे प्रिया प्रिया ॥२४९॥
गत्वा तत्र पुरे तस्या मत्वा चरितमात्मना ।
आगच्छेति तया प्रोक्तोऽचालीद् विक्रमभानुमान् ॥२५०॥
क्रामन् भूमिं गतः सोपारकपत्तनसिमनि ।
पश्यति स्म वरारामप्रासादान् भूरिशो नृपः ॥२५१॥
चम्पकाशोकपुन्नागमाकन्दार्जुनवञ्जुलैः ।
श्रीफलीकदलीराजादननारङ्गपादपैः ॥२५२॥
नानाद्रुमलताकीर्णैर्नानापुष्पोपशोभितैः ।
ह्रदैश्च विविधैः सारपानीयपूरपूरितैः ॥२५३॥
हंसकारण्डवाकीर्णैश्चक्रवाकालिभासुरैः ।
पक्षिभिर्विविधाकारैरनेकैर्मधुरस्वरैः ॥२५४॥
अतिस्वच्छपयःपूरैः सप्तशतसरोवरैः ।
सोपारकपुरं भाति ऋषभार्हद्गृहान्वितम् ॥२५५॥
[चतुर्भिः कलापकम्]

श्रीशत्रुञ्जयतीर्थस्य यत्रासीत् तलहट्टिका ।
तस्याः किमुच्यते पुर्या माहात्म्यं मूढबुद्धिभिः ॥२५६॥
यस्या भूस्पर्शतो मर्त्यामर्त्याद्यनेकजन्तवः ।
अपवर्गपदं सद्यो लभन्ते नात्र संशयः ॥२५७॥

पश्यन्नेवं पुरीशोभां युगादिजिनसद्मनि ।
गत्वा श्रीजीवितस्वामियुगादिजिनपुंगवम् ॥२५८॥
वासंतीमाधवीजातीमुचुकुन्दजपासुमैः ।
अभ्यर्च्य स्तवनै र्हृद्यैः स्तोतुमेवं प्रचक्रमे ॥ [युग्मम्] तथाहि—
सुरासुरमहीनाथमौलिमालानतक्रमम् ।
श्रीसोपारकभूनारीभूषणमृषभं स्तुवे ॥२६०॥

विभो ! त्वत्पदराजीव ये सेवन्ते जना लयात् ।
लभन्ते परमानन्दमकरन्दं द्रुतं च ते ॥२६१॥
तनोषि त्वं विभो ! यस्य मानसे वासमर्यम ! ।
गच्छन्ति दूरतस्तेषां पापान्धतमसानि च ॥२६२॥

निरीक्ष्य त्वन्मुखं स्वामिन् ! सुरासुरसुखप्रदम् ।
कृतार्थोऽभवमद्याहं नाभिभूपालनन्दन ! ॥२६३॥
सुवर्णवर्णसंकाशदेहद्युतिभरप्रभो !
निजांहिसंनिधौ वासं देहि मे नाभिनन्दन ! ॥२६४॥

अनन्तसंसृतौ भ्रान्त्वा प्राप्य दुःखमनन्तशः ।
अद्य मया भवान् भाग्योदयात्प्राप्तोऽसि सर्ववित् ॥ इत्यादि ।
ततो देवार्चकं भूपः पृष्टवानिति सादरम् ।
विद्यते सदनं कुत्र सोमशर्मद्विजन्मनः ॥२६६॥
देवार्चको जगौ सोमशर्माणः सन्ति भूरिशः ।
राजाऽवग् विद्यते यस्य नाम्नोमादे प्रिया प्रिया ॥२६७॥

देवार्चको जगौ सोमशर्मा विद्याः श्रियं विना ।
छात्रान् त्रिषष्टिं भक्तेन स्वेन पाठयति स्फुटम् ॥२६८॥
सोमशर्मगृहं कस्मिन् पाटके विद्यते वद ।
देवार्चको जगौ भीमपाटकेऽस्ति मनोहरम् ॥२६९॥

सोमशर्मगृहस्थानं विज्ञाय विक्रमोऽचलत् ।
लेखिनीपट्टिकादीनि गृहीत्वा छात्ररूपभृत् ॥२७०॥

विद्याबलान्निजं रूपं हायनाष्टादशानुगम् ।
कृत्वा श्रीविक्रमादित्यः पुरीशोभां निरीक्षते ॥२७१॥

सोमशर्मद्विजोपान्ते गत्वा प्रणतिपूर्वकम् ।
विक्रमार्कः स्थितो यावत्तावत्पृष्टो द्विजन्मना ॥२७२॥

कस्त्वं किमर्थमायातः छात्रोऽवक् तव कीर्तनम् ।
श्रुत्वाऽत्र भवतः पार्श्वे पठनाय समागमम् ॥२७३॥

विप्रः प्राह पठ स्वैरं विना द्रव्यं ममान्तिके ।
उमादेचरितं ज्ञातुं तस्थौ विक्रमछात्रकः ॥२७४॥

शुश्रूषां कुर्वती पत्युः सदा कोमलभाषिणी ।
नीरङ्गीछादितास्याब्जा विप्रभार्याऽवतिष्ठते ॥२७५॥

विलोकयन्नपि छात्र उमादेचरितं सदा ।
नीरङ्गीछादितास्यत्वान्न जानाति स तन्मनः ॥२७६॥ यतः—

लभ्यते जलधेः पारं गण्यते भगणं पुनः ।
न प्राप्यते पुनर्नार्याः कृतदम्भस्य कोविदैः ॥२७७॥

छात्रैः सार्धं पठन् विद्यां विक्रमछात्रकोऽन्यदा ।
उमादेचरितं ज्ञातुं तस्थौ यावद् दिनात्यये ॥२७८॥

प्रहरानन्तरं रात्रौ सर्वेषु लेखशालिषु ।
सपण्डितेषु सुप्तेषूमादेवी दण्डमाददौ ॥२७९॥

उत्थाय विक्रमश्छात्रं(त्रः) शनैरेकत्र पार्श्वतः ।
स्थितस्तच्चरितं ज्ञातुं सम्यग् निश्चलविग्रहः ॥२८०॥

भ्रामयित्वा त्रिभिर्वारं दण्डकं पत्युराह्वयम् ।
गृह्णती शयनस्यान्ते जघान द्विजगेहिनी ॥२८१॥

हुंकारं कुर्वती गेहाद्बहिर्निर्गत्य तत्क्षणात् ।
दण्डकेन त्रिभिर्वारं जघानामलिकातरुम् ॥२८२॥

अधिरुह्य तरुं क्वापि हुंकारं कुर्वती गता ।
क्षणेन पुनरायाता वृक्षारूढद्विजप्रिया ॥२८३॥

भ्रामयित्वा त्रिभिर्वारं पत्युरूर्ध्वं च दण्डकम् ।
उन्मादेवी तदा पूर्वस्थाने सुष्वाप तत्क्षणम् ॥२८४॥
एतत्सर्वं नृपो दृष्ट्वा दधानः कौतुकं हृदि ।
सुप्त्वा प्रातः पुनः शास्त्रं पपाठ पूर्ववत्तदा ॥२८५॥
द्वितीयदिवसे राजोमादेव्याः पूर्वतो निशि ।
आरुह्य पादपं तस्थौ प्रच्छन्नं मुदिताशयः ॥२८६॥
उन्मादेवी तदा सर्वं दण्डकभ्रामणादिकम्
कार्यं कृत्वाऽऽम्लिकारूढा चचाल दक्षिणां दिशम् ॥२८७॥
शैलसरिद्वनादीनि लङ्घयन्ती द्विजप्रिया ।
ययौ जम्बूनदद्वीपे नानावनविराजिते ॥२८८॥
संस्थाप्य पादपं भूमावुत्तीर्य तरुतस्तदा ।
निर्जरीभवने देवीं नन्तुं मध्ये समागमत् ॥२८९॥
रहो वृत्त्या नृपस्तस्याः पृष्ठौ गत्वा सुरीगृहे ।
वेतालविहितादृश्यरूपस्तस्थौ समाहितः ॥२९०॥

सीकोतर्या महीपीठे चतुःषष्टिमितास्तदा ।
योगिन्यश्च द्विपञ्चाशत् क्षेत्रपालाः समाययुः ॥२९१॥
स्वस्वस्थानात्तदा शीघ्रं तस्मिन् दैवतसद्मनि ।
एवंविधा द्विपञ्चाशत्क्षेत्रपालाः समाययुः ॥२९२॥
एकपादो द्विपादश्च त्रिपादः पञ्चपादकः ।
मेघनादः खरस्वानः विकटः सङ्कटो घटः ॥२९३॥
रौद्रो भीमो जगत्क्षोभकारकैकल्लपादकः ।
वीरः शूरो महावीरो दुन्दुभिर्दुर्दुरोन्दुरौ ॥२९४॥
कलाकेलिः कलरवो भीष्मरूपो गदाधरः ।
चण्डो दण्डधरो धीरो भीमसेनो भयंकरः ॥२९५॥
रक्ताक्षो विकटमुखो निम्ननासो महाननः ।
इत्यादयो द्विपञ्चाशत्क्षेत्रपालाः समाययुः ॥२९६॥
चण्डिका दण्डिका देवदमनी बभ्रुनासिका ।
रक्ताक्षा कूटजल्पाका जगत्क्षोभकरा पुनः ॥२९७॥

शूर्पकर्णा खराकारा कमला कलिकारिका ।
हंसिका जयिका हंसी वंशिका वेणुका तथा ॥२९८॥
क्रूरिका दंभिका काली महाकाली प्रचण्डिका ।
मोहिका चन्द्रिका वीरी वह्निका जीविका हली ॥२९९॥

कुहुका केलिका काकी कूणिका तूणिकाऽपि च ।
इत्यादयश्चतुःषष्टियोगिन्यश्च समाययुः ॥३००॥
सिद्धसीकोतरीक्षेत्रपालकेभ्यः पृथक् पृथक् ।
उमादेवीं व्यधात् तेभ्यः प्रणामं भक्तिपूर्वकम् ॥३०१॥
सीकोतर्यादयः प्रोचुरुमादेवि! सभामिमाम् ।
अलङ्कुरु ततस्तत्र विप्रगेहिन्युपाविशत् ॥३०२॥

उमादेवीं प्रति प्राह क्षेत्रपोऽरुणलोचनः ।
मत्तः सर्वरसं दण्डं गृहीत्वाऽऽगा मनोरमम् ॥३०३॥
पूर्वोक्तमर्चनं किं न प्रयच्छसि द्विजप्रिये! ।
एवमेवं प्रजल्पन्ती त्वं वाहयसि नः सदा ॥३०४॥

उमादेवी जगावद्य यावत्सामग्रिका मम ।
सम्पूर्णा नाभवत्सैव जातेदानीं स्वभाग्यतः ॥३०५॥
द्वात्रिंशल्लक्षणधराः साम्प्रतं लेखशालिकाः ।
चतुःषष्टिर्लसद्रूपाः पतिरेकः पुनर्मम ॥३०६॥

एकैकं छात्रकं योगिनीभ्यो दास्ये पृथक् पृथक् ।
पतिं तुभ्यं च दास्यामि मा कोपं कुरु साम्प्रतम् ॥३०७॥
बलिदानविधिं व्यक्त्या प्रोच्यतां क्षेत्रपाधुना ।
क्षेत्रपालो जगौ कृष्णचतुर्दश्यां रहो निशि ॥३०८॥
मण्डलानि चतुःषष्टिर्योग्यानि लेखशालिनाम् ।
कर्तव्यानि त्वया चैकं पत्युर्योग्यं च मण्डलम् ॥३०९॥

पञ्चषष्टिमिताः कार्याः पङ्क्का विपुलास्त्वया ।
उपवेशाय तेषां च पतियुग्लेखशालिनाम् ॥३१०॥
आनेतव्यान्यमत्राणि पञ्चषष्टिस्त्वयाऽनघे! ।
तेषां भोक्तुं च कर्तव्यास्तावन्तः पूपकास्त्वया ॥३११॥

कणवीरस्रजः पञ्चषष्टिः कार्या मनोरमाः ।
क्षेप्तुं तेषां तदा कण्ठकन्दले लेखशालिनाम् ॥३१२॥
तिलकान्यलिके तेषां कर्तव्यानि पृथक् पृथक् ।
रक्षागुणान् शये बद्ध्वा क्ष(क्षि)पेस्त्वमक्षतानिव ॥३१३॥
एतत्सर्वं त्वया कृत्वा चारिणः कल्पना यदा ।
करिष्यते तदाऽस्माभिर्भक्ष्यन्ते ते द्विजादयः ॥३१४॥
उमादेवी जगौ क्षेत्रपाल ! मायां विधाय च ।
पत्युः पार्श्वादहं सर्वां सामग्रीमादितो गृहे ॥३१५॥
कारयित्वाऽखिलं सर्वं करिष्यामि तवोदितम् ।
आकर्ण्यैतन्नृपः खिन्नश्चकार साहसं पुनः ॥३१६॥
किं करिष्यत्यसौ विप्रप्रियाऽस्माकं वराकिका ।
अहं तथा करिष्यामि यथा स्यान्नः सुखं खलु ॥३१७॥ यतः—
"उद्यमं साहसं धैर्यं बलं बुद्धिः पराक्रमम् ।
षडेते यस्य विद्यन्ते तस्य दैवः पराङ्मुखः ॥३१८॥
आरोहतु गिरिशिखरं समुद्रमुल्लङ्घ्य यातु पातालम् ।
विधिलिखिताक्षरमालं फलति कपालं न भूपालः ॥३१९॥
उदयति यदि भानुः पश्चिमायां दिशायां,
विकसति यदि पद्मं पर्वताग्रे शिलायाम् ।
प्रचलति यदि मेरुः शीततां याति वह्नि-
स्तदपि न चलतीयं भाविनी कर्मरेखा" ॥३२०॥
ध्यात्वेति विक्रमादित्यो दृष्ट्वा देवीनिकेतनम् ।
आरोढुं पादपं पूर्वं निस्ससार ततो द्रुतम् ॥३२१॥
तस्याः प्रथमतो वृक्षमारुरोह महीपतिः ।
उमादेवी ततः सद्यश्चटिता पादपे तदा ॥३२२॥
उमादेवी क्रमाद् व्योम लङ्घयन्ती विशंकटम् ।
पूर्ववत् स्थानके स्वस्याभ्येत्य सुप्ता समाहिता ॥३२३॥
उत्तीर्य पादपात्सद्यश्छात्रश्च विक्रमाभिधः ।
उपायं जीविते ध्यायन् सुप्तः स्वस्थानके तदा ॥३२४॥

दध्यौ श्रीविक्रमो नागदमन्योक्तं च यत्पुनः ।
तत्सर्वं चरितं सम्यग् द्रक्षाम्यस्या अहं रहः ॥३२५॥
पण्डितेन समं प्रातर्मलोत्सर्गकृते बहिः ।
गतः प्राह नृपच्छात्रः सोमशर्मद्विजं प्रति ॥३२६॥
केषु केषु च शास्त्रेषु परिचयोऽस्ति ते द्विज ! ।
विप्रः प्राहार्थतो भूरिशास्त्राणि वेद्म्यहं स्फुटम् ॥३२७॥
लक्षणालङ्कृती छन्दो नाटकं गणितं पुनः ।
काव्यतर्कौ च धर्मादिशास्त्रं जानाम्यहं बहु ॥३२८॥
विक्रमः प्राह यद्येवं तर्हि वेत्सि निजां मृतिम् ।
सोमशर्मा जगौ नैव छात्र ! जानामि तामहम् ॥३२९॥
विक्रमार्को जगौ तर्हि नैव जानासि किञ्चन ।
यतो न ज्ञायते मृत्युरात्मनस्तेन किं तव ॥३३०॥
सोमशर्मा जगौ छात्र ! मृत्युप्रकरणं त्वया ।
सम्यग् ज्ञातं च किं सर्वं सद्गुरूणां प्रसादतः ॥३३१॥

विक्रमार्को जगौ मित्र ! जानामि मरणं पुनः ।
देवगुरुप्रसादेन किञ्चित्पण्डितकोविद ! ॥३३२॥
सोमशर्मा जगौ छात्र ! मृत्युं मे कथयाचिरात् ।
छात्रः प्राह ततः कृष्णचतुर्दश्यां मृतिस्तव ॥३३३॥
मृत्युर्भावी चतुःषष्ट्या त्वयाऽ(तवा)मा लेखशालिभिः ।
उमादेव्याः प्रयोगेण योगिनीकल्पनादिभिः ॥३३४॥
आमूलचूलतो द्वीपगमं क्षेत्रपजल्पनम् ।
यथाश्रुतं महीपालोऽचीकथच्च द्विजन्मनः ॥३३५॥
श्रुत्वैतद्वाडवो बिभ्यच्छात्रं प्रति जगावदः ।
ईदृशात्सङ्कटाच्छात्र ! जीवितं रक्ष्यते कथम् ॥३३६॥
छात्रः प्राह न भेतव्यं प्रपञ्चोऽत्र प्रपञ्च्यते ।
कर्मतः कातरा नैव बुद्ध्यन्ति कर्हिचिज्जनाः ॥३३७॥
यद्यत्कर्म कृतं पूर्वमशुभं वा शुभं खलु ।
तत्तदेव हि भोक्तव्यमवश्यैनैव निश्चितम् ॥३३८॥

ज्ञातुं पत्न्याश्चरित्रं ते वाञ्छाऽस्ति यदि वाडव ! ।
तदा तस्य तरोर्मध्ये छन्नं तिष्ठ दिनात्यये ॥३३९॥
छात्रस्यैतद्वचः श्रुत्वा विप्रोऽभ्येत्य गृहे जगौ ।
पत्नि ! गच्छामि चन्द्राह्वग्रामे लक्ष्मीकृतेऽधुना ॥३४०॥
एष्यामि प्रातरित्येवं प्रोक्त्वा विप्रस्तदा द्रुतम् ।
सायं रहस्तरोमध्ये गत्वा तस्थौ दरोज्झितः ॥३४१॥
छात्रोक्तं निखिलं वृत्तं पत्न्या दृष्टं द्विजन्मना ।
स्थित्वा क्वचित्प्रगे गेहमभ्यगाद्वाडवः पुनः ॥३४२॥
विप्रः प्राह मया छात्र ! त्वदुक्तं वीक्षितं निशि ।
दुष्करं दृश्यते नोऽत्र जीवितं साम्प्रतं किल ॥३४३॥
छात्रः प्राह भवानत्र त्वं धीरो भव साम्प्रतम् ।
कुरुष्व साहसं यस्माज्जयश्रीर्लभ्यते त्वया ॥३४४॥
अस्यां कृष्णचतुर्दश्यां करिष्ये यदहं द्विज ! ।
तत्तद् विप्र ! तदा छात्रैः सार्धं सर्वं दिनात्यये ॥३४५॥

कर्तव्यं भवता शङ्कारहितेन समं मया ।
यतो महाविषं शङ्का कथ्यते कोविदोत्तमैः ॥३४६॥
एषा यत्कुरुते तत्तत्करोतु गृहिणी तव ।
एवं पृथक् पृथक् तेषां छात्राणां कथितं पुरः ॥३४७॥
उमादेवी जगौ कान्तं प्रत्येवमन्यदा प्रगे ।
स्वामिन् ! स्वप्ने पुरो मे यत्कुलदेव्येति जल्पितम् ॥३४८॥
कान्तं भोजयसि छात्रैश्चतुःषष्ट्या समं न चेत् ।
बलिप्रधानविधिना चतुर्दशीदिने स्फुटम् ॥३४९॥
तदा तेऽखिलछात्राणां प्रत्युश्च मरणं भवेत् ।
विप्रोऽवक् क्रियतां पत्नि ! छात्राणां भोजनादिकम् ॥३५०॥
प्राप्ते तस्मिन् दिने यद्यदानयति द्विजप्रिया ।
तत्तद्विप्रोऽखिलं वस्तु पत्न्या अर्पयति स्फुटम् ॥३५१॥
पञ्चषष्ट्यां विशिष्टेषु मण्डलेषु नृपादिकान् ।
निवेश्य क्षेत्रपप्रोक्तविधिना विप्रगेहिनी ॥३५२॥

यावद्विमुच्य भूपीठे दण्डं सर्वरसाभिधम्।
लात्वा नीरं ददात्यर्घं तावदभ्युत्थितो नृपः ॥३५३॥[युग्मम्]
लात्वा सर्वरसं दण्डं लेखशालिकसंयुतः।
पलायनं नृपश्चक्रे तत्पृष्ठौ पण्डितोऽपि च ॥३५४॥

छात्रपण्डितयुग्भूमिपतेः पृष्ठौ द्विजप्रिया।
गत्वा कियन्महीं पश्चाद्वलले स्वगृहं प्रति ॥३५५॥
छात्रपण्डितयुग्भूपो यानमारुह्य तत्क्षणात्।
श्रीकटाहाभिधे द्वीपे जगाम निर्भयस्तदा ॥३५६॥
तत्क्षणोद्वसितस्य श्रीपुरस्य काननाद् वहिः।
द्विजं छात्रयुतं मुक्त्वा पुरीमध्ये नृपोऽगमत् ॥३५७॥

शून्ये पुरेऽट्टराजीषु नानावस्तुसमुच्चयम्।
पश्यन् भूमीपतेः सद्म जगाम निर्भयो नृपः ॥३५८॥ यतः—
"नरोत्तमा हि कुत्रापि व्रजन्तो गिरिगह्वरे।
न बिभ्यन्ति मनाक् सिंहा इव सारबलोत्कटाः" ॥३५९॥

क्रमात्क्रामन् भुवं भूपावासस्य सप्तमावनौ।
गतो ददर्श भूपालो दिव्यामेकां च कन्यकाम् ॥३६०॥
दध्यौ महीपतिर्नारी किमत्रैकाकिनी स्थिता।
अथवाऽत्र समानीता राक्षसेन कुतः पुरात् ॥३६१॥

दिव्यरूपं सदाकारमागच्छन्तं महीपतिम्।
निरीक्ष्य कन्यका हृष्टा चकोरीव निशाकरम् ॥३६२॥
अभ्युत्थानादिकं कृत्वा कन्या प्राहेति तं प्रति।
पश्चाद् व्रज नरश्रेष्ठ! विघ्नमस्ति महत्तव ॥३६३॥
भूपः प्रोवाच भो कन्ये! ब्रूहि किं विघ्नमस्ति नः।
कन्ययोक्तं शृणु प्रष्ठ! पुरेऽस्मिन् श्रीपुराभिधे ॥२६४॥

विजयाह्वो नृपो न्यायपरोऽभूद्विजया प्रिया।
चन्द्रावती सुता तस्य जाताऽहमीदृशी क्रमात् ॥३६५॥
दैत्येनोद्वासितं ह्येतत्पुरं भीमेन कोपतः।
लोका दिशो दिशं सर्वे प्रययुर्जीवितैषिणः ॥३६६॥

मृत्युभीताः पुनः किञ्चिद्वस्तु लाला ययुस्तदा।
एकाऽहं रक्षिता तेन पाणिग्रहकृते पुनः ॥३६७॥
छुट्टनं विद्यते तस्माद्राक्षसाद् दुःशकं मम।
यतः स राक्षसो दुष्टो दुर्ग्राह्योऽस्ति तनूमताम् ॥३६८॥ यतः—
"वृश्चिकानां भुजङ्गानां दुर्जनानां च वेधसा।
विभज्य नियतं न्यस्तं विषं पुच्छे मुखे हृदि ॥३६९॥
छुट्टनं विद्यते तस्माद्राक्षसाद् दुःशकं मम।
विक्रमार्को जगौ कन्ये मा भैषीः साहसं कुरु ॥३७०॥
अप्रार्थितानि दुःखानि यथैवायान्ति देहिनम्।
सुखान्यपि तथा मन्ये दैन्यमत्रातिरिच्यते ॥३७१॥
जीअं मरणेण समं उप्पज्जइ जुव्वणं सह जराए।
रिद्धी वि विणाससहिआ हरिसविसाओ न कायव्वो" ॥३७२॥
तथाऽहं कन्यके! कार्यं करिष्यामि च निर्भयः।
यथा स राक्षसो दुष्टो मोक्ष्यति त्वां क्षणादपि ॥३७३॥

कथं वध्यो भवेद्दैत्य इति पृष्टा महीभुजा।
चन्द्रावती जगौ चैष दुःशको मरुतामपि ॥३७४॥
देवतावसरे मुक्त्वा दण्डं वज्राभिधं भुवि।
शुचीभूयाथ देवस्य पुष्पैः पूजां करोत्ययम् ॥३७५॥
न जल्पति मनाक् केन जल्पितोऽप्यर्चनां करन्।
ध्यानाचालयितुं शक्यो नैवास्ति राक्षसः सुरैः ॥३७६॥
तस्मिन्नवसरे कोऽपि नरो दैत्यस्य मस्तके।
प्रहारं ददते बाढं तदा मृत्युर्भविष्यति ॥३७७॥
कदाचिदुत्थितो यक्षः कृत्वा देवार्चनां द्रुतम्।
शक्रेणापि न जीयेत तदा चान्यैर्जनैरपि ॥३७८॥
एवं चेद्राक्षसो देवपूजां च कुरुते दृढम्।
दण्डं मोक्ष्यति क्षोण्यां च नौ सिद्धमीहितं तदा ॥३७९॥
कन्यका प्राह भो भूपाधुना रक्षः समेष्यति।
प्रच्छन्नीभूय तेन त्वं तिष्ठ शिष्टाशय! क्षणम् ॥३८०॥

भवत्या न हि भेतव्यमित्युक्त्वा विक्रमार्यमा।
रहःस्थाने स्थितः सद्यः कन्यकाकथिते तदा ॥३८१॥
क्षणेन कौणपस्तत्रागतः प्राहेति तां प्रति।
गन्धोऽधुना मनुष्यस्य समायाति कुतो वद ॥३८२॥
कन्या प्राह विना मां न कोऽप्यस्ति मानुषः परः।
मांसेच्छा विद्यते ते चेत्तदा मां खादयाधुना ॥३८३॥
करिष्यति नरः किं मे विचिन्त्येत्यसुरस्तदा।
दण्डं मुक्त्वाऽवनौ देवपूजां कर्तुं प्रवर्तितः ॥३८४॥
इतो विक्रममार्तण्डो प्रकटीभूय तत्क्षणात्।
लात्वा दण्डं जगौ रक्षो भक्त्या देवार्चनं कुरु ॥३८५॥
यतोऽहं कालरूपस्त्वां हन्तुमत्र समागमम्।
इयं ते चरमा देवपूजा सम्प्रति विद्यते ॥३८६॥
युद्ध्यमानो नरो देवो दानवो वाऽथ राक्षसः।
आगच्छन् संमुखं क्रूरो हन्तव्यो नापरो मया ॥३८७॥

श्रुत्वैतद्वचनं यक्षो दध्यौ कोऽयं नरोत्तमः।
मम यः पुरतः स्फूर्तिमधुनैव प्रजल्पति ॥३८८॥
ध्यायन्नेवं तदा यक्षः समाप्य देवपूजनम्।
प्रोवाच रे कथं मूर्ख! वदेवं पुरतो मम ॥३८९॥
नाहं किं भवता दृष्टः श्रुतो वा राक्षसः पुरा।
येन त्वया समारब्धमविमृश्येदमञ्जसा ॥३९०॥
मुधाऽऽत्मानं कथं जल्पन्नेवं त्वं पातयिष्यसि।
अनर्थे साम्प्रतं सद्यो गच्छ स्थानं निजं नर! ॥३९१॥
अनेके दानवा देवा मानवाश्च पुरा जिताः।
अधुना त्वं कियन्मात्रः पुरतो मम मानव! ॥३९२॥
विक्रमार्को जगौ रे रे राक्षसाधम! सम्प्रति।
एवं जल्पेन किं मे स्याद्भवतो मानसे भयम् ॥३९३॥
खर्परस्तस्करः पूर्वं दुर्ग्राह्यो मरुतामपि।
मयैव क्षणमात्रेण प्रेपितो यममन्दिरे ॥३९४॥

अग्निवेनालको दैत्यो दुःशको मरुतामपि ।
मयैव क्षणमात्रेण सेवको विहितो निजः ॥३९५॥
अन्येऽपि राक्षसा दैत्या दुर्द्धरा अपि भूरिशः ।
हता वशीकृताः केचिन्मया विक्रमभानुना ॥३९६॥
यत् त्वया विहितं पापं पुरोद्वसनकृत्यतः ।
प्रायश्चित्तं ददाम्येष तस्याहं विक्रमार्यमा ॥३९७॥
अहं किं भवता भूमौ भ्रमता विक्रमार्यमा ।
न दृष्टो न श्रुतो रक्षः ! कदाचित्कुत्रचित् स्फुटम् ॥३९८॥
विद्यते यदि ते जीवितव्येहा मानसेऽधुना ।
तदेमां कन्यकां मुक्त्वा गच्छ स्वस्थानके द्रुतम् ॥३९९॥
श्रुत्वैतद्वचनं तस्य रुपाऽरुणोक्षि(णाक्ष)राक्षसः ।
क्रोशत्रयमितं देहं चकार विकटाकृतिः ॥४००॥
कम्पयन्नवनिं पद्भ्यां भापयन् देवदानवान् ।
यक्षो महीपतिं हन्तुं दधावे संमुखं ततः ॥४०१॥

अग्निवेतालसान्निध्याद् द्विगुणीभूय भूपतिः ।
राक्षसस्कन्धमारूढो बभूवारुणलोचनः ॥४०२॥
दण्डेन ताडितो भूमिभुजा स राक्षसो दृढम् ।
मुक्तः प्राणैः क्षणाद् दुष्टां गतिमाप दुराशयः ॥४०३॥
"अनाप्यं भोज्यमप्राज्यं विप्रयोगः प्रियैः सह ।
अप्रियैः सम्प्रयोगश्च सर्वं पापविजृम्भितम् ॥४०४॥
अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमाप्यते ।
त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः ॥४०५॥
कुमन्त्रैः पच्यते राजा फलं कालेन पच्यते ।
जठराग्निः (ग्नेः) पच्यते धान्यं पापी पापेन पच्यते ॥४०६॥
दृष्ट्वैतत्कन्यका दध्यौ किमयं निर्जरोऽनघः ।
कन्दर्पः किं समायातो रक्षितुं मां नृपोऽथवा ॥४०७॥
रक्षसोऽङ्गं च वेतालो जग्ध्वा तृप्तोऽभवत्तदा ।
हृष्टा चन्द्रवती तस्य नरस्येक्ष्य पराक्रमम् ॥४०८॥

ततो महीपतिः प्राह वह्निवेताल ! साम्प्रतम् ।
आनीय निखिलं लोकं नगरं वास्यतामिदम् ॥४०९॥
नगरस्यास्य भूपालं विजयं हेलया पुनः ।
आनयात्र पुरे राज्यं तस्मै सपदि दीयते ॥४१०॥
आदेशं नृपतेः प्राप्य वह्निवेतालको सुरः ।
आनेतुं नृपतिं लोकान् निखिलान् प्रययौ तदा ॥४११॥
आनीय विजयं भूपं लोकांश्च निखिलांस्तदा ।
नगरं वासितं वह्निवेतालेन नृपाज्ञया ॥४१२॥
विजयः प्राह कोऽसि त्वं कुतोऽत्रागतवान्वद ।
विक्रमोऽवक् तवात्रैव पृच्छया किं प्रयोजनम् ॥४१३॥
कारणादुपकारस्य विशिष्टजल्पनात्तदा ।
ज्ञातं विजयभूपेन कोऽप्युत्तमः पुमानसौ ॥४१४॥
आग्रहाद्विजयः क्ष्मापः सुतां चन्द्रवतीं तदा ।
सदुत्सवं ददौ हर्षाद्विक्रमार्कमहीभुजे ॥४१५॥

पण्डितप्रमुखाश्छात्राः पश्यन्तस्तमितस्ततः ।
पुरीमध्ये समायाता महीपतिनिकेतने ॥४१६॥
विक्रमं सप्रियं भूपकृतोपकृतिमद्भुतम् ।
विज्ञाय हृष्टचेतस्का नेमुस्तस्य पदाम्बुजम् ॥४१७॥
विक्रमार्को जगावग्निवेताल ! व्रज शीघ्रतः ।
उमादेव्या गतिं ज्ञात्वा कथयेह ममाग्रतः ॥४१८॥
ज्ञात्वा तस्यास्ततो वृत्तं जगावित्यग्निकोऽसुरः ।
योगिन्यः क्षेत्रपालाश्चोमादेवीमथसंस्तदा ॥४१९॥
पण्डिताद्यखिलच्छात्रैः चन्द्रवत्या च संयुतः ।
विसृज्य विजयक्षोणिपतिं विक्रमभानुमान् ॥४२०॥
अग्निवेतालसान्निध्याच्छ्रीसोपारकपत्तने ।
आगत्य पण्डितं छात्रान् मानयामास द्रव्यतः ॥ [युग्मम्]
गत्वा श्रीऋषभं देवं प्रासादे भक्तिपूर्वकम् ।
पूजयित्वा स्तवैः स्तुत्वा विक्रमार्कोऽभवत्सुखी ॥४२२॥

सोपारकपुरादेत्यावन्त्यां विक्रमभूपतिः ।
वज्राभिधसर्वरसदण्डयुग्मं मनोरमम् ॥४२३॥
दत्त्वा नागदमन्यै श्राक् प्राहेति स तृतीयकम् ।
कार्यं समादिशेदानीं मह्यं छत्रकृते पुनः ॥४२४॥

इति सर्वरसदण्ड—वज्रदण्डानयनसम्बन्धः ।

स्थापयित्वाऽऽत्मनः पार्श्वे यत्नाद्दण्डद्वयं तदा ।
प्रोवाच नागदमनी विक्रमार्कनृपं प्रति ॥४२५॥
मन्त्रीश्वरं पराभूय मतिसाराभिधं द्रुतम् ।
निर्वासय निजादेशाद् बहीस्तात् सकुटुम्बकम् ॥४२६॥
विक्रमार्कस्तदादेशं प्रतिपद्य तदीयकम् ।
निजावासं समेत्याशु तस्थौ मुदितमानसः ॥४२७॥
इतश्च मतिसारस्य मन्त्रिणस्तनयास्त्रयः ।
सोम—चन्द्र—धनाह्वाश्च बभूवुः क्रमतोऽनघाः ॥४२८॥
पाठिताः पण्डितोपान्ते तेऽप्यभूवन् विशारदाः ।
महेभ्यतनया वर्याः सोत्सवं परिणायिताः ॥४२९॥ यतः—

"विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनम् ,
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः ।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परं दैवतम् ,
विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं विद्याविहीनः पशुः" ॥

लघुसूनोर्वधूर्वेत्ति भाषां निखिलपक्षिणाम् ।
चतुरा श्वसुरश्वश्रूभक्तिकरणतत्परा ॥४३१॥
लभ्यते न विना भाग्यं सुतः सविनयोऽनघः ।
स्नुषा च चतुरा लक्ष्मीर्न्यायमार्गार्जिता पुनः ॥४३२॥
राज्ञ आदेशतः पूर्वं षण्मासान् मन्त्रिराड्वधूः ।
आवासस्योपरिष्टाच्च तस्थुषी दिवसात्यये ॥४३३॥
तदाऽकस्माच्छिवारावं निशम्य शक्रदिक्तटे ।
दध्यौ च मतिसारस्य श्रेष्ठिनः श्वसुरस्य मे ॥४३४॥
अपराधं विना भूपः षण्मासान्तेऽथ दास्यति ।
प्रवासं तेन चिन्त्येत मयोपायश्च साम्प्रतम् ॥४३५॥ यतः—

"अनागतं यः कुरुते स शोभते,
न शोभते यो न करोत्यनागतम्।
वने वसन्तस्य जराऽप्युपागता,
बिलस्य वाचा न कदापि निर्गता" ॥ तथाहि–

कस्मिंश्चिद्विपिने सिंहोऽलब्ध्वा भक्ष्यं बुभुक्षितः।
गत्वा गिरिगुहामध्ये दध्यावेवं तदा हृदि ॥४३७॥

रात्रावस्यां गुहायां च स्थास्यन्ति श्वापदा रहः।
तदाऽहं तान् द्रुतं जग्ध्वा भविष्याम्यशितंभवः ॥४३८॥

स्थातुं रात्रौ गुहामध्ये सायं च जम्बुकस्तदा।
आगच्छन् वीक्ष्य सिंहस्य पदान् दध्याविदं हृदि ॥४३९॥

नूनमस्यां गुहायां च भावी सिंहः स्थितः पुरा।
तेनात्रस्थो गुहायाश्चागतिं पृच्छामि सम्प्रति ॥४४०॥

विचिन्त्येति जगौ फेरुर्भो गुहे! वद साम्प्रतम्।
आगमिष्याम्यहं मध्ये न वेति जल्पतु द्रुतम् ॥४४१॥

फेरुशब्दं वहिः श्रुत्वा सिंहो दध्याविदं हृदि।
नाधुनेयं गुहा वक्ति तेनासौ नागमिष्यति ॥४४२॥

अहं प्रत्युत्तरं वच्मीति ध्यात्वा केसरी जगौ।
आगच्छागच्छ भो फेरो! गुहामध्येऽधुना द्रुतम् ॥४४३॥

आकर्ण्य सिंहशब्दं च नंष्ठाऽन्ये पशवो ययुः।
फेरंडश्च तदा श्लोकं पपाठेमं पुनः पुनः ॥४४४॥

अनागतं यः कुरुते [४३६]

ततो जिजीव फेरण्डो बुद्ध्या पशुरपि स्फुटम्।
अहमपि करिष्यामि तथोपायं च किञ्चन ॥४४५॥

ध्यात्वेति गोमयस्यान्ते रत्नमेकं प्रक्षिप्य सा।
छगणस्थापनं चक्रे हिताय प्रतिवासरम् ॥४४६॥

निषिद्धाऽपि कुटुम्बेन छगणस्थापनं वधूः।
करोति स्म यदा तत्र तदेति जहसुर्जनाः ॥४४७॥

इयं कूलवधूः स्वीयं कुलमेवोद्धरिष्यति।
आकर्ण्यैतत् स्नुषा सौवकार्यं नैव विमुञ्चति ॥४४८॥ यतः–

"सर्वथा स्वहितमाचरणीयं किं करिष्यति जनो बहुजल्पः ।
विद्यते स नहि कश्चिदुपायः सर्वलोकपरितोषकरो यः" ॥
यद्यहं कथयिष्यामि कस्याप्यग्रे स्वमानसम् ।
मन्यते श्वसुरः श्वश्रूर्नैवेदानीं मयोदितम् ॥४५०॥
ध्यात्वेत्यवगणय्यैव सर्वेषां वचनं तदा ।
स्नुषा तदा निजं कृत्यं न मुमोच मनागपि ॥४५१॥
बहवो मणयो बध्वा स्थापिताश्छगणान्तरे ।
अनादृत्य वचः सर्वं श्वसुरस्य जनस्य च ॥४५२॥
मतिसारं समाकार्य षण्मासान्ते नृपो जगौ ।
मह्यं त्वं लेख्यकं देहि नो चेद् दूरं व्रजाधुना ॥४५३॥
ददानं लेख्यकं मन्त्रिराजं कृत्वा छलं नृपः ।
पराभूय श्रियं लात्वा प्रवासं तस्य दत्तवान् ॥४५४॥
वस्त्रमात्रो ययौ मन्त्री श्लाघ्येयं मन्त्रिणो वधूः ।
गृहसारं समादाय निर्गता साम्प्रतं यतः ॥४५५॥

केचिद्वदन्त्यसौ धन्या कारणेनैव केनचित् ।
गृहीत्वा छगणकान्याशु निर्गता नगराद् बहिः ॥४५६॥
केचिद्वदन्ति तत्रैवं मन्त्रिणाऽनेन दुष्कृतम् ।
कृतं प्रजा घ्नता यत्तदुदयं समुपागतम् ॥४५७॥
केचिद्वदन्त्ययं शिष्टो मन्त्री सर्वसुखप्रदः ।
न ज्ञायते नृपः केन हेतुनेदं चकार च ॥४५८॥
केचिद्वदन्ति तत्रैवं मन्त्रिणाऽनेन कर्हिचित् ।
नेह पापं कृतं तेनागतं पूर्वभवार्जितम् ॥४५९॥ यतः—
"सुखदुःखानां कर्ता हर्ता च न कोऽपि कस्यचिज्जन्तोः ।
इति चिन्तय सद्बुद्ध्या पुरा कृतं भुज्यते कर्म" ॥४६०॥
केचित्प्रोचुर्जना नागदमन्या प्रेरितो नृपः ।
करोति शिष्टलोकानामप्येवं निर्दयोऽधुना ॥४६१॥
शृण्वन्नेवं पुरे वाचो लोकानां मन्त्रिराट् तदा ।
सकुटुम्बस्ततः पुर्या जगाम दूरनीवृति ॥४६२॥

क्रामन्क्रमान्महीं रत्नपुरोपान्ते कुटुम्बयुग् ।
गत्वा दध्यौ च निर्वाहः करिष्यते मया कथम् ? ॥४६३॥
मतिसारो नरं कंचित् पप्रच्छेति च सादरम् ।
किं पुरं को नृपोऽत्रास्ति पालयन् पृथिवीं नयात् ॥४६४॥
किंनामाऽस्य प्रिया पुत्रः किंनामाऽस्ति निगद्यताम् ।
किमाह्वया सुता चास्ति पुरेऽत्र मेदिनीपतेः ॥४६५॥
नरोऽवक् भूपती रत्नसेनो रत्नवती प्रिया ।
चन्द्राह्वस्तनयो विज्ञा पुत्री च विश्वलोचना ॥४६६॥
श्रुत्वैतन्मन्त्रिराड् लक्ष्मीमर्जयितुं तदाऽऽदरात् ।
उद्यमं कुरुते नैव निर्वाहो जायते मनाक् ॥४६७॥
"जीवन्तो मृतकाः पञ्च श्रूयन्ते किल भारते ।
दरिद्रो व्याधितो मूर्खः प्रवासी नित्यसेवकः" ॥४६८॥
बुभुक्षापीडिताः सर्वे मिथस्ते कुर्वते कलिम् ।
कुटुम्बं दुःखितं वीक्ष्य कलिं कुर्वाणमन्वहम् ॥४६९॥

मणिमेकं वधूर्लघ्वी निष्कास्य छगणात्तदा ।
निर्वाहाय ददौ सद्यः श्वसुराय रहोऽनघा ॥४७०॥
पत्युश्च ज्येष्ठयोरेकमेकं रत्नं ददौ वधूः ।
मतिसारादयो लात्वा रत्नानि दूरतो ययुः ॥४७१॥
स्वस्य ज्येष्ठादिकान् ज्ञात्वा गतान् दध्याविदं हृदि ।
गमिष्यामो वयं कालं श्वसुरादीन् विना कथम् ॥४७२॥
दत्तेऽपि च धने नष्टा यतस्ते श्वसुरादयः ।
तत्रात्मीयो न कोऽप्यस्ति सत्यामापदि देहिनाम् ॥४७३॥
अथवा विद्यते तेषां न हि दोषोऽस्ति किञ्चन ।
विपाकः कर्मणामेवास्माकं पूर्वभवार्जितः ॥४७४॥
यावद् दुष्टं न कर्मेदमस्माकं विलयं व्रजेत् ।
तावद्रूपपरावृत्तिं कृत्वा छन्नं स्थितिर्वरा ॥४७५॥
यतो हि विद्यते शीलं रक्षितुं दुष्करा स्थितिः ।
विना कान्तं मृगाक्षीणां सिद्धान्नस्यैव संततम् ॥४७६॥

विमृश्येति वधूर्लघ्वी तदा ज्येष्ठानिकायुता ।
गन्तुं पुरान्तरे सद्यः प्रस्थिता दिवसात्यये ॥४७७॥
गत्वा पुरान्तरे रत्नमेकं विक्रीय मूल्यतः ।
ताः पर्यालोच्य पुंवेषं शीलरक्षाकृते व्यधुः ॥४७८॥
भाटकेन गृहे वृद्धनार्या व्यधुः स्थितिं च ते ।
वृद्धापार्श्वाद्वधूर्धान्यं भोक्तुमानयते पुरात् ॥४७९॥
विधाय भोजनं सर्वे कुमारास्ते निरन्तरम् ।
तिष्ठन्ति सप्तमक्षोणिगवाक्षे तस्य सद्मनः ॥४८०॥
इतो वातायनस्थैक्ष्य रुल(द)न्तं श्वसुरं वधूः ।
वृद्धां प्रति जगावत्रानयामुं साम्प्रतं नरम् ॥४८१॥
वृद्धा गत्वाऽन्तिके तस्य जगावेवं नराधुना ।
आह्वयति कुमारस्त्वां गवाक्षस्थो मदालये ॥४८२॥
काष्ठभारयुतं नीत्वा वृद्धाऽगान्निजसद्मनि ।
वधूकुमारराट् प्राह किमेवं रुलसे भृशम् ॥४८३॥

कार्यं कुरु मदीयं चेत्करोमि सुखिनं तदा ।
वृद्धः प्राह करिष्येऽहं कार्यं सर्वं त्वयोदितम् ॥४८४॥ यतः—
"किं किं न कयं को को न पत्थिओ कह कहवि न नामिअं सीसं ।
दुब्भरपिट्टस्स कए किं न कयं किं न कायव्वं ॥४८५॥
पंथसमा नत्थि जरा छुहासमा वेअणा नत्थि ।
मरणसमं नत्थि भयं दारिद्दसमो वेरिओ नत्थि ॥४८६॥
जीवन्तो मृतकाः पञ्च श्रूयन्ते किल भारते ।
दरिद्रो व्याधितो मूर्खः प्रवासी नित्यसेवकः" ॥४८७॥
सन्ततं सुकरे कार्ये युनक्ति तं कुमारराट् ।
भोजनं ददते सारं सगौरवपुरस्सरम् ॥४८८॥
एवं क्रमात् त्रयः पत्यादयः कृत्वा च किङ्कराः ।
आनीय सुखिनः सारभोज्यदानात्तया कृताः ॥४८९॥
कुटुम्बं मिलितं वीक्ष्य मतिसारस्नुषास्तदा ।
नारीवेषं व्यधुः सर्वा मन्त्री चित्ते चमत्कृतः ॥४९०॥

वधूः पप्रच्छ कि तात ! सपादलक्षमूल्यके ।
रत्ने हस्तस्थिते दीनामीदृशीं प्राप्तवान् दशाम् ४९१॥
मन्त्री प्राह पुरीमध्ये गत्वा सौवर्णिकापणे ।
मया प्रोक्तं मणिर्मेऽस्ति लक्षमूल्यः शयेऽधुना ॥४९२॥
सौवर्णिको जगौ रत्नं दर्शय त्वं नराधुना ।
मया ततो मणिर्यावद्दर्शितः श्रेष्ठिनस्तदा ॥४९३॥
तावत्पाषाणमालोक्य जहास श्रेष्ठिराडिति ।
वाहितः केनचित्पुंसेदृक्षरत्नसमर्पणात् ॥४९४॥
ततः प्रोक्तं मया वध्वा दत्तं मे जीविकाकृते ।
सौवर्णिको जगौ नूनं तया त्वमपि वाहितः ॥४९५॥
ततोऽन्यस्यापणे गत्वा मयाऽयं दर्शितो मणिः ।
तेनापि पूर्ववत् प्रोक्तं स्वरूपं च मणेस्तथा ॥४९६॥
एवं च दर्शितं रत्नं बहूनां वणिजां मया ।
तैरप्येवं मणेः प्रोक्तं स्वरूपं पूर्ववत्तदा ॥४९७॥

ततो ध्यातं मया नूनं पूर्वदुष्कर्मयोगतः ।
मणिरपि दृपज्जातः खिन्नोऽहं चागमं बहिः ॥४९८॥ यतः—
"नैवाकृतिः फलति नैव कुलं न शीलम्,
विद्या च नैव न च जन्मकृता च सेवा ।
कर्माणि पूर्वतपसा किल संचितानि,
काले फलन्ति पुरुषस्य यथेह वृक्षाः ॥४९९॥
तावच्चन्द्रबलं० ॥ (सर्ग ७ श्लो० २२१)
विलोकितं मया तत्र न दृष्टं स्वं कुटुम्बकम् ।
खेदं कृत्वा क्षणं पुर्यां मध्येऽहं पुनरागमम् ॥५००॥
कृत्वाऽन्येषां गृहे कर्मोदरं कष्टान्मया भृतम् ।
इन्धनानि च विक्रीय खिन्नोऽहं साम्प्रतं भृशम् ॥५०१॥
एवं भ्रमन् भृशं पुर्यां त्वदीये दृष्टिगोचरे ।
शुभकर्मोदयादेवागतोऽहं साम्प्रतं स्नुषे ! ॥५०२॥
वध्वा प्रोक्तं मणिस्तर्हि क्षिप्तो वाऽस्ति शये तव ।

ततो मन्त्री जगौ वस्त्राञ्चले बद्धोऽस्ति मेऽधुना ॥५०३॥
वधूः प्रोवाच तर्हि त्वं तात ! दर्शय तं मम ।
ततो मन्त्री मणिं तस्यै दर्शयामास तत्क्षणात् ॥५०४॥
पूर्ववन्मणिमाभान्त दीप्त्या भासुरया तदा ।
वीक्ष्य चमत्कृते बाढं द्वे अपि श्वसुरस्नुषे ॥५०५॥
एवं तया त्रयो मन्त्रिपुत्राः पृष्टा जगुस्तदा ।
ततस्तैर्दर्शितानि प्राग् रत्नानि तानि तत्क्षणम् ॥५०६॥
बभूवुः पूर्ववद्दीप्तिवन्ति तानि तदग्रतः ।
मतिसारस्ततो मन्त्री सन्मान्याभरणैः स्नुषाम् ।
पृष्ट्वैव कुरुते कार्यं सदा स्तोकं ननु स्वयम् ॥ [षट्पदी] यतः-
"यो बुद्ध्यादिगुणैः शिष्टविशिष्टो जायते जनः ।
सन्मान्यते महीपालमातृपित्रादिभिः सदा ॥५०८॥
लक्षटङ्ककमूल्येन विक्रीयैकं मणिं तदा ।
बभूव मन्त्रिराट् बाढं सुखी सर्वकुटुम्बयुक् ॥५०९॥ यतः-

"पत्नी प्रेमवती सुतः सविनयो० ॥ (सर्ग ७ श्लो० ७७)
भक्तं कलत्रं विनयः(यी) सुतश्च,स्नुषा विशिष्टा विशदैर्गुणौघैः ।
बन्धुः प्रधानः प्रवरः सुहृच्च, लभ्येत धर्मेण जनेन शश्वत्" ॥
षण्मासान्ते वधूः प्राह भूयः श्रुत्वा शिवारवम् ।
प्रभाते दिशि पूर्वस्यां चन्द्राभिधसरोवरे ॥५१२॥
विक्रमार्कः क्षमापालः समेतस्ते मिलिष्यति ।
मतिसार ! व्रजेदानीं मुक्त्वा कार्याणि सम्मुखम् ॥ [युग्मम्]

इति तृतीयादेशः समाप्तः ।

इतोऽवग् विक्रमो नागदमनि ! त्वं चतुर्थकम् ।
कार्यं वक्षि ततो नागदमनी प्राह भूपते ! ॥५१४॥
गत्वा रत्नपुरेऽह्वाय मतिसाराह्वमन्त्रिणम् ।
सन्मान्यात्रानयेदानीं ततो भूपोऽचलत्ततः ॥५१५॥
भूपः सरोवरे चन्द्रे यावदेति कृतत्वरः ।
तावदभिमुखं मन्त्री मतिसारः समागमत् ॥५१६॥

मिलित्वा मन्त्रिराड् भूप भूरिभक्तिपुरस्सरम् ।
आनीय स्वगृहे चक्रे गौरवं भक्तदानतः ॥५१७॥

समृद्धिं मन्त्रिणो वीक्ष्य यावद् भूपश्चमत्कृतः ।
तावन्मन्त्री जगौ वध्वा धिया च त्वत्प्रसादतः ॥५१८॥

पूर्वभवार्जितां सर्वामापदं दुस्तरां क्रमात् ।
उल्लङ्घ्य साम्प्रतं जातः सुख्यहं मेदिनीपते ! ॥५१९॥ [युग्मम्]

राजा प्राह कथं वक्षि वध्वा एव प्रसादतः ।
मन्त्री ततो निजं वध्वाः स्वरूपमुक्तवांस्तदा ॥५२०॥

राजा जगौ मया दत्तः प्रवासस्तव मन्त्रिराड् ।
तेन मे न प्रसादोऽस्ति त्वयि लक्ष्मीप्रदानतः ॥५२१॥

श्रुत्वेतः पटहस्वानं भूपः पप्रच्छ मन्त्रिणम् ।
किमर्थं वाद्यते भूमिपतिना पटहोऽधुना ॥५२२॥

ज्ञात्वा तन्मन्त्रिराट् प्राह पुराऽस्मिन् नगरेऽन्यदा ।
अलंचकार भूपालः सभां यावद्दिनोदये ॥५२३॥

तावद्वैदेशिकः कश्चिदिन्द्रजालिकपूरुषः ।
आगत्याह यदि क्ष्माप ! रोचते तव किंचन ॥५२४॥

तदाऽहं दर्शयिष्यामि कलाकौशल्यमात्मनः ।
भूपोऽवग् दर्शयेदानीमस्माकं त्वं कलां निजाम् ॥५२५॥

दर्शयित्वा ततो नानारूपाणि शक्रजालिकः ।
प्रोवाच रोचते चेत्ते मानसे मेदिनीपते ! ॥५२६॥

दर्शयिष्ये तदा नित्यफलामाम्रस्य वाटिकाम् ।
भूपः प्रोवाच किमतः परमत्र विलोक्यते ॥५२७॥

सदाफलाम्रबीजानि तत उप्त्वा वने क्षणात् ।
मायिको वाटिकां नित्यफलां प्रादुश्चकार सः ॥५२८॥

तस्याः पार्श्वेऽचलं रम्यं विकुर्व्य मायिकस्ततः ।
प्रवाहः सरितो वाट्या मध्ये तत्क्षणमानयत् ॥५२९॥

सेचं सेचं तरून् नद्या वारिणा स्कन्धवन्धुरान् ।
कृत्वेन्द्रजालिकश्चारू पत्रपुष्पफलान्त् व्यधान् ॥५३०॥

पचेलिमफलैः सद्यः सहकारान् सदाफलान् ।
कृत्वेन्द्रजालिकं प्राह रोचते यदि ते नृप ! ॥५३१॥
तदैषां सहकाराणां फलानि मधुराणि च ।
ददामि वपुषस्तुष्टयै परिवारस्य चाऽधुना ॥५३२॥
देहीति भूभुजा प्रोक्ते सहकारफलानि सः ।
तानीन्द्रजालिकस्तेभ्यो ददावाश्चर्यहेतवे ॥५३३॥
जग्ध्वा फलानि भूपालः परिवारयुतो जगौ ।
हन्यते चेदयं मायी तदेतदवतिष्ठते ॥५३४॥
विमृश्यैतद् मिथो भूपो मारयामास मायिकम् ।
फलानि सेवका लातुं यावद् वृक्षे प्रवर्तिताः ॥५३५॥
तावदायान्ति पाषाणा हस्ते च पादचारिणाम् ।
गृह्णन्त्यम्बु शये यावत् रजस्तावदभूत्तदा ॥५३६॥
दृष्ट्वेतत्खिन्नभूपेन कारिताः शान्तिकाः क्रियाः ।
तथापि दृशदो धूलिर्दृश्यन्तेऽम्बुफलानि न ॥५३७॥

भूपः प्राह कृतं शिष्टं नास्माभिः साम्प्रतं स्फुटम् ।
मारितो मायिकोऽस्माकं हस्ते किमपि नागतम् ॥५३८॥ यतः
"सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥५३९॥
अविमृश्य कृतं कार्यं दुःखाय जायते नृणाम् ।
विमृश्य विहितं कार्यं सुखाय जायते पुनः" ॥५४०॥
मृत्वेन्द्रजालिको देवीभूय तत्रैत्य तत्क्षणात् ।
वाटिकां तादृशीं चक्रे क्रोधेन निजशक्तितः ॥५४१॥
विचार्य मन्त्रिभिः सार्धं भूपः पटहवादनम् ।
पुरीमध्येऽभितो नित्यं कारयन्निति जल्पति ॥५४२॥
वाटिकायाः फलान्यस्याः यः सत्यानि करिष्यति ।
नद्याश्च सलिलं तं च भूपः सन्मानयिष्यति ॥५४३॥
राज्यार्धसंयुतां विश्वलोचनाह्वां निजां सुताम् ।
तत्क्षणाद्दास्यति प्राज्यमहोत्सवपुरस्सरम् ॥५४४॥

श्रुत्वैतद् विक्रमः प्राह मन्त्रीश ! पटहं स्पृश ।
सर्वमेतत्करिष्येऽहं नाम ग्राह्यं न मेऽधुना ॥५४५॥
मन्त्रिणा पटहे स्पृष्टे तत्रैत्य विक्रमार्यमा ।
अग्निवेतालसान्निध्यात्सत्यं वाट्यादिकं व्यधात् ॥५४६॥
दुष्करं मानवैः कार्यं सान्निध्यान्मरुतामिह ।
याति शु(सि)द्धिं क्षणेनैव मनुष्याणां महीतले ॥५४७॥
वाटिकाऽधिष्ठिता येन व्यन्तरेण दुरात्मना ।
सोऽपि दूरीकृतो वह्निवेतालेन नृपाज्ञया ॥५४८॥
वाटिकातः फलान्याप्त्वा विक्रमो भूभुजे ददौ ।
राज्यार्धं प्रतिपन्नत्वात् तस्मै चादात्क्षितीश्वरः ॥५४९॥ यतः–
"चलति कुलाचलचक्रं मर्यादामतिपतन्ति जलनिधयः ।
प्रतिपन्नममलमनसां न चलति पुंसां युगान्तेऽपि ॥५५०॥
अलसंतेण वि सज्जणेण जे अक्खरा समुल्लविआ ।
ते पत्थरटङ्कुकीर(रि)य व्व न हु अन्नहा हुंति" ॥५५१॥

अज्ञातकुलशीलाय तस्मै तत्र महीभुजा ।
तनया प्रतिपन्नत्वात् प्रददे विश्वलोचना ॥५५२॥
अज्ञातकुलशीलाय यदस्मै मेदिनीभुजा ।
कन्या विश्राणिताऽऽत्मीया तच्चारु विहितं न हि ॥५५३॥
कोऽप्यात्मीयां सुतां दत्ते मूर्खोऽज्ञातकुलाय न ।
विचक्षणोऽप्ययं भूपः कथमस्मै ददौ सुताम् ॥५५४॥
आकर्ण्यैतत्तदा वाचं लोकानां मन्त्रिनायकः ।
मतिसारो जगौ तत्र विजयक्ष्मापतिं प्रति॥[त्रिभिर्विशेषकम्]
सामान्योऽयं नरो नैव विद्यते किन्तु विक्रमः ।
येन खर्परवेतालादयः सर्वे वशीकृताः ॥५५६॥
अवन्तीनायकोऽत्रागाद् विक्रमादित्यभूपतिः ।
एकाकी निर्भयः कल्ये ममाकारणहेतवे ॥५५७॥
ततो हृष्टो नृपः पुर्यां तलिकातोरणादिभिः ।
स्थाने स्थाने तथा सद्यो महोत्सवमचीकरत् ॥५५८॥

अग्निवेतालसांनिध्यात् बीजान्याम्रस्य शालिनः ।
लात्वा भूपः प्रियामन्त्रियुतः स्वपुरमाययौ ॥५५९॥
बीजानि तत्क्षणाद् नागदमन्यै विक्रमार्यमा ।
दत्त्वाऽमात्यस्य पूर्ववत् स्थापनं चकृवान् ततः ॥५६०॥

इति पञ्चदण्डप्रकरणे चतुर्थप्रस्तावः ।

राजाऽवक् पञ्चमं कार्यं देहि नागदमेऽधुना ।
सा प्रोवाच सुपात्रेभ्यो दानं विश्राणयाचिरात् ॥५६१॥
सुपात्राणां परीक्षार्थमादावाकारिता द्विजाः ।
पृष्टं च भूभुजा ब्रूत सुपात्राणि भवन्ति के ॥५६२॥
द्विजाः प्रोचुर्वयं भूप ! सुपात्राण्येव निश्चितम् ।
नृपोऽवग् भवतां दानं किं किमत्र प्रदीयते ॥५६३॥
ते प्रोचुः पृथिवीपत्नीगोयन्त्रमुशलादिकम् ।
दानं च दीयते भूरि जनैः सद्गतिहेतवे ॥५६४॥
राज्ञोक्तं ब्रह्म ये घ्नन्ति[1] तीव्रेण तपसा जनाः ।
ब्राह्मणास्ते निगद्यन्ते बुधैरस्मिन् महीतले ॥५६५॥
आत्मावबोधनकृते ये भरतेन चक्रिणा ।
स्थापितास्ते च विज्ञेया ब्राह्मणा नेतरे पुनः ॥५६६॥
अत्रादौ भरतचक्रिणा ब्राह्मणस्थापनं चक्रे यथा तथा वाच्यम् ।
पुराणेऽप्युक्तम्—
"ब्राह्मणो ब्रह्मचर्येण यथा शिल्पेन शिल्पिनः ।
अन्यथा नाममात्रं स्यादिन्द्रगोपककीटवत्" ॥ इत्यादि ।
एतच्छ्रुत्वा द्विजाः क्रोधाध्माताः प्रोचुरिति स्फुटम् ।
रे पापिष्ठ ! कथं दुष्टं त्वयेदं भूप ! जल्प्यते ॥५६८॥
श्रुत्वैतद् भूभुजा ध्यातमेतेऽहंकारपूरिताः ।
उत्कर्षमात्मनो नूनं मन्यन्ते ब्राह्मणा अमी ॥५६९॥
ततो लोकप्रसिद्धत्वात् विरुद्धजननाज्ञनैः ।
द्विजेभ्यो दीयते दानं कर्माचार्यप्रवाहतः ॥५७०॥
आकार्य भूभुजा पृष्टाः साधव इति ते जगुः ।

१ हनक् हिंसागत्योः, ततो घ्नन्ति—प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ।

भवन्ति गुरवो द्वधा कर्मधर्मोपदेशतः ॥५७१॥
विवाहशान्तिकादीनि कार्याणि कुर्वते यके।
त एव कर्मगुरवो ज्ञातव्या विबुधोत्तमैः ॥५७२॥
सावद्यरहिता ये तु निरवद्यं वृषं सदा।
कथयन्ति च ते धर्मगुरवो गुरवो मताः ॥५७३॥ यतः–
"महाव्रतधरा धीरा भैक्ष्यमात्रोपजीविनः।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः ॥५७४॥
सर्वाभिलापिणः सर्वभोजिनः सपरिग्रहाः।
अब्रह्मचारिणो मिथ्योपदेशा गुरवो न तु ॥५७५॥
चतुर्वर्णेषु ये शीलसत्यादिगुणसंयुताः।
तेष्वेव दीयते दानं जनैर्मोक्षाभिलापिभिः" ॥५७६॥ इत्यादि।
श्रुत्वैतद् भूपतिर्दध्यौ दानयोग्या अमी खलु।
निष्पापनिरहङ्कारस्तपःकरणतत्पराः ॥५७७॥
राज्ञोक्तं वस्त्रपानादिदानं गृह्णीत साधवः!।
यूयं ततो जगुर्वस्त्रच्छादितास्या यतीश्वराः ॥५७८॥

मध्यतीर्थकृतां वारे नृपपिण्डं यतीश्वराः।
गृह्णते नाद्यचरमवारे एवं स्थितिः सदा ॥५७९॥ यतः-
"राजन्! दीनादिलोकेभ्यो देहि दानं यथारुचि।
दत्तं दानं च दीनेषु जायते शिवहेतवे ॥५८०॥
अभयं सुपत्तदाणं अणुकंपा उचिअकित्तिदाणं च।
दोहिं वि मुक्खो भणिओ तिन्निउ भोगाइअं दिंति॥ इत्यादि।
श्रुत्वैतद्भूपतिस्तत्र दीनेभ्यो दानमादरात्।
दत्त्वा रात्रौ ययौ स्वीयवृत्तं श्रोतुं पुरान्तरे ॥५८२॥
पुरोहितगृहोपान्ते यावद् भूमीपतिः स्वयम्।
गत्वा लोकचरित्राणि तस्थौ निरीक्षितुं क्षणम् ॥५८३॥
इतस्तत्रागता देवदमनीभगिनी वरा।
हरिताल्यभिधा चारुभूपणाम्बरधारिणी ॥५८४॥
जड्तूमालिकां दृष्ट्वोत्सुकां यान्तीमिदं जगौ।
गच्छसि त्वरितं क्व त्वं सद्यो जल्प जड्तूके!॥ [युग्मम्]

जइतूः प्राह पाताले नागस्य व्यवहारिणः ।
तनयोऽद्यैव यामिन्यां सन्महं परिणेष्यति ॥५८६॥
निमन्त्रिताऽस्मि तत्राहं नागेन व्यवहारिणा ।
मिलिष्यन्ति वरा नागकुमारा भूरिशो निशि ॥५८७॥
तत्राद्याहं गमिष्यामि लात्वा पुष्पकरण्डकम् ।
हरिआली जगौ तेनाकारितास्म्यहकं सखि ! ॥५८८॥
वसुधास्फोटनं दण्डं लात्वोद्यानेऽधुना बहिः ।
योगिनीभिः समं नर्म करिष्यामि क्षणं सखि !" ॥५८९॥
विषापहारदण्डेन युतां पुरोहिताङ्गजाम् ।
आकार्य गोमतीं सद्यस्त्वमागच्छेर्बहिः पुनः ॥५९०॥
मिलित्वा च वयं तत्र गमिष्यामोऽचिरात् सखि ! ।
उक्त्वेति बहिरुद्याने हरिआल्यगमत्तदा ॥५९१॥
जइतूः पुरोहितसुतां नीत्वा पुष्पकरण्डयुग् ।
निर्यान्ती नगराद्द्वारपीडितेदं जगौ तदा ।

बटुआको‌ऽधुना कोऽपि आवां यदि मिलिष्यति ।
तस्य द्रव्यं कियद्दत्त्वा भारं च वाहयिष्यते ॥५९३॥
सर्वं पश्यन् नृपः कृत्वा बटुरूपं समागमत् ।
मालिन्योक्तं वहेदानीं यद्यमुं भारमात्मनः ॥५९४॥
तदा तुभ्यं मया वस्तु किञ्चित्तत्र प्रदास्यते ।
बटुकोऽवगहं भारं वहामि शिरसाऽधुना ॥५९५॥
भाटकं प्रोच्य तच्छीर्षे दत्त्वा पुष्पकरण्डकम् ।
गते ते बहिरुद्याने यत्रास्ति हरितालिका ॥५९६॥
हरिताली चतुःषष्टियोगिनीमध्यतस्तदा ।
हल्लीसकं वितन्वाना ताभ्यां तत्र निरीक्षिता ॥५९७॥
क्रीडां कृत्वा ततस्तिस्रः कुर्वाणा हुंकृतिं द्रुतम् ।
वृक्षमारुह्य खेनैव स्वर्णद्वीपं ययुः स्वयम् ॥५९८॥
तत्र कृत्वा वने क्रीडां गत्वाऽग्रे मेदिनीतलम् ।
आहत्य वज्रदण्डेनापातयन् विवरं च ताः ॥५९९॥

पातालविवरद्वारे प्रविश्य भुजगान् बहून्।
विषापहारदण्डेन दूरयन्त्यस्तदा पथि ॥६००॥
नालीकनालवत्सर्पान् गोणसान् भीपणांस्तदा।
दधत्यश्च शये जग्मुः पातालनगरान्तिके ॥६०१॥
पुष्पकरण्डकं दण्डद्वितयं च बटोस्तदा।
दत्त्वा सरोवरे स्नानं कर्तुं जग्मुश्च योपितः ॥६०२॥
लात्वा दण्डद्वयं पुष्पकरण्डं बटुविक्रमः।
पातालनगरस्यान्तः पश्यन् शोभां समीयिवान् ॥६०३॥
पुत्रो नागकुमारस्योद्वाहालङ्कारभूपितः।
यावद् यात्यापणश्रेणौ तावत्तत्र गतो बटुः ॥६०४॥
अग्निवेतालसांनिध्याद् विक्रमार्कबटूत्तमः।
नागाङ्गजं तिरोधायारुरोह तुरगं पथि ॥६०५॥
हारकङ्कणकेयूरमुख्यालङ्कारभूपितः।
नागाङ्गजसमानाङ्गो विक्रमार्कोऽभवत्तदा ॥६०६॥ [युग्मम्]

मातुर्गेहे बटुर्गत्वा श्रीदपुत्र्याः करग्रहम्।
कृत्वा तस्थौ मनोहारिगीतगानपुरस्सरम् ॥६०७॥
इतश्च हरितालाद्यास्तिस्रः कन्याः सरोवरे।
स्नानं कृत्वा बहिर्यावदेत्य पश्यन्ति नो बटुम् ॥६०८॥
अदृष्ट्वा तं बटुं खिन्ना विलोक्य निखिले पुरे।
द्रष्टुं नागसुतं श्रीदगेहे जग्मुश्च ता यदा ॥६०९॥
तदा कृत्वा बटो रूपं विक्रमादित्यभूपतिः।
तस्थौ वेतालिकस्यैव सान्निध्याद्रुचिराकृतिः ॥६१०॥
मातुर्गृहे बटुं दृष्ट्वोपविष्टं पाणिपीडनम्।
कुर्वन्तमुपलक्ष्योचुर्हरिताल्यादिका इति ॥६११॥
त्वया बटो! किमारब्धं हृत्वा दण्डद्वयं तदा।
असाकमागतोऽत्रैव वञ्चयित्वा द्रुशं क्षणात् ॥६१२॥
त्वया बटो! किमारब्धमीदृक्षं कर्म साम्प्रतम्।
असाकमर्पयाह्वाय दण्डद्वन्द्वं क्षणाद्रसम् ॥६१३॥

नो चेत्त्वां पातयिष्यामि महापदि वटोऽधुना।
वटुरूपं ततस्त्यक्त्वा स्वरूपं विक्रमोऽग्रहीत् ॥६१४॥
निरीक्ष्य विक्रमादित्यं हरितालयादिकास्तदा।
कन्यका लज्जिताः प्रोचुस्त्वं नः पाणिग्रहं कुरु ॥६१५॥

वरं तादृशमालोक्य श्रीदो हृष्टोऽभवद् भृशम्।
चतसृणां च कन्यानां भूपः पाणिग्रहं व्यधात् ॥६१६॥
नागो वरपिता प्राह भो सत्तम! सुतो मम।
प्रसद्य प्रकटीकार्यो भवता करुणात्मना ॥६१७॥
ततो वेतालहस्तेन विक्रमार्कः कृपापरः।
तदीयं तनयं नागकुमाराय ददौ क्षणात् ॥६१८॥

हृष्टो नागकुमारोऽपि स्वसुतां सुरसुन्दरीम्।
मणिदण्डयुतां तत्र ददौ विक्रमभानवे ॥६१९॥
चन्द्रचूडाभिधो नागकुमारः प्राह विक्रम!।
अङ्गीकुरु सुतां मे त्वं कमलां कमलोपमाम् ॥६२०॥

विक्रमार्कनृपो ... तदा।
कमलां दापयामास चन्द्रचूडसुतां क्षणात् ॥६२१॥
विपापहारभूस्फोटमणिदण्डान् मनोहरान्।
सद्यो लब्ध्वा प्रियापञ्चयुतोऽचालीत्ततो नृपः ॥६२२॥

पातालनगराद्भूमिस्फोटदण्डप्रभावतः।
अवन्त्यामागतो नानाविधोत्सवपुरस्सरम् ॥६२३॥
त्रींस्तान् दण्डान् ददौ नागदमन्यै विक्रमार्यमा।
तया च पञ्चभिर्दण्डैश्चक्रे छत्रं मनोहरम् ॥६२४॥
पूर्वानीतमणिभिश्च कृत्वा लम्बकसन्ततीः।
छत्रे बबन्ध तत्कालं बुद्ध्या नागदमा तदा ॥६२५॥

सदाफलाम्रबीजौघमुप्त्वा भूपगृहान्तिके।
सेचं सेचं तया चक्रे सदाम्रफलकाननम् ॥६२६॥
स्फटिकाश्ममयीं तस्योद्यानस्य सन्निधौ सभाम्।
तदा नागदमा सद्यः कारयामास सुन्दरम् ॥६२७॥

जात्यरत्नमयं सिंहविष्टरं कारितं तया ।
आनीयानीय रत्नानि कोशाद्भूमीपतेस्तदा ॥६२८॥
उपविष्टः शुभे लग्ने तस्मिन् सिंहासने नृपः ।
पञ्चदण्डमयं छत्रं शीर्षोर्ध्वं धरते स्म च ॥६२९॥
तस्मिन् क्षणे नृपो दानं याचकेभ्यस्तदा ददौ ।
महेभ्यसदृशाः सर्वे वभूवुस्तत्क्षणाच्च ते ॥६३०॥

केचिद्वदन्ति द्वात्रिंशत्पुत्रिकायुतविष्टरे ।
उपविष्टो नृपो दानं ददानोऽनर्गलं तदा ॥६३१॥
ततो विक्रममार्तण्डो न्यायमार्गेण नित्यशः ।
पालयामास पृथिवीं सर्वभागविमोचनात् ॥६३२॥
पञ्चदण्डमयं छत्रं विक्रमार्कस्य भूपतेः ।
वभूव भाग्यतो राज्यलक्ष्मीवृद्धिः क्रमात्तदा ॥६३३॥

इति श्रीमत्तपागच्छनायक—श्रीसोमसुन्दरसूरिपट्टालंकरणश्रीमुनिसुन्दरसूरिशिष्य—पं०शुभशीलगणिविरचिते श्रीविक्रमादित्य-विक्रमचरित्रचरिते पञ्चदण्डवर्णनो नाम नवमः सर्गः समाप्तः ॥

दशमः सर्गः ।

निष्कण्टके महीपीठे विहिते मेदिनीभुजा ।
कालिदासादयो विज्ञा वर्णयन्तीति भूपतिम् ॥१॥

वन्यो हस्ती स्फटिकघटिते भित्तिमार्गे स्वबिम्बम् ,
दृष्ट्वा दूरात्प्रतिगज इति त्वद्द्विषां मन्दिरेषु ।
हत्वा कोपाद्दलितरदनस्तं पुनर्वीक्षमाणो,
मन्दं मन्दं स्पृशति करिणीशङ्कया साहसाङ्क ! ॥२॥

कालिदासस्योत्पत्तिर्यथा—

कालिदासस्य विदुषः सम्बन्धं समुपागतम् ।
संक्षेपेण मया किञ्चित् कथ्यते साम्प्रतं स्फुटम् ॥३॥ तथाहि—

प्रियङ्गुमञ्जरी पुत्री विक्रमार्कमहीभुजा ।
वेदगर्भबुधोपान्ते मुक्ताऽध्ययनहेतवे ॥४॥

तस्य पार्श्वे सदा सर्वशास्त्राणि विनयान्विता ।
पठन्ती भूपभूः स्तोकैर्दिनैर्जाता विशारदा ॥५॥

भूपभूर्यौवनं प्राप्ता वसन्तसमयेऽन्यदा ।
गवाक्षस्थासनासीना ललाटंतपतापने ॥६॥

आगत्य नृपमार्गेण वेदगर्भं बुधं स्थितम् ।
विश्रामाय गवाक्षाधो ददर्श राजनन्दिनी ॥७॥

आम्राणि परिपक्कानि तस्मै भूपालनन्दिनी ।
दर्शयन्ती बुधं चूतफललोलुपमानसम् ॥८॥

विज्ञाय चतुरा प्राहेत्युष्णानि शीतलानि वा ।
तुभ्यं फलानि रोचन्ते यदिष्टं तन्निगद्यताम् ॥९॥ (युग्मम्)

तद्वचश्चातुरीं शीघ्रमविज्ञाय बुधो जगौ ।
फलान्युष्णानि भो भूपसुते ! वितर साम्प्रतम् ॥१०॥

वस्त्राञ्चलं धराधस्तादित्युक्ते च तया तदा ।
वेदगर्भो दधौ तानि ग्रहीतुं खोलकं स्वयम् ॥११॥
[1]प्रादुष्कर्तुं स्वचातुर्यं सरजोमेदिनीतले ।
चिक्षेप भूमिभुक्पुत्री फलानि तानि तत्क्षणात् ॥१२॥
रजोऽवगुण्ठितान्याम्रफलानि स्वकरे द्रुतम् ।
लात्वाऽऽस्यमरुता रेणुं यावत्सोऽपाकरोत्स्वयम् ॥१३॥
तयेत्युक्तं तदोष्णानि किमभूनि फलान्यहो ।
यतो वक्त्रानिलेन त्वं दत्से फुत्कां पुनः पुनः ॥१४॥
सोपहासं वचः तस्याः श्रुत्वा विप्रो रुषा जगौ ।
हे जडे ! दुर्विदग्धा त्वं दुःखिनी भाविनी पुनः ॥१५॥
गुरूपहासकारिण्या भवत्या भूपनन्दिनि ! ।
पशुपालः पतिर्भूयादेवं शापं ददौ द्विजः ॥१६॥
शापं श्रुत्वा मुखात्तस्य प्रतिज्ञामिति साऽकरोत् ।
सर्वविद्याविदं कान्तं वरिष्याम्यन्यथाऽनलम् ॥१७॥

इतः श्रीविक्रमादित्यः पुत्र्युद्वाहकृतेऽन्वहम् ।
निमग्नो नन्दिनीयोग्यकान्तचिन्तापयोनिधौ ॥१८॥ यतः—
"कुलं च शीलं च सनाथता च, विद्या च वित्तं च वपुर्वयश्च ।
एतान् गुणान् सप्त निरीक्ष्य देया, ततः परं भाग्यवशा च कन्या ॥
मूर्खनिर्द्धनदूरस्थशूरमोक्षाभिलाषिणाम् ।
त्रिगुणाधिकवर्षाणां तेषां कन्या न दीयते" ॥२०॥
पुत्रीयोग्यवरालोकचिन्तासिन्धुगतं नृपम् ।
निरीक्ष्येति जगौ वेदगर्भश्चिन्ताऽस्ति का नृप! ॥२१॥
भूपोऽवक् तनयायोग्यवरवीक्षणचिन्तया ।
व्याप्तं मम मनो वेदगर्भविप्रस्ततो जगौ ॥२२॥
प्रियङ्गुमञ्जरीहास्यवचः स्वान्ते स्मरन् द्विजः ।
प्राह स्वामिंस्त्वया नैवं चिन्त्यं वीक्षाम्यहं वरम् ॥२३॥ यतः—
"भूपो विवाहकार्यादि करोति स्वीयसेवकैः ।
अन्ये तु निजदेहेन सर्वं कार्यं वितन्वते" ॥२४॥

---

१ तया फलेषु तेष्वेव क्षिप्तेषु भुवि हास्यत· । तान्यादायास्यवातेन बुधो धूलिमपाकरोत् ॥ क।

राजादेशाद्वरं स्वीयस्वान्तचिन्तितमद्भुतम् ।
एकाकी वाडवो द्रष्टुमरण्यानीं समीयिवान् ॥२५॥
भ्रमन् वने द्विजो नीराभावेनातीव बाधितः ।
एकं पशुपमालोक्य ययाचे तं जलं तदा ॥२६॥

पशुपालो जगौ नाम्बु विद्यतेऽत्र वने क्वचित् ।
तृपा चेत्ते पयो धेहि करचण्डीविधानतः ॥२७॥
करचण्डीति शब्दं स श्रुत्वा शब्दानुशासने ।
ग्रन्थे पुनः पुनश्चेतो दधत् शून्योऽजनि द्विजः ॥२८॥
ततो यथा तथा हस्तौ योजयन् वाडवस्तदा ।
करचण्डीं विधायाथ हतस्तेन स मस्तके ॥२९॥

करचण्डीं च मूर्ख ! त्वं कर्तु जानासि नो मनाक् ।
दुग्धं पीत्वा कथं तृष्णाछेदस्त्वया विधीयते ॥३०॥
वेदगर्भस्ततो दध्यावहो मे मूर्खतेदृशी ।
पठितानेकशास्त्रोऽपि करचण्डीं न वेद्मि यत् ॥३१॥

कारयित्वा स्वयं सद्यो वाडवं करचण्डिकाम् ।
पाययामास गोपालो दुग्धमाकण्ठमादरात् ॥३२॥
उचितं भूपनन्दिन्या मत्वा पशुपतिं द्विजः ।
आनीय स्वगृहे गौरवयांचक्रेऽन्नदानतः ॥३३॥

स्नानान्नादिविधानेन पण्मासीं यावताऽन्वहम् ।
पशुपः पाठितः स्वस्तीत्याशीस्तेन द्विजन्मना ॥३४॥
परिधाप्याम्बरे स्वस्तीत्यक्षरजल्पपूर्वकम् ।
गोपं शुभेऽह्नि भूपालसंसदं नीतवान् द्विजः ॥३५॥
नृपं प्रति सदभ्यस्तमाशीर्वादं ददद् मुदा ।
गोपो जगावुशरटेत्यक्षराणि च मौढ्यतः ॥३६॥

तदोशरटमित्याशीर्वादं श्रुत्वा नृपः स्मितः ।
यावत्तावच्च तं विज्ञापयितुं वाडवो जगौ ॥३७॥
उमया सहितो रुद्रः शङ्करः शूलपाणियुक् ।
रक्षतु तव राजेन्द्र ! टणत्कारकरं यशः ॥३८॥

श्लोकेनानेन भूपालस्तत्पाण्डित्यगभीरताम् ।
ज्ञात्वाऽवग् भारतीपुत्रः किमत्रैपोऽगमद् द्विजः ॥३९॥
वेदगर्भो जगौ भूप! मयाऽऽराध्य सरस्वतीम् ।
आनीतोऽस्ति [1]वरस्तावकीनपुत्रीकृते ननु ॥४०॥
तत्तादृशकुशलतारञ्जितेन महीभुजा ।
लसन्महेन तनयां गोपालः परिणायितः ॥४१॥
पण्डितेन रहस्युक्तं [2]मौनं कार्यं त्वया वर! ।
वैदग्ध्यं ज्ञातुमुर्वीशपुत्रीत्युत्सुकिताऽजनि ॥४२॥
मौनाल्पजल्पनाच्छश्वज्जामाता मेदिनीपतेः ।
प्रतिष्ठामगमत्सर्वलोकेषु सर्वतः स्फुटम् ॥४३॥
नवीनलिखितं शास्त्रपुस्तकं रुचिरं रहः ।
शोधनाय ददौ राजपुत्री तस्मै मनोहरम् ॥४४॥
गृहीत्वा पुस्तकं भूपजामाता रहसि स्थितः ।
शुद्धं व्यधाद् नखरिण्या मात्राबिन्दूपसारणात् ॥४५॥

तादृशं पुस्तकं कान्तकृतं वीक्ष्य नृपाङ्गजा ।
एपोऽभून्महिपीपो मे पतिर्दध्यौ स्वचेतसि ॥४६॥
कारयित्वाऽन्यदा चित्रशालाभित्तौ नृपाङ्गजा ।
भूयिष्ठमहिपीरूपसंचयं तस्थुपी रहः ॥४७॥
स्वां [3]प्रतिष्ठां च विस्मृत्य महिष्याह्वानकृद्रवम् ।
'डीउ डीउ' इति प्राह जामाता मेदिनीपतेः ॥४८॥ यतः—
"आकाराज्जल्पनात्पादगमनाद्देहकान्तितः ।
नराणां ज्ञायते नीचानीचजातिकुलादि च" ॥४९॥
लोका जानन्त्ययं भूपजामाताऽस्ति विचक्षणः ।
अस्य मया तु मूर्खत्वं ज्ञातमीदृशजल्पनात् ॥५०॥
अतः परं मया पत्युरस्य नैवाननं क्वचित् ।
प्रेक्षितव्यं न च मया जल्पनीयं मनागपि ॥५१॥
इतश्च भूपजामाता दध्यावेवं स्वचेतसि ।
भूपपुत्र्या मयाऽकारि पाणिग्रहमहोत्सवः ॥५२॥

१ विदुपीताव-घ । २ मौन तस्य वितन्वतः घ । ३ प्रतिज्ञा घ ।

भूपादिसकलो लोको मां विज्ञं वेत्ति सन्ततम् ।
अहं किमपि नो जाने तेनास्तु धिक् च मामिह ॥५३॥
लोका वदन्त्ययं ब्राह्मीपुत्रोऽस्ति विदुरो भृशम् ।
एकं जानाम्यहं नैव शब्दस्यार्थं मनागपि ॥५४॥
मत्वेति भारतीगेहमध्ये[1] भूपसुतापतिः ।
गत्वाऽवग् देहि मे विद्यामनवद्यां सरस्वति ! ॥५५॥
नोचेन्मया त्वदंह्यग्रे मर्तव्यं प्राणमोचनात् ।
अहं तु भवतीपुत्र इति ख्यातोऽभवं जने ॥५६॥
कालिका तु मनाग् नैव दत्ते तस्योत्तरं यदा ।
बभूवुर्भूरिशो भूपजामातुर्लङ्घनानि च ॥५७॥
देव्या भूमीभुजा पुत्र्या वैधव्यभयतः स्फुटम् ।
कारिता कुसुमैः स्फारा पूजा दासीसमीपतः ॥५८॥
भूपादिष्टा सुरीपृष्ठौ स्थित्वा दासी रहो जगौ ।
तुष्टाऽहं ते ददे विद्या मयोत्तिष्ठ नर ! त्वकम् ॥५९॥
ध्यातं कालिकया देव्या किं कुर्वेऽहं च साम्प्रतम् ।
अनया छलिता दास्या जल्पनादिति तत्क्षणात् ॥६०॥
दत्ता कालिकया विद्या पत्युः कस्यचिदाननात् ।
आकर्ण्य भूपभूः कान्तपार्श्वेऽभ्येत्य जगावदः ॥६१॥
आयातस्तव कान्तास्ति कश्चिद्वाग्विलासकः ।
भूपभूवचनं श्रुत्वा ध्यातं देव्येति तत्क्षणात् ॥६२॥
अस्यानया ददे विद्या जने ख्यातिरभूदिति ।
नास्य चेद्दीयते विद्या महत्त्वं मे तदा गतम् ॥६३॥ यतः—
"कथमत्र महत्त्वं तु रक्षणीयं पुराऽर्जितम् ।
प्रासादं कीलिकाहेतोर्भङ्क्तुं को नाम वाञ्छति ॥६४॥
सूत्रार्थी कः पुमान् हारं त्रोटयितुं समीहते ।
लोहार्थी को महाम्भोधौ नौभङ्गं कर्तुमिच्छति ॥६५॥

[1] कालिकागेहे घ ।

भस्मने चन्दनं को हि दहेद् दुकूलमेव वा ।
कामकुम्भं पुमान् को वा स्फोटयेत् ठिकरीकृते" ॥६६॥
विमृश्येति ततः काल्या विद्या तस्मै ददेऽखिला ।
[तत उत्थाय भूपान्ते जामाता यावदीयिवान् ॥६७॥
दास्या उत्थापनं ज्ञात्वा भूपः प्राहेति तं प्रति ।
कालीदासीसुतागच्छ जल्प काव्यानि साम्प्रतम् ॥६८॥
सुतापतिर्जगौ कालीदासीपुत्रोऽस्म्यहं नहि ।
किंत्वहं कालिकादेव्या दासोऽभूवं सुभाग्यतः ॥६९॥
ज्ञात्वा ज्ञं तं महीपालो जामातृसंनिधौ तदा ।
समस्यामिति पप्रच्छ काव्यपादेन शालिना ॥७०॥
'वाहनोपरि तरन्ति समुद्राः' । जामाता जगौ—
"मेदिनीधरशिरस्सु पयोदान् वर्षतो जलभृतश्चरतोऽलम् ।
वीक्ष्य पण्डितजना जगुरेवं वाहनोपरि तरन्ति समुद्राः] ॥७१॥
आगच्छन्तं पतिं वीक्ष्य स्वावासे भूपभूर्जगौ ।
अस्ति कश्चिद् वाग्विलासो भवतो रुचिरः पते ! ॥७२॥
तत इति राजजामाता जगौ—
"अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥
इत्यादि ।
कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात् प्रमत्तः ॥ इत्यादि ।
वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ" ॥७४॥ इत्यादि ।
एतत्काव्यत्रयं कृत्वा प्रबन्धान् भूरिशः पुनः ।
व्यरचद् भूपजामाता कालीदेवीप्रसादतः ॥७५॥
ततो लोकेऽखिले तस्य जामातुर्मेदिनीपतेः ।
कालिदासेति नामाभूत् कालीदेवीप्रसादतः ॥७६॥
इति कालिदासोत्पत्तिप्रबन्धः ।

---

१ अय कोष्ठान्तर्गत. पाठो गपुस्तक एव उपलभ्यते ॥ २ भूपभूपतिराचष्ट विस्फुटं वचसा द्रुतम् ॥ अय पाठः क-ख पुस्तके ।

"दीसइ विविहं चरिअं जाणिज्जइ सजणदुज्जणविसेसो।
अप्पाणं च कलिज्जइ हिंडिज्जइ जेण पुहवीए" ॥७७॥
श्रुत्वैतद्विक्रमादित्यो गृहीत्वा रत्नपञ्चकम्।
वीक्षितुं चरितं पुंसां निस्ससार पुरान्निजात् ॥७८॥
पश्यन् पदे पदे नानाऽऽश्चर्याणि वसुधातले।
विक्रमार्को ययौ पद्मपुरे सुरपुरोपमे ॥७९॥
अन्यायी भूपतिस्तत्र पाषाणः[1] सचिवोऽजनि।
अन्येऽपि छलिनो लोका विद्यन्ते भूरिशः पुनः ॥८०॥
दर्शं दर्शं पुरीमट्टे कस्यचित् श्रेष्ठिनोन्यदा।
विक्रमार्को ययौ यावत्तपस्व्येकोऽगमंस्त(मत्त)दा ॥८१॥
तापसोऽवग् घृतं कर्षमितं[2] चार्पय नैगम!।
वणिक् कर्पद्वयं[3] प्रादात्तस्मै मौढ्यात् तपस्विने ॥८२॥
तपस्वी घृतमादाय समेत्य गुरुसन्निधौ।
कर्षद्वयमितं सर्पिर्ददौ सद्विनयान्वितः ॥८३॥

तावन्मात्रं घृतं वीक्ष्य प्रोवाचेति गुरुस्तदा।
वत्साधिकं घृतं कस्मादानीतं भवताऽधुना ॥८४॥
शिष्यः प्राह घृतं कर्षमितं[4] मे श्रेष्ठिना ददे।
गुरुर्जगौ परद्रव्यहरणं नैव युज्यते ॥८५॥
"चौर्यपापद्रुमस्येह वधबन्धादिकं फलम्।
जायते परलोके तु फलं नरकवेदना" ॥८६॥
ततस्तापसशिष्योऽवग् गत्वा श्रेष्ठ्यापणे क्षणात्।
त्वयैतत्सर्पिरधिकं दत्तं च गृह्यतां स्फुटम् ॥८७॥
अहं यावद् घृतं लात्वा स्वस्वामिसन्निधावगाम्।
दृष्ट्वाऽधिकं घृतं स्वामी मदीयः प्रोक्तवानिति ॥८८॥
त्वयाऽधिकं घृतं वत्सानीतं यद्वणिगापणात्।
तत्पश्चाद्वितरेदानीमित्युक्त्वा प्रेपितोऽस्म्यहम् ॥८९॥
गृहीते श्रेष्ठिना पश्चाद् घृते तापसपार्श्वतः।
दध्यौ श्रीविक्रमादित्यो धन्योऽसौ तापसाग्रणीः ॥९०॥

१ सर्वभुक् घ। २ सेरमित' इति ग। ३ 'सेरद्वयं' इति ग। ४ 'सेरमितं' ग।

यस्य निर्लोभतेदृक्षा विद्यते विशदा स्फुटम् ।
गुणान् वर्णयितुं तस्य समर्थः कोऽत्र मानवः ॥९१॥
मत्वैतत्तापसोपान्ते गत्वा श्रीविक्रमार्यमा ।
परीक्षां कर्तुकामोऽवक् तत्र तस्य तपस्विनः ॥९२॥
द्रष्टुं महीतलं स्वीयनगरान्निर्गतोऽधुना ।
अस्मिन् पुरे समायातो भवतो वन्दितुं पदौ ॥९३॥
मदीयसंन्निधौ रत्नपञ्चकं विद्यतेऽद्भुतम् ।
तेनान्यत्र पदौ गन्तुं वहतो न च मे मनाक् ॥९४॥ यतः—
"यत्राकृतिर्गुणास्तत्र जायन्ते मानवे खलु ।
यत्र स्याद्विभवस्तत्र भीतिर्भवति निश्चितम्" ॥९५॥
तेन त्वं स्वान्तिके रत्नपञ्चकं स्थापयाधुना ।
कुर्वन् मौनं जटी तत्र प्राहेति हस्तसंज्ञया ॥९६॥
हस्तेनाहं धनं नैव गृह्णामि च स्पृशामि न ।
द्रविणग्रहणे दोषाः साधूनां जायते ध्रुवम् ॥९७॥ यतः—
"दोससयमूलजालं पूव्वरिसिविवज्जियं जइ वंतं ।
अत्थं वहसि अणत्थं कीस अणत्थं तवं चरसि ॥९८॥
यद्यस्ति भवतो वाञ्छा तदेतद्रत्नपञ्चकम् ।
अस्मिंश्च नालके मुञ्च नाहं जल्पामि किञ्चन ॥९९॥
ततो निर्लोभतां तस्य मत्वा विक्रमभानुमान् ।
तत्र मुक्त्वा मणीन् पश्चाचालीत् पृथ्वीं विलोकितुम् ॥१००॥
चलिते विक्रमेऽन्यत्र वञ्चयित्वा जनान् वहून् ।
मन्दिरं कारयामास जटी स्वर्गिगृहोपमम् ॥१०१॥
विलोक्य पृथिवीं वह्वीं तत्रैत्य विक्रमार्यमा ।
ययाचे तापसं स्वीयं पश्चाच्च रत्नपञ्चकम् ॥१०२॥
तपस्वी प्राह भो पान्थ ! कस्त्वं किं रत्नपञ्चकम् ।
गृहीतं केन वातूलमर्त्यवत् जल्पसि स्फुटम् ॥१०३॥
विक्रमार्कस्तदा दध्यौ किमहो वञ्चनाऽद्भुता ।
यतोऽनेन स्फुटं रत्नपञ्चकं ह्नूयते मम ॥१०४॥
"मायाशीलः पुरुषो यद्यपि न करोति किंचिदपराधम् ।
सर्प इवाविश्वास्यो भवति तथाप्यात्मदोषहतः ॥१०५॥

मायासीलह माणुसह किमु पत्तीज्ज ण जाइ ।
नीलकण्ठ महुरुं लवइ सविस भुअंगम खाइ ॥१०६॥
शनैर्मुञ्चयते पादं जीवानामनुकम्पया ।
पश्य लक्ष्मण ! पम्पायां बकः परमधार्मिकः ॥१०७॥
*पृष्ठतः सेवते सूर्यं जठरेण हुताशनम् ।
स्वामिनं सर्वभावेन खलो वञ्चति मायया" ॥१०८॥
विक्रमार्को जगौ पार्श्वे त्वदीये रत्नपञ्चकम् ।
मुक्तं मया त्वयेदानीं ह्नूयते च कथं यते ! ॥१०९॥
यतिः प्राह न मे पार्श्वे रत्नानि सन्ति पान्थ ! भोः ।
विक्रमार्कोऽचलन्मन्त्रिचरित्रं वीक्षितुं ततः ॥११०॥
पाषाणमन्त्रिणः पार्श्वे गत्वा विक्रमभानुमान् ।
सुवाक्छलेन तद्वृत्तं वीक्षितुं तस्थिवांस्तदा ॥१११॥
इतः कश्चिद्वणिग् मन्त्रिपार्श्वेऽभ्येत्य हराभिधः ।

रैलक्षं व्याजतो लात्वा जगाम निजमन्दिरम् ॥११२॥
आकार्य नैगमं मन्त्री द्वितीयेऽह्नि जगाद तम् ।
दत्त्वा वर्षस्य मे व्याजं व्रज त्वं दण्ड्यसेऽन्यथा ॥११३॥
क्षिप्त्वा कारागृहे मन्त्री भापयित्वा च नैगमम् ।
व्याजं वर्षस्य लात्वाऽलात् लक्षद्रव्यं निजं पुनः ॥११४॥
ध्यातवान् विक्रमादित्योऽद्भुताऽस्य वञ्चना खलु ।
अन्यायी सचिवो लोकाः किं करिष्यन्ति साम्प्रतम् ॥ यतः—
"राजा राक्षसरूपेण व्याघ्ररूपेण मन्त्रिणः ।
लोकाश्चित्रकरूपेण यः पलाति स जीवति ॥११६॥
अथ क्षेत्रपतिः प्राहानेन क्षेत्रं मदीयकम् ।
भक्षितं वृषभौ मुक्त्वा मुत्कलौ गच्छताऽध्वनि ॥११७॥
पान्थः प्राह रथं भृत्वा भूरिक्रयाणकैरहम् ।
अस्य क्षेत्रान्तिके यावदागां भग्नमनस्तदा ॥११८॥

* तदा दिव्यवाण्या बृहन्मत्स्य उवाच—शीलं संवासतो ज्ञेयं न शीलं दर्शनादपि । वकं वर्णयसे राम ! येनाहं निष्कुलीकृत. ॥ इत्यधिकः पाठ घ । १ सर्वभुग्म—घ । २ लोको गर्दभरूपेण ग ।

छोटयित्वा रथं बद्ध्वा वृषभौ शकटान्तिके।
सज्जीकृतो रथो यावत्कष्टेन मयकाऽचिरात् ॥११९॥
तावन्मां हक्कयंस्तत्राभ्येत्य प्राह कृषीवलः।
अरे पापिष्ठ! मे क्षेत्रं भक्षितं निखिलं त्वया ॥१२०॥
मयोक्तं वृषभौ बद्ध्वा रथः सज्जीकृतोऽधुना।
भक्षितं तेऽधुना नैव क्षेत्रं गोभ्यां कृषीवल! ॥१२१॥
एवमुक्ते मया क्रुद्धोऽरुणनेत्रः कृषीवलः।
चक्रं रथस्य मेऽभाङ्क्षीत् पर्पटौघमिवाचिरात् ॥१२२॥
मन्त्री प्राह यदि क्षेत्रपार्श्वतश्छोटितं त्वया।
तदाऽस्य भक्षितं क्षेत्रं निश्चितं पाप्मना स्फुटम् ॥१२३॥
एवमुक्त्वाऽखिलं वस्तु मन्त्री तस्य ललौ क्षणात्।
पान्थोऽथ दुःखितोऽचालीत् ततो निजं गृहं प्रति ॥१२४॥
रे क्षेत्रेश! त्वया तस्य चक्रं भग्नं मुधा खलु।
इत्याद्युक्त्वा ललौ मन्त्री तस्माद् भूरि धनं तदा ॥१२५॥

वर्तन्तेऽत्र पुरे मत्स्यगलागलिनयाः खलु।
मत्वेति विक्रमार्कोऽगात् परीक्षार्थं नृपान्तिके ॥१२६॥
इतो भूपान्तिके वृद्धा शिरोविन्यस्तपूलका।
पूत्कारं कुर्वती वक्षस्ताडयन्ती समाययौ ॥१२७॥
राजा पप्रच्छ किं वृद्धे! हृतं नष्टं तवाधुना।
वृद्धा जगौ निजं दुःखकारणं रुदती तदा ॥१२८॥
अन्यायो वर्तते पुर्यामीदृशो भवतोऽधुना।
को दुःखी कः सुखीत्येवं जनः किं न विलोक्यते ॥ यतः—
"धर्मः क्षोणीभृतां शिष्टपालनं दुष्टनिग्रहः।
मात्स्यो न्यायोऽन्यथा नूनं भवेद् भुवनघस्मरः ॥१३०॥
पार्थिवानामलङ्कारः प्रजानामेव पालनम्।
किरीटकटकोष्णीषैर्भूष्यन्ते केवलं नटाः" ॥१३१॥
राजा प्राह प्रजायास्ते चिन्तया किं प्रयोजनम्।
निवेदय निजं दुःखहेतुं वृद्धा ततो जगौ ॥१३२॥

---

१ रथो भग्नो ग। २ विलोकते।

देव ! मेऽद्य सुतो रात्रौ कुलाधारो बली युवा ।
गोविन्दश्रेष्ठिनो गेहे भित्तौ खात्रं वितीर्णवान् ॥१३३॥
चूर्णाङ्गो मे सुतो भित्त्यां पतन्त्यां मृतिमीयिवान् ।
तेनाहं दुःखिताऽभूवं पश्येश ! च नयानयौ ॥१३४॥
राजा प्रोवाच गोविन्दश्रेष्ठ्यन्यायी च पापवान् ।
हतोऽस्यास्तनयो भित्तिपातेन श्रेष्ठिना मुधा ॥१३५॥
आनीय श्रेष्ठिनं भृत्यपार्श्वात्प्राहेति भूपतिः ।
रे श्रेष्ठिन् दुष्ट पापिष्ठान्यायश्च क्रियते किमु ॥१३६॥
अस्याः स्त्रियास्त्वया गेहभित्तिपातनतो निशि ।
मारितस्तनयो मुग्धो वरदेहो युवा नयी ॥१३७॥
उक्त्वेति भूपतिः प्राह तलारक्षाधुना द्रुतम् ।
अन्यायकारिणं सद्यः शूलायां श्रेष्ठिनं क्षिप ॥१३८॥
आकर्ण्य भूपतेर्वाक्यं तलारक्षस्तदा द्रुतम् ।
शूलायां श्रेष्ठिनं क्षेप्तुं यावच्चलति वर्त्मनि ॥१३९॥

तावत् श्रेष्ठी जगौ भूपपार्श्वे मामेकदा नय ।
येन वच्मि निजं गेहकारणादिकमादितः[1] ॥१४०॥
तलारेण ततः श्रेष्ठिपुङ्गवो दयया तदा ।
मेदिनीनायकोपान्ते नीतः प्राहेति सद्गिरा ॥१४१॥
ममायं विद्यते सर्वो दोषो नान्यस्य कस्यचित् ।
पुनरेकं वचो मे त्वमाकर्णय नरेश्वर ! ॥१४२॥
दत्त्वा धनं मया सूत्रधाराय बहुशः खलु ।
कारिता सद्मनो भित्तिः सूत्रधारसमीपतः ॥१४३॥
यादृशी विहिता भित्तिस्तेन सूत्रकृता पुरा ।
स एव तादृशीं वेद नाहं जानामि भूपते ! ॥१४४॥
भूपो दध्यावेवं सत्यं जजल्प श्रेष्ठिराडिह ।
तदाऽऽकार्य ततः सूत्रधारं तं प्रत्यवग् नृपः ॥१४५॥
सूत्रधार ! त्वया भित्तिरीदृशी विहिता खलु ।
यया निपातितस्त्वस्यास्तनयो न्यायिशेखरः ॥१४६॥

1 निजगेहकारणे हेतुमादितः ग ।

उक्त्वेति सूत्रधारोऽपि शूलाक्षेपकृते तदा ।
चालितो भूभुजा प्राह तलारं प्रति वर्त्मनि ॥१४७॥
भो तलार ! नृपोपान्ते मां त्वमेकदा नय ।
येन वच्मि निजं कार्यं किञ्चिद् भूमीपतेः पुरः ॥१४८॥
तलारेण ततः सूत्रधारो दीनो कृपालुना ।
मेदिनीनायकोपान्ते नीतोऽवग् गद्गदस्वरम् ॥१४९॥
किं करोमि क्षमानाथ ! यदा कुड्यं कृतं मया ।
तदाऽगाद् गणिका तस्मिन् मार्गे कामलताऽभिधा ॥१५०॥
तां दृष्ट्वा विह्वलं चेतो मदीयमभवद् भृशम् ।
यतो हि दुष्करं चित्तं धर्तुमस्ति शरीरिणाम् ॥१५१॥ यतः–
["अक्खाणसणी कम्माण मोहणी तह वयाण बंभवयं ।
गुत्तीण य मणगुत्ती चउरो दुक्खेण जिप्पंति"]
मया तेन स्थरो भित्तौ विहितो विषमस्तदा ।
एवं सति प्रभो ! कार्या रुचिर्या विद्यते तव ॥१५२॥

ततः कामलतापण्यनारीमाकार्य तां तदा ।
नृपः प्राहागमस्त्वं च श्रेष्ठिसद्मान्तिके तदा ॥१५३॥
तेन सूत्रकृता भित्तिर्विषमा विहिता खलु ।
पतन्त्या च तया त्वस्या हतः पुत्रो नयी युवा ॥१५४॥
उक्त्वेति भूपतिः प्राह तलारक्षाधुना द्रुतम् ।
अन्यायकारिणीं सद्यः शूलायां गणिकां क्षिप ॥१५५॥
आकर्ण्य भूपतेर्वाक्यं तलारक्षस्तदा द्रुतम् ।
शूलायां गणिकां क्षेप्तुं यावद्गच्छति वर्त्मनि ॥१५६॥
तावद्वेश्या जगौ भूपपार्श्वे मामेकदा नय ।
येन वच्मि निजं कार्यं पुरतो मेदिनीपतेः ॥१५७॥
तलारेण ततः कामलता पण्याङ्गना तदा ।
नीता प्राहेति भूपालसन्निधौ गद्गदस्वरम् ॥१५८॥
ममायं विद्यते सर्वो दोषो नान्यस्य कस्यचित् ।
पुनरेकवचो मे त्वमाकर्णय नरेश्वर ! ॥१५९॥

१ कार्यो विचारो विद्यते ग ।

स्वप्रागल्भ्यं तदा प्रादुष्कुर्वती च स्फुरद्गिरा ।
जगाविति ततः कामलता भूमीपतेः पुरः ॥१६०॥
यदाऽहं निर्गता गेहाद् गन्तुं चतुष्पथं प्रति ।
तावत्सम्मुखमागच्छन् एको दृष्टो दिगम्बरः ॥१६१॥
दृष्ट्वा दिगम्बरं नग्नं लज्जती वर्त्मनस्तदा ।
अस्मिन् मार्गे समायाता श्रेष्ठिमन्दिरसन्निधौ ॥१६२॥
विसर्ज्य तां ततो भूप आकार्य च दिगम्बरम् ।
प्राह दुष्ट ! किमागास्त्वं मार्गे वेश्यान्तिकेऽधमः ॥१६३॥
एवमुक्तो यदा नैवोत्तरं क्षपणको ददौ ।
तदा भूपेन शूलायां प्रक्षेप्तुं सोऽपि चालितः ॥१६४॥
नीत्वा दिगम्बरं शूलापार्श्वे दध्यौ नृपानुगः ।
[1]प्रलम्बा विद्यते शूला लघीयान् दिक्पटो ह्ययम् ॥१६५॥
विमृश्येति नृपोपान्ते गत्वा मन्त्रीश्वरा जगुः ।
[2]प्रलम्बा विद्यते शूला लघीयान् दिक्पटो ह्ययम् ॥१६६॥

जगौ भूमिपतिर्योऽस्यां शूलायां माति मानवः ।
स एव क्षिप्यतां सद्यो भवद्भिरविचारकैः १६७॥
विमृश्य मन्त्रिभिर्व्योमपटं मुक्त्वा च तत्क्षणात् ।
[3]प्रलम्बो मेदिनीनाथशालकः क्षिप्त एव हि ॥१६८॥
अविचारकमन्त्रीशभूपादीन् वीक्ष्य तत्क्षणात् ।
दध्यौ विक्रममार्तण्ड एषामस्त्यविचारता ॥१६९॥
रत्नगमनवृत्तान्ते भूपादीनां पुरो यदि ।
कथ्यते च तदा हानिर्दृश्यते स्वात्मनः खलु ॥१७०॥
विक्रमार्कस्ततः कामकेलिपण्याङ्गनान्तिके ।
गत्वा स्वरत्नगमनवृत्तान्तमुक्तवान् स्फुटम् ॥१७१॥
वेश्या प्राह न कर्तव्यः खेदः पूरुष ! मानसे ।
रत्नानि वालयिष्यामि भवतोऽहं स्वबुद्धितः ॥१७२॥
भृत्वा स्थालमहं रत्नैस्तापसस्यान्तिके स्फुटम् ।
यदा यामि तदैत्येति वक्तव्यं भवता नर ! ॥१७३॥

१ प्रलम्बो दिक्पट स्थूल., शूलाऽस्तीयं लघीयसी घ । २ पीनोऽयं दिक्पटः स्वामिन् ! शूलेयं च लघीयसी घ । ३ लघीयान् घ ।

भो तापसार्पयाह्वाय मदीयं रत्नपञ्चकम् ।
कृतकृत्यो गमिष्यामि साम्प्रतं निजमन्दिरे ॥१७४॥
एवमुक्त्वा च माणिक्यैर्लक्षमूल्यैश्च भूरिभिः ।
भृत्वा स्थालं समेत्यावक् पण्यस्त्री तापसान्तिके ॥१७५॥
चिकीर्षुः साम्प्रतं मेऽद्य तनया काष्ठभक्षणम् ।
ईहते दातुमेतानि रत्नानि भवते यते ! ॥१७६॥
इतोऽभ्येत्य निजं रत्नपञ्चकं विलसद्द्युति ।
ययाचे विक्रमादित्यस्तापसस्य च सन्निधौ ॥१७७॥
जटी दध्यावहं चेन्न दास्येऽस्य रत्नपञ्चकम् ।
तदैतानि न रत्नानि मह्यं वेश्या प्रदास्यति ॥१७८॥
तेन कर्तुं न युज्येत झकटो मम साम्प्रतम् ।
यतो नश्यति सर्वा श्रीः कलितो देहिनामिह ॥१७९॥
ध्यात्वेति तापसः सद्यस्तदेव रत्नपञ्चकम् ।
प्रददौ विक्रमार्काय महत्त्वं दुर्लभं यतः ॥१८०॥

पण्यस्त्रियाः क्षणात्त्वस्या अभ्येत्य चेटिका जगौ ।
पुत्री स्वामिनि ! ते काष्ठभक्षणाद् व्यरमत्स्वयम् ॥१८१॥
श्रुत्वैतद्गणिका प्राह प्रतीक्षस्व क्षणं यते ! ।
यावत्सम्यक् सुतां पृष्ट्वा समेष्याम्यहमत्र तु ॥१८२॥
उक्त्वेति गणिका रत्नस्थालं लात्वा छलात्तदा ।
अभ्येत्य स्वगृहे स्वस्थमानसाऽजनि तत्क्षणात् ॥१८३॥
श्रीविक्रमदिनेशोऽपि गृहीत्वा रत्नपञ्चकम् ।
पण्ययोषागृहेऽभ्येत्य तस्थौ सुस्थितमानसः ॥१८४॥
एकैकं च मणिं दत्त्वा वेश्यायै तापसाय च ।
विक्रमार्कोऽचलत्सौवपुरं प्रति सुविक्रमः ॥१८५॥
गच्छतो विक्रमार्कस्य स्वपुर्यामेकमानवः ।
मिलितः प्राह मे दुःखं याति दारिद्र्यजं[1] नहि ॥१८६॥
लक्ष्मीं विना सुरूपोऽपि मान्यते न नरः क्वचित् ।
कुरूपोऽपि श्रिया युक्तः पूज्यते निखिलैर्जनैः ॥१८७॥ यतः–

---

१ दारिद्र्यता नहि घ ।

"आलस्यं स्थिरतामुपैति भजते चापल्यमुद्योगिताम्,
मूकत्वं मितभाषितां वितनुते मौग्ध्यं भवेदार्जवम्।
पात्रापात्रविचारभावविरहो यच्छत्युदारात्मताम्,
मातर्लक्ष्मि! तव प्रसादवशतो दोषा अपि स्युर्गुणाः" ॥
श्रुत्वैतद् विक्रमादित्यः कृपापूरितमानसः।
ददौ तस्मै दरिद्राय स्थितं रत्नत्रयं तदा ॥१८९॥
विक्रमादित्यभूमीशो विलोक्यैवं महीतलम्।
आगत्य स्वपुरे राज्यमलंचक्रे द्रुतं स्फुटम् ॥१९०॥

इति विक्रमादित्यपृथिवीविलोकनादिस्वरूपम्।

स्वस्मिन्नभिनवो राम इत्याख्यां ख्यापयन् भृशम्।[1]
जनताः पालयामास विक्रमार्कनरेश्वरः ॥१९१॥
श्रुत्वैतन्मन्त्रिणः सर्वे मिलित्वा छन्नमन्यदा।
मिथो निमन्त्रयन्त्येवं भूपो नैवाधुना वरः ॥१९२॥
वसुधा रत्नगर्भेति विद्वद्भिश्च निगद्यते।
युगे युगे नृरत्नानि जायन्ते भूरिशो यतः ॥१९३॥
अहमेव प्रधानोऽयमिति गर्वोद्धतिः स्फुटम्।
विहिता जायते सर्वमाहात्म्यक्षितिहेतवे ॥१९४॥ यतः—
"ज्ञानं मददर्पहरं माद्यति यस्तेन तस्य को वैद्यः।
अमृतं यस्य विषायते तस्य चिकित्सा कथं क्रियते ॥१९५॥
विद्ययैव मदो येषां कार्पण्यं विभवे सति।
तेषां दैवाभिभूतानां सलिलादग्निरुत्थितः ॥१९६॥
बलिभ्यो बलिनः सन्ति वादिभ्यः सन्ति वादिनः।
धनिभ्यो धनिनः सन्ति तस्माद्दर्पं त्यजेद् बुधः" ॥१९७॥
केनापि दीयते शिक्षा पुंसा नास्य महीपतेः।
भूपा भवन्ति दुर्लक्षाः पञ्चास्या इव वक्रतः ॥१९८॥ यतः—
"भद्दा भूप भुअंगम ए मुहि दुहिला हुंति।
वइरी वींछी वाणिआ ए पूठिइं दाह दीयंति" ॥१९९॥

[1] एकदा विक्रमार्केण विलसन्ती निजा प्रजाम्। दृष्ट्वा नव्यरामराज्यविरुदं पाठ्यते जने ॥ घ।

उपायरचनाद्गर्वोद्धतिरस्य महीपतेः ।
क्रमादुत्तारयितव्याऽस्माभिर्वचनयुक्तितः ॥२००॥
अन्येद्युर्विक्रमादित्य आकार्य मन्त्रिणो जगौ ।
यो वक्ति रामसम्बन्धं स कोऽपि विद्यते नरः ॥२०१॥
प्रधानैः प्रेरितो वृद्धो मन्त्री ह्येको महामतिः ।
अभ्येत्य भूपतेः पार्श्वे प्राह रामकथामिति ॥२०२॥
स्वामिन्नेको द्विजो वृद्धोऽयोध्यायां विद्यतेऽनघः ।
श्रीरामस्य कथावार्तें[1] पारंपर्यात् स विन्दते ॥२०३॥
ततो भूपो जनं प्रेष्याकार्य तं नगरे[2] द्विजम् ।
सन्मान्य प्राह रामस्य सम्बन्धं वक्षि किञ्चन ॥२०४॥
विप्रोऽवग् यदि रामस्य वार्ता श्रोष्यसि साम्प्रतम् ।
कोशलायां तदाऽऽगच्छ कथयिष्याम्यहं च ताम् ॥२०५॥
इह स्थितस्य रामस्य वृत्तोदन्तं मनागपि ।
सम्यग् शक्नोमि नो वक्तुमहं दर्शयितुं तव ॥२०६॥

राज्यभारं ततो यत्नान्न्यस्य मन्त्रिषु भूपतिः ।
अयोध्यासंनिधौ विप्रयुक्तस्तत्क्षणमागमत् ॥२०७॥
प्रोक्तं भूपेन भो विप्र ! रामस्य चरितं वद ।
दर्शयित्वा द्विजः स्थानमेकं प्राह नृपं प्रति ॥२०८॥
भूमिखण्डमिदं भूप ! भृत्यपार्श्वाच्च खानय ।
भूपादिष्टास्ततो भृत्याः खनन्ति स्मावनीतलम् ॥२०९॥
खनिते भूतले भृत्यैर्हस्तसप्तमिते तदा ।
एकं च निर्गतं गेहं स्फारं शुभ्रमणिमयम् ॥२१०॥
आद्यायां भुवि रैकुंभो निःसृतो विलसद्द्युतिः ।
द्वितीयस्यां भुवि प्रौढा रात्नीमण्डपिका पुनः ॥२११॥
एवं पृथक् पृथग् भूमौ वस्तुसारं विनिर्गतम् ।
रात्नं सिंहासनं ज्योतिर्जटालं निर्गतं पुनः ॥२१२॥
ज्योतिर्विद्योतितव्योमदेशा रत्नमयी वरा ।
एकोपानहिका चित्तचमत्कारकरा पुनः ॥२१३॥

१ कथावार्तापारपर्यं ग । २ निजे घ ।

तादृशीं वीक्ष्य तां भूपश्चमत्कृतमनास्तदा ।
मान्येयमिति जल्पित्वा नत्वा शीर्षे ददौ हृदि ॥२१४॥
विप्रोऽवग् युज्यते नैनां शीर्षे कर्तुं तव प्रभो ! ।
यतोऽसौ विद्यते चर्मकारपत्न्याश्च पादुका ॥२१५॥
विक्रमार्को जगौ चर्मकरा साऽपि मनोहरा ।
यस्या एवंविधा वर्या पादुका विद्यते द्विज ! ॥२१६॥
भूभुजोक्तं कथं चर्मकरस्येयं निगद्यते ।
ततो वृद्धो द्विजः प्राह पुरो विक्रमभूपतेः ॥२१७॥
श्रीरामे वसुधानाथे न्यायाद्राज्यं वितन्वति ।
अत्रासीच्चर्मकाराणां गेहश्रेणिर्मनोहरा ॥२१८॥
भीमस्य चर्मकारस्य गेहमेतन्मनोहरम् ।
तस्यासीद्गृहिणी दुर्विनीता पद्माभिधा शठा ॥२१९॥
अन्येद्युरकृते कार्ये कस्मिंश्चिद्वक्ति तं प्रिया ।
रुष्टैकपादुकारूढा तातस्य सदनं गता ॥२२०॥

पितृपार्श्वे तया प्रोक्तं पत्युः कर्कशभाषणम् ।
तातेनाश्वासिता द्वित्रिदिनानि स्थापिता गृहे ॥२२१॥
दिनत्रये गते कान्ताकारिताऽपि च साऽबला ।
न ययौ रमणावासे श्वसुरादिभिश्च दुर्मतिः ॥२२२॥
दिनत्रयानन्तरं प्रोक्तं पित्रा वत्से ! कुलस्त्रियाम् ।
रमणः शरणं तेन तत्र गच्छाधुना द्रुतम् ॥२२३॥
पुत्री प्राह न यास्यामि तत्र मानक्षयादहम् ।
एवं मात्रादिबन्धूनां वचोऽमन्यत नैव सा ॥२२४॥
ततो रुष्टौ पिता माता गदतः स्रेति तां प्रति ।
वत्से ! मन्यामहे आवामेवं मनसि साम्प्रतम् ॥२२५॥
सीतालक्ष्मणयुग् रामोऽत्राभ्येत्य त्वां लसद्गिरा ।
अनुनीय सुते ! पत्युः सदनं नेष्यते लघु ॥२२६॥
तदा त्वं सदने पत्युः प्रयास्यसि च नान्यथा ।
श्रुत्वैतत् पुत्रिका प्राह तातेत्थं भवतादिह ॥२२७॥

१ पितर् ! घ ।

चर्मकारस्य भार्यायाः प्रतिज्ञां तादृशीं क्रमात् ।
श्रुत्वा श्रीरामभूपालः सीतालक्ष्मणसंयुतः ॥२२८॥
चर्मकारसुतां पत्युर्गेहे प्रेपयितुं द्रुतम् ।
पश्यत्सु पौरलोकेषु चलितो राजवर्त्मनि ॥२२९॥ [युग्मम्]

अभ्येत्य सन्मुखं चर्मकारा राममहीपतेः ।
प्रोचुः प्रसाद ईदृक्षः किमस्मासु तवाधुना ॥२३०॥
किमर्थमागमः स्वामिंस्तवात्राजनि साम्प्रतम् ।
रामोऽवग् भवतः पुत्रीं नेतुं श्वसुरमन्दिरम् ॥२३१॥
स्वर्णमयेषु पीठेपु न्यस्तेषु वरमण्डपे ।
सीतालक्ष्मणसंयुक्तो रामभूप उपाविशत् ॥२३२॥
चर्मकृतां गृहश्रेणीं रवीन्दुरत्ननिर्मिताम् ।
वीक्ष्य दध्यावहं धन्यो यस्येदृक्षा प्रजा मम ॥२३३॥
गत्वा गेहान्तरे हृष्टश्चर्मकारो जगौ सुताम् ।
भ्रातृपत्नीयुतो रामस्त्वां मानयितुमीयिवान् ॥२३४॥

भ्रातृपत्नीयुतं राममेतं चर्मकृदङ्गजा ।
वीक्ष्य बहिर्गृहस्यैत्य नत्वा सीतापदोर्जगौ ॥२३५॥
दीपा ज्वलन्ति तैलेन किं स्वामिनि ! गृहे तव ।
ईदृग्गन्धयुता साटी भवत्या विद्यते यतः ॥२३६॥
सीताऽवग् वो निकाय्येपु कीदृक्षाः सन्ति दीपकाः ।
चर्मकारी जगौ रत्नैर्दीपा ज्वलन्ति नित्यशः ॥२३७॥
चर्मकृतां श्रियं वीक्ष्य चमत्कारकरां ततः ।
रामलक्ष्मणसीताभिः प्रोक्तेति चर्मकृत्सुता ॥२३८॥
वत्से ! पत्युर्गृहे गच्छ स्त्रियाः स्याच्छरणं पतिः ।
तयाऽभाणि प्रमाणं वो वचनं मम साम्प्रतम् ॥२३९॥
ततो हेममणीराशिजटितां पादुकां च ताम् ।
मुक्त्वा पितृगृहे पत्युः सद्मसिमामुपागमत् ॥२४०॥
रामो लक्ष्मणसीतायुक् तां प्रेष्येति सद्मनि ।
अलंचकार सदनं पालयन् पृथिवीं नयात् ॥२४१॥

निक्रमार्को जगौ कुत्र द्वितीया पादुकाऽस्ति च ।
ततोऽन्यत्र द्विजोऽभ्येत्य खानयामास भूतलम् ॥२४२॥
खन्यमानेऽवनीपीठे द्विजोक्ते मेदिनीभुजा ।
निर्गता पादुका हैमी द्वितीया तादृशी तदा ॥२४३॥
राज्ञा पृष्टं च भो विप्र ! त्वं जानासि कथं ह्यदः ।
विप्रोऽवग् ज्ञायते पारंपर्योपदेशतो मया ॥२४४॥
विक्रमार्क ! त्वया गर्वो नव्यरामेति जल्पनात् ।
कदापि हि न कर्तव्यो यतोऽसि त्वं महान्नृपः ॥२४५॥
यस्य नामस्मृतेर्वह्निस्तम्भोऽद्यापि प्रजायते ।
अष्टोत्तरशतं रोगा विलयं यान्ति तत्क्षणात् ॥२४६॥
लङ्घितं न पितुर्वाक्यं बाल्येऽपि येन भूभुजा ।
राज्यत्यजनतस्तस्य समः को जायते नरः ॥२४७॥
यस्य भार्या लसच्छिलगुणेनाद्यापि भूतले ।
सर्वासां योषितां मध्ये रेखां च लभते धुरि ॥२४८॥
सेवका यस्य सुग्रीवहनूमत्प्रमुखा वराः ।
बभूवुर्बहुशस्तस्य समः को जायते नृपः ॥२४९॥
इत्यादि बहुशो रामवृत्तं श्रुत्वा चमत्कृतः ।
तत्याज विक्रमादित्यो गर्वमात्मनि तत्क्षणात् ॥२५०॥
नव्यरामेति विरुदं निषिध्य विक्रमार्यमा ।
आगादुज्जयिनीपुर्यां ददद्दानमनर्गलम् ॥२५१॥

इति अभिनवरामजल्पनसम्बन्धः ।

आश्चर्याणि स्वदेशेषु दृष्ट्वा विक्रमभानुमान् ।
कौतुकान्यन्यदेशेषु रहोऽचालीद्विलोकितुम् ॥२५२॥
भ्रमंश्चैत्रपुराह्वाने नगरे विक्रमार्यमा ।
कस्यचिद्धनिनो गेहे ददर्शोत्सवमद्भुतम् ॥२५३॥
ततोऽप्राक्षीन्नरं कंचित्तत्र विक्रमभानुमान् ।
कस्य गेहे किमर्थं भो उत्सवो जायते वद ॥२५४॥
नरोऽवग् धनदस्येदं मन्दिरं श्रेष्ठिनो महत् ।
बहुकालादभूत्पुत्रो मनोरथशतैरिह ॥२५५॥

षष्ठीजागरणं कल्ये रात्रौ सूनोर्भविष्यति ।
तेनाद्य स्वजना एयुर्बहवः श्रेष्ठिनो गृहे ॥२५६॥
श्रुत्वैतद्विक्रमादित्यो द्वितीयेऽह्नि दिनात्यये ।
कृष्णाम्बरं परिधाय रहः श्रेष्ठिगृहं ययौ ॥२५७॥

इतस्तत्रागता कर्माधिष्ठात्री देवता रहः ।
अलिके लिखितुं श्रेष्ठिसूनोरक्षरसन्ततिम् ॥२५८॥
शुभाशुभाक्षरश्रेणीं कर्मणां बालकालिके ।
लिखित्वा चलिता कर्मदेवता यावदञ्जसा ॥२५९॥
तावद्धस्ते धृता भूमीभुजा पृष्टा जगाविति ।
बालकोऽयं यदा कन्यामिभ्यस्य परिणेष्यति ॥२६०॥

तदा व्याघ्रमुखादस्य मृत्युर्भावी नरोत्तम ! ।
श्रुत्वेति विक्रमादित्यो विससर्ज च तां सुरीम् ॥२६१॥
प्रभाते विक्रमादित्यो गत्वा श्रेष्ठिनिकेतने ।
मिलितः श्रेष्ठिनाऽन्नाद्यैः प्रीणितो भक्तिपूर्वकम् ॥२६२॥

श्रेष्ठी प्राह क्व वास्तव्यः किंनामासि त्वकं वद ।
नृपोऽवग् विक्रमो नाम्नोज्जयिनीनगरेऽवसम् ॥२६३॥
श्रेष्ठी प्राह यदा मेऽसौ तनयः परिणेष्यति ।
तदा त्वयाऽत्र नगरे आगन्तव्यं मदालये ॥२६४॥

विक्रमोऽवक् यदि श्रेष्ठिन्! त्वमाकारयितुं मम ।
समेष्यसि तदाऽहं ते समेष्यामि गृहे द्रुतम् ॥२६५॥
एवमुक्त्वा ततो भूपो विक्रमार्कः पुरे पुरे ।
प्रपश्यन् कौतुकान्यागादुज्जयिनीं पुरीं क्रमात् ॥२६६॥
वर्धमानः क्रमात्पित्रा धनदश्रेष्ठिना तदा ।
पाठितः पण्डितोपान्ते धर्मकर्मकलाः कलाः ॥२६७॥ यतः–
"जायंमि जीवलोए दो चेव नरेण सिक्खिअव्वाइं ।
कम्मेण जेण जीवइ जेण मओ सुग्गइं जाइ" ॥२६८॥
धनदश्रेष्ठिना कन्या धनिनां षोडशानघाः ।
पुत्रस्य मार्गिता दारकर्मणे सुन्दरेऽहनि ॥२६९॥

ग्रहीतुं धनदो लग्नमभूद्यावत् शुभेऽहनि ।
तावदशकुनास्तत्र जायन्ते स्म पदे पदे ॥२७०॥
धनदो ध्यातवानेवं प्रतिज्ञैवं मया कृता ।
मम सूनोर्यदा पाणिपीडनं च मिलिष्यति ॥२७१॥

तदा गत्वा मयाऽवन्त्यां पुरि विक्रममानवः ।
आनेतव्यो द्रुतं पूर्वं विवाहमिलनादिह ॥२७२॥ [युग्मम्]
लग्नस्य ग्रहणं मुक्त्वा गत्वाऽवन्त्यां पुरि द्रुतम् ।
स्थाने स्थाने जगावेवं धनदो लोकसन्निधौ ॥२७३॥
विक्रमस्य गृहं कुत्र विद्यते ब्रूत मानवाः ।
लोकाः प्रोचुश्च पुर्यस्यां विक्रमाः सन्ति भूरिशः ॥२७४॥
धनदोऽवग् वयोरूपाकृतिवर्णादिभिर्वरैः ।
एवंविधो भवेद्यस्तु विक्रमः सोऽत्र कथ्यताम् ॥२७५॥
विक्रमार्कनृपो भावी मत्वेति जगदे जनैः ।
राजपद्यां(पाट्यां) यदा भूपो गजारूढः समेष्यति ॥२७६॥

तदा विलोकनीयः स भवता पुरुषोत्तमः ।
श्रुत्वैतद् धनदो राजपाट्यां द्रष्टुं च तं स्थितम् ॥२७७॥
राजपाट्यां स्थितं तं च नरं वीक्ष्योपलक्ष्य च ।
विक्रमार्को जगौ किं ते परिणीतः सुतो न वा ॥२७८॥

श्रुत्वैतद्धनदश्चित्ते दध्याविथं स विक्रमः ।
किमयं विद्यते राजा मया तादृग् न भक्तितः ॥२७९॥
भूपोऽवग् न त्वया खेदः कर्तव्यो धनदाधुना ।
विद्यते यच्च ते कार्यं तत्त्वं कथय साम्प्रतम् ॥२८०॥
पाणिपीडनवृत्तान्तं धनदो निखिलं जगौ ।
मया त्वमपि भूपालः सम्यग् नैवोपलक्षितः ॥२८१॥
आकर्ण्यैतत् तदा सर्वे भट्टमात्रादयोऽनुगाः ।
चमत्कृता जगुः स्वामिन् ! कोऽसौ वणिग्वरोऽनघः ॥२८२॥
विक्रमार्को जगौ पूर्वं चैत्रपुर्यामगां पुरि ।
तदाऽनेन च वणिजा मानितोऽहं सुभक्तितः ॥२८३॥

धनदोऽवग् महीपाल! तव तत्रागमं विना ।
पुत्रं परिणायिष्यामि नाहं भूपस्ततो जगौ ॥२८४॥
यदि ते रोचते तत्रैष्याम्यहं साम्प्रतं तदा ।
धनदोऽवग् नृपाशेषपरिवारयुतो व्रज ॥२८५॥
राजाऽवक् परिवारस्य बहोर्मे भोजनं कथम् ।
दास्यते भवता तेन युक्तमेतद्वचो न ते ॥२८६॥
धनदोऽवग् मया किञ्चित् परिवारस्य ते नृप! ।
निजसद्मानुसारेण गौरवं च करिष्यते ॥२८७॥
ततश्चमत्कृतो भूपो मेने तद्वचनं तदा ।
धनदः स्वगृहे गत्वा तत्कृते स्वं ललौ बहु ॥२८८॥
रसवत्या ततो भक्तसामग्रीं च पदे पदे ।
अपूर्वां कारयामास श्रेष्ठी मार्गे धनव्ययात् ॥२८९॥
आगच्छन् नृपतिर्वीक्ष्य सामग्रीं तादृशीं पथि ।
मुमुदे यामिनीनाथमिव शैवलिनीपतिः ॥२९०॥

समहं विक्रमादित्ये पुर्यां तस्यां समागते ।
ललौ लग्नं स्यात्सूनोः परिणेतृकृते वणिक् ॥२९१॥
सदन्नपानताम्बूलदिव्यवस्त्रादिभिस्तदा ।
विवाहस्य व्यधाद् वर्यां सामग्रीं स्वगृहे मुदा ॥२९२॥
लग्नक्षणे तदा तार्क्ष्यमारूढः श्रेष्ठिनन्दनः ।
तदा विक्रममार्तण्डस्तद्रक्षायै व्यधादिति ॥२९३॥
मण्डलेन महीपाल आदौ खेटकभृन्नरान् ।
परितः श्रेष्ठिनः सूनोः स्थापयामास भूपतिः ॥२९४॥
एवं नानाविधान् भृत्यान् नानाशस्त्रभृतो बहून् ।
परितः श्रेष्ठिनः सूनोः स्थापयामास भूपतिः ॥२९५॥
रक्षां विदधतां श्रेष्ठिसूनोर्भूपानुगामिनाम् ।
अकस्मात्खेटकाद् व्याघ्ररूपमाशु समुत्थितम् ॥२९६॥
यान्तं श्रेष्ठिसुतं व्याघ्रो जघान च चपेटया ।
हतं पुत्रं वणिग् दृष्ट्वा दुःखितो धनदोऽभवत् ॥२९७॥ यतः—

"पितृमातृसुतापुत्रपत्नीबन्धुसुहृत्सताम् ।
वियोगे जायते दुःखं मानवानां भृशं हृदि ॥२९८॥
श्रेष्ठिपार्श्वे नृपोऽभ्येत्य दैवालिखनपूर्वकम् ।
षष्ठीजागरणोदन्तमुक्त्वान्निखिलं तदा ॥२९९॥
श्रेष्ठी मृते सुते यावन्मर्तुकामोऽभवत्तदा ।
विक्रमार्को ललौ तावच्छस्त्रीं हन्तुं वपुर्निजम् ॥३००॥
विक्रमार्को जगौ कर्मदैवं प्रति स्फुटाक्षरम् ।
यद्यसौ श्रेष्ठिनः सूनुर्जीविष्यति न साम्प्रतम् ॥३०१॥
तदा मया निजो देहो हन्तव्यश्च तवोपरि ।
दृष्ट्वैतत्साहसं तस्य तुष्टं दैवं जगावदः ॥३०२॥
कथं मयाऽस्य पुत्रस्य जीवितं दीयते नृप! ।
अनेन श्रेष्ठिपुत्रेण पुरैकः केसरी हतः ॥३०३॥
तत्कर्म साम्प्रतं सूनोस्तस्योदयमुपागतम् ।
अतोऽसौ तनयस्तेन व्याघ्रेण च हतोऽधुना ॥३०४॥
देवदानवगन्धर्वा भूपाला मानवा अपि ।
पूर्वकृताशुभात्पापाच्छुट्यन्ते न कदाचन ॥३०५॥ यतः-
"ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे,
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः ।
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासङ्कटे,
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे" ॥३०६॥
विक्रमार्को जगौ तस्य दुष्टं कर्म पुरा कृतम् ।
विलीनमभवच्चेद्धि तदाऽसौ जीवतु द्रुतम् ॥३०७॥
भुक्तं कर्म तदा मत्वा कर्मदैवतमञ्जसा ।
जीवितव्यं ददौ श्रेष्ठिसूनोर्भूपतिसाहसात् ॥३०८॥ यतः-
"वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये महार्णवे पर्वतमस्तके वा ।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा, रक्षन्ति पुण्यानि पुरा कृतानि" ॥
एवंविधं श्रेष्ठिसुतस्य तस्य, कृत्वोपकारं निजदेहदानात् ।
श्रीविक्रमार्कः परिवारशाली सदुत्सवं स्वं पुरमाजगाम ॥३१०

इत्युपकारे कथा ।

अवन्त्यां विक्रमार्कस्य पृथिवीं शासतो नयात् ।
एको वणिग् मणिं दिव्यं दर्शयामास संसदि ॥३११॥
पृष्टं भूमीभुजा कुत्र लब्धं रत्नं त्वया वद ।
वणिग् जगौ मया भूप ! क्षेत्रं खेटयताऽऽपि हि ॥३१२॥
आकार्य भूभुजा रत्नपरीक्षाकारिणो वहून् ।
पृष्टं वदत किं मूल्यं मणेरस्य भविष्यति ॥३१३॥
तैरुक्तं भूपते ! नास्य मणेर्मूल्यं शरीरिणा ।
विधातुं शक्यते दिव्यज्योतिर्जालविलोकनात् ॥३१४॥
स्वामिन्नेवंविधं रत्नं ज्योतिर्द्योतितभूतलम् ।
न दृष्टं क्वापि भूपीठेऽस्माभी रत्नपरीक्षकैः ॥३१५॥
उक्तं च तैर्बलिं रत्नपरीक्षाकृतिकोविदम् ।
मुक्त्वाऽत्र मेदिनीपीठे नान्योऽस्ति मेदिनीपते ! ॥३१६॥
दिनद्वयेन रत्नस्य मूल्यं च कथ्यते मया ।
उक्त्वेति भूपतिः स्थापयामास तं निजे गृहे ॥३१७॥

पातालेऽस्ति वलिर्दैत्यो मत्वेति विक्रमार्यमा ।
अग्निवेतालसान्निध्यात् द्वारेऽगाद् वलिसद्मनः ॥३१८॥
वलिसद्मप्रतोलीस्थः कृष्णस्तेन नतो धुरि ।
विष्णुः प्रोवाच कोऽसि त्वमिहायातश्च किंकृते ॥३१९॥
विक्रमार्को जगौ कार्यं कथ्यते बलिसन्निधौ ।
गच्छ द्वाःस्थ ! वलेः पार्श्वे जल्पेति च मयोदितम् ॥३२०॥
वलिपार्श्वे मुरारातिस्ततो गत्वा जगावदः ।
स्वामिन् ! राजाऽऽगतो द्वारि मिलनाय तवाधुना ॥३२१॥
वलिः प्राह किमायातः पृच्छे राजा युधिष्ठिरः ।
पश्चादेत्य जगौ कृष्णस्त्वमागाः किं युधिष्ठिर ! ॥३२२॥
विक्रमार्को जगौ गच्छ मण्डलीकं वदागतम् ।
पश्चादेत्य हरिः प्राह मण्डलीकः समागतः ॥३२३॥
वलिः प्राहागतः किं भो द्वारे दशमुखो वद ।
द्वारमेत्य जगौ कृष्णः त्वं किं रक्षो दशाननः ॥३२४॥

विक्रमार्कों जगौ वण्ठो रामभूमीपतेरहम् ।
वलिः प्रोवाच हनूमानागतोऽसि वदेः पुनः ॥३२५॥
विक्रमोऽवक् कुमारोऽहमागतः कार्यहेतवे ।
वलिः प्राह वदेः किं भो षण्मुखः पार्वतीसुतः ॥३२६॥
विक्रमोऽवक् तलारोऽहं साम्प्रतं पृथिवीतले ।
वलिः प्राहागतं किं भो विक्रमार्कनरेश्वरः ॥३२७॥

अत्र सूक्ते द्वे । विक्रमोक्तं सूक्तम्—

राजाऽहं मंडलीकोऽहं वंठोऽहं रामभूपतेः ।
कुमारोऽहं तलारोऽहं द्वाःस्थ जल्प वलेः पुरः ॥३२८॥

वलिनोक्तं सूक्तम्—

धर्मपुत्रो दशमुखो हनूमान् षण्मुखः पुनः ।
विक्रमार्क इति पृष्टं वलिना हरिसंनिधौ ॥३२९॥
वल्यादेशात्ततो मध्ये गत्वा विक्रमभूपतिः ।
दर्शयित्वा मणिं मूल्यं पप्रच्छ च वलिं तदा ॥३३०॥

वलिः प्राहास्य रत्नस्य मूल्यं कर्तुं न शक्यते ।
विक्रमार्को जगौ रत्नं कुत्रत्यमिदमागतम् ॥३३१॥
वलिनोक्तमयोध्यायां युधिष्ठिरनृपोऽभवत् ।
सत्यवादी सदा धर्मकर्मकर्मठमानसः ॥३३२॥
सत्यजल्पनसत्त्वादिगुणेन तस्य भूपतेः ।
सन्तुष्टो वरुणोऽमूल्यं रत्नकोट्ययुतं ददौ ॥३३३॥
धर्मकृत्यानि कुर्वाणो युधिष्ठिरनृपः सदा ।
दीनदुःस्थजनार्थिभ्यो ददौ रत्नानि भूरिशः ॥३३४॥
तेषां मध्यादिदं रत्नं पतितं चटितं तव ।
अस्य रत्नस्य मूल्यं न कर्तुं केनापि शक्यते ॥३३५॥
तथापि कथ्यते मूल्यमस्य कालानुमानतः ।
त्रिंशत्कोटीः(ट्यः) सुवर्णानां मूल्यमस्य भविष्यति ॥३३६॥
श्रुत्वैतद् विक्रमादित्योऽभ्येत्य स्वस्मिन् पुरे द्रुतम् ।
त्रिंशत्कोटीः सुवर्णानां तस्मै च वणिजे ददौ ॥३३७॥

ग्रामाणि पञ्च तुरगान् दश वर्यान् मनोहरान् ।
तस्य वितीर्य पृथिवीं पालयामास भूपतिः ॥३३८॥

इति सत्त्वौदार्यन्यायमार्गपालनविषये कथा ।

अन्येद्युर्विक्रमादित्यो राज्यं कुर्वन्नयान्निशि ।
निर्ययौ गेहतो राजा पुरवृत्तं निरीक्षितुम् ॥३३९॥
भ्रमन् भूमीपतिः पुर्यामेकाकी दिवसात्यये ।
ददर्श कन्यकायुग्मं वार्त्तावन्तमिति[1] स्फुटम् ॥३४०॥
आद्याऽवक् परिणीताऽहं गता च श्वसुरालये ।
श्वश्रूश्वसुरकान्तानां करिष्ये विनयं सदा ॥३४१॥
द्वितीया कन्यका प्राह पित्राऽहं परिणायिता ।
वञ्चयित्वा पतिं रंस्ये पुंसाऽन्येन सह च्छलात् ॥३४२॥
राजा दध्यौ प्रगे पत्नीं कुर्वेमां कन्यकामिह ।
विधास्येऽहं तथा मानो यथाऽस्या हि प्रणश्यति ॥३४३॥
आकार्य पितरं तस्याः प्रातर्दत्त्वा धनं बहु ।
सौभाग्यसुन्दरी राज्ञा परिणीता कनी तदा ॥३४४॥
एकस्तम्भे गृहे प्रौढे विषमे[2] भूभुजा तदा ।
स्थापिता गृहिणी ज्ञातुं तस्याश्चरितचेष्टितम् ॥३४५॥
तत्रस्था भूभुजा सेव्यमाना दध्याविदं हृदि ।
कथं सख्याः पुरः प्रोक्तं मया सत्यं करिष्यते ॥३४६॥
वैदेशिकोऽन्यदा श्रेष्ठी गगनधूलिसंज्ञकः ।
तत्रैतो व्यवसायं स चकार क्रयविक्रयौ ॥३४७॥
एकस्तम्भगृहोर्ध्वस्था राज्ञी गगनधूलिकम् ।
अधो यान्तं निरीक्ष्येति चेतोभू[3]विह्वलाऽभवत् ॥३४८॥ यतः—
वञ्चकत्वं नृशंसत्वं चञ्चलत्वं कुशीलता ।
इति नैसर्गिका दोषा यासां तासु रमेत कः” ॥३४९॥
मत्सन्निधौ समागम्यं त्वया सार्थपते ! द्रुतम् ।
नो चेत् प्राणानहं त्यक्त्वा हत्यां दास्यामि ते निजाम् ॥३५०॥

१ वार्तयन्तं स्वबुद्धित ग । २ वनमध्यगे घ । ३ जाताऽनङ्गेन विह्वला ग ।

वीटकान्तरसुश्लोकं क्षिप्त्वा राज्ञी गवाक्षगा।
यातोऽधः पातयामास सार्थपस्य सुखासने ॥३५१॥ [युग्मम्]
वीटकान्तस्तदा लेखं दृष्ट्वा चोत्कील्य[1] तत्क्षणात्।
वाचयित्वेति रागान्धो दध्यौ गगनधूलिकः ॥३५२॥
इयं ममाधुना नारी नारीहत्यां प्रदास्यति।
ततः[2] पृष्टः सुहृत्प्राह प्रपश्चात्तत्र गम्यते ॥३५३॥
गोधापुच्छे दृढं रज्जुं बद्धा चोर्ध्वं प्रक्षिप्यते।
धृत्वा दोरं महीपालपत्नीपार्श्वे च गम्यते ॥३५४॥
गोधाप्रयोगतो व्योमधूलिक एकदा निशि।
एकस्तम्भगृहे राज्याः समीपे समुपेयिवान् ॥३५५॥
स्नेहपूर्वं तदाऽनेन भुक्ता सा व्योमधूलिना।
राज्योक्तं[3] च गते क्ष्मापे त्वयाऽऽगम्यमिह ध्रुवम् ॥३५६॥
यदाऽकस्मान्नृपोऽभ्येति मध्ये स्तम्भे तदा रहः।
स्थातव्यं भवता तद्वद् यथा वेत्ति न भूपतिः ॥३५७॥

निःस्नेहां तां प्रियां दृष्ट्वा ताम्बूलं पतितं पुनः।
राजा दध्यौ नरोऽभ्येत्य कोऽपि भुङ्क्ते रहो निशि ॥३५८॥
सशङ्को भूपतिर्गेहपार्श्वे भ्राम्यन् वने क्वचित्।
तस्थौ नृपो रहो यावद्योगी तत्रागमत्तदा ॥३५९॥
अन्धारीमध्यतः कन्यां कृष्ट्वा भुक्त्वा च योगिराट्।
सुष्वाप निर्भरं भूपः सावधानोऽभवत्तदा[4] ॥३६०॥
अन्धारीमध्यतः कन्या नरमाकृष्य तत्क्षणात्।
सुष्वाप च यदा भुक्त्वा तदा दध्यौ चिरं नृपः ॥३६१॥
अहो हि चरितं नारीपुरुषयोर्गहनं भृशम्।
विशेषान्नृपतिर्गेहात्पुरतो भ्रमति स्म सः ॥३६२॥
मध्ये स्थितं नभोधूलिं ज्ञात्वाऽभ्यर्थ्य च योगिनम्।
भोजनायानयामास स्वैकस्तम्भगृहोपरि ॥३६३॥
राज्ञा रसवती पञ्चजनयोग्या च कारिता।
आसनानि च पञ्चैव स्थापितानि तदा स्फुटम् ॥३६४॥

१ चोरिखल्य घ। २ प्राह पृष्टस्ततो मित्रः घ। ३ राज्योक्तमियति क्ष्मापे गन्तव्यं भवता रहः घ। ४ तथापि हि घ।

राजाऽवग् योगिराट् शोभा न भवेद्योगिनीं विना ।
तेनैकस्मिन् प्रियामादावासने स्थाप्यतामिह ॥३६५॥
बह्वभ्यर्थनया योगी झोलिकामध्यतस्तदा ।
निष्काश्य वनितामेकामासनेऽतिष्ठपत्तदा ॥३६६॥

ततो नृपो जगावत्र योगिनि ! त्वं कलावति ।
कौशलं दर्शयेदानीं नवीननरदर्शनात् ॥३६७॥
बह्वभ्यर्थनया योगिपत्न्या च झोलिकान्तरात् ।
निष्काश्यैको नरोऽस्थापि विष्टरे भोक्तुमञ्जसा ॥३६८॥
राजाऽवग् विद्यते शून्यमधुनाऽऽसनमेककम् ।
तत्रैकं त्वमपि नरमुपावेशय भामिनि ! ॥३६९॥

परीक्षार्थमिदं सर्वं विद्यते मण्डितं मया ।
तवान्येषां च मर्त्यानां जीवितं प्रददे पुनः ॥३७०॥
बह्वभ्यर्थनया राज्ञ्या विमृश्य हृदये तदा ।
स्तम्भमध्यान्नभोधूलिः कर्पितोऽतीवरूपवान् ॥३७१॥

आसने स्थापिताः सर्वे भोजनं कारितास्तदा ।
ततोऽवग् भूपतिर्योगिन् ! पत्न्या दोषो न मे मनाक् ॥३७२॥
यदुक्तं भार्यया बाल्यावस्थायां मे पुरः पुरा ।
तत्सत्यमनया चक्रे ईदृक्कृत्यविधानतः ॥३७३॥

नारीणां पुरुषाणां च वृत्तमेवंविधं यदि ।
कस्य दोषः प्रदीयेतास्माभिर्योगिंस्तदाऽधुना ॥३७४॥
प्रोक्त्वेति नृपतिः प्राह व्योमधूले वणिग्वर ! ।
कियान् कालोऽजनिष्टात्रागतस्य तव सम्प्रति ॥३७५॥
व्योमधूलिर्जगौ मासाः षण्मेऽभुवन्निह प्रभो ! ।
अशुष्कां कौसुमीं मालां दृष्ट्वा शीर्षे जगौ नृपः ॥३७६॥

कथं पुष्पाणि ते शीर्षे न शुष्यन्ति नरोत्तम ! ।
ततः प्राह नभोधूलिरिति स्वं चरितं स्फुटम् ॥ तथाहि—
चम्पापुर्यां धनस्याभूत्प्रिया धन्यभिधा वरा ।
धन्याऽन्यदा सुतोऽसावि ततो जन्मोत्सवोऽभवत् ॥३७८॥

धनकेलिरिति प्रोक्तं तातेन नाम तस्य च।
वर्धमानः क्रमान्मुक्तः पठितुं लेखसद्मनि ॥३७९॥
पण्डितान्ते पठन् विद्या धनकेलिः सुतः सदा।
जग्राह सकला रम्यकला विनयपूर्वकम् ॥३८०॥
धनेन विभवं न्यासीकृत्वा भूमौ रहोऽन्यदा।
धनसंख्यान्वितं या (यद्) मे ददे टोडरकं वरम् ॥३८१॥
पृष्ठवाड्भिर्धनैर्दूरदेशे मे गच्छतो जनैः।
धूलिव्याप्तनभस्त्वेन व्योमधूलिर्ददेऽभिधा ॥३८२॥
कौशाम्ब्यां पुरि चन्द्रस्य श्रेष्ठिनो रुक्मिणी सुता।
परिणीता मया पित्रोरादेशात्समहोत्सवम् ॥३८३॥
कियद्दिनैरहं कामलतया पण्ययोषिता।
मोहितो द्रविणं भूरि व्ययंस्तस्या गृहे स्थितः ॥३८४॥
बहुभिर्हायनैस्तत्र स्थितेन मयका तदा।
भक्षितं द्रविणं भूरि निर्द्रव्यं स्वगृहं कृतम् ॥३८५॥

त्रुटिते द्रविणे मातापितरौ मरणं गतौ।
ततस्तोडरकं तच्च धनकेलिप्रिया ललौ ३८६॥
लक्ष्म्या अभावतो व्योमधूलिपत्नी च रुक्मिणी।
पतितं तद्गृहं मुक्त्वा प्रययौ पितुरालये ॥३८७॥ यतः—
"वृक्षं क्षीणफलं त्यजन्ति विहगाः शुष्कं सरः सारसाः,
पुष्पं पर्युषितं त्यजन्ति मधुपा दग्धं वनान्तं मृगाः।
निर्द्रव्यं पुरुषं त्यजन्ति गणिका भ्रष्टं नृपं सेवकाः,
सर्वः कार्यवशाज्जनोऽत्र रमते कः कस्य को वल्लभः" ॥
लक्ष्म्यभावात्ततः पण्ययोषिता दुष्टचित्तया।
निष्काशितः स्वसदने तादृशोऽहं समागमम् ॥३८९॥ यतः—
"अभ्रच्छाया तृणादग्निः खले प्रीतिः स्थले जलम्।
वेश्यारागः कुमित्रं च षडेते बुद्बुदोपमाः ॥३९०॥
मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्क्रियायामन्यदेव हि।
यासां साधारणस्त्रीणां ताः कथं सुखहेतवः" ॥३९१॥

१ सुतं सूता घ। २ अकस्माद् धनकेलेस्तु पितरौ मरण गतौ। ततः टोडरकं घ।

मांसमिश्रं सुरामिश्रमनेकविटचुम्बितम् ।
को वेश्यावदनं चुम्बेदुच्छिष्टमिव भोजनम् ॥३९२॥
अपि प्रदत्तसर्वस्मात् कामुकात् क्षीणसम्पदः ।
वासोऽप्याच्छेत्तुमिच्छन्ति गच्छतः पण्ययोषितः ॥३९३॥
पतितं स्वं गृहं वीक्ष्य दुःखितोऽहं वधूं ततः ।
आनेतुं श्वसुरस्यौकः प्रतोल्यामगमत्तदा ॥३९४॥
तत्रालब्धप्रवेशोऽहं कृत्वा वेषान्तरं पुनः ।
भिक्षार्थं श्वसुरस्यौको रङ्करूपधरोऽगमम् ॥३९५॥
पत्न्या भिक्षा ददे मह्यमहं नैवोपलक्षितः ।
भार्यायाश्चरितं द्रष्टुं स्थितश्चासन्नमन्दिरे ॥३९६॥
गते यामद्वये रात्रौ रुक्मिणी मम गेहिनी ।
मोदकापूरितस्थाला द्वारमेत्य जगावदः ॥३९७॥
भो द्वाःस्थ ! साम्प्रतं द्वारमुद्घाटयाचिरात् स्फुटम् ।
द्वारेऽनुद्घाटिते पश्चाद् रुक्मिणी स्वगृहं ययौ ॥३९८॥

द्वितीये वासरे व्योमधूलिर्भिक्षार्थमीयिवान् ।
पप्रच्छ रुक्मिणी भिक्षां दत्त्वा कस्त्वं कुतोऽगमः ॥३९९॥
तेनोक्तं कर्मयोगेनेदक्षोऽभवं वणिक्सुतः ।
रुक्मिणी प्राह मे त्वं चेत्कथितं श्राक् करिष्यसि ॥४००॥
स्थापयामि तदाऽहं त्वां प्रतोल्यां सद्मनः पितुः ।
करिष्याम्यन्नपानाद्यैर्भवन्तं सुखिनं पुनः ॥४०१॥
एवमुक्ते तया व्योमधूलिर्द्वारि च तस्थिवान् ।
रुक्मिणी पूर्ववद् द्वारमागत्येति जगौ निशि ॥४०२॥
द्वारमुद्घाटयाह्वाय गृहाणैकं च मोदकम् ।
उद्घाटितं तदा व्योमधूलिना द्वारमञ्जसा ॥४०३॥
द्वारे उद्घाटिते तस्मै दत्त्वैकं मोदकं द्रुतम् ।
रुक्मिणी प्रययौ स्वर्णापणे मुदितमानसा ॥४०४॥
व्योमधूलिस्ततः पत्न्याश्चरितं वीक्षितुं रहः ।
तस्थावेकत्र गत्वाऽऽशु पृष्ठौ तस्याः समीपतः ॥४०५॥

पुरा विहितसङ्केतो नर एकस्तदा शनैः ।
तत्रैत्येति जगौ कल्ये किं नायाताऽसि भामिनि ! ॥४०६॥
चपेटयाऽऽहता भूमौ पतिता प्राह रुक्मिणी ।
द्वाःस्थेनोद्घाटितं नैव द्वारं तेनात्र नागमम् ॥४०७॥
क्षमस्व त्वमतोऽहं च पालयिष्यामि ते वचः ।
तस्याः करात्तदा भूमौ टोडरकं पपात च ॥४०८॥
लात्वा टोडरकं पश्चाद् द्वारमेत्य तदा स्थितम् ।
प्रगे टोडरके ह्युत्खिलिते लेखो विनिर्गतः ॥४०९॥
लेखमुत्खिल्य गगनधूलिर्द्वाःस्थस्तदा रहः ।
वाचयामासिवानेवं शनैर्मुदितमानसः ॥४१०॥
धनश्रेष्ठिगृहे वामकोणेऽधो दशहस्तके ।
सन्ति कोट्यः सुवर्णस्य चतस्रः स्थापिता वराः ॥४११॥
ततः टोडरकं सद्यो विक्रीयादाय शम्बलम् ।
चम्पायां प्रययौ व्योमधूलिर्निजनिकेतने ॥४१२॥

उत्खाय वसुधां प्राप्य निधानमहकं ततः ।
सज्ज्यकार्पं गृहं पत्तितुरगादीनलामहम् ॥४१३॥
वहुपत्तियुतस्ताक्ष्यारूढो रुचिरवेपभाग् ।
गतोऽहं मानितः शालैः सवैः श्वसुरसद्मनि ॥४१४॥
परं नाहं प्रियां दृग्भ्यां प्रपश्यामि मनागपि ।
ततः खिन्ना प्रसुप्तस्य प्रक्षालयति मे पदौ ॥४१५॥
भार्यां ज्ञात्वा मया प्रोक्तं भवत्या न वरं कृतम् ।
लभमानोऽधुना स्वप्नमहमुत्थापितस्त्वया ॥४१६॥
तयोक्तं भवता कीदृक् स्वप्नो दृष्टो वदाधुना ।
मयोक्तमस्य गेहस्य द्वारेऽहमेकया स्त्रिया ॥४१७॥
स्थापितो गौरवं कृत्वा भक्तपानादिदानतः ।
बहिर्यान्त्या तया मह्यं चैकश्च मोदको ददे ॥४१८॥ [युग्मम्]
स्वर्णापणे गता यावन्नारी तावदहं तदा ।
पृष्ठौ गत्वा रहः स्थाने स्थितो वृत्तं निरीक्षितुम् ॥४१९॥

पुरा विहितसङ्केतो नर एकस्तदा शनैः ।
तत्रैत्येति जगौ कल्ये किं नागास्त्वं च भामिनि ! ॥४२०॥
चपेटयाऽऽहता ॥(४०७) क्षमस्व त्वमतोऽहं च० (४०८) ॥

तस्या हस्तात्तदा टोडरकं च पतितं भुवि ।
यावन्मया लले तावत्त्वया जागरितो निशि ॥४२१॥
विधाय भ्रकुटीं तत्र स्थितोऽरुणविलोचनः ।
अहं खरवचाः पत्नीं प्रत्येवमब्रुवं द्रुतम् ॥४२२॥
अर्धस्वप्ने मया लब्धे गतनिद्रोऽधुना त्वया ।
कुर्वत्या न कृतं चारु प्रिये ! शिष्टकुलोद्भवे ॥४२३॥

एतन्मर्मवचः श्रुत्वा हृदयास्फोटतस्तदा ।
मृता पत्नी मयोत्पाट्य मुक्ता स्वर्णापणे रहः ॥४२४॥
यावदहं स्थितश्छन्नं तावज्जारः समागतः ।
सुप्तां दृष्ट्वा जगावित्थं ताडयंस्तां चपेटया ॥४२५॥

उत्सूरे रे कथं पापे ! समायाताऽसि सम्प्रति ।
गच्छोत्तिष्ठ न मे कार्यं त्वयाऽत्र वामलोचने ! ॥४२६॥
भूयोऽप्येवं यदा प्रोक्ता नोत्तरं सा ददौ मनाक् ।
तदा तेनैव जारेण मृता ज्ञाता नितम्बिनी ॥४२७॥
शोचन्नेवं ततः स्वं स भूयो भूयो जगाविदः ।
वराकीयं मया मर्मस्थानके आहता द्रुतम् ॥४२८॥
मृता तेन ध्रुवं नारी धिग् धिग् मां पापकारिणम् ।
एवमुक्त्वा च गर्तायां चिक्षेपोपपतिश्च ताम् ॥४२९॥
धूल्याऽऽच्छाद्य रहः स्वीयस्थानके समुपागमत् ।
वृत्तं पत्न्या अहं दृष्ट्वा कम्पिताङ्गोऽभवं तदा ॥४३०॥
नार्याश्चरित्रमिदृक्षं कदर्यं चिन्तयन्नहम् ।
शनैः स्थानात्ततः सौववासावासमुपागमम् ॥४३१॥
प्रभाते पितरौ पुत्रीमदृष्ट्वा दुःखितौ भृशम् ।
बभूवतुस्ततः प्रोक्तं वृत्तं तस्या मयाऽखिलम् ॥४३२॥

ततोऽहं चलितो यावच्छात्वा पुष्पस्रजं तदा ।
तद्दुहिता सुरूपाख्या वरितुं मां समागमत् ॥४३३॥
सा प्राहेति वृणु त्वं मामागतां च स्वयंवराम् ।
मया प्रोक्तं त्वमप्यात्मयामितुल्या भविष्यति ॥४३४॥

ततस्तद्भगिनी प्राह पुष्पमालामिमां वराम् ।
क्षिपामि भवतः कण्ठे साम्प्रतं पितृसाक्षिकम् ॥४३५॥
यदा शुष्यत्यसौ पुष्पमाला शीर्षे स्थिता तव ।
तदा मे शीलमालिन्यं ज्ञातव्यं भवताऽचिरात् ॥४३६॥
एवमुक्ते मया सैव परिणिन्ये च कन्यका ।
परिणीतस्य मेऽभूवन् वर्षाणि द्वादश क्रमात् ॥४३७॥

श्रुत्वेति विक्रमादित्यो दध्यावेतच्च दुर्घटम् ।
स्त्रीणां न ज्ञायते सम्यक् चरितं केनचित् क्वचित् ॥ यतः—
"अश्वप्लुतं माधवगर्जितं च स्त्रीणां चरित्रं भवितव्यता च ।
अवर्षणं चाप्यतिवर्षणं च देवा न जानन्ति कुतो मनुष्याः ॥

प्राप्तुं पारमपारस्य पारावारस्य पार्यते ।
स्त्रीणां प्रकृतिवक्राणां दुश्चरित्रस्य नो पुनः ॥४४०"॥इत्यादि
प्राह भूपो नभोधूले ! तव पत्न्याः परीक्षणम् ।
क्रियते रोचते चेत्ते सम्यक् संप्रेक्ष्य(ष्य) सेवकान् ॥४४१॥

व्योमधूलिर्जगौ स्वामिन् ! गेहिन्या मे परीक्षणम् ।
कुरुष्व सेवकान् प्रेष्य चातुर्यादिगुणान्वितान् ॥४४२॥
ततो राज्ञा शशिमूलदेवादिकुशलान् बहून् ।
आकार्योचे पुरस्तेषां तस्याः शीलस्य वर्णनम् ॥४४३॥
मूलदेवो जगौ स्वामिन्नादेशो दीयतां मम ।
गत्वा तत्र क्षणाच्छीलाच्चालयिष्यामि तामहम् ॥४४४॥

गृहीत्वा भूभुजा दत्तं मूलदेवस्य बीटकम् ।
ततश्चलन् ययौ चम्पापुर्यां क्षोभयितुं च ताम् ॥४४५॥
व्योमधूलिगृहस्यान्ते वृद्धस्त्रीसदने तदा ।
द्रव्यं दत्त्वा स्थितो मूलदेवः सद्वेषभृन्मुदा ॥४४६॥

प्रेपिता मूलदेवेन सा वृद्धा कपटाशया ।
व्योमधूलिप्रियापार्श्वे गत्वा प्राहेति मायया ॥४४७॥
मूलदेवाभिधो देवकुमारसदृशो नरः ।
एकस्त्वदर्थमायातो विद्यते मम सद्मनि ॥४४८॥

भवत्या रमणो दूरदेशेऽगाद् बहुकालतः ।
रोचते चेत्तवेदानीं मदुक्तो मनुजोऽनघः ॥४४९॥
तदाऽत्र तं नरं देवकुमारसदृशाकृतिम् ।
भवत्या सन्निधौ सद्य आनयाम्यहकं सखि ! ॥४५०॥
व्योमधूलिप्रिया प्राह श्रोष्येऽहं नाम तस्य न ।
एवं च भूरिशः प्रोक्ते दध्याविति वणिक्प्रिया ॥४५१॥

लात्वा तद्दत्तपत्रादि तमानीय स्वसद्मनि ।
अनर्थे पातयिष्यामि यतः स्याद् दुःखितो भृशम् ॥४५२॥
नभोधूलिप्रिया ध्यात्वेत्येवं तस्याः समीपतः ।
गृहीत्वा वीटकं प्राह त्वयाऽऽनेयः प्रगे स च ॥४५३॥

मूलदेवं समायान्तं निरीक्ष्यासनदानतः ।
व्योमधूलिप्रिया सद्यः प्रीणयामास सादरम् ॥४५४॥
गेहान्तरं तयाऽखानि गर्ता गुप्ता रहः पुरा ।
तस्या ऊर्ध्वं च सा शय्यां जीर्णतन्तुयुतां व्यधात् ॥४५५॥

तस्या ऊर्ध्वं लसद्वस्त्रमास्तृतं च तया तदा ।
भुक्त्वा स हर्षितो यावच्छय्यायां समुपाविशत् ॥४५६॥
तन्तुच्छेदेन गर्तायां तावन्मूलोऽपतत्क्षणात् ।
अहहेति तया प्रोक्तं किं तेऽजनि च साम्प्रतम् ॥४५७॥
यादृशं तादृशं भक्तं दत्ते तस्मै वणिक्प्रिया ।
अद्य प्रभृति नो कार्यं त्वयेदृक्षं च जल्पति ॥४५८॥ यतः—
"विक्रमाक्रान्तविश्वोऽपि परस्त्रीषु रिरंसया ।
कृत्वा कुलक्षयं प्राप नरकं दशकन्धरः ॥४५९॥
अभ्येत्य ज्यायसी तत्र प्राहेति नैगमप्रिये ! ।
स पुमान् कुरुते किं किं वणिक्पत्नी ततो जगौ ॥४६०॥

स पुमान् प्रीणितोऽत्यन्तं मया स्वन्नाम्बुदानतः ।
मध्येगेहं सदा क्रीडां कुर्वन् तिष्ठति बालवत् ॥४६१॥
इतो दिनेषु बहुषु गतेषु पूर्ववत्पुनः ।
प्रतिज्ञां शशभृत्कृत्वा भ्रातुः शुद्धिं च वीक्षितुम् ॥४६२॥
तस्याः शीलपरीक्षार्थं निर्गतो नगरात्ततः ।
चम्पायां सदने तस्थौ वृद्धाया मूलदेववत् ॥४६३॥ [युग्मम्]
गर्तायां पातितो व्योमधूलिपत्न्या शशी तथा ।
वृद्धाऽपि च द्वितीयेऽह्नि पातिता पापकारिणी ॥४६४॥ यतः
"अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमाप्यते ।
त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः" ॥४६५॥इत्यादि ।
यादृशं तादृशं तेषां तत्रस्थानां च भोजनम् ।
ददती वक्ति वः पापफलमेतत् प्रदर्श्यते ॥४६६॥
तयोरनागमं भूपो मत्वा प्रोवाच भो वणिक् ! ।
तत्र गत्वा शशिमूलदेवावपि स्थितौ स्फुटम् ॥४६७॥

तव शीर्षस्थिता पुष्पमाला शुष्यति नो मनाक् ।
विद्यते महदाश्चर्यमिदं मम वणिग्वर ! ॥४६८॥
व्योमधूलिर्जगौ राजन् ! शशिमूलसुरावपि ।
गतौ तत्र तथा बाढं छलितौ तौ ममेति धीः ॥४६९॥
अथवा तौ त्वया दत्तां लक्ष्मीं बह्वीं नरेश्वर ! ।
गृहीत्वा जग्मतुर्दूरदेशेऽन्यत्रातिलोभतः ॥४७०॥
व्योमधूलिं चलन्तं स्वं पुरं प्रति नृपोऽन्यदा ।
मत्वाऽवगागमिष्यामि तत्र द्रष्टुं च तौ च ताम् ॥४७१॥
ततः सारपरीवारो व्योमधूलियुतोऽन्यदा ।
चम्पायामेत्य तद्वत्तोत्तारके नृपतिः स्थितः ॥४७२॥
व्योमधूलिर्गृहे गत्वा पप्रच्छेति प्रियां निजाम् ।
शशिमूलौ किमायातौ त्वां च चालयितुं न वा ॥४७३॥
तया प्रोक्तं शशिमूलदेवोदन्तमशेषतः ।
वणिक् प्रोवाच तौ त्वां च द्रष्टुमत्रागतो नृपः ॥४७४॥

भोजनं दीयते राज्ञश्चित्ते ते यदि रोचते।
पत्न्यवक् सद्मनो गर्भे शाल्याद्यन्नं च रन्ध्यते ॥४७५॥
यक्षहस्तव्यतिकरात् जेमनं दीयतेऽनघम्।
विचार्यैवं नृपोपान्ते गत्वा प्राहेति नैगमः ॥४७६॥

अत्रायातौ शशिमूलदेवौ मे प्रियया गृहे।
स्थापयित्वा पुनर्गेहात्कर्षितौ दूरतो गतौ ॥४७७॥
अद्यास्माकं गृहे राजन्! परिवारयुतस्य ते।
सदन्नपानदानेन भोजनं च भविष्यतु(ति) ॥४७८॥

एवमुक्त्वा वणिग् यावत्समायाति स्वसद्मनि।
तावत्पत्नी शशिमूलदेवोपान्ते जगावदः ॥४७९॥

ममास्ति देवताद्त्तो वर ईदृग् माहात्म्ययुग्।
यश्च मे कथितं नैव मानवः कुरुते मनाग् ॥४८०॥
तस्य शीर्षं द्विधा शीघ्रं भविष्यति न संशयः।
यदि मे कथितं यूयं साम्प्रतं कुरुतादरात् ॥४८१॥

गतायाश्च तदा युष्मान् कर्षयिष्यामि यत्नतः।
तैरुक्तं च करिष्यामो भवत्योक्तं वयं द्रुतम् ॥४८२॥
ततस्तया च तान् गर्तामध्यान्निष्कास्य वारिणा।
प्रक्षाल्याङ्गानि तेषां च चर्चितानि सुचन्दनैः ॥४८३॥

गर्भगृहे रहः स्थाने स्थापितास्ते तया तदा।
भूमिगृहे रसवतीं कुर्वन्ति स्म सखीजनाः ॥४८४॥
आकारितो नृपो भोक्तुमदृष्ट्वा रन्धनादिकम्।
प्राह किं भवता कूटं मण्डितं व्योमधूलिक! ॥४८५॥
बुभुक्षापीडिता बाढं व्योमधूलेऽधुना वयम्।
मध्याह्नं च व्यतिक्रान्तं जनः सर्वो गमिष्यति ॥४८६॥

भूमिगृहाद्रहोवृत्त्याऽऽनीयानीयान्नमञ्जसा।
भोजितो भूपतिः सर्वपरिवारयुतस्तदा ॥४८७॥
भुक्त्वा भूपो जगौ भो भो व्योमधूले! वणिग्वर।
कथमेवंविधेनाहमन्नेन भोजितः क्षणात् ॥४८८॥

वणिक् प्रोवाच मे पत्न्या द्वौ यक्षावेकयक्षिणी ।
ददन्ते वाञ्छितं सद्यो भोजनं बहु देहिनाम् ॥४८९॥
राजाऽवग् यक्षिणीं यक्षौ साम्प्रतं त्वं ममार्पय ।
येभ्यो रसवतीं सारां प्राप्याङ्गी जायते सुखी ॥४९०॥

ततो वणिक्प्रिया प्राह तुभ्यमेते (तान्) ददाम्यहम् ।
यदि प्रयाणकप्रान्ते मार्गयिष्यसि जेमनम् ॥४९१॥
मदीया यक्षिणी यक्षौ सिद्धे कार्ये तव स्फुटम् ।
पुनः पश्चान्ममोपान्ते तत्क्षणात्प्रेषयिष्यसि ॥४९२॥
ओमित्युक्ते महीशेन मञ्जूषायां रहस्ततः ।
क्षिप्तास्सर्वे तया पुष्पैश्चर्चयित्वा च चन्दनैः ॥४९३॥

ततो भूमीपतिर्लात्वा मञ्जूषां मुदिताशयः ।
प्रयाणकं ददावेकं वणिग्युक् स्वपुरं प्रति ॥४९४॥
मध्याह्ने भूभुजा पेटा पूजिता कुसुमैर्वरैः ।
दत्ते रसवतीं नैव प्रत्युत्तरमपि स्फुटम् ॥४९५॥

एवं प्रोक्ते महीशेन भूरिशोऽन्नकृते तदा ।
मध्यस्थास्ते त्रयोऽप्योचन् दास्यत्यन्नं पिता तव ॥४९६॥
वृद्धास्त्रीसहितावावां शशिमूलावपि छलात् ।
कूपे क्षिप्तौ तया पूर्वं पेटायामधुना पुनः ॥४९७॥

आस्माकीनं च धूर्तत्वं कृतं सर्वं प्रपञ्चतः ।
अस्माकमेव शिरसि पतितं क्रियते किमु ॥४९८॥
कर्षिताँस्तांश्च पेटाया वीक्ष्य भूपोऽतिदुर्बलान् ।
श्रुत्वा तेषां मुखात्तस्या वृत्तं चित्ते चमत्कृतः ॥४९९॥
व्योमधूलिं प्रति प्राह राजैवं ते प्रियाऽनघा ।
यादृशी वर्णिता पूर्वं भवताऽजनि तादृशी ॥५००॥

एवंविधा प्रिया भाग्याल्लभ्यते देहिना ध्रुवम् ।
सुशीला विशदाचारा सतीगुणगणान्विता ॥५०१॥
पश्चाद्गत्वा ततो भूपो व्योमधूलिगृहे पुनः ।
स्तौतीति तां नभोधूलिपत्नीं शीलविभूषिताम् ॥५०२॥

त्वं धन्या त्वं सतीधुर्या निर्दोषा वसुधावरा।
निष्कलङ्का सदाचारा वर्णनीयाऽसि सन्ततम् ॥५०३॥
एवं स्तुत्वा च तां व्योमधूलिं सन्मान्य भूपतिः।
अवन्त्यामाययौ सद्यो गृह्णन् तस्या गुणान् हृदि ॥५०४॥

इति सत्यसतीपरीक्षाकरणविषये [गगनधूलिवणिक्कथा]।

अन्यदा विक्रमार्कस्याघटनामा महाभटः।
बभूव सेवकः सत्त्वपराभूताग्निकासुरः ॥५०५॥ तथाहि–
आसीद्वीरपुरे भीमभूपस्य पद्मिनी प्रिया।
रूपचन्द्राभिधः पुत्रो गुणवांश्चारुविक्रमः ॥५०६॥
चन्द्रसेल्लहतः शूरो भूपभक्तैकमानसः।
पुरोधा गङ्गदासाह्वः पत्नी तस्य मृगाभिधा ॥५०७॥
विभागीकर्तुमन्येद्युः सेल्लहस्तः खलान् खले।
गत्वा यावदुपाविष्टो भूरिलोकसमन्वितः ॥५०८॥
एकस्तावदगात्तत्र गणको निःस्ववाडवः।
सेल्लहस्तो जगौ त्वं मे भ्रात्रादिगणनां वद ॥५०९॥
लग्नबलात्तदा तेन प्रोक्तं च भ्रातरस्त्रयः।
भगिन्येका प्रियाः पञ्च तवाभूवन् मनोरमाः ॥५१०॥ यतः–
"एकः पुत्रो रवौ छिद्रे चन्द्रे तत्र सुतद्वयम्।
सोमे पुत्रास्त्रयो वाच्या बुधे पुत्रीचतुष्टयम् ॥५११॥
गुरौ गर्भे सुताः पञ्च षट् पुत्रास्तु सिते मताः।
शनौ पुत्राः ध्रुवं सप्त तुङ्गे पुत्रा महर्द्धिकाः" ॥५१२॥इत्यादि।
सत्ये प्रोक्ते तदा तेन सेल्लहस्तः प्रमोदितः।
प्राहोत्पाटयितुं म्रुद्रान् यावच्छक्तोऽसि वाडव ! ॥५१३॥
तावतः पोट्टलिं बद्ध्वा गच्छेत्युक्ते द्विजः स च।
महान्तं पोट्टलं बद्ध्वा शीर्षे कृत्वाऽचलत्ततः ॥५१४॥
कस्मिन् देवकुले गत्वा सायं सुप्तो द्विजोत्तमः।
तत्र सेल्लहतासक्ता पुरोधोगृहिणी ययौ ॥५१५॥
द्विजं सेल्लहतभ्रान्त्योत्थापयित्वा च मोदकैः।

यथेष्टं भोजयामास पुरोधोगृहिणी मृगा ॥५१६॥
भूरिभक्षणतो देहरूक्षादन्यं नरं तदा।
मत्वा प्राह मृगा कस्त्वं सोऽहं विप्रोऽस्मि भामिनि!॥५१७॥
मृगा जगावहं पुंसा वाहिता केनचित्स्फुटम् ।
विप्रः प्रोवाच रे मूढमानसे मृगलोचने ॥५१८॥
मया किमपि ते देहस्पर्शोऽपि विहितो न हि।
भक्षिता मोदका दत्तास्त्वयैव मयका खलु ॥५१९॥
मोदकव्ययतश्चेत्ते विनष्टं किमपि स्फुटम् ।
तदा गृहाण मुद्राणां त्वं च पोट्टलकं मम ॥५२०॥
खिन्ना ततो मृगा पश्चादेत्य वातायनस्थितम्(ता) ।
दध्यौ च दीपिका यत्र सेल्लहस्तस्य यास्यति ॥५२१॥
तत्र सेल्लहतोऽद्यैव स्वापं स्थाने करिष्यति ।
अहं चापि गमिष्यामीति ध्यात्वाऽस्थात्मृगा तदा ॥ यतः—
"अक्खाणसणी०" [सर्ग० ५ श्लो० २८०]

दिवा पश्यति नो घूकः काको नक्तं न पश्यति ।
अपूर्वः कोऽपि कामान्धो दिवा नक्तं न पश्यति ॥५२३॥
इतः सेल्लहतो विप्राधिष्ठिते स्थानके भ्रमन् ।
आगतो मानवं प्रेक्ष्य प्राहान्यत्र व्रज त्वकम् ॥५२४॥
द्विजः प्राह निशान्धोऽहं व्रजाम्यन्यत्र भोः कथम् ।
जगौ सेल्लहतो भृत्यान् दीपिकोद्द्योतितो(द्द्योततः) द्विजः(जम्)
भीमयक्षालये नीत्वा यूयं मुञ्चत साम्प्रतम् ।
ते च दीपिकया तं च मुमुचुर्यक्षसद्मनि ॥५२६॥
विध्यातदीपिकाः सर्वेऽभ्येत्य सेल्लहतान्तिके ।
ततस्तेनोदिते स्थाने सुषुपुर्निर्भरं निशि ॥५२७॥
दीपिकोद्द्योततो ज्ञात्वा तं च यक्षालयागतम् ।
मोदकान् पूर्ववल्लात्वा गता तत्र मृगा जगौ ॥५२८॥
स्वामिंस्त्वं मोदकान् खादोत्थायेत्युक्तो द्विजस्तदा ।
भुक्त्वैकं मोदकं तस्थाविति दध्यौ मृगा तदा ॥५२९॥

अल्पभक्षणतो देहस्पर्शादन्यनरं तदा ।
मत्वा प्राह मृगा कस्त्वं सोऽवग् विप्रोऽसि भामिनि ! ॥५३०
मृगा जगावहं नूनं वाहिता केनचिच्छलात् ।
विप्रः प्रोवाच रे मूढमानसे मृगलोचने ॥५३१॥
मया किमपि देहस्य स्पर्शोऽपि विहितो नहि ।
भक्षिता मोदका दत्तास्त्वयैवं मयका खलु ॥५३२॥
मोदकव्ययतश्चेत्ते विनष्टं किमपि स्फुटम् ।
तदा गृहाण मुद्रानां त्वं च पोट्टलकं मम ॥५३३॥
मम मद्गृहिणीं मुक्त्वा अन्याः सर्वा मृगेक्षणाः ।
भगिन्यः सन्ति तेन त्वं व्रजान्यत्र द्रुतं स्फुटम् ॥५३४॥
खिन्ना मृगा ततः पश्चादेत्य गेहं निजे क्षणात् ।
सुष्वाप कृतसन्तोषा कौतुकं तन्वती हृदि ॥५३५॥
मृगाप्रदत्तताम्बूलरक्तदन्तो द्विजः प्रगे ।
पृष्टः सेल्लहतेनेति त्वमभूरीदृशः कथम् ॥५३६॥

विप्रः प्रोवाच भवतः प्रसादादीदृशोऽभवम् ।
सेल्लहतो जगौ राजपर्षद्येत्यः (त्यं)त्वया पुनः ॥५३७॥
तत्रापि भवतो भूपपार्श्वात्किंचिद्धनं पुनः ।
दापयिष्याम्यहं प्रोक्त्वेत्यगात्सेल्लहतस्तदा ॥५३८॥
विप्रो हृष्टस्ततो राजसभायामेत्य तत्क्षणम् ।
प्रीणयामास भूपालं आशीर्वादप्रदानतः ॥५३९॥
सेल्लहतो जगौ स्वामिन्नयं शास्त्रविचक्षणः ।
भूतभाविभवत्सर्वं जानाति लग्नयोगतः ॥५४०॥
राजा प्राह प्रगे ज्ञानिन् ! किं मे राज्ये भविष्यति ।
लग्नमी(मे)क्ष्य द्विजन्माऽवक् पट्टहस्ती मरिष्यति ॥५४१॥
भूपः प्राहाशुभं ज्ञानिन् ! कथं याति क्षयं वद ।
गणकोऽवग् भवन्नैवान्यथा भवति भावि यत् ॥५४२॥ यतः–
"प्रचलति यदि मेरुः शीततां याति वह्नि–
रुदयति यदि भानुः पश्चिमायां दिशायाम् ।

विकसति यदि पद्मं पर्वताग्रे शिलायां,
तदपि च न हि मिथ्या भाविनी कर्मरेखा" ॥५४३॥
ततो राज्ञा द्विजं पार्श्वे विधाय पटहस्तिनः ।
रक्षितुं सेवका मुक्तास्तत्र रात्रौ सहस्रशः ॥५४४॥
प्रातर्हस्ती मदोन्मत्त उन्मूल्यालानकं तदा ।
भञ्जयन् सदनाट्टादि चचाल सर्वतः पुरि ॥५४५॥
पुरं मेरुरिवाम्भोधिं व्यालोडयन् मतङ्गजः ।
लोकान् व्याकुलयांचक्रे झषनक्रानिव क्षणात् ॥५४६॥
रुरोध गृहिणीं कृष्णद्विजस्य कुञ्जरः पथि ।
न कोऽपि तं गजं धर्तुं समर्थोऽजनि मानवः ॥५४७॥
व्याकुलं नृपतिं लोकयुक्तं वीक्ष्य नृपाङ्गजः ।
रक्षितुं तां स्त्रियं तत्र गत्वा प्राहेति कर्कशम् ॥५४८॥
रे दुष्टभावलां किं त्वं सबलो हन्तुमुद्यतः ।
मुक्त्वेमां मामभि क्ष्मापपुत्रमागच्छ संमुखम् ॥५४९॥

विमुच्य तां स्त्रियं राजपुत्रमेत्यारुणेक्षणः ।
हन्तुं प्रधावितः कुम्भी कृतान्त इव जङ्गमः ॥५५०॥
मुक्त्वा वण्टालिकां तस्य मुखाग्रे नृपनन्दनः ।
जघान हस्तिनं पश्चाद्भ्रमयित्वा च मर्मणि ॥५५१॥
सुतं हस्तिवधान्मत्वा बलिष्ठं मेदिनीपतिः ।
तलिकातोरणादीनि कारयामास सर्वतः ॥५५२॥
अघटं सुघटं कार्यं चक्रेऽनेनेह सूनुना ।
इति हेतोर्नृपो नामाऽघट इति व्यधात्तदा ॥५५३॥
वर्द्धापनं प्रजाः सर्वास्तन्वन्ति स्म नृपाग्रतः ।
एको वर्द्धापनं कर्तुं नागात्सुमतिमन्त्रिराट् ॥५५४॥
द्विजाय मुदितो भूपो ददौ लक्ष्मीं च भूयसीम् ।
अनागमाच्च मन्त्रीशो धर्षितो मेदिनीभुजा ॥५५५॥
मन्त्री प्रोवाच भूपस्य कुमारस्य कदाचन ।
हन्तुं न युज्यते पट्टहस्तिनं राज्यरक्षकम् ॥५५६॥

तव सर्वत्र शत्रूणां मङ्गलानि निकेतने ।
भविष्यत्यचिराद्राज्यं निर्बलं स्याद्धतेभतः ॥५५७॥
अनेन सूनुना पट्टकुञ्जरो मारितोऽधुना ।
ततो नैवोत्सवं कर्तुं युज्यते तव भूपते ! ॥५५८॥ यतः-
"पितृमातृसुहृद्भ्रातृसुताभीष्टशरीरिणाम् ।
गजाश्वादिगवां मृत्यौ दुःखं भवति देहिनाम्" ॥५५९॥
श्रुत्वैतन्मन्त्रिणो वाचं युक्तियुक्तां महीपतिः ।
रुष्टोऽयमानयामास कुमारं वचनैः खरैः ॥५६०॥
कुलं कुपुत्रसंयुक्तमन्यायोपार्जितं धनम् ।
रोगाक्रान्तं शरीरं च दीर्घकालं न नन्दति ॥५६१॥
भूपापमानितो रूपचन्द्रः पुत्रोऽस्ति दुःखितः ।
पत्नीयुक्तोऽचलद्रात्रौ दूरदेशं प्रति द्रुतम् ॥५६२॥ यतः-
"माण पणट्ठइ जइ न तणु तो देसडा चइज्ज ।
मा दुज्जणकरपल्लविहिं दंसिज्जंत भमिज्ज" ॥५६३॥

अध्वनि व्रजतस्तस्य भार्याऽसूत सुतं वरम् ।
पूर्वेव तरणिं दीप्रप्रभापुञ्जं शुभेऽहनि ॥५६४॥
चलन् क्रमात्तदाऽवन्त्यां पुरि श्रीदापणे शनैः ।
रूपचन्द्रः प्रियां मुक्त्वा विक्रेतुं प्रययावसिम् ॥५६५॥
तदा तस्यापणे भूरिर्लाभोऽभूत्तन्माहात्म्यतः ।
उपविष्टां स्त्रियं वीक्ष्य श्रीदः श्रेष्ठी जगावदः ॥५६६॥
त्वदीये खोलके पुत्रि ! किमस्ति वद सम्प्रति ।
दर्शयामास सा सूनुं श्रेष्ठिने विलसद्द्युतिम् ॥५६७॥
श्रेष्ठी दध्यौ शिशोरस्य भाग्याल्लाभोऽभवद् बहुः ।
इतस्तत्रागतो रूपचन्द्रः प्राह प्रियां प्रति ॥५६८॥
उत्तिष्ठास्मिन् पुरे कोऽपि विक्रेताऽसेर्न विद्यते ।
गम्यतेऽन्यत्र नगरे निर्वाहो यत्र जायते ॥५६९॥
श्रुत्वा श्रेष्ठी जगौ पान्थ ! भुक्त्वाऽद्य मम सद्मनि ।
रूपचन्द्रस्ततस्तत्र बुभुजे प्रियया सह ॥५७०॥

भुक्त्वा सुप्तं नरं तं च चिरं वीक्ष्य वणिग् जगौ ।
असौ च क्षत्रियो नूनं रात्रौ चौर्यं करिष्यति ॥५७१॥ यतः—
"नटा विटास्तथा चौराः परदाररताश्चराः ।
दिवा सुप्त्वा निशीथिन्यां कुर्वते कार्यमीप्सितम्" ॥५७२॥
सा स्त्री प्राह प्रियो मे न चौर्यादि कुरुते क्वचित् ।
शूरवृत्त्याऽथ निर्वाहं करोति नान्यथा क्वचित् ॥५७३॥यतः—
"क्षुत्क्षामोऽपि जराकृशोऽपि शिथिलप्रायोऽपि कष्टां दशा-
मापन्नोऽपि विपन्नदीधितिरपि प्राणेषु गच्छत्स्वपि ।
मत्तेभेन्द्रविशालकुम्भदलनव्यापारबद्धस्पृहः,
किं जीर्णं तृणमत्ति मानमहतामग्रेसरः केसरी" ॥५७४॥
आकर्ण्यैतद्ददौ श्रेष्ठी तस्यै दीव्यां च शाटिकाम् ।
आरोहाय वरां रूपचन्द्राय घोटिकां तदा ॥५७५॥
रूपचन्द्रो जगौ राज्ञः सेवा च क्रियते कथम् ।
श्रेष्ठ्यवग् भट्टमात्रस्य षण्मासा यत्नतः सदा ॥५७६॥
पुंसा विधीयते येन सेवा विनयपूर्वकम् ।
भट्टमात्रस्ततस्तुष्टो नयते तं नृपान्तिकम् ॥५७७॥
ततः श्रीविक्रमार्कस्य लभ्यते सेवनं मनाक् ।
श्रुत्वैतद्रूपचन्द्रोऽगाद् द्वारं भूपतिसद्मनः ॥५७८॥
प्रवेष्टुं न ददौ द्वाःस्थस्तस्य यावन्नृपालये ।
तावच्चपेटया हत्वा तं ययावग्रतः स च ॥५७९॥
फलं दत्त्वा नृपोपान्तं गत्वा सद्यो महीपतिम् ।
कलाभी रञ्जयामास चातुर्यजल्पनादिभिः ॥५८०॥
भूपती रञ्जितस्वान्तो रूपचन्द्राय तत्क्षणम् ।
हेम्नो दशायुतं दत्त्वा भट्टं प्रति जगावदः ॥५८१॥
वसनाय त्वया गेहं देयमस्य महत्तरम् ।
ततो भट्टो व्रजन् द्वारि द्वाःस्थं प्रति जगावदः ॥५८२॥
गेहं देयं निवासायास्येत्युक्त्वाऽगमद् गृहे ।
द्वाःस्थो रुष्टः पुरा दध्यावनर्थे पातयाम्यहम् ॥५८३॥

अनर्थे पातितुं रूपचन्द्रमग्निकमन्दिरम् ।
दर्शयितुं तदाऽचालीद् द्वाःस्थो वैरच्छिदे द्रुतम् ॥५८४॥
अग्निवेतालसदनं रूपचन्द्राय तत्क्षणात् ।
दर्शयित्वा निवासार्थं द्वाःस्थः स्वस्थानकं ययौ ॥५८५॥

रूपचन्द्रो ददद् दानमर्थिभ्यश्च पदे पदे ।
श्रीदश्रेष्ठिगृहे गत्वा भार्यायै मिलितस्ततः ॥५८६॥
भूपालमिलनाद्यग्निवेतालौकोऽर्पणान्तिकम् ।
रूपचन्द्रो जगौ पत्न्याः पुरः श्रेष्ठिनि शृण्वति ॥५८७॥
सौवर्णे द्वे स्थिते पत्न्यै रूपचन्द्रो ददौ ततः ।
तयौदार्याद्वणिक्स्नुपत्न्योः सौवर्णिके ददे ॥५८८॥

श्रीदो जगावयं नूनमनर्थे पतितो हहा ।
रूपचन्द्रोऽवदत् श्रेष्ठिन् ! माङ्गल्यं मे भविष्यति ॥५८९॥
आरुह्य घोटिकां रूपचन्द्रः पत्नीसुतान्वितः ।
यावदग्निकवेतालसदनं समुपेयिवान् ॥५९०॥

तावदिभ्यादयो लोका गच्छन्तं तं निरीक्ष्य च ।
अहा महामहानर्थे साधुरेप पतिष्यति ॥५९१॥
रूपचन्द्रं प्रति प्राह प्रिया पुञ्जोऽत्र भूरिशः ।
आदौ दूरे विधीयेत पश्चाद्वासो विधीयते ॥५९२॥

दूरीकर्तुं जनान् पुञ्जमानयामास यावता ।
तावदग्निकगेहं ते दृष्ट्वा नेशुर्दिशोदिशम् ॥५९३॥
गत्वा मध्ये गृहे रूपः पत्नीं मुक्त्वा गृहान्तरे ।
स्फेटयितुं जनान् पुञ्जमानेतुं स पुनर्ययौ ॥५९४॥
माता पालनके पुत्रं स्थापयित्वाऽन्तिके स्थिता ।
गायन्ती हल्लरं हिण्डोलयामासेति निर्भया ॥५९५॥

बलहेतोस्तवानीयानीय गलगलं सुत ! ।
दास्यामि तुभ्यमह्नाय मा त्वं रोदिषि बालक ! ॥५९६॥
इतो द्वारे समायातोऽग्निको दृष्ट्वा पदाष्टकम् ।
दध्यौ भक्ष्यं ममाद्याभूत् नृपाश्वांह्रिनिरीक्षणात् ॥५९७॥

दिनत्रयमभूद्भक्ष्यं मे नृपाश्वांह्रिवीक्षणात् ।
इत्युक्त्वा भूतप्रेतादीन् व्यसर्जद्वह्निकोऽसुरः ॥५९८॥
अग्रेऽश्वाया मुखे वल्गां वीक्ष्य दध्यावियं ननु ।
लोहं च राक्षसी स्फाति तस्याः पुच्छेऽलगत्स च ॥५९९॥

तयांऽह्रिणा हतो भूमौ पतित्वा चोत्थितः क्षणात् ।
गायन्तीं हल्लरं नारीं श्रुत्वा तत्तादृशं सभीः ॥६००॥
पद्मा प्राह चिरं जीव मा भैपीस्त्वं मनागपि ।
अग्निकोऽवक् च काऽसि त्वं किमेवं ब्रूहि गायसि ॥६०१॥
साऽवक् त्वं कोऽसि पुरुष ! स प्राह राक्षसोऽस्म्यहम् ।
तयोक्तं भेपसी चास्मि राक्षसानां च भक्षिका ॥६०२॥

शुभे लग्ने शुभे घस्ने मयाऽसावि सुतोऽनघः ।
तस्य सूनोर्मुकुन्दाह्वा मुदा पित्रा ददे तदा ॥६०३॥
एकेन गणकेनोक्तं स्वसूनोर्यदि दीयते ।
हत्वाऽग्निकं गलगलं जीवति स तदा चिरम् ॥६०४॥

तदर्थं मत्प्रियोऽत्रागात् विद्यतेऽयं सुतो मम ।
द्रष्टुं तमग्निकं कान्तो गतोऽस्ति नगरान्तरे ॥६०५॥
अग्निकोऽवक् त्वया प्रोक्तं चिरं जीवेति साम्प्रतम् ।
एवं तस्य कथं वक्षि वधवार्तां ममाग्रतः ॥६०६॥

साऽवक् किमग्निकोऽसि त्वं स प्राहाहं ननु स्फुटम् ।
उत्तमाः स्वोदितं प्राणात्ययेऽपि पालयन्ति हि ॥६०७॥ यतः—
"सकृज्जल्पन्ति राजानः सकृज्जल्पन्ति साधवः ।
सकृत्कन्याः प्रदीयन्ते त्रीण्येतानि सकृत्सकृत्" ॥६०८॥
पद्मा प्राह कटाहस्याधस्तात्तिष्ठ रहोऽधुना ।
अभयं तव दास्यामि मत्प्रियात् छलवाग्बलात् ॥६०९॥

तथाकृत्य च तं तस्थौ यावत्पद्माऽग्निकं तदा ।
तावत्तत्रागतः कान्तो रहः पत्न्येति जल्पितः ॥६१०॥
सोऽत्रागतोऽधुना वह्निवेतालो राक्षसाधमः ।
रूपचन्द्रस्ततः प्राह पत्नीं प्रति छलादिदम् ॥६११॥

अग्निक आगतोऽस्तीह स्थितोऽस्ति क्ुत्र साम्प्रतम् ।
पत्न्याऽवग् विद्यतेऽत्रैव गेहमध्ये रहः स्थितः ॥६१२॥
श्रुत्वैतदग्निको भीतो लज्जां जल्पन् पुनः पुनः ।
दध्यौ मयाऽधुना नैषां विघ्नं कर्तुं च शक्यते ॥६१३॥

एतेषां पूर्वसत्पुण्यकर्मपुञ्जविधानतः ।
विद्यन्ते बलिनोऽधिष्ठायका मत्तोऽग्निकात् स्फुटम् ॥६१४॥
दीनरूपं समालोक्याग्निवेतालं तदा पुनः ।
कर्पयित्वा तया सद्यो बहिर्दत्त्वाऽभयं ददे ॥६१५॥
पत्न्या मेलितः कम्पं दधद् व्याकुलमानसः ।
रूपचन्द्रो जगौ कस्त्वं स प्राह राक्षसोऽस्म्यहम् ॥६१६॥

रूपोऽवग् भेषसोऽहं स्यां राक्षसानां निषूदने ।
रक्षोऽवग् भवतः पत्न्याऽभयदानं ददे मम ॥६१७॥
एवं वक्षि कथं त्वं च रूपचन्द्रस्ततो जगौ ।
यद्यदहं वदाम्यत्र तत्तत्त्वं कुरुषे यदि ॥६१८॥

तदा तवावधो भूयान्नो चेत्त्वां हन्मि साम्प्रतम् ।
अरे पुरा मयाऽनेके निरस्ता वैरिणो रणे ॥६१९॥
निभ्यन्नग्निकवेतालो रूपचन्द्रोदितं तदा ।
प्रतिपद्याभवत्तस्य सेवको राक्षसः क्षणात् ॥६२०॥

नासायामग्निकस्याथ रूपचन्द्रः कपर्दिकाम् ।
बन्धयित्वा तमारुह्य चचाल क्ष्मापसंनिधौ ॥६२१॥
तथास्थमग्निकं दृष्ट्वा मार्गे लोका वदन्त्यदः ।
रेऽग्निकोऽपि दशां नीतोऽनेनेदृक्षां च दुस्सहाम् ॥६२२॥
रूपचन्द्रो जगौ दिव्यवस्त्राणि भूरिशोऽग्निकः ।
आनयेत्युदिते तेनानिन्ये दौसिकहट्टतः ॥६२३॥

लोका वदन्त्यदः को वा प्रोच्यतेऽस्य च किञ्चन ।
तदाऽसौ वह्निको हन्ति यस्मादेतत्समन्वितः ॥६२४॥
भूतप्रेतादिभृत्यानां स्कन्धे चटति यः पुरा ।
सोऽधुनाऽधःकृतस्तेन नरेण बलिना हहा ॥६२५॥

एवं पृथक् पृथगिभ्यादिकास्सर्वे जनास्तदा ।
हट्टं स्वं स्वं तदा मुक्त्वा नेशुः सद्यो दिशोदिशम् ॥६२६॥
तथाविधं नृपोपान्ते रूपचन्द्रं समागतम् ।
दृष्ट्वा चमत्कृता भूपमन्त्रिणो मिलितास्तदा ॥६२७॥
रूपचन्द्रोऽग्निकोपान्ताद्वस्त्राणि यावता तदा ।
मन्त्रिभ्यो दापयामास तावन्नेशुश्च ते भयात् ॥६२८॥
रूपचन्द्रेण ते स्वस्थीकृता इत्युपिरेऽखिलाः ।
भवद्भिर्न हि भेतव्यं वश्यो मेऽभूदयं यतः ॥६२९॥
ततः सर्वेऽम्बरै रूपचन्द्रेण परिधापिताः ।
राज्ञा विशेषतो रूपचन्द्रोऽसौ मानितस्तदा ॥६३०॥
अभूत्प्रीतिर्द्वयो रूपचन्द्रवेतालयोरपि ।
रूपचन्द्रोऽपि भूपस्य भृत्योऽग्निक इवाभवत् ॥६३१॥
अघटं विहितं कार्यमनेन सुभटेन हि ।
इति हेतोर्नृपोऽप्यस्याघटेति नाम निर्ममे ॥६३२॥

प्रददे रूपचन्द्रायाग्निकः स्वं स्वं निकेतनम् ।
कथितं रूपचन्द्रस्य कुरुते भक्तिपूर्वकम् ॥६३३॥ यतः—
"नाभिषेको न संस्कारः सिंहस्य क्रियते मृगैः ।
विक्रमार्जितसत्त्वस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता ॥६३४॥
उद्यमः साहसं धैर्यं बलं बुद्धिः पराक्रमः ।
षडेते यस्य विद्यन्ते तस्य दैवः पराङ्मुखः" ॥६३५॥
भूपालाघटयो राज्यदेवी सत्त्वपरीक्षणम् ।
कर्तुं च यतते रात्रिंदिवाभीक्ष्णं विशेषतः ॥६३६॥
भूपगेहान्तिकाश्वत्थवृक्षशृङ्गे स्थिताऽबला ।
एका रात्रौ सदा रौति भूपेऽघटे च शृण्वति ॥६३७॥
रुदन्तीं भूपतिर्नारीं श्रुत्वा प्राहाघटं प्रति ।
उत्तिष्ठ व्रज वीक्षस्व काऽसौ किं रौति साम्प्रतम् ॥६३८॥
आदेशं नृपतेः प्राप्य गत्वा तत्राघटो जगौ ।
काऽसि किं रोदिषि ब्रूहि वत्से ! सम्प्रति कारणम् ॥६३९॥

नारी प्राहास्य राज्यस्याधिष्ठात्री स्यामहं सुरी ।
कल्ये मृतिं नृपो याता तेन रोदिमि भो नर! ॥६४०॥
अघटोऽवक् कथं शान्तिर्भूपालस्य भविष्यति ।
सुरी प्राहेह यदि त्वं मह्यं दत्से सुतं बलिम् ॥६४१॥

तदा भूपस्य कल्याणं पुरस्य च भविष्यति ।
ततोऽघटः प्रियापार्श्वे गत्वा देव्युदितं जगौ ॥६४२॥
पत्न्याऽवग् यदि भूपस्य विघ्नं शाम्यति पुत्रतः ।
ततः किं किं न शु(सि)ध्द्येत कार्यं कान्ताधुनाऽखिलम् ॥६४३॥
ततस्तत्रैत्य गृहिणीहस्तात्तं तनयं मुदा ।
खण्डीकृत्य बलिं देव्यै दत्त्वा स्वावासमीयिवान् ॥६४४॥

एतत्सर्वं महीपालस्तत्पृष्ठस्थस्तदा निशि ।
निरीक्ष्य देवतां स्मृत्वा तामेव स्वं शिरः स्वयम् ॥६४५॥
यावच्छेत्तुमभूत्तावत्प्रादुर्भूता सुरी जगौ ।
भो भूप! सात्विकोत्तंस दानवीर महामते ॥६४६॥

तुष्टाऽस्मि भवतः शीर्षं मा छिन्द्धि त्वं निजं क्षणात् ।
स्वाभीष्टं मार्गयाह्वाय वरं सात्त्विकशेखर! ॥६४७॥ यतः–
"विजेतव्या लङ्का चरणतरणीयो जलनिधि-
विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः ।

तथाप्याजौ रामः सकलमवधीत् राक्षसकुलम्,
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥६४८॥
श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि ।
अश्रेयसि प्रवृत्तानां क्वापि यान्ति विनायकाः" ॥६४९॥
भूपोऽवग् यदि तुष्टाऽसि तदाऽघटस्य नन्दनः ।
तत्कालं जीवतादेव स जिजीव सुरीवरात् ॥६५०॥

गोपयित्वा रहो रूपचन्द्रपुत्रं महीपतिः ।
आनिनाय प्रियायुक्तमघटं स्वगृहे प्रगे ॥६५१॥
तदाऽन्ये सेवकाः प्रोचुर्मिथश्छन्नमिति स्फुटम् ।
स्तोकदिनागतो भृत्यो मान्योऽयमभवद् भृशम् ॥६५२॥

जगौ भूमीपती रूपचन्द्र ! ते वद साम्प्रतम् ।
कियन्तस्तनयाः सन्ति रूपचन्द्रस्ततौ जगौ ॥६५३॥
एको योऽभूत्सुतः पूर्वं सोऽस्माभिर्नृपशान्तये ।
ददे देव्यै च वल्यर्थं निशीथिन्यां नरेश्वर ! ॥६५४॥
ततो नैशं नृपो वृत्तमुक्त्वाऽऽनीय तमङ्गजम् ।
रूपचन्द्राय सन्मानपूर्वकं दत्तवान् मुदा ॥६५५॥
ततो भूमीभुजा ग्रामपुरपत्तनदानतः ।
अघटो मानितोऽत्यन्तं लक्ष्मीवानजनि क्षणात् ॥६५६॥
स्वमातृपितृसम्बन्धं पृष्टो भूमीभुजा तदा ।
रूपचन्द्रोऽखिलं सद्यः कथयामास सन्मतिः ॥६५७॥
लात्वा वह्वीं चमूं गत्वाऽघटो वीरपुरे रयात् ।
युद्धव्यतिकरेणैव मुदितो मिलितः पितुः ॥६५८॥
पितैक्ष्य तादृशीं लक्ष्मीं सूनोर्बलपराक्रमम् ।
सदुत्सवं ददौ राज्यं हस्त्यश्वपत्तिसुन्दरम् ॥६५९॥
एवंविधमहासत्त्वसंयुतोऽघटभूपतिः ।
शशास न्यायमार्गेण पृथिवीं रामवत्सदा ॥६६०॥
ज्ञापितं रूपचन्द्रेण राज्यप्राप्तिस्वरूपकम् ।
श्रुत्वा विक्रममार्तण्डो हर्षितोऽभूद्विशेषतः ॥६६१॥
ततो विशेषतः प्रीतिर्विक्रमाघटभूपयोः ।
बभूव सत्त्वतोऽत्यन्तमश्विनीदेवयोरिव ॥६६२॥
अघटः प्रीतितोऽभ्येत्य विक्रमार्कस्य सन्निधौ ।
सूक्तैर्मनोहरैर्गोष्ठीं कुरुते भक्तिपूर्वकम् ॥६६३॥ यतः—
"सुभाषितरसास्वादबद्धरोमांचकञ्चुकाः ।
विनापि कामिनीसङ्गं कवयः सुखमासते" ॥६६४॥
अन्येऽप्येवंविधा भट्टमात्राद्या भूरिशो भटाः ।
बलिनः सेवका जाता विक्रमार्कस्य भूपतेः ॥६६५॥

इति श्रीमत्तपागच्छनायक—श्रीसोमसुन्दरसूरिपट्टालंकरणश्रीमुनिसुन्दरसूरिशिष्य—पं०शुभशीलगणिविरचिते विक्रमादित्य-चरित्रे सौभाग्यसुंदरीपरिणयन—तत्परीक्षाकरणाद्य—घटकुमारमिलनस्वरूपो दशमः सर्गः ।

एकादशः सर्गः ।

अन्येद्युर्विक्रमादित्यः सिद्धसेनान्तिके जगौ ।
केनाहं कर्मणा स्वामिन् ! प्राप एवंविधां रमाम् ॥१॥
सान्निध्यं कुरुते केन कर्मणाऽग्निकदेवता ।
भट्टमात्रेऽभवत्प्रीतिर्बाढं मम च कथ्यताम् ॥२॥
बल्यपि खर्परस्तेनः सद्यो मया हतः कथम् ।
गुरुः प्राह शृणु क्ष्माप ! सम्बन्धं पूर्वजन्मनः ॥३॥
आघाटके पुरे चन्द्रनामाऽजनिष्ट नैगमः ।
वयस्यौ रामभीमाह्वौ तस्याभूतां सुभक्तिकौ ॥४॥
त्रयोऽपि प्रीतिसंयुक्ताः कुर्वाणा विहृतिं सदा ।
दरिद्रताजुषो द्रव्याभावाद् बभूवुरञ्जसा ॥५॥ उक्तं च–
"परीक्ष्य सत्कुलं विद्यां शीलं शौर्यं सुरूपताम् ।
विधिर्ददाति निपुणं कन्यामिव दरिद्रताम् ॥६॥
मृतदुर्गतयोर्मध्ये मृतः श[शस्तो] न दुर्गतः ।
पूर्वो हि लभते वारि तद्बिन्दुरपि(मपि) नेतरः ॥७॥
सहोदयव्ययाः पञ्च दरिद्रस्यानुजीविनः ।
ऋणं दौर्भाग्यमालस्यं बुभुक्षाऽपत्यसन्ततिः ॥८॥
व्याधिरत्रैव दुःखाय परत्रैव च पातकम् ।
इहामुत्र च दुःखाय ऋणं पुत्रक ! मा कृथाः" ॥ इत्यालोच्य
विहृत्यर्थं वरे लक्ष्मीपुरे ते सुहृदस्त्रयः ।
गच्छन्तोऽध्वनि कस्यापि सरसः पालिमाययुः ॥१०॥
यावत्ते शम्बलं भोक्तुमुपविशन्ति पल्वले ।
तावत्तत्रागतौ साधू द्वौ तपःकृशविग्रहौ ॥११॥

चन्द्रोऽवगात्मनो भाग्यादागादीदृग् यतिद्वयम् ।
तेनैतयोः प्रदीयेत दानं शुद्धं सुभावतः ॥१२॥ यतः—
"ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः ।
अन्नदानात्सुखी नित्यं निर्व्याधिर्भेषजाद्भवेत् ॥१३॥

अदत्तदानाच्च भवेद् दरिद्रो,
दरिद्रभावाद् वितनोति पापम् ।
पापं हि कृत्वा नरकं प्रयाति,
पुनर्दरिद्रः पुनरेव पापी ॥१४॥

कदर्योपात्तवित्तानां भोगो भायवतां भवेत् ।
दन्ता दलन्ति कष्टेन जिह्वा गिलति लीलया ॥१५॥
कृपणेन समो दाता न भूतो न भविष्यति ।
अस्पृशन्नेव वित्तानि यः परेभ्यः प्रयच्छति ॥१६॥
अदाता पुरुषस्त्यागी सर्वमुत्सृज्य गच्छति ।
दातारं कृपणं मन्ये मृतोऽप्ययं न मुञ्चति ॥१७॥
अदातरि समृद्धेऽपि किं कुर्युरुपजीविनः ।
किंशुके किं शुकः कुर्यात् फलितेऽपि बुभुक्षितः ॥१८॥
धनिनोऽप्यदानविभवा गण्यन्ते धुरि महादरिद्राणाम् ।
हन्ति न यतः पिपासामतः समुद्रोऽपि मरुतैव ॥१९॥
अभयं सुपत्तदाणं अणुकंपा उचिअकित्तिदाणं च ।
दोहिं उ मुक्खो भणिओ तिन्नि उ भोगाइअं दिंति" ॥२०॥
"केसिं चि होइ वित्तं चित्तमन्नेसिं उभयमन्नेसिं ।
चित्तं वित्तं पत्तं तिन्नि वि केसिं चि धन्नाणं" ॥२१॥
उत्थाय तौ यती नत्वा चन्द्रो मित्रसमन्वितः ।
ददौ स्वशम्बलाच्छुद्धमन्नं संयतयोस्तयोः ॥२२॥ उक्तं च—
"दानं प्रियवाक्सहितं ज्ञानमगर्वं क्षमान्वितं शौर्यम् ।
त्यागसहितं च वित्तं दुर्लभमेतच्चतुर्भद्रम्" ॥२३॥
वीरेण वणिजाऽन्येद्युश्चन्द्रः कुर्वन् कलिं भृशम् ।
दृढमुष्ट्याहतो मृत्वा दानात्त्वं भूमिभागभूः ॥२४॥

रामभीमौ क्रमान् मृत्वा भट्टमात्राग्निकावुभौ ।
बभूवतुर्भवन्मित्रवरौ सत्प्रीतिभाजनम् ॥२५॥
अज्ञानकष्टमाधाय वीरो वणिक् क्रमात्स्फुटम् ।
बभूव खर्परश्चौरो दुर्दमो द्युसदामपि ॥२६॥ यतः—
पूर्वकर्मविपाकेन त्वया खर्परतस्करः ।
हतोऽगान्मरणं भूप ! नरके द्वितीये पुनः ॥२७॥ यतः—
"यदत्र क्रियते कर्म तत्परत्रोपभुज्यते ।
मूलसिक्तेषु वृक्षेषु फलं शाखासु जायते ॥२८॥
कृतकर्मक्षयो नास्ति कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥२९॥
ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे,
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः ।
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासङ्कटे,
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे ॥३०॥

कर्मणो हि प्रमाणत्वं किं कुर्वन्ति शुभा ग्रहाः ।
वसिष्ठदत्तलग्नोऽपि रामः प्रव्रजितो वने" ॥३१॥
त्वया पूर्वभवे छागो हन्यमानश्च छागिभिः ।
रक्षितस्तेन ते वर्षशतमायुरभूत्ततः ॥३२॥
श्रुत्वेति श्रीगुरूपान्ते विक्रमार्कनरेश्वरः ।
विशेषतोऽभवज्जीवदयाकर्मणि कर्मठः ॥३३॥
सिद्धसेनगुरुः प्राह पापं यत्क्रियतेऽङ्गिभिः ।
आलोचनां विना तस्मात्पापान्न छुट्टनं भवेत् ॥३४॥ यतः—
"आलोअणापरिणओ सम्मं संपट्ठिओ गुरुसगासे ।
जइ अंतरावि कालं करिज्ज आराहओ तहवि ॥३५॥
काएण काइअस्स पडिक्कमे वाइअस्स वायाए ।
मणसा माणसिअस्स सव्वस्स वयाइआरस्य ॥३६॥
जो चवलो सढभावो मायाकवडेहि वंचए सयणं ।
न य कस्स य वीसत्थो सो पुरिसो महिलिआ होइ ॥३७॥

संतुट्ठा सुविणीआ अज्जवजुत्ता य जा थिरा निच्चं ।
सच्चं जंपइ महिला सा पुरिसो होइ मरिऊणं ॥३८॥
सल्लं उद्धरिउमणो संवेगुव्वेअतिव्वसद्धाओ ।
जं कुणइ सुद्धहेउं सो तेणाराहओ होइ ॥३९॥
यद्यत्पापं कृतं गूढं प्रगूढं वा सुखप्रदम् ।
गुरूपान्ते गदंस्तत्तन्निष्पापो जायतेऽङ्गवान् ॥४०॥
एकभवकृतं पापमालोचयन् भवी जनः ।
अनन्तभवसंभूतं तमश्छिनत्ति हेलया" ॥४१॥
आलोचनफलं मुक्तिसौख्यसन्ततिदायकम् ।
श्रुत्वा विक्रममार्तण्डः सम्यगालोचनां ललौ ॥४२॥

आलोचनानन्तरं विशुद्धिकृन्नृपयोग्यतपआद्याह—

जिनालयाः शतं वर्याः कैलाशाचलसोदराः ।
काराप्या मयका सार्वविम्बानां च दशायुतम् ॥४३॥
वर्तमानजिनाधीशसिद्धान्तं निखिलं क्रमात् ।
लेखनीयं मया स्वर्णरूप्यमयाक्षरैर्युतम् ॥४४॥
साधर्मिकमनुष्याणां लक्षमेकं मनोहरम् ।
जेमनीयं मनोज्ञान्नपानवस्त्रादिदानतः ॥४५॥
कर्तव्या श्रीजिनेशार्चा त्रिकालं प्रतिवासरम् ।
मया वर्षत्रयं यावत्प्रायश्चित्तच्छिदे पुनः ॥४६॥ यतः—
कुसुम[1]क्खय[2]गन्ध[3]पईव[4]धूव[5]नेवेज्ज[6]फल[7]जलेहिं पुणो ।
अट्ठविहकम्महणणी अट्ठुवयारा हवइ पूआ ॥४७॥
प्रासुकं सलिलं नित्यं पातव्यं मयका खलु ।
परोपकार एवासौ विधातव्यो निरन्तरम् ॥४८॥ यतः—
"शास्त्रं बोधाय दानाय धनं धर्माय जीवितम् ।
वपुः परोपकाराय धारयन्ति मनीषिणः" ॥४९॥
नमस्कारयुतं कार्यं प्रत्याख्यानं मया सदा ।
अष्टम्यादिषु घस्रेषु कार्यमेकाशनं तपः ॥५०॥

१ तदालोचनमात्रेण निष्पापो घ । २ अष्टप्रकारकलिता घ ॥

गुणनीयं नमस्कारशतत्रयं निरन्तरम् ।
सामग्र्यां गुरुपादानां प्रदेयं वन्दनं मया ॥५१॥ इत्यादि
श्रीसिद्धसेनसूरीशाः प्रोचुरेवं नृपं प्रति ।
कार्यं सम्यक् समं भूपाङ्गीकृत भवता सदा ॥५२॥
कुर्वाणो मानवः सम्यग् धर्मं श्रीमज्जिनोदितम् ।
लभते स्वर्गकल्याणसुखानि क्रमतः स्फुटम् ॥५३॥ यतः—
"आधारो यस्त्रिलोक्या जलधिजलधरार्केन्दवो यन्नियोज्या,
भुज्यन्ते यत्प्रसादादसुरसुरनराधीश्वरैः सम्पदस्ताः ।
आदेश्या यस्य चिन्तामणिसुरसुरभीकल्पवल्ल्यादयस्ते,
श्रीमज्जैनेन्द्रधर्मः कुशलयतु स वः शाश्वतीं शर्मलक्ष्मीम्"॥
ततः श्रीविक्रमादित्यो धर्मं जीवदयामयम् ।
कुर्वन् स्वयं जनानन्यान् कारयामास भूरिशः ॥५५॥
लोका अपि तदा धर्मं कुर्वाणा वरभावतः ।
अर्जयामासुरानन्दयोग्यं कर्म शुभावहम् ॥५ ॥

इति श्रीविक्रमादित्यपश्चाद्भवपुण्योपार्जनभट्टमात्रादि-
मिलनालोचनाङ्गीकरणसम्बन्धः समाप्तः ।

लक्ष्मीपुरेऽमरक्षोणीपतेः प्रेमवती प्रिया ।
पुत्रोऽभूच्छ्रीधरः पुत्री पद्मावत्यभिधाऽभवत् ॥५७॥
वर्धमाना क्रमात्पुत्री कीरेण सह सन्ततम् ।
पठन्ती पण्डितोपान्ते वभूवातीव कोविदा ॥५८॥ यतः—
"जले तैलं खले गुह्यं पात्रे दानं मनागपि ।
प्राज्ञे शास्त्रं स्वयं याति विस्तारं वस्तुशक्तितः ॥५९॥
पण्डितः क्षोणिभुक्पुत्रीं पाठयित्वा कलिन्दिकाः[1] ।
आनीनाय नृपोपान्ते शुकराजसमन्विताम् ॥६०॥
निजोत्सङ्गे सुतां कृत्वा पप्रच्छेति महीपतिः ।
समस्यां शुक ! पृच्छ त्वं मदीयतनयान्तिके ॥६१॥
अत्र समस्याव्याकरणछन्दोऽलङ्कृत्यादीनां पृच्छा परस्परं भूपाग्रे शुकराजनन्दिन्योरभूत् ।

१ कलिन्दिका सर्वविद्या (अभि० का० २ श्लो० १७२) सर्वा आन्वीक्षिकाद्या विद्या अस्या सा सर्वविद्या ।

विज्ञाय तनयां विज्ञां भूपतिर्हृष्टहृज्जगौ,
कस्मायियं कनी भूपपुत्राय दास्यते शुक! ॥६२॥
शृण्वेत्याह शुको ह्यस्याः समस्यानां चतसृणाम्।
यो ना पूरयिता तस्य करिष्यति करग्रहम् ॥६३॥
स्वामिंस्तेन चतसृभ्यो दिग्भ्यो भूपतिनन्दनाः।
आकार्यन्तेऽनुगान् प्रेष्य मुहूर्ते सुन्दरेऽचिरात् ॥६४॥
तेषां मध्ये समस्यानां योऽर्थं सपदि वक्ष्यति।
तस्य पाणिग्रहं पुत्री करिष्यति यथारुचि ॥६५॥
विचार्येति महीशेनाकारिता भूपनन्दनाः।
शुभेऽहनि चतसृभ्यः ककुब्भ्य आययुः क्षणात् ॥६६॥
तेषां भूपतिपुत्राणां चतुर्दिक्षु पुराद् बहिः।
उत्तारा ददिरे वर्या यथायोग्यं महीभुजाम् ॥६७॥
शुकोऽभ्येत्यासरोपान्ते जगाविति कृताञ्जलिः।
कथयिष्यति यः कन्यापृष्टं भूपतिनन्दनः ॥६८॥

तस्यैव दास्यते पुत्री स्वकीया लसदुत्सवम्।
राजा प्राह शुकेदानीं यथारुचि विधीयताम् ॥६९॥
ततः शुकः समुत्थाय पूर्वदिक्स्थनृपान्तिके।
गत्वा प्राह कनीप्रोक्ताः समस्याः कथयिष्यति(सि) ॥७०॥
तदा तुभ्यमियं कन्या दास्यते रुचिरोत्सवम्।
नो चेदन्यस्य दास्येत रुचितस्य मया स्फुटम् ॥७१॥
पूर्वाशायाः समायातो भूपपुत्रो जगावदः।
भो कीर! रोचते यत्ते तज्जल्प मे पुरोऽधुना ॥७२॥
तुर्यपादं समस्याया 'एकल्ली बहुएहिं'।
गीर्वाणभाषयाऽचष्ट कीर एककनीं स्फुटम् ॥७३॥
समस्यार्थमजानाने भूपपुत्रे शुको जगौ।
उत्थाय व्रज नो कन्या दास्यते भवतः स्फुटम् ॥७४॥
ततः स भूमिभुक्पुत्रः खिन्नः स्वपुरमीयिवान्।
शुकोऽभ्येत्य यमाशास्थभूपान्ते प्रोक्तवानिति ॥७५॥

कथयिष्यति(सि) पृष्टं मे यदि त्वं भूपनन्दन ! ।
इयं तुभ्यं कनी राज्ञा दास्यते लसदुत्सवम् ॥७६॥
नो चेदन्योऽपि मत्पृष्टं कथयिष्यति भूपभूः ।
तस्मै प्रदास्यते कन्या भूरिरैदानपूर्वकम् ॥७७॥

हे कीर ! रोचते यत्ते समस्यादिपदं वद ।
ततः शुको जगावेतत् 'किं किज्जइ वहुएहिं' ॥७८॥
समस्यार्थमजानाने तस्मिन् भूपतिनन्दने ।
शुकोऽवग् व्रज भूपालपुत्र ! पश्चान्निजालये ॥७९॥
ततः स भूमिभुक्पुत्रः खिन्नः स्वपुरमीयिवान् ।
कीरोऽथ पश्चिमायास्थभूपपार्श्वे जगावदः ॥८०॥

कथयिष्यसि मे पृष्टं यदि त्वं भूपनन्दन ! ।
तदा तुभ्यमियं कन्या दास्यते नान्यथा पुनः ॥८१॥
यः कश्चिद्भूपतिः पृष्टं मदीयं कथयिष्यति ।
तस्मै च दास्यते कन्या भूरिरैदानपूर्वकम् ॥८२॥

श्रुत्वैतद्भूपभूः प्राह कीर यद्रोचते तव ।
जल्प तत्स्वेच्छयेदानीं उत्तरो दास्यते मया ॥८३॥
ततः कीरो निजां स्फूर्तिं दर्शयन् देवभाषया ।
प्राह पश्यत्सु लोकेषु 'तहिं परिणी काह करेसि' ॥८४॥

समस्यार्थमजानाने तस्मिन् भूपतिनन्दने ।
कीरः प्राह व्रज क्ष्मापसूनो ! पश्चात्स्वसद्मनि ॥८५॥
ततः सोऽवनिभुक्सूनुः खिन्नोऽगान्नगरे निजे ।
ततोऽभ्येत्योत्तराशास्थक्ष्मापान्ते प्रोक्तवान् शुकः ॥८६॥
कथयिष्यसि मे पृष्टोत्तरं च त्वं यदि ध्रुवम् ।
तदा तुभ्यं प्रदास्येत कन्यकेयं नृपाङ्गजा ॥८७॥

श्रुत्वैतद्भूपभूः० (८३) ततः कीरः०(८४)
शुकोऽवक्–'कवण पीआवूं खीर' ॥८८॥
समस्यार्थमजानाने तस्मिन् भूपालनन्दने ।
कीरः प्राह व्रजाह्वाय पश्चात्सौवनिकेतने ॥८९॥

तस्मिन् नृपाङ्गजे स्वीयगेहे याते नृपो जगौ ।
पश्चात्कीर ! कथं भूपनन्दना गमिता त्वया ॥९०॥
एतेषां नृपपुत्राणां मध्ये नैकस्य भूभुजः ।
कन्या दत्ता भवेत्कस्य दास्यतेऽतो वदाऽधुना ॥९१॥
शुकोऽवग् मा कुरुष्व त्वं खेदं सम्प्रति भूपते ! ।
चिन्ता न क्रियते चित्तेऽग्रेतनीया महात्मभिः ॥९२॥ यतः—
"अतीतं नैव शोचन्ति भविष्यं नैव चिन्तयेत् ।
वर्तमानेन कालेन वर्तयन्ति विचक्षणाः" ॥९३॥
ततो भूपतिमापृच्छ्य दीव्यसौख्यासने शुकः ।
आरोप्य भूमिभुक्पुत्रीमचालीत्सत्परिच्छदः ॥९४॥
अनेकेषु च देशेषु भूपालाङ्गजसन्निधौ ।
समस्या बहुशः पृष्ट्वोज्जयिन्यां शुक ईयिवान् ॥९५॥
अवन्तीनगरोद्याने कन्यकां सपरिच्छदाम् ।
मुक्त्वैत्य विक्रमार्कान्ते कीरः सविनयं जगौ ॥९६॥

कन्योक्तानां समस्यानां नरेश्वर ! चतसृणाम् ।
न कैरर्थो मनाक् प्रोक्तः पृष्टोऽपि मेदिनीधवैः ॥९७॥
तेन तासां समस्यानामर्थं त्वं पूरयिष्यसि ।
प्रसरिष्यति लसत्कीर्तिस्तावकीनाऽवनौ तदा ॥९८॥
नो चेदर्थं समस्यानां तासां त्वं कथयिष्यसि ।
भविष्यत्ययशस्तावकीनं जगति सर्वतः ॥९९॥
राजाऽवग् भूमिभुक्पुत्री तावकीना स्वसा ध्रुवम् ।
समस्याः स्वकृताः सद्यः पृच्छतु मत्समीपतः ॥१००॥
ततः सा कन्यका कृत्वा वरमालां वरां करे ।
आजगाम स्वयं कीरभ्रातृयुक्ता नृपालये ॥१०१॥
गोमयेन वरां गूंहलिकां कृत्वा नृपाङ्गजा ।
आद्यगूंहलिकोपान्ते स्थिता देवीव रूपभृत् ॥१०२॥
तदाऽनेकाः स्त्रियः स्वं स्वं कार्यं मुक्त्वा कृतत्वराः ।
विलोकितुं समाजग्मुः कन्यकां मेदिनीपतेः ॥१०३॥

आगते भूपतौ तत्र स्थाने सारपरिच्छदे ।
कन्या प्राह समस्येति एकल्ली वहुएहिं ॥१०४॥
आकर्ण्यैतत्समस्यायाः पदं(पादं) तुर्यं मनोरमम् ।
पश्यत्सु भूरिनृष्वेव पूरयामास भूपतिः ॥१०५॥
"करि कमलि सरि जनोई संझा जयइ ब्राह्मणा ।
कूंअर पोपट इम भणइ एकल्ली वहुएहिं" ॥१०६॥
द्वितीयगूंहलीपार्श्वे समेत्य भूपनन्दिनी ।
समस्यापदमित्याह 'कां कीजइ वहुएहिं' ॥१०७॥
आकर्ण्यास्याः समस्यायाः पदं(पादं) तुर्यं मनोहरम् ।
पश्यत्सु भूरिनृष्वेव पूरयामास भूपतिः ॥१०८॥
कूंती पांडव जाइआ गांधारी सुपुत्र ।
पांचे सइ जि निरजिण्य (आ) किं जाए वहुएहिं ॥१०९॥
तृतीयगूंहलीपार्श्वे समेत्य नृपनन्दिनी ।
समस्यापदमित्याह 'ते अ परिणी काह करेसि' ॥११०॥

आकर्ण्यैतत्समस्यायाः पदं(पादं) तुर्यं मनोहरम् ।
पश्यत्सु भूरिनृष्वेव जजल्प मेदिनीपतिः ॥१११॥
पंचासवरिसवरपरिणावइ पांच वरसनी नारी ।
पोपट कूंअरि इम भणइ ते परिणी काह करेसि ॥११२॥
ततश्चतुर्थगूंहल्याः पार्श्वेऽभ्येत्य नृपाङ्गजा ।
समस्यापदमित्याह 'कवण पीआवुं खीर" ॥११३॥
आकर्ण्यैतत्समस्यायाः पदं(पादं) तुर्यं मनोहरम् ।
पश्यत्सु भूरिनृष्वेवं जजल्प क्षोणिनायकः ॥११४॥
"जहीइं रावणजाईउ दहमुह एकसरीर ।
माइ वीअंभी चींतवइ कवण पीआवुं खीर" ॥११५॥
तदा तासु समस्यासु पूरितासु महीभुजा ।
अग्रेऽभ्येत्य कनी भूपकण्ठे वरस्रजं व्यधात् ॥११६॥
ततो लसन्महं भूरिलक्ष्मीव्ययविधानतः ।
परिणिन्ये नृपः पद्मावतीं भूपतिनन्दिनीम् ॥११७॥

देवदम्यादिकन्यानां विधाय करपीडनम्।
शुद्धवंशजकन्यादि पत्नीभिरिति जल्पितम् ॥११८॥
अशुद्धकुलजाः स्वामिन्! त्वं च विद्धि कथं स्फुटम्।
एषा शुद्धकुलोत्पन्ना कथं निश्चीयते त्वया।
एवं न युज्यते कर्तुं भूपतीनां कदाचन ॥११९॥ यतः—
"विषादप्यमृतं ग्राह्यममेध्यादपि काञ्चनम्।
अधमादुत्तमां विद्यां स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥१२०॥
राजाऽवग् दुःशको लोकापवादः क्रियते कथम्।
एवमुक्त्वा नृपो भुङ्क्ते तस्या एव करे सदा ॥१२१॥
तया पत्न्यैकदा सार्धं भोज्ये यावदुपाविशत्।
तावत्तत्र झषान् रद्धान् सूपकृत्पर्यवेपयत् ॥१२२॥
पृथग् भूत्वा स्थिता राज्ञी यावत्तावन्नृपो जगौ।
भोजनाच्च कथं कान्ते! पृथग्भूय स्थिताऽसि भोः ॥१२३॥
राज्ञी जगावहं नान्यनरसङ्गं करोमि हि।
श्रुत्वा राज्ञीवचो मत्स्यास्तदा हासं व्यधुश्च ते ॥१२४॥
राजाऽवग् भोः प्रिये! प्रोक्ते त्वयैते जहसुः कथम्।
पत्न्योक्तं ज्ञायते नात्र कारणं कान्त! साम्प्रतम् ॥१२५॥
तत आकार्य मन्त्रीशान् मत्स्यानां हासकारणम्।
पृष्टास्ते भूभुजा प्रोचुरेवं विनयपूर्वकम् ॥१२६॥
मन्त्रिणः प्रोचुरात्मीयप्राणेशानां विचेष्टितम्।
पृच्छ्यन्ते न परे लोकाः स्वस्मिन् हासादिहेतुतः ॥ यतः—
"अर्थनाशं मनस्तापं गृहे दुश्चरितानि च।
वञ्चनं चापमानं च मतिमान्न प्रकाशयेत् ॥१२८॥
पृच्छ्यतेऽस्मादृशां पार्श्वे विद्वपिविजयादिकम्।
ततः पुरोहितः पृष्टो भूपेनेति जगावदः ॥१२९॥
स्वामिन्! जानाम्यहं नैव मत्स्यानां हास्यकारणम्।
राज्ञोक्तं भक्षयन् ग्रासं त्वमेवं वक्षि किं स्फुटम् ॥१३०॥
न जल्पिष्यसि चेदेतत्कारणं त्वं पुरोहित!।

१—'कन्याया जन्मादि' इति भ्रष्ट. पाठः प्रत्यन्तरे।

तदाऽहं सकुटुम्बं त्वां हनिष्यामि न संशयः ॥१३१॥
ततोऽतिदुःखितः स्वौक उत्थायागात् पुरोहितः ।
तातं श्यामास्यमालोक्य प्राहेति बालपण्डिता ॥१३२॥
तातेदृक्षं कथं वक्त्रं दृश्यते साम्प्रतं तव ।
पुरोहितो जगौ पुत्रि ! तर्हि किं क्रियते मया ।
मीनानां हासहेतुं तं न जाने तेन मेऽसुखम् ॥१३३॥
पुत्री प्रोवाच भो तात ! मा त्वं खेदं कुरुष्व हि ।
मत्स्यानां हसने हेतुं वक्ष्येऽहं भूपतेः पुरः ॥१३४॥
ततः पुरोहितोऽभ्येत्य भूपोपान्ते जगावदः ।
कथयिष्यति मत्पुत्री मत्स्यानां हासकारणम् ॥१३५॥
चित्रशालान्तरे कृत्वा स्फारां पटकुटीं नृपः ।
मत्स्यानां हसनोदन्तं जल्प कन्या ततो जगौ ॥१३६॥
स्वामिन्नुदन्तमीदृक्षं पृच्छ्यते गेहिनी स्वयम् ।
निषेधयति मां वक्तुं मन्दाक्षं तस्य साम्प्रतम् ॥१३७॥

राजाऽवग् न प्रिया वक्ति क्रियते किन्तु साम्प्रतम् ।
त्वमेव जल्प मत्स्यानां हास्यकारणमञ्जसा ॥१३८॥
कन्यका प्राह मत्स्यानां हास्यस्य कारणेऽधुना ।
प्रोक्ते मण्डकवत्पश्चात्तापं प्राप्नोषि भूपते ॥१३९॥ तथाहि–
श्रीपुरे कमलो निःस्वो वनादेधांसि भूरिशः ।
आनीयानीय विक्रीय निर्वाहं दुःखतो व्यधात् ॥१४०॥ यतः
"परीक्ष्य सत्कुलं विद्यां शीलं शौर्यं सुरूपताम् ।
विधिर्ददाति निपुणं कन्यामिव दरिद्रताम् ॥१४१॥
वरं रेणुर्वरं भस्म नष्टश्रीर्न पुनर्नरः ।
मुक्त्वैनं दृश्यते पूजा क्वापि पर्वणि पूर्वयोः" ॥१४२॥
वनेऽन्येद्युर्गतो पञ्चवक्त्रं दारुमयं पृथुम् ।
वीक्ष्य सुरालये दध्यावेवं कमलनिर्द्धनः ॥१४३॥
अस्य काष्ठैर्बहून् घस्रान् निर्वाहो मे भविष्यति ।
ध्यात्वेति कमलश्छेत्तुमुद्यतोऽजनि तत्क्षणात् ॥१४४॥

प्रादुर्भूय च हेरम्बो भियेतिं प्रोक्तवांस्तदा ।
मा भाङ्क्षीर्मम मूर्तिं त्वं वरं मार्गय वाञ्छितम् ॥१४५॥
तेनोक्तं यदि तुष्टोऽसि हेरम्ब ! मम साम्प्रतम् ।
क्षुधां चिरंतनीं धान्यदानादपनय स्फुटम् ॥१४६॥
विनायको जगौ मत्तो नित्यं मण्डकपञ्चकम् ।
गुडाज्यमिश्रितं ग्राह्यं दीनारपञ्चकान्वितम् ॥१४७॥
यावत्त्वं मण्डकान्नात्सि त्रुटिष्यन्ति न ते तदा ।
भुक्ते त्वयि स्वयं यान्ति मण्डका विलयं क्षणात् ॥१४८॥
इयं वार्ता न कस्याग्रे वक्तव्या भवता क्वचित् ।
यदि वक्ष्यसि चेत्तुभ्यं न दास्ये मण्डकाद्यहम् ॥१४९॥
मण्डकादि समानीय स्वगृहे प्रतिवासरम् ।
निर्वाहं कुरुते स्वस्य सुखेन कमलः स्वयम् ॥१५०॥
तदा स्वजनगेहेषु कुर्वाणो लम्भनं स च ।
भुञ्जानश्च क्रमाद् भूरिलक्ष्मीवान् कमलोऽजनि ॥१५१॥

सदैव स्वजनावासे मण्डकानां हि लम्भनम् ।
कुर्वतः कमलस्यासीन्मण्डकाह्वाऽखिले जने ॥१५२॥
अन्यदा प्रियया प्रोक्तं कान्त ! स्थानात्कुतस्सदा ।
आनीयन्ते त्वया मण्डकाश्च जल्प पुरो मम ॥१५३॥
कमलोऽवग् न शक्येत वक्तुमेतन्मम प्रिये ! ।
मण्डकानयनोदन्ते प्रोक्ते दुःखं भविष्यति ॥१५४॥
प्रिया प्रोवाच भवता यदि न कथयिष्यते ।
तदाऽहमात्मघातेन हत्यां दास्यामि तेऽधुना ॥१५५॥ यतः—
"वज्रलेपस्य मूर्खस्य नारीणां मर्कटस्य च ।
एको ग्रहस्तु मीनानां नीलीमद्यपयोस्तथा" ॥१५६॥
मण्डकानयनोदन्तं तदा प्रोक्त्वा प्रियाग्रतः ।
मण्डकोऽभ्येत्य हेरम्बपार्श्वे प्रातर्जगावदः ॥१५७॥
त्वं विश्राणय हेरम्ब ! मण्डकाद्यधुना मम ।
गजास्योऽवग् मया प्रोक्तमन्यथा भवता कृतम् ॥१५८॥

तेन नातः परं ह्यत्रागन्तव्यं भवता क्वचित् ।
यदीच्छसि तदाऽनर्थः प्राणहारी भविष्यति ॥१५९॥
पश्चात्तापं ततः कुर्वन् मण्डको दुःखितोऽजनि ।
प्रोक्ते मीनहसोदन्ते त्वमप्येवं भविष्यसि ॥१६०॥
एकस्मिन् दिवसेऽप्येवं गते द्वितीयके दिने ।
पृष्टा भूमीभुजा बालपण्डितेति जगौ स्फुटम् ॥१६१॥
मत्स्यानां हसनोदन्ते कथिते तव साम्प्रतम् ।
प्राप्तसिन्दुरवत्पश्चात्तापवांस्त्वं भविष्यसि ॥१६२॥ तथाहि—
पुरा पद्मपुरे पद्मनामा कौटुम्बिको धनी ।
अतीव दुःखितो लक्ष्मीं विनेति ध्यातवान् हृदि ॥१६३॥ यतः—

"वरं वनं व्याघ्रगणैर्निषेवितम्,
जलेन हीनं बहुकण्टकाकुलम् ।
तृणैश्च शय्या वसनं च वल्कलम्,
न बन्धुमध्ये निधनस्य जीवितम्" ॥१६४॥

ध्यात्वेति मानसे यावत् पद्मो देशान्तरेऽन्यदा ।
कस्यचिन्नगरस्यान्ते सिषेवे सिद्धमानवम् ॥१६५॥
तुष्टः सिद्धनरः प्राह लाहीदं सिन्दुरं वरम् ।
प्रदास्यत्यर्थितं पञ्चशतं दीनारकान् प्रगे ॥१६६॥
कथयिष्यसि कस्याग्रे मदर्पणं यदि त्वकम् ।
तदा मत्सन्निधावेव सद्य एतत्समेष्यति ॥१६७॥
अहं न कथयिष्यामि कस्याप्यग्रे कदाचन ।
इत्युक्त्वा सिन्दुरं लात्वा पद्मो वेश्यालये ययौ ॥१६८॥
तत्र त्रैलोक्यसुन्दर्या वेश्यया सह सन्ततम् ।
चिक्रीड सिन्दुराद् लक्ष्मीं मार्गयित्वा स तिष्ठति ॥१६९॥
अन्येद्युरक्कया प्रोक्तं सुतेऽसौ मानवः कुतः ।
आनीय ददते लक्ष्मीं मार्गितां स्वेहितां सदा ॥१७०॥
स्वपुत्रीपार्श्वतो लक्ष्मीप्राप्तिस्वरूपमन्यदा ।
ज्ञात्वाऽक्का सन्ततं लातुं सिन्दुरं वाञ्छति च्छलात् ॥ यतः—

"वेश्याऽक्का नृपतिश्चौरो नीरमार्जारमर्कटाः ।
जातवेदाः कलादाश्च छलयन्ति जनं सदा" ॥१७२॥
हठात् त्रैलोक्यसुन्दर्या पृष्टे च प्रतिवासरम् ।
पद्मोऽवक् सिन्दुरप्राप्त्युदन्तं तस्याः पुरोऽन्यदा ॥१७३॥
तदा तत्सिन्दुरं सद्यः कौटुम्बिकसमीपतः ।
योगिपार्श्वे ययौ सारमाहात्म्येन समन्वितम् ॥१७४॥
विज्ञाय सिन्दुरं नष्टं कौटुम्बिकस्तदा क्षणात् ।
पश्चात्तापपरो दीनाशयः स्वगृहमागमत् ॥१७५॥
विशारहसनोदन्ते कथिते सति साम्प्रतम् ।
पश्चात्तापस्तवात्यन्तं भविष्यति महीपते ! ॥१७६॥
पृष्टे महीभुजा मत्स्यहास्योदन्ते च सा जगौ ।
प्रोक्तेऽस्मिन् भूपते ! पश्चात्तापं त्वीत्र गमिष्यसि ॥ तथाहि–
लक्ष्मीपुरे मुकुन्दस्य क्षत्रियस्य रमा प्रिया ।
कालेन कियताऽलीकं किमप्युक्त्वा यथा तथा ॥१७८॥

आसन्नान्यपुरीचन्द्रमहीपं रूपसंयुतम् ।
वाञ्छन्ती वरितुं शश्वच्चित्ते चिन्तातुराऽजनि ॥ [युग्मम्] यतः
"चिन्तातुराणां न सुखं न निद्रा ॥ सर्ग० २ श्लो० २०८ ॥
स्तोकेऽपि जल्पने क्षोणीपतेः कुप्यति सा सदा ।
वक्ति चाहं गमिष्यामि वरीतुमन्यभूपतिम् ॥१८१॥
मुकुन्दोऽवक् प्रिये ! वक्तुं युज्यते नेति कर्हिचित् ।
गम्यते नान्यभूपान्ते सत्या कामेच्छया कदा ॥१८२॥यतः–
"ऐश्वर्यस्य विभूषणं मधुरता शौर्यस्य वाक्संयमो,
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः ।
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवतो धर्मस्य निर्व्याजता,
सर्वेषामपि सर्वकामगुणितं शीलं परं भूषणम्" ॥१८३॥
गमिष्यते त्वया चेद्धि मां मुक्त्वाऽन्यत्र साम्प्रतम् ।
तदा भावी तवानर्थः पश्चात्तापश्च चेतसि ॥१८४॥
पत्न्योक्तं न हि वक्तव्यमेवमत्र त्वया पते ! ।
अहं तत्र गमिष्यामि ददस्व बीटकं मम ॥१८५॥

ततस्त्यक्ता तदा तेन वीटकार्पणपूर्वकम् ।
तस्मिन् ग्रामे रमा यावद्ययौ तावन्मृतः स च ॥१८६॥
ततः सा त्वरितं यावत्पश्चात्कान्तान्तिकेऽगमत् ।
तावत्तेन धिया वर्याऽऽनीताऽन्या विनयान्विता ॥१८७॥

मुकुन्दोऽवग् गताऽसि त्वं वरीतुं क्षत्रियं यकम् ।
तत्पृष्टौ किमगान्नैत्र(नैव) काष्ठपावकभक्षणात् ॥१८८॥
द्वाभ्यां च्युता रमा नारी दुःखिताऽभूद्यथा चिरम् ।
तस्मिन् प्रोक्ते तथापि त्वं पश्चात्तापं करिष्यसि ॥१८९॥
ततः पृष्टे महीशेन प्राहेति बालपण्डिता ।
परस्त्रीसन्निधावेतत् पृष्टं न शोभते मनाग् ॥१९०॥
पृच्छयते यदि चेदित्थं मत्पार्श्वे भूपते ! त्वया ।
पुष्पहासाभिधो मन्त्री पृच्छयतामधुना द्रुतम् ॥१९१॥
राज्ञोक्तं कारसद्मान्ते क्षिप्तोऽस्ति मन्त्रिराट् पुरा ।
तयोक्तं गुप्तिगेहात्स कर्षयित्वाऽऽशु पृच्छयताम् ॥१९२॥

तुष्टोऽस्ति निर्जरस्तस्य पुष्पहासस्य मन्त्रिणः ।
आराधितः सुरस्तेन वक्ति सर्वं शुभाशुभम् ॥१९३॥
यदेति मन्त्रिराट् पर्षन्मध्ये हसति सद्भयात् ।
तदा पतति तद्वक्त्रात्पुष्पपुञ्जो महत्तमः ॥१९४॥
कर्षयित्वा महीशेन कारागारात्स्वपर्षदि ।
आनीतो यावताऽऽहासीत्पुष्पपुञ्जोऽपतत्तदा ॥१९५॥
नृपेणोक्तं विशाराणां हास्यकारणमञ्जसा ।
कथय त्वं तथा मन्त्रिन् ! यथा मे याति संशयः ॥१९६॥
कुम्पकं सुमषीयुक्तं लेखनीकागदान्वितम् ।
भाजनं चामुचन्मन्त्री ज्ञातुं मत्स्यहसं तदा ॥१९७॥
तदेति तेन देवेन लिखितं कागदे स्फुटम् ।
हस्तिपेन समं लुब्धा तव सा विद्यते प्रिया ॥१९८॥
यद्यस्ति भूपते ! शङ्का तस्याः पृष्ठिस्तदा द्रुतम् ।
द्रष्टव्या वस्त्रमुत्सार्य तच्छंशयच्छिदे स्फुटम् ॥१९९॥

ततो भूपो रहो नीत्वा तां पत्नीं सपदि स्वयम् ।
पृष्ठितो वस्त्रमुत्सार्य ददर्श निर्जरोदितम् ॥२००॥
ततश्चमत्कृतोऽत्यन्तं मत्वा तां तादृशीं प्रियाम् ।
तुल्यत्वेन समाः पत्नीर्मन्यते स्म नरेश्वरः ॥२०१॥

इति सदृशपत्नीमाननविषये कथा ।

अस्मिन्नेव पुरेऽन्येद्युर्वर्षासु स्वगृहान्तिके ।
पङ्के मग्नो हली धन्यः कटीं यावद् बलान्वितः ॥२०२॥
अशक्नुवन् पदौ स्वीयौ कर्षितुं कर्षकस्तदा ।
उच्चैः स्वरं जगावेवं भूयो भूयोऽतिदीनवाक् ॥२०३॥
करण्टकेन पङ्केऽहं प्रक्षिप्तो बलिनाऽधुना ।
त्वरितं त्वरितं भो भो लोका ! धावत धावत ॥२०४॥
तदा श्रीविक्रमोऽभ्येत्य अवग् किं जल्पसे हलिन् ! ।
धन्यः प्रोवाच पङ्के मे ब्रुडनं श्रूयतां नृप ! ॥२०५॥
अत्रैव नगरे भीमोऽजनि कौटुम्बिकाग्रणीः ।
तस्याभवत्प्रिया लक्ष्मीर्धन्यसोमौ सुतौ क्रमात् ॥२०६॥

तस्यालये सदा पञ्च महिष्यः प्रतिवासरम् ।
दुह्यमाना घृतं सेरदशकं कुर्वते सदा ॥२०७॥
सञ्चयन्ती घृतं सेराष्टकं सेरद्वयेन च ।
निर्वाहं स्वकुटुम्बस्य लक्ष्मीर्व्यधान्निरन्तरम् ॥२०८॥
व्ययित्वा कमलां धन्यस्तातेन परिणायितः ।
लाङ्गलं खेटयन् क्षेत्रे कृषिकर्म करोति च ॥२०९॥
खेटयतो हलं तस्य क्षेत्रे मेघागमे भृशम् ।
माता स्नुषान्तिकाद्भक्तं प्रेषयामास सन्ततम् ॥२१०॥
पलीमिताज्यसम्पूर्णं वरमेकं करण्टकम् ।
जननी मुञ्चते भक्तमध्ये सूनोर्निरन्तरम् ॥२११॥
तावता सर्पिषा धन्यो भक्तेन चावसीदति ।
माता किमपि नो दत्तेऽधिकं सर्पिः कदाचन ॥२१२॥
स्नुषान्ते कुत्रचिद् ग्रामे लक्ष्मीर्यान्ती जगावदः ।
व्ययनीयं त्वया चाज्यं पूर्ववत्स्वकुटुम्बके ॥२१३॥

ग्रामे श्वश्र्वां गतायां च स्नुषाऽन्नं सुचिरं रहः ।
कृत्वा वल्लाज्यतः कान्तं पोषयामास गेहिनी ॥२१४॥

प्रियाऽवक् च त्वया कान्त ! पृथक् चेद् भूयतेऽधुना ।
तदैवं पोषयिष्यामि त्वां वल्लाज्यप्रदानतः ॥२१५॥

पतिः प्राह मया नैवं मृष्टं भक्तं कदाचन ।
पत्न्योक्तं मयका तत्र मानितं मेदिनीपते ! ॥२१६॥

गेहिनीवचनासक्तः प्रोक्त्वा यथा तथा स्वयम् ।
पितृभ्योऽभूत्पृथक् सद्यो धन्यो मूढमनास्तदा ॥२१७॥

महिष्येका हलं चैकं द्रम्माणां शतपञ्चकम् ।
तातेन ददिरे तस्मै धन्याय सूनवे तदा ॥२१८॥

पत्युर्वल्लाज्यदानेन कुर्वती भक्तिमादरात् ।
गेहिनी प्रीणयामास सत्स्नानदानपूर्वकम् ॥२१९॥

नवटंकमिताज्येन करण्टकेन गेहिनी ।
भर्तारं प्रीणयामास क्रमात् स्नानादिकं विना ॥२२०॥

ततः करण्टकेनाहं कृतः कृशतनुः क्रमात् ।
पातितः कर्दमेऽकस्मात् तेनेदं जल्प्यते मया ॥२२१॥

श्रुत्वैतद् विक्रमादित्यो हेमकोटिं स्वकोशतः ।
दापयामास धन्याय तस्मै निर्वाहहेतवे ॥२२२॥

इत्यौदार्ये विक्रमादित्यः ॥

अन्येद्युर्विक्रमादित्यो भ्रमन् रात्रौ चतुष्पथे ।
शुश्रावेति जनान् वार्तां कुर्वाणान् रङ्गतो मिथः ॥२२३॥

धनाढ्यो विद्यते धन्यः श्रेष्ठी धर्मशिरोमणिः ।
चकार श्रीजिनेन्द्रार्चां त्रिकालं द्रव्यभावतः ॥२२४॥

तस्यासीद् गेहिनी शीलशालिनी धर्मकर्मकृत् ।
तस्या न सदृशी नारी साम्प्रतं दृश्यतेऽवनौ ॥२२५॥

श्रुत्वैतद् भूपतिः स्वीयसभामागत्य निशात्यये ।
उपविश्य सभामध्ये प्राहेति मन्त्रिणोऽग्रतः ॥२२६॥

अस्मिन् पुरेऽस्ति को धन्यो महेभ्यो वणिजाग्रणीः ।

विद्यते क गृहं तस्य कथ्यतां पुरतो मम ॥२२७॥
श्रुत्वेति मन्त्रिणः प्रोचुरस्मिन्नेव पुरे तव ।
विद्यन्ते बहवो धन्यनामानो धनिनायकाः ॥२२८॥
केचित्सदा सदाचारा द्यूतकाराश्च केचन ।
मद्यपाः केऽपि पापिष्ठाः केऽपि वेश्यावशं गताः ॥२२९॥
केऽपि मांसाशनाः केऽपि पापर्द्धिकारकाः पुनः ।
परदाररताः केऽपि केऽपि मिथ्यावचोरताः ॥२३०॥
परद्रोहपराः केऽपि केऽपि स्थापनिकामुखाः(पाः) ।
कूटसाक्षि(क्ष्य)कराः केऽपि कृपणाः केऽपि निर्धनाः ॥२३१॥
[अन्ये तु धार्मिकाः सन्ति धर्मकर्मपरायणाः] ।
केऽपि स्वदारसन्तोषाः केऽप्यन्यस्त्रीपराङ्मुखाः ॥२३२॥
परापवादवदने मूकाः केऽपि विचक्षणाः ।
केऽपि मूर्खा दयावन्तः केऽपि स्युः कलहादराः ॥२३३॥

परं तेषु महेभ्येषु धन्य एको धनेश्वरः ।
धर्मिष्ठः शीलवान् शान्तः श्रावकोऽस्ति गुणाकरः ॥२३४॥
आसीद् धन्यो गुणैरेकविंशत्या सहितः सदा ।
चकार श्रीजिनेन्द्राणामर्चनामुपर्वैणवम्[1] ॥२३५॥ उक्तं चैवम्–
"धम्मरयणस्स जुग्गो १ अक्खुद्दो २ रूववं ३ पगइसोमो ।
४लोगप्पिओ ५अक्रूरो ६भीरू ७असढो ८सुदक्खिन्नो ॥२३६॥
९लज्जालुओ १०दयालू ११मज्झत्थो सोमदिट्ठी १२गुणरागी ।
१३सकह १४सुपक्खजुत्तो १५सुदीहदंसी १६विसेसन्नू ॥
१७वुड्ढाणुगो १८विणीओ १९कयन्नुओ २०परहिअत्थकारी अ.
तह चेव २१ लद्धलक्खो इगवीसगुणेहिं संजुत्तो ॥२३८॥
इत्येकविंशतिगुणैर्विमलैर्मौक्तिकैरिव ।
भूषितो भाति भव्यात्मा धन्यो धर्मवतां धुरि ॥२३९॥
गृहिधर्मानुगैः पञ्चत्रिंशद्वरगुणैर्वृतः ।
सततं राजते धन्यो धर्मकर्मपरायणः ॥२४०॥ उक्तं च–

१ त्रिसन्ध्यं तूपर्वैणवम् (अभि० का० २ श्लो० ५४)

न्यायसम्पन्नविभवः१ शिष्टाचारप्रशंसकः२ ।
कुलशीलसमैः सार्धं कृतोद्वाहोऽन्यगोत्रजैः ३ ॥२४१॥
पापभीरुः४ प्रसिद्धं च देशाचारं समाचरन् ५ ।
अवर्णवादी न क्वापि राजादिषु विशेषतः६ ॥२४२॥
अनतिव्यक्तगुप्ते च स्थाने सुप्रातिवेश्मिके ।
अनेकनिर्गमद्वारविवर्जितनिकेतनः ८ ॥२४३॥
कृतसङ्गः सदाचारै९र्मातापित्रोश्च पूजकः १० ।
त्यजन्नुपप्लुतं स्थानमप्रवृत्तश्च गर्हिते११-१२ ॥२४४॥
व्ययमायोचितं कुर्वन् १३ वेषं वित्तानुसारतः१४ ।
अष्टभिर्धीगुणैर्युक्तः१५ शृण्वानो धर्ममन्वहम्१६ ॥२४५॥
अजीर्णे भोजनत्यागी१७ काले भोक्ता च सात्म्यतः१८ ।
अन्योन्याप्रतिबन्धेन त्रिवर्गमपि साधयन् १९ ॥२४६॥
यथावदतिथौ साधौ दीने च प्रतिपत्तिकृत् २० ।
सदानभिनिविष्टश्च२१ पक्षपाती गुणेषु च २२ ॥२४७॥

अदेशाकालयोश्चर्यां त्यजन् २३ जानन् बलाबलम् २४ ।
वृत्तस्थज्ञानवृद्धानां पूजकः२५ पोष्यपोषकः २६ ॥२४८॥
दीर्घदर्शी२७ विशेषज्ञः२८ कृतज्ञो२९ लोकवल्लभः३० ।
सलज्जः३१ सदयः३२ सौम्यः ३३ परोपकृतिकर्मठः ३८ ॥
अन्तरङ्गारिषड्वर्गपरिहारपरायणः ३४ ।
वशीकृतेन्द्रियग्रामो३५ गृहिधर्माय कल्पते ॥२५०॥
सोऽपि धन्यो जराव्याप्तो वलिभूषणभूषितः ।
दन्तरिक्तमुखो नीचैर्गच्छति स निरन्तरम् ॥२५१॥ यतः-
"गात्रं सङ्कुचितं गतिर्विगलिता दन्ताश्च नाशं गताः,
दृष्टिर्नश्यति रूपमेव ह्रसते वक्त्रं च लालायते ।
वाक्यं नैव करोति बान्धवजनः पत्नी न शुश्रूषते,
धिक् कष्टं जरयाऽभिभूतपुरुषं पुत्रोऽप्यवज्ञायते" ॥२५२॥
"भाऊ गुरुगुण थेरडा भूहिं ऊगडा भमंति ।
हार तूं जुव्वणरयण ते फिरि फिरि जोअंति ॥२५३॥

नीअं रयणनिहाणं पवासिणा जुव्वणेण जंतेण ।
तेणं चिअ थेराणं गत्ता गह्लेसु दीसंति ॥२५४॥
कर कंपावइ सिर धुणइ ए नर कांइ करेइ ।
जम हक्कारइ जमपुरी ओ नकार करेइ" ॥२५५॥
"पृथ्वीतले जरा कष्टं कष्टं धर्मविपर्ययः ।
कष्टं नन्दनशोकश्च कष्टात्कष्टतरी क्षुधा" ॥२५६॥
एवंविधोऽपि षट्कर्म कर्ता हर्ता कुकर्मणः ।
त्रिकालं विदधे पूजां जिनेन्दोर्गुरुसेवकः ॥२५७॥
तस्यापुत्रस्य सन्त्यष्टादशरैकोटयोऽनघाः ।
सप्तक्षेत्र्यां व्ययतोऽथ धनं गच्छन्ति वासराः ॥२५८॥
तस्यासीद् गेहिनी भक्ता गुणाढ्या गुणसुन्दरी ।
ततोऽतिसुखवान् श्रेष्ठी बभूवाद्भुतभाग्यवान् ॥२५९॥
इतोऽस्मिन्नेव नगरे श्रीपतेः श्रेष्ठिशालिनः ।
पश्चाचारपरस्यासीत् श्रीमती नामतः प्रिया ॥२६०॥

ऋद्ध्या वृद्ध्या कीर्त्या प्रभुप्रसादेन स्वजनवृन्देन ।
युक्तोऽतिश्लाघते लोकैरन्यो नैव कदाचन ॥२६१॥
सोमश्रीदत्तभीमानां पुत्राणामुपरि क्रमात् ।
बभूव नन्दिनी चारुदेहावयवशालिनी ॥२६२॥
पुत्रजन्मोत्सवात् तस्या अधिको जननोत्सवः ।
विदधे श्रेष्ठिना भूरिकमलाव्ययतः खलु ॥२६३॥
सूनोर्जन्मोत्सवः सर्वैः क्रियते हर्षतो जनैः ।
पुत्र्या जननोत्सवो नैव केषामपि च वीक्ष्यते ॥२६४॥ यतः-

"जातेति शोको महतीति चिन्ता,
कस्य प्रदेयेति महान् वितर्कः ।
दत्ता सुखं स्थास्यति वा न वेति,
कन्यापितृत्वं खलु नाम कष्टम्" ॥२६५॥

"ईह मइ धरइं ऊचाट ताप गहिला तूंगा जण भणइ ।
ए पहिला भवनुं पाप एकदा णीधण अनइ दीकरी"॥२६६॥

"वरं वनं वरं व्याघ्रसेवनं विषभक्षणम् ।
वन्ध्यात्वं विवरे वासो न सुतामुखदर्शनम्" ॥२६७॥
निअघरसोसा परगेहमंडणी कलिकलंककुलभवणं ।
जेहिं न जाया धूआ ते सुहिआ जीवलोगंमि" ॥२६८॥

पुत्रजन्मोत्सवमिव श्रेष्ठी पुत्रीजनुर्महे ।
गुडघृतादिदानेन महारङ्गमचीकरत् ॥२६९॥
सन्मान्य स्वजनान् सर्वान् वस्त्रालंकृतिदानतः ।
सुतायाः श्रेष्ठिराड् रत्नमञ्जरीत्यभिधां ददौ ॥२७०॥
पाल्यमाना क्रमान्मात्रा सदन्नपानदानतः ।
पुत्री बभूव गीर्वाणनारीतुल्या सुरूपतः ॥२७१॥

लसल्लक्षणरोचिष्णू रिक्ता दोषशतैस्सदा ।
अगण्यपुण्यलावण्यशालिनी गजगामिनी ॥२७२॥
रूपेण विजिताशेषनारी कन्दर्पगेहिनी ।
चतुःषष्टिकलोपेता सा बभौ रत्नमञ्जरी ॥२७३॥

यौवनेऽपि न सा मारविकारेण प्रपीडिता ।
करोति स्म सदा धर्मं श्रीदेवगुरुपूजका ॥२७४॥
पाणिपीडनयोग्याऽपि नेहते सा करग्रहम् ।
न नरद्वेषिणी रत्नमञ्जरी समजायत ॥२७५॥

आरोप्य नन्दिनीं स्वीयोत्सङ्गे वा जनकौ सदा ।
पप्रच्छतुः सुते ! ना को रोचते मानसे वरः ॥२७६॥
तदा सा प्राह मे देवो दानवो वा नरेश्वरः ।
महेभ्यः किन्नरः श्रीदो मम नो रोचते वरः ॥२७७॥
तन्त्रैर्मन्त्रैस्तथा यन्त्रैरौषधैर्वश्यकर्मभिः ।
अन्यैस्तस्या बहूपायैर्नाचालि मानसं मनाक् ॥२७८॥

त्रिजगन्मोहिनी कान्तावयवाऽद्भुतसंवरा ।
ववृधे विधुज्योत्स्नेव शुक्लपक्षे वणिक्सुता ॥२७९॥
उच्चैर्यौवनमदोन्मत्ता तारुण्यद्रुममञ्जरी ।
लावण्यमहिमखानिर्जाता विंशतिवार्षिका ॥२८०॥

विवाहार्थं सदा मातापितृभ्यां जल्पिता सती।
एकोनविंशतिमितवर्षा जाता च सा कनी ॥२८१॥
तथाऽपि न मनाक् चित्ते वरं वरितुमीहते।
निर्विकारतया जल्पं चक्रे पुंभिः समं स्फुटम् ॥२८२॥

अत्रान्तरे कृताशेषजीवक्षमणपुण्यका।
धन्यपत्नी ययौ स्वर्गसदने गुणसुन्दरी ॥२८३॥
मृत्युकृत्ये कृते तस्या वृद्धं धन्यं जगद्धितम्।
अशितिवार्षिकं भार्यारहितं महितं श्रिया ॥२८४॥
सा प्रातिवेश्मिकी रत्नमञ्जरी वीक्ष्य तं सदा।
पतिं कर्तुमना स्वीयं रहो जजल्प सादरम् ॥२८५॥ [युग्मम्]

भो धन्य! प्रियया चार्व्या विना सदनिनां सदा।
कष्टेन जायते कालस्तेन पत्नीं नवां कुरु ॥२८६॥ यतः—
"वृद्धस्य मृतभार्यस्य पुत्राधीनधनस्य च।
स्नुषावचनदग्धस्य जीवितान्मरणं वरम्" ॥२८७॥

"बालस्स माइमरणं भज्जामरणं च जुव्वणे पत्ते।
थेरस्स पुत्तमरणं तिन्निवि गरूआइं दुक्खाइं ॥२८८॥
पावससमयपवासो जुव्वणसमए च जं च दालिद्दं।
पढमसिणेहवियोगो तिन्नि वि गरूआइं दुक्खाइं ॥२८९॥
अप्पत्थावे पढिअं कंठविहूणं च गाइअं गीअं।
अणवंछियं च सुरयं तिन्नि वि दुक्खाइं गरूआइं ॥२९०॥
अविअड्डपई पोढंगणाण गुणिआण सासओ मुक्खो।
चाई अ तुच्छविहवो तिन्नि वि दुक्खाइं गरूआइं ॥२९१॥
धन्य! त्यज प्रियाशोकं सहर्षं कुरु मानसम्।
परिणीय स्त्रियं काञ्चित् सुखीभव निरन्तरम् ॥२९२॥

धन्योऽवक् पलितोऽभूवमहं वलिविभूषणः।
कथं करोमि कन्यायाः साम्प्रतं पाणिपीडनम् ॥२९३॥
वणिक्सुता जगौ तर्हि वृद्धां कन्यामलङ्कुरु।
यया ते क्रियते शिष्टशुश्रूषा वपुषि ध्रुवम् ॥२९४॥

धन्यः प्राहोत्थितुं स्थातुं चलितुं जल्पितुं किल ।
मया न शक्यते तेन किं कुर्वे स्त्रीपरिग्रहम् ॥२९५॥
ततोऽवक् सा यदीच्छा ते वरीतुं मामिहाधुना ।
तदा त्वां परिणीयात्र कन्यकात्वं त्यजाम्यहम् ॥२९६॥
पतिं पुण्यकृपापात्रं वृद्धं धनेश्वरं वरम् ।
प्राप्याहं स्वजनं सद्यः कृतार्थं करवै किल ॥२९७॥
यदि त्वं मां करे लासि तदाऽहं निर्मलं वपुः ।
धन्याऽहं कृतपुण्याऽहं करोमि तव सङ्गतः ॥२९८॥
धन्यः प्रोवाच भो भद्रे ! त्वं सुरूपा सुयौवना ।
देवानां दुर्लभा रूपसौभाग्यादिलसद्गुणैः ॥२९९॥
अहं वलियुतो वृद्धः पलितस्त्यक्तयौवनः ।
कुरूपो गतदन्तश्च कुत्सनीयोऽधुनाऽभवम् ॥३००॥
तेन ते यदि कान्तेच्छा विद्यते गजगामिनि ! ।
तदा सद्यौवनं चारुदेहमन्यं वरं वृणु ॥३०१॥

आवयोस्तु कथं वृद्धयौवनत्वजुषोर्मिथः ।
योगो भवति सिद्धार्थसुपर्वाचलयोरिव ॥३०२॥ यतः–
“अनुचितफलाभिकाङ्क्षी विधिनैव निवार्यतेऽधमः पुरुषः ।
द्राक्षाविपाककाले मुखरोगो भवति काकानाम् ॥३०३॥ यतः
मूर्खनिर्धनदूरस्थशूरमोक्षाभिलाषिणाम् ।
त्रिगुणाधिकवर्षाणां न देया स्वस्य कन्यका ॥३०४॥
अशीतिवर्षमर्त्याय रोगिणे पलिते पुनः ।
मूर्खाय गतदन्ताय स्पृहा कार्या न कन्यया ॥३०५॥
बधिरक्लीबमूकानां खञ्जान्धजडचेतसाम् ।
कृतघ्नानामतोषाणां देया नैव स्वकन्यका ॥२०६॥
कुलजातिविहीनानां पितृमातृवियोगिनाम् ।
पूर्वस्त्रीस्वसुतानां च दातव्या स्वसुता न हि ॥३०७॥
कुशीलचौर्यसक्तानां द्यूतमांसनिषेविणाम् ।
विदेशस्थात्मगोत्राणां सद्भिर्देया न कन्यका ॥३०८॥

सदैवोत्पन्नभक्षिणामालस्यवशवर्तिनाम् ।
बहुवैरापवादिनां सद्भिर्देया न कन्यका" ॥३०९॥
धन्योक्तमिति सा श्रुत्वाऽऽचष्ट युक्तं त्वयोदितम् ।
वरं स्वेष्टं वृणीते हि कन्या वृद्धं लघुं नरम् ॥३१०॥ यतः–
"वरं वरयते कन्या माता वित्तं पिता श्रुतम् ।
बान्धवाः कुलमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जनाः ॥३११॥
कुलं च शीलं च सनाथता च, विद्या च वित्तं च वपुर्वयश्च।
एते गुणा यस्य भवन्ति पुंसस्तस्मै प्रदेया जनकेन पुत्री ॥
एते गुणा वरे मातृपितृभिर्बान्धवैः पुनः ।
ईह्यन्तेऽथ मनोऽभीष्टं कान्तं कन्या समीहते ॥३१३॥ उक्तं च
"कन्या तु स्वमनोऽभीष्टं रङ्कं भूपं दरिद्रिणम् ।
सुरूपं च कुरूपं च वरं वाञ्छति चेतसा ॥३१४॥
अहं न भोगसौख्यार्थं नार्थग्रहणकाङ्क्षया ।
सन्तत्यर्थं न पुत्रार्थं त्वां वृणोमि धनेश्वर ! ॥३१५॥

केवलं पुण्यपूर्त्यर्थं शीलपालनहेतवे ।
त्वां सुशीलं वरं प्राप्य कुमारित्वं त्यजाम्यहम् ॥३१६॥
पतिव्रता पतिप्राणा हिता पतिमनोहरा ।
पत्या सहैव या याति भुङ्क्ते तिष्ठति सा वरा ॥३१७॥
"परघरगमणालसिणी परपुरिसविलोअणे अ जच्चंधा ।
परआलावे बहिरा घरस्स लच्छी अ सा महिला" ॥३१८॥
सुप्पइ सुत्तंमि पिए भुंजइ भुत्तंमि परिअणे सयले ।
पढमं चिअ पडिबुज्झइ घरस्स लच्छी अ सा महिला"॥३१९॥
अहं सर्व प्रकारेण त्वां सेवे च दिवानिशम् ।
मध्यमाधमवामाक्षीतुल्या नैव भवाम्यहम् ॥३२०॥ यतः–
"जराभिभूतं पुरुषं त्यक्त्वा या रमते परम् ।
पितृगेहे घनं याति नायका साऽधमा मता ॥३२१॥
पत्यावूर्ध्वं स्थिते नोर्ध्वा या च सन्मुखभाषिणी ।
पतिपादजलत्यक्ता नायका साऽधमा मता ॥३२२॥

सत्रिशूला महाक्रूरा निर्दया मर्मभाषिणी ।
पापचित्ता तु निर्लज्जा नायका साऽधमा मता ॥३२३॥
अधोमुखी कूपगला पाण्योष्ठघनरोमका ।
लम्बजिह्वा स्थूलपटा नायका साऽधमा मता ॥३२४॥
काकस्वरा च लम्बोष्ठी लम्बगुह्या रदान्विता ।
संकोचिनी पदाङ्गुष्ठे नायका साऽधमा मता ॥३२५॥
कुशीला कलुपा कूटा कदाचाररता सदा ।
कठोरवाक्या काणाक्षी नायका साऽधमा मता ॥३२६॥
पतिभक्तिरता नित्यं पत्युरुत्सृष्टान्नभक्षिका ।
पतिप्रेमपराऽऽनन्दा पतिदुःखे च दुःखिता ॥३२७॥
एवंविधा च या नारी कुलत्रयकषोपला ।
नित्यं मातुः पितुश्चैव हिता सा स्त्री वरा मता ॥३२८॥
अहं नास्म्यधमा धर्महीना किन्तु सतीतमा ।
वरीतुं त्वां प्रजल्पामि शीलं पालयितुं स्वकम् ॥३२९॥

विचार्य त्वं हृदि स्वीये मामङ्गीकृत्य साम्प्रतम् ।
सुखी भव चिरं नन्द नन्द कर्मैककर्मठः ॥३३०॥
मया त्वं मनसा वृतः कायेन वचसा पुनः ।
तेन कण्ठे तवेदानीं वरमालां क्षिपाम्यहम् ॥३३१॥
अत्रान्तरेऽम्बरे देवदुन्दुभिर्ध्वनितोऽनघः ।
अनयोक्तं वरं वाणी दिव्याऽजनि मनोहरा ॥३३२॥
पञ्चवर्णैः सुमैर्वृष्टिश्चम्पकाशोकसंभवा ।
पपात शीर्षयोरूर्ध्वं तयोः सद्गन्धवासिता ॥३३३॥
अकस्माद्रत्नमञ्जर्या हस्तेऽगात् पुष्पमालिका ।
तया स्रग् रोपिता कण्ठे धन्यस्य प्रेमपूर्वकम् ॥३३४॥
वृत्तं ज्ञात्वेति नन्दिन्याः कन्यकाजनकस्तदा ।
तस्यास्तेन समं पाणिग्रहोत्सवमचीकरत् ॥३३५॥
प्रक्षाल्य चरणौ पत्युस्तद्वारि मुदिताशया ।
नित्यं पपौ च सा भुङ्क्ते कान्तादनादनु ध्रुवम् ॥३३६॥

मौनव्रता सदाचारा सद्गुणा स्तोकभाषिणी ।
स्तोकरोषा समं पत्या सा तिष्ठति सदा मुदा ॥३३७॥
तस्याश्चरणनीरेण वातपित्तकफोद्भवाः ।
कासश्वासक्षया ग्रन्थिमुख्या रोगाः क्षयं ययुः ॥३३८॥
अपुत्राणां मनुष्याणां पुत्रप्राप्तिः क्षणाद् भवेत् ।
जङ्गमं स्थावरं क्ष्वेडं याति तस्याः पदोदकात् ॥३३९॥
तस्या दृष्ट्या वनं शुष्कमपि पल्लवितं भवेत् ।
सर्पः स्रग् दहनो वारि सिंहो जम्बुः प्रजायते ॥३४०॥
अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः ।
स्वचक्रं परचक्रं च सप्तैता ईतयः पराः ॥३४१॥
भवन्ति न हि सा यत्र देशे तिष्ठति भामिनी ।
अन्यत् किं जल्प्यते तस्या नार्या माहात्म्यमद्भुतम् ॥३४२॥
चतुःषष्टिकलोपेता शीलालङ्कारधारिणी ।
सा रत्नमञ्जरी लक्ष्मीदेवतेवास्ति तद्गृहे ॥३४३॥ यतः—

"कासश्वासातिदाघक्षयकुटजकुटीकुष्ठकोष्ठप्रमेहाः,
मूत्रग्राहोदरास्यश्वयथुगलतरकर्णनासाक्षिरोगाः ।
ये चान्ये वातपित्तक्षयकफकृता व्याधयः सन्ति लोके,
दोषा अन्ये तदीयामलपदसलिलस्पृष्टमात्राः प्रयान्ति" ॥
एवंविधैर्गुणैर्युक्ता त्यक्ता दोषैः स्वभावतः ।
विद्यते गेहिनी रत्नमञ्जरी तस्य साम्प्रतम् ॥३४५॥
धन्योऽपि धर्मकर्मैककर्मठः प्रियया युतः ।
उद्गमास्तमने भानोर्न जानाति सुखी क्वचित् ॥३४६॥
सप्तक्षेत्र्यां धनं भूरि व्ययित्वाऽनशनग्रहात् ।
स प्रियः परलोकाय गमिष्यत्यल्पकालतः ॥३४७॥
अन्येषामपि धनिनां बहूनामपि संसदि ।
स्वरूपं भूपतिः श्रुत्वा चमच्चक्रे स्वचेतसि ॥३४८॥
सभां विसृज्य भूपालो दिनं नीत्वा यथोचितम् ।
स्वरूपं धन्यगेहिन्या ज्ञातुकामोऽभवन् निशि ॥३४९॥

पान्थवेषं विधायाथ रात्रावसिसखा नृपः ।
रुद्राक्षस्त्रक्करोऽचालीत् धन्यस्य सदनं प्रति ॥३५०॥
केदारमुद्राङ्कितमङ्गुलीयकं, सद्योगपट्टं वरदण्डयुक्तम् ।
गङ्गामृदा चर्चितद्वादशाङ्गं, विधाय देहं नृपतिश्चचाल ॥३५१॥

गत्वा धन्यगृहद्वारे प्राहेति पान्थभूपतिः ।
सुभगे ! ते गृहेऽत्राऽऽगमहं पुरेऽतिथिर्भ्रमन् ॥३५२॥
यस्यालयेऽतिथिर्भक्तं लभते वसनं निशि ।
स एव श्लाघ्यते सद्भिर्मुक्तिनार्या च वाञ्छयते ॥३५३॥यतः–
"तृणं लघु तृणात् तूलं तूलादपि च याचकः ।
वायुना किं न नीतोऽसौ मामपि प्रार्थयिष्यति ॥३५४॥

कर ऊपरि करजि करि करतलि कर म करेसि ।
जिणि दिणि करतलि कर कीउ ते लेखइ म गणिज्ज ॥३५५॥
भस्मना शुद्ध्यते कांस्यं ताम्रमम्लेन शुद्ध्यति ।
रजस्वला च नीरेण गृही दानेन शुद्ध्यति" ॥३५६॥

तेनेत्युक्ते च सा रत्नमञ्जरी पथिकं च तम् ।
सन्मानदानतः स्थानं तस्मै वासकृते ददौ ॥३५७॥
धन्यप्रिया जगौ पान्थ ! कृतं वैकालिकं किमु ।
पान्थः प्राह मया रात्रौ क्रियते नैवादनं कदा ॥३५८॥

यामिन्यामदतां पुंसां श्वभ्रे पातो भवेद् ध्रुवम् ।
तेनात्महितकृद् रात्रौ भोजनं न करोति हि ॥३५९॥ यतः–
"अस्तं गते दिवानाथे आपो रुधिरमुच्यते ।
अन्नं मांससमं प्रोक्तं मार्कण्डेन महर्षिणा ॥३६०॥
ये रात्रौ सर्वदाऽऽहारं वर्जयन्ति सुमेधसः ।
तेषां पक्षोपवासस्य फलं मासेन जायते ॥३६१॥

चत्वारो नरकद्वाराः प्रथमं रात्रिभोजनम् ।
परस्त्रीगमनं चैव सन्धानानन्तकायिके" ॥३६२॥
धन्यपत्नी जगौ पान्थ ! वयोऽसि त्वं च पुण्यवान् ।
यस्येदृशं मनो धर्मे वर्तते तेऽधुना दृढम् ॥३६३॥

नादन्ति निशि ये लोकास्ते स्युस्तविषगामिनः ।
ये च प्सान्ति नरास्ते तु जायन्ते श्वभ्रसेविनः ॥३६४॥
ततस्तया सुशय्याढ्यास्तरणादि सुखप्रदम् ।
शयनाय ददे तस्मै चित्रशाला च सुन्दरा ॥३६५॥
स्मृत्वा पञ्च नमस्कारान् भूपः सुप्तोऽपि कैतवात् ।
द्रष्टुं स्त्रीचरितं तत्र जजागारातिकौतुकम् ॥३६६॥
अथ सा चरणौ पत्युः प्रक्षाल्य तत्सुवारिणा ।
स्वाङ्गं प्रक्षालयामास गङ्गाम्बुनेव सादरम् ॥३६७॥
गङ्गापुलिनसत्तूलकोमले शयने वरे ।
वासिते मद्यकर्पूरकस्तूरीगन्धदानतः ॥३६८॥
हस्तेन यत्नतः कान्तं गृहीत्वा शयनोपरि ।
शाययित्वा क्षणं तस्थौ तत्पार्श्वे रत्नमञ्जरी ॥३६९॥
अंह्रिसंवाहनां वर्यां कुर्वाणा तनुचुम्पनम् ।
तिष्ठति स्म पतिर्यावत् सुष्वाप सुखनिर्भरम् ॥३७०॥

निद्रायन्तं पतिं मत्वोत्थाय धन्यप्रिया शनैः ।
धर्मध्यानं विधातुं तु सोद्यमा समजायत ॥३७१॥
धर्मध्यानं विधायाथ घटीद्वयं च साऽबला ।
पत्युः पार्श्वे समागत्य वातक्षेपं व्यधात् तदा ॥३७२॥
राजा श्रीविक्रमादित्यस्तां वीक्ष्य पतिभक्तिकाम् ।
दध्याविंयं सतीरत्नं धन्यप्राणप्रिया प्रिया ॥३७३॥
या स्वीयकान्तसन्तुष्टा परमर्त्यपराङ्मुखा ।
गृहस्थाऽपि सदाचारा श्लाघ्यते सा सुरैरपि ॥३७४॥
निशीथे कोऽपि द्रव्यार्थं स्तेनः क्षात्रप्रदानतः ।
प्रविवेश गृहस्यान्तर्धन्यस्य साहसी शनैः ॥३७५॥
निद्रायन्तं पतिं मत्वा दृष्ट्वा स्तेनं वराकृतिम् ।
धन्यप्रिया मनोजेषुग्रस्ता दध्याविदं हृदि ॥३७६॥
किमिन्द्रः किमु वा चन्द्रः किं सूर्यः किं नलो नृपः ।
किं मारो देहवानेष किं वा विद्याधरो नृपः ॥३७७॥

किमश्विनीकुमारः किं दोगन्दुकसुरः किमु ।
किं रामः किमु वा कर्णः किं पातालकुमारकः ? ॥३७८॥
ध्यात्वेति मारबाणालीघातविह्वलविग्रहा ।
तं तस्करं प्रति प्राह सा शनै रत्नमञ्जरी ॥३७९॥
इदं गृहं धनं चैतद् देहमेतन्मदीयकम् ।
कृतार्थय त्वमेवाद्य भोगसुखप्रदानतः ॥३८०॥
प्रसीद परमानन्ददायकाङ्गजितस्मर ! ।
मद्देहाद्भोगमह्नाय गृहाणानुगृहाण माम् ॥३८१॥
श्रुत्वा तस्या वचः स्तेनो विभ्यन्नेवं (देवं) जगौ शनैः ।
ममास्ति जीविते वाञ्छा तेनैवं त्वं च मा वद ॥३८२॥यतः—
"कीटस्य सुरनाथस्य निःस्वस्य मेदिनीपतेः ।
समाना जीविताकाङ्क्षा समं मृत्युभयं द्वयोः" ॥३८३॥
द्यूतकार्यहकं चौर्यकारी व्यसनसेवकः ।
संत्यक्तो निखिलैर्लोकैर्मातृपित्रादिसज्जनैः ॥३८४॥

त्वं तु वर्याङ्गरोचिष्णुः कान्तयुक् शीलशालिनी ।
कथमेवंविधं स्तेनं वाञ्छसीह विचारय ॥३८५॥
एकतः कुवर्तः स्तैन्यं मम भीर्विद्यते हृदि ।
द्वितीया भीरभूत्सार्धं त्वया मम प्रजल्पतः ॥३८६॥
जाग्रत्यां त्वयि मे स्तैन्यं निष्फलं समभूद् ध्रुवम् ।
न गृह्णन्ति धनं स्तेना जने जाग्रति कुत्रचित् ॥३८७॥
इति चौरोदितं श्रुत्वा कामोग्रशरपीडिता ।
कुलमार्गं परित्यज्य धन्यपत्नी जगाविति ॥३८८॥
अहं तु पीडिता कामबाणैर्विद्धवपुष्टमा ।
त्वद्भोगाद्यमृतमृते मृता जानीहि साम्प्रतम् ॥३८९॥
मामकीनं मनोमीनं वसन्तं रागसागरे ।
त्वमेव प्रीणयेदानीं भोगमृष्टान्नदानतः ॥३९०॥
सक्तः स्पर्शे यथा नागो गन्धे भृङ्गो यथा भवेत् ।
शब्दे यथा मृगः सक्तः तथाऽहं त्वयि साम्प्रतम् ॥३९१॥

भुङ्क्ष्व भोगान् मया सार्धं फलं मानुषजन्मनः ।
गृहाण विपुलं मामकीनाङ्गाङ्गीकृतेः स्फुटम् ॥३९२॥
तां जल्पन्तीं तथा कामं तत्र तं तस्करं प्रति ।
श्रीविक्रमनृपो दध्यौ स्वरूपं संसृतेरिति ॥३९३॥ यतः-
"अक्खाणसणी कम्माणं मोहणी वयाण तह बंभवयं ।
गुत्तीण य मणगुत्ती चउरो दुक्खेण जिप्पंति ॥३९४॥
न तर्जन्यङ्गुली येन सोढाऽन्यस्य कदाचन ।
सोऽपि स्त्रीपदयोर्बाढं पतन् भवति किङ्करः ॥३९५॥
नारीणां चपलं चेतो वर्ण्यमानं कवीश्वरैः ।
अधुना दृश्यते स्थाष्णु भोगसागरमज्जने ॥३९६॥
यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता ।
एकैकमप्यनर्थाय किं पुनस्तच्चतुष्टयम् ॥३९७॥
एते दुःखमया इमे विषमया एते हि मायामया,
एतेभ्योऽपि किमस्ति निन्दितमथैतेभ्यो विरूपं किमु ।
इत्थं रे विषयेषु लोलुपतया तैस्तैः प्रकारैः सखे !।
चेतस्त्वं विनिवार्यमाणमपि धिग् बद्धस्पृहं धावति(सि)" ॥
इतश्चौरो जगौ कान्ते ! त्वया न जल्प्यते वरम् ।
वृद्धं पतिं जराग्रस्तं त्यक्त्वा मामीहसे यतः ॥३९९॥
लोकद्वयविरुद्धेन तेन पापेन कर्मणा ।
परस्त्रीसङ्गदोषेण ममापि नरको भवेत् ॥४००॥ यतः-
"गते मृते प्रव्रजिते क्लीबे कान्ते विवैभवे ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते" ॥४०१॥
तव भर्तरि जीवति सति नाहं त्वत्सङ्गमं करिष्यामि ।
सिंहे मन्देऽपि मृगाः न कुर्वते हीलनं क्वापि ॥४०२॥
चौरेणोक्ते तथाऽप्यूचे मृतोऽस्ति मेऽधुना पतिः ।
न प्रत्येपि तदागत्य मुखे श्वासं विलोकय ॥४०३॥
यावत्स्तेनः समायाति तं जीवितं विलोकितुम् ।
तावत्तया हतो कान्तो गलेऽङ्गुष्ठप्रदानतः ॥४०४॥

पत्न्या हतं पतिं मत्वा भूपतिर्ध्यातवानिति ।
अहो नारीचरित्रं तु विद्यते दुर्घटं खलु ॥४०५॥
यासामञ्चलवातेन रोगो वृद्धिमुपैत्यलम् ।
तासामालिङ्गने पुंसां किं चित्रं मरणं न हि ॥४०६॥

“जलमज्झे मच्छपयं आगासे पंखिआण पयपंती ।
महिलाण हिअयमग्गो तिन्नि वि मग्गा अमग्गत्ति ॥४०७॥
सीअह तीअह पाणिअह एह तिन्निह एग सहाव ।
ऊंचां ऊंचा परिहरइ नीचां ऊपरि ठाउ ॥४०८॥
मारइं पाप भत्तारं हणइ सुअं तह विणासए सयणं ।
अप्पं चेव निहणइ नारी रागातुरा पावा ॥४०९॥

तं धन्यं धरणौ क्षिप्त्वा सा प्राह तस्करं प्रति ।
देहि भोगसुखं मह्यं प्रसद्य त्वं ममोपरि ॥४१०॥
चौरः प्राह त्वया सार्धं नाद्य भोगसुखं मया ।
लास्यतेऽतः कुरुष्व त्वं सन्तोषं धन्यभामिनि ! ॥४११॥

तया रुद्धोऽथ स स्तेनः प्राह मुञ्चाधुना च माम् ।
कल्ये यद्यत् त्वयोचे तत्तत् करोम्यहकं समम् ॥४१२॥
तौ जल्पन्तौ तथा श्रुत्वा विक्रमादित्यभूपतिः ।
करवालकरो गेहद्वारेऽभूत्सज्ज आदरात् ॥४१३॥

दध्यौ च भूपतिः किं मे हननेनानयोः खलु ।
पातकं जायतेऽत्यन्तं प्राणिनो मारणाद् ध्रुवम् ॥४१४॥
खात्रद्वारेण निर्यान्तं स्तेनं कष्टात् तदा ध्रुवम् ।
वीक्ष्यावग् धन्यपत्नीति द्वारेऽस्मिन् सुखतो व्रज ॥४१५॥
उद्घाटिते तथा मुख्यद्वारे निर्यन् मलिम्लुचः ।
अकस्मात् स्खलितेनैव कपाटेन हतस्तथा ॥४१६॥ उक्तं च–

“द्रौपद्या वचनेन कौरवशतं निर्मूलमुन्मूलितम्,
सुग्रीवस्य वधाय मोहमतुली(लं) वाली हतस्तारया ।
सीतासक्तमनास्त्रिलोकविजयी प्राप्तो वधं रावणः,
प्रायः स्त्रीवचनप्रपञ्चनिरतः सर्वं क्षयं यास्यति” ॥४१७॥

अन्यं पश्यति नेत्रेण भाषतेऽन्यं गिराऽबला ।
आलिङ्गत्यपरं चित्ते ध्यायत्यन्यं दुराशया ॥४१८॥
न विषं नामृतं किञ्चिदेकां मुक्त्वा नितम्बिनीम् ।
सैवामृतमयी रक्ता विरक्ता विषरूपिणी ॥४१९॥
इन्दुलेखेव कुटिला सन्ध्येव क्षणरागिणी ।
निम्नगा निम्नगेव स्त्री राक्षसीव दुराशया" ॥४२०॥
ज्ञात्वा स्त्रीचरितं स्तेनं मृतं चैत्य निजालये ।
सुष्वाप शयने देवं स्मरन् श्रीविक्रमार्यमा ॥४२१॥
इति सा मृतचौरस्योपरि स्थित्वाऽश्रुशालिनी ।
प्राहेति किं पते ! मुक्त्वा मामिह क्वाधुनाऽगमः ॥४२२॥
हा ! नाथ प्राणनाथ त्वं हा ! वल्लभ हितोत्तम ।
मां मुक्त्वाऽत्र क्व यातोऽसि विरहानलपीडिताम् ॥४२३॥
रुदित्वैवं क्षणं सञ्जीभूता साऽथ नितम्बिनी ।
दध्यावहो गतप्राणौ द्वौ पती भवतः स मे ॥४२४॥
लौकिकस्तु गतो भर्ता गतो लोकोत्तरः परः ।
गतो धर्मोऽधुना मेऽभूत् बभूवायश एव तु ॥४२५॥
क्व कान्तहननादन्यनरालिङ्गनपापतः ।
भविष्यति मम श्वभ्रे पातोऽनन्तासुखप्रदः ॥४२६॥
प्रातः पतिं विनाऽहं तु भविष्यामि कथं हहा ।
परत्र श्वभ्रपातेन सहिष्येऽहमशं कथम् ॥४२७॥
कुवस्त्रा गतनिःशेषालङ्कारा पतिवर्जिता ।
रण्डाऽहं पापिनी क्वाहं दर्शयिष्ये मुखं कथम् ॥४२८॥
यत्कृतं मयका पापं पतिहत्याविधानतः ।
तत्कस्याग्रे न शक्येत वक्तुं लज्जादिहेतुतः ॥४२९॥
कोष्ठिकायां मुखं क्षिप्त्वा रुद्यते मयकाऽधुना ।
उच्चैश्चेदुच्यते राजा तदा लाति धनं समम् ॥४३०॥
ततो मे मरणं वर्यं पत्या सार्धमिहाधुना ।
तेन कोऽपि प्रपञ्चोऽत्र प्रातरेव करिष्यते ॥४३१॥ यतः—

वैश्वानरे जले झम्पादानं वयं ममाधुना।
न पुनर्विधवात्वेन स्थातुं युक्तं मनागपि ॥४३२॥
"आगासि सयन नइ पाटल हलहाट नइ घाटगिउं।
हिवतां पेटह नाट करिवउं परघरि कर्मकरि ॥४३३॥
रन्नि तलाई रन्नि जल रन्निहिं तरुयरफलाइं।
रंडह जुव्वण कृपण धण ए विहिं काइं कयाइं" ॥४३४॥
रे कारिमो कूंभार घडउ नीपाई मूकीउ।
हूउ भरेवा वार भागउ तीअभागीतणओ ॥४३५॥
जइ वि हु सुद्धसभावा, जइ वि हु दाणाइ देइ विविहाइं।
तहवि हु पइणा रहिआ वयणिज्जं पावए इत्थी" ॥४३६॥
ध्यात्वेति तत्क्षणं भूमिं कर्पयित्वा निजं पतिम्।
द्वावाछाद्याम्बरेणाशु प्राह धन्यप्रिया तदा ॥४३७॥
अथ रात्रौ गृहस्यान्तः प्रविष्टस्तस्करोऽधमः।
जघान मत्पतिं चैकमतिथिं पुण्यशालिनम् ॥४३८॥

चक्रेऽतिथिर्युद्धं सार्द्धं स्तेनेनैव दृढं तदा।
मम कान्तस्य रक्षायै सत्पुण्यप्राप्तिहेतवे ॥४३९॥
तथा तेन दृढं मर्मस्थाने स चातिथिर्हतः।
यथा प्राप क्षणान्मृत्युं परलोकमसाधयत् ॥४४०॥
यावताऽहं द्रुतं स्तेनं हन्तुकामाऽभवद् दृढम्।
तावन्नंष्ट्वा ययौ क्वापि मृत्युर्मे शरणं ततः ॥४४१॥
अतोऽहं रमणं तेनातिथिना सहितं द्रुतम्।
गृहीत्वा कानने प्राणांस्त्यक्ष्यामि वह्निना ध्रुवम् ॥४४२॥
पत्यौ मृतिं गते काऽपि रौति काऽपि मृतिं व्रजेत्।
काऽप्यन्यं रमणं कुर्यात् काऽपि तिष्ठति मन्दिरे ॥४४३॥
अहं तु स्वपतिं नीत्वा चितायां लोकसाक्षिकम्।
परलोकं गमिष्यामि गृह्णामि रुचिरं यशः ॥४४४॥ यतः—
"साची सती स मानीइ पतिपग धोइ पिअंति।
प्रिय परलोकपंथीइ दहइ देह जि दहंति ॥४४५॥

चावी चउपट चहुहटइ चावरि चचरि ठवंति ।
नगरवीसामइ नर नमी नयणे नीर नयंति" ॥४४६॥
इत्युक्त्वा स्वपतेर्देहं स्तेनदेहसमन्वितम् ।
शुद्धनीरेण सा सद्यः शुच्यकार्षीच्च साऽबला ॥४४७॥
प्रातर्धन्यप्रिया द्रव्यं व्ययित्वा धर्मकर्मणि ।
काष्ठभक्षीकृते सज्ज्ञाऽजनि सज्जनसाक्षिकम् ॥४४८॥
धन्यप्रियां सतीं काष्ठभक्षणैककृतोद्यमाम् ।
उज्जयिन्या जनः साश्रुः सतीं द्रष्टुं समागमत् ॥४४९॥
एवं तदा सतीं नत्वा जनाः प्रोचुः पुनः पुनः ।
हा मातस्त्वां विना कालः कथं यास्यति साम्प्रतम् ॥४५०॥
त्वां विना जगती शून्याऽवन्ती च रण्डिताऽजनि ।
जनाशावल्लरी दग्धा दुःखं नः समुपागमत् ॥४५१॥
इतो गत्वा जनैः कैश्चिद्विज्ञप्त इति भूपतिः ।
सती धन्यप्रिया याति स्वर्गे कान्तसमन्विता ॥४५२॥

प्रत्यक्षा कामधुक् कल्पवल्ली कामघटोऽथवा ।
कल्पवृक्ष इवास्माकं बभूव धन्यगेहिनी ॥४५३॥
पादप्रक्षालने यस्या वातपित्तकफोद्भवाः ।
कर्मजा निखिला दोषा यान्ति क्ष्वेडादिसम्भवाः ॥४५४॥
अपुत्रा स्त्री सपुत्रा स्यान्निर्धनाः सधनाः पुनः ।
दुर्भगा सुभगा च स्यात् कुरूपा रूपशालिनी ॥४५५॥
श्रुत्वेति वचनं लोकाद्राज्ञी शृङ्गारसुन्दरी ।
भूपं प्रति जगावेवं शीलरत्नविभूषिता ॥४५६॥
तस्याः पादोदकेनाहं क्षालयामि वपुर्निजम् ।
ततो मे याति वन्ध्यात्वं कुलवृद्धिर्भवेत् ततः ॥४५७॥
अन्तर्हसन्नृपः प्राह तस्याः सत्याः शिरोमणेः ।
आनयिष्याम्यहं पादोदकं तव सुताप्तये ॥४५८॥
गम्भीरमानसो भूपो नृभ्य इत्युत्तरं ददौ ।
सतीशिरोमणेस्तस्या उत्सवं कुरुत द्रुतम् ॥४५९॥

तत्रागच्छाम्यहं यावत् तावत्स्थेयं नदीतटे ।
सतीं गत्वाऽप्यहं किञ्चित्प्रक्ष्यामि स्वमनोगतम् ॥४६०॥
एवंविधा सती काष्ठभक्षणं कुरुते यका ।
तया यज्जल्प्यते तत्र नान्यथा भवति क्वचित् ॥४६१॥
ततस्ते मनुजा धन्यगेहे सत्या महोत्सवम् ।
कर्तुं चैयुर्लसद्वाद्यवादनाद्वैतपूर्वकम् ॥४६२॥
क्षैरेयीं खण्डसंयुक्तां वर्यामेकत्र भाजने ।
अत्तुं धन्यप्रिया सद्य उपविष्टा मुदा तदा ॥४६३॥
भुक्त्वा धन्यप्रिया सप्तक्षेत्र्यां सर्वं धनं निजम् ।
व्ययित्वाऽऽराधनां चक्रे दशधा गुरुसाक्षिकम् ॥४६४॥
प्रणम्य श्रीजिनं लोकान् क्षमयित्वाऽश्वगेहिनीम् ।
आरुह्य चलिता राजमार्गे धन्यस्य गेहिनी ॥४६५॥
वाद्यमानेषु वाद्येषु कार्यं मुक्त्वा निजं निजम् ।
नरा नार्यः समाजग्मुर्धन्यपत्नीं निरीक्षितुम् ॥४६६॥

अहमहमिकापूर्वं वितीर्णा अक्षतास्तया ।
गृह्यन्ते नरनारीभिरपत्यप्राप्तिहेतवे ॥४६७॥
क्रमात्प्राप्ता सती कुले रेवायाः सरितोपरि ।
यत्रास्ति माणिभद्राख्यचेटकस्य निकेतनम् ॥४६८॥
उत्तीर्य घोटिकायाः सा दत्त्वाऽर्थिभ्यो धनं बहु ।
चितोपान्तं समायाता धन्यस्य गेहिनी मुदा ॥४६९॥
इतस्तत्रागतो भूपो भूरिभृत्यसमन्वितः ।
सत्या महोत्सवं चारु कारयामास मानवैः ॥४७०॥
तदा धन्यप्रियाऽऽचष्ट राजन्! जीव चिरं जय ।
चिरं पालय भूपीठं धर्मे कुरु रुचिं चिरम् ॥४७१॥
उपकारं यथा पूर्वं कुरुषे सर्वदेहिनाम् ।
तथा कुर्वन् चिरं पुत्रपौत्रयुक्तो भव क्रमात् ॥४७२॥
शृङ्गारसुन्दरी राज्ञी तत्रैत्य तां सतीतराम् ।
प्रणम्य याचते पादोदकं पुत्रार्थमात्मनः ॥४७३॥

लाजमुष्टिं सती दत्त्वा भूपपत्नीं जगाविति ।
पुत्रपौत्रैः प्रपौत्रैश्च पत्या युक्ता चिरं जय ॥४७४॥
ततो राजा रहः प्रष्टुं सत्याः कर्णान्तिके स्थितः ।
जगौ त्रिकालवेत्री त्वं विद्याराजगतीहिता (?) ॥४७५॥
शीलप्रभावतो दत्से त्वमपत्यानि देहिनाम् ।
त्वदंह्रिक्षालनाम्भोभिर्यान्ति रोगा नृणां क्षयम् ॥४७६॥
रात्रावद्य पतिघ्नी त्वं गलेऽङ्गुष्ठप्रदानतः ।
अन्यपुंभोगकर्त्री(र्तृ)त्वं वाञ्छतीति विचिन्तय ॥४७७॥
स्तेनभोगसुखाकाङ्क्षा मुक्त्वा तव सुखं कथम् ।
अग्निप्रवेशतो धन्यपत्नि ! मृत्युं कथं कुरु ॥४७८॥
नव्यं पतिं विधाय त्वं कृतार्थय स्वयौवनम् ।
मृतैर्जीवैर्न छुट्येत कृतदुष्कर्मतः क्वचित् ॥४७९॥
अधुना क्रियते काष्ठभक्षणं भामिनि ! त्वया ।
रात्रौ च परिणीतस्य कान्तस्य हननं कृतम् ॥४८०॥

स्त्रीवृत्तत्वं विमुच्याशु तथ्यं कथ्यं ममाग्रतः ।
मया न वक्ष्यते वृत्तं कस्याग्रे तव निश्चितम् ॥४८१॥
ततः स्वं चरितं राज्ञा ज्ञातं मत्वा निशाभवम् ।
धन्यपत्नी जगौ भूप ! मा पृच्छ मम सन्निधौ ॥४८२॥
यथा च वर्तते कालो वर्तते च तथा जनः ।
अग्रे वह्निं ज्वलन्तं न पश्यति(सि)क्षोणीभृत् स्थितम् ॥ उक्तं च–
"राईसरिसवमित्ताणि परछिद्दाणि अ पाससे ।
अप्पणो बिल्लमित्ताणि पिच्छंतो न वि पाससे ॥४८४॥
हरिहरादयो देवा मुनयः कपिलादयः ।
मानवाश्चक्रवर्त्याद्या योषितां किंकरा इमे ॥४८५॥
अनिन्द्या गुरवो गावः काञ्चनं सलिलं स्त्रियः ।
पृथ्वी चैव षडेतानि यो निन्दति स निन्द्यते ॥४८६॥
अश्वप्लुतं माधवगर्जितं च स्त्रीणां चरित्रं पुरुषस्य भाग्यम् ।
अवर्षणं चाप्यतिवर्षणं च देवा न जानन्ति कुतो मनुष्याः ॥

यदीच्छसि नितम्बिन्या ज्ञातुं चरितमत्र तु।
सन्तापस्ते तदाऽत्यन्तं भविष्यत्यसुखप्रदः ॥४८८॥
अग्रे विगोपितोऽसि त्वं गांछयादेशप्रदानतः।
विगुप्यस्यधुना पृच्छन् स्त्रीवृत्तं मम पार्श्वतः ॥४८९॥

विले विले त्वया गोधा दृष्टा गोणसमूपकाः।
दृग्विपोऽहिर्न दृष्टोऽस्ति यो दृष्टो जीवितापहः ॥४९०॥
शुक्तिशङ्खकपर्दाश्च सागरं भ्रमता त्वया।
विलोकिता विशेषज्ञ! न दृष्टः कौस्तुभो मणिः ॥४९१॥
कंकाहलिंवकंथेरिकरीरकनकद्रुमाः।
त्वया दृष्टा घना राजन्! न दृष्टाः कल्पपादपाः ॥४९२॥

रिणभूर्विपभूः क्रूरा मरुभूमिर्विलोकिता।
रत्नमुक्तान्विता भूमिर्न दृष्टा भवता क्वचित् ॥४९३॥
नाधमाऽहं जडा नाहं नापि स्त्रीषु शिरोमणिः।
स्वयशो भूतले मुक्त्वा गमिष्यामि सुरालये ॥४९४॥

राजाऽऽचष्ट तथापि त्वं किंचित् स्त्रीचरितं वद।
धन्यप्रिया जगौ कोचीं कुन्दूं पृच्छ पुरान्तरे ॥४९५॥
कोची कान्दविका वेत्ति ममान्यासां च योषिताम्।
चरितं तेन तां पृच्छावन्तीपुर्यान्तरस्थिताम् ॥४९६॥

कल्याणं भवतात् तुभ्यं मिथ्या दुष्कृतमस्तु मे।
इत्युक्त्वा सा चितामध्ये प्रविष्टा नृद्वयान्विता ॥४९७॥
पुरीलोकादिसंयुक्तो भूपोऽगात्स्वपुरान्तरे।
भस्मीभूय ययौ धन्यपत्नी स्वर्गं स्वमृत्युतः ॥४९८॥
भूपोऽन्येद्युः स्त्रिया वृत्तं प्रष्टुकामः कृतत्वरः।
कोचीकान्दविकापार्श्वे यातुं गेहाद् विनिर्ययौ ॥४९९॥

गत्वा चतुष्पथे कन्दुपाटकं लोकपार्श्वतः।
पप्रच्छ भूपतिः क्वास्ति यत्रादन्ति च मार्गगाः ॥५००॥ यतः–
"वर्यपक्वान्नसम्मिश्रा शालिदालिघृतप्लुता।
शाकपाकादिसंयुक्ता दधिदुग्धादिपूरिता ॥५०१॥

रम्या रसवती प्रायो लभ्यते द्रव्यदानतः ।
निर्द्रव्या(व्यै)स्तु पुनः स्वल्पद्रव्यदानाच्च मध्यमा ॥ [युग्मम्]
ततो लोका जगुर्गच्छ यथाऽस्मिन् वामतः पथि ।
सत्रागारो वहन्नस्ति कोचीकान्दविकागृहे ॥५०३॥
चन्द्रार्कमणिसंघातनिर्मिता गृहसन्ततिः ।
एकद्वित्रिचतुःपञ्चषट्सप्तभूमिसुन्दरा ॥५०४॥
गच्छन्ती विद्यते व्योम्नि मिलितुं चन्द्रसूर्ययोः ।
स्वमित्रयोर्मुदा तत्र पाटके चित्तमाददे ॥५०५॥
पञ्चवर्णमणिबद्धे यत्र प्राङ्गणभूतले ।
आदर्श इव वीक्षन्ते लोकाः सं(स्वं)प्रतिबिम्बितम् ॥५०६॥
तत्र द्राक्षासुधामृष्टवारिपूर्णा मनोहराः ।
वाप्यो गृहे गृहे सन्ति सुखसोपानसुन्दराः ॥५०७॥
सदापुष्पफलाश्वास(रु)माकन्दादिकपादपाः ।
सन्ति गृहे गृहे यत्र प्रीणयन्तो जनव्रजम् ॥५०८॥

कोचीकान्दविकागेहं स्वर्णमाणिक्यतोरणम् ।
भाति ध्वजपताकाभिश्चलन्तीभिश्च लीलया ॥५०९॥
यत्रार्थिभ्योऽनिशं दानं ददाना मार्गितं खलु ।
प्रत्यक्षा कल्पवल्लीव कोचीकान्दुविकाऽस्ति च ॥५१०॥
भोगार्थी लभते भोगं भोज्यार्थी भोजनं पुनः ।
पुत्रार्थी लभते पुत्रं तत्र तस्याः समीपतः ॥५११॥
विद्याधरैर्नरैरिद्धैः किंनरैर्व्यन्तरामरैः ।
ज्योतिष्कैर्मानवैर्नित्यं सेव्यते सा शुभंकरा ॥५१२॥
रुष्टा रौद्रोपमाकारा सन्तुष्टाऽभीष्टदायिका ।
तस्या आस्यावलोकश्च पुण्यैरेव च लभ्यते ॥५१३॥
ततो रूपं परावृत्य चमत्कृतमना नृपः ।
कोचीकान्दुविकागेहद्वारदेशं समागमत् ॥५१४॥
अनेकद्वाररोचिष्णु नानालोकसमन्वितम् ।
पञ्चशब्दादिनिर्घोषं वाद्यमानमनोहरम् ॥५१५॥

स्वर्विमानसमं वर्यं नारीशतसमाकुलम् ।
कोचीकान्दुविकागेहं दृष्ट्वा भूपो मुदं दधौ ॥५१६॥ [युग्मम्]
अदृश्यरूपभृद् भूपो गत्वा मध्येगृहं तदा ।
कोचीं स्वर्णासनासीनां वीज्यमानां सुचामरैः ॥५१७॥
सेव्यमानां सखीवृन्दैः स्तूयमानां च याचकैः ।
रतिप्रीतिसमश्रीकां दृष्ट्वेति ध्यातवान् हृदि ॥५१८॥ [युग्मम्]
किं शची किं सुरी किं वा किन्नरी किं सुरप्रिया ।
किं पातालकुमार्येषा समागान्मे पुरेऽधुना ॥५१९॥
वैदेशिकं समायान्तं मत्वा दासी तदीयका ।
नीत्वा मज्जनगेहान्तः स्नानपीठे न्यवीविशत् ॥५२०॥
कोटिपाकादिभिस्तैलैर्मर्दितो मेदिनीपतिः ।
कस्तूरीमुख्यपानीयैः स्नानं च कारितस्तया ॥५२१॥
ततः श्रीविक्रमादित्यः कृत्वा वैदेशिकं वपुः ।
यावत्तस्थौ तदा कोचीसखीभिर्वीक्षितो नृपः ॥५२२॥

भोजनस्थानके नीत्वा दासी प्राहादनं कुरु ।
राजा जगौ मया रात्रौ भोजनं क्रियते नहि ॥५२३॥उक्तं च–
"न भोक्तव्यं न भोक्तव्यं रात्रावत्र युधिष्ठिर ! ।
तपस्विना विशेषेण गृहिणा च विवेकिना ॥५२४॥
ये रात्रौ सर्वदाऽऽहारं वर्जयन्ति सुमेधसः ।
तेषां पक्षोपवासस्य फलं मासेन जायते" ॥५२५॥
इति ज्ञात्वा मया रात्रौ भोजनं न विधीयते ।
प्रत्याख्यानं द्विधाऽऽहारं कृतं सति दिवाकरे ॥५२६॥
ताम्बूलचन्दनालेपपुष्पप्रकरशोभितः ।
तया नीतो महीपालः कोचीकान्दविकान्तिके ॥५२७॥
नतिं स कुरुते यावत् तस्याः सुविनयं नृपः ।
तावत् तयोदितं नाम्ना विक्रमार्क नृपाव्रज ॥५२८॥
प्रजाः पालयतो न्यायमार्गात् तव निरन्तरम् ।
कुशलं विद्यतेऽत्र त्वं किमर्थमागतो वद ॥५२९॥

मत्पुत्री सुन्दरी देवदमनी शीलशालिनी।
विद्यते या प्रिया ते सा समस्ति शुभसंयुता ॥५३०॥
स्वकार्यं सर्वलोकानामिष्टं नान्यस्य कस्यचित् ।
त्वमप्यागाः स्वकार्यार्थी छेत्तुं वा संशयं स्वकम् ॥५३१॥
यया पत्या समं वह्नौ प्रवेशो विहितः स्त्रिया।
सा रत्नमञ्जरी धन्या सतीरत्नमभूद्वरम् ॥५३२॥
परं कल्ये कुकर्मोत्थपापरक्षोतिवाहिता।
रेमे सार्धं च चौरेण हत्वाऽऽत्मीयं रहः पतिम् ॥५३३॥
स्तेनकान्तौ मृतौ ज्ञात्वा पश्चात्तापसमन्विता।
निन्दन्ती स्वं कृतं कर्मसा व्यधाद् वह्निवेशनम् ॥५३४॥यतः–
"क्षणं सक्तः क्षणं मुक्तः क्षणं क्रुद्धः क्षणं क्षमी।
मोहाद्यैः क्रीडयेवाहं कारितः कपिचापलम्" ॥५३५॥
प्रविशन्त्या तया वह्नौ यदुक्तं भवतः पुरः।
पश्यसि त्वं गिरौ वह्निं ज्वलन्तं न पदोस्तले ॥५३६॥

तत्सत्यं गदितं धन्यप्रियया तटिनीतटे।
स्वयमेव न मञ्जर्या द्रष्टव्यं चरितं रहः ॥५३७॥ यतः–
"शास्त्रं सुनिश्चलधिया परिचिन्तनीय–
मारधितोऽपि नृपतिः परिशङ्कनीयः।
अङ्कस्थिताऽपि युवतिः परिरक्षणीया,
शास्त्रे नृपे च युवतौ च कुतः स्थिरत्वम्" ॥५३८॥
प्राप्यते पारमम्भोधेः कदाचित् तारकैरिह।
न स्वभावो मृगाक्षीणां लभ्यते कोविदैरिह ॥५३९॥
स्त्रीवृत्तवीक्षणे वाञ्छा यद्यस्ति तव साम्प्रतम्।
तदाऽस्यां च पेटायां मध्ये तिष्ठ रहः शनैः ॥५४०॥
खा(का)सश्वासौ त्वया नोच्चौ(चैः) मनाक् कार्यौ नरेश्वर!।
यत्रैतीयं तु मञ्जूषा गम्यं तत्र त्वया रहः ॥५४१॥
यदा च त्वां च पेटायाः कर्षयामि बहिः खलु।
तदा त्वया महीपाल! निर्गम्यं वाञ्छता हितम् ॥५४२॥

मञ्जूपान्तस्ततो भूपः प्रविष्टो यावता शनैः ।
तावत् तत्रागतो बुद्धिसागरो मन्त्रिशेखरः ॥५४३॥
पञ्चमुद्राधरो देशस्वामी भूपतिवल्लभः ।
सर्वकर्ता सर्वहर्ता सर्वच्छोटकबन्धकः ॥५४४॥ [युग्मम्]

स्वर्णस्थालं पुरस्तस्या मुक्त्वा मुक्ताफलाञ्चितम् ।
पतित्वा पादयोः प्राह बुद्धिसागरमन्त्रिराट् ॥५४५॥
प्रसन्नीभूय मय्येवं चिन्तातीतफलप्रदे ! ।
भोगं मदनमञ्जर्या समं कारय मेऽधुना ॥५४६॥
कोचीकान्दविका प्राह लात्वैतां लेखनीं शुभाम् ।
ऊर्ध्वे चास्यां च पेटायामुपाविश विचक्षण ॥५४७॥

पेटायाः परितश्चामुं लेखनीं स्फोरयेस्तदा ।
यथा व्योम्ना(म्ने)हितं स्थानं गमिष्यसि न संशयः ॥५४८॥
कोचीप्रोक्तं विधिं कृत्वा मन्त्री पेटोपरि स्थितः ।
ययौ मदनमञ्जर्याः समीपे व्योमवर्त्मना ॥५४९॥

आगतं मन्त्रिणं चित्तेहितमैक्ष्य नृपप्रिया ।
अभ्युत्थायासनं दत्त्वोपवेशाय जगावदः ॥५५०॥
बहुभ्यो वासरेभ्यस्त्वमत्रागा मन्त्रिशेखर ! ।
मन्त्री जगौ मया नित्यं नागन्तुं शक्यते प्रिये ! ॥५५१॥

राज्यवक् त्वद्वियोगाद्धि ज्वलितं मम विग्रहम् ।
भोगामृतप्रदानेनोपशमयाशु वल्लभ ! ॥५५२॥
अहं तवैकचित्ताऽस्मि दूरस्थाऽपि तवान्तिके ।
त्वत्सौख्ये सुखिता च स्यां त्वद्दुःखे दुःखिता पुनः ॥ यतः—
"सो दिवसो अपमाणो सो मासो मंसछेअसारिच्छो ।
वरिसो विसप्पमाणो घडिआ घडिवायसारिच्छा ॥५५४॥

पहरो पहरणसरिसो सा वेला विसवल्लिगहणसमा ।
सामिअ तुज्झ वियोगे मह जायं एरिसं जम्मं ॥५५५॥
अज्ज कयत्थो जम्मो अज्ज कयत्थ च जीविअं मज्झ ।
अज्झ कयत्थो दिवसो सामी तुह संगमेणं मे" ॥५५६॥

मन्त्रिणः कारयामास स्नानं मदनमञ्जरी ।
लक्षकोट्यादिकैः पाकैस्तैलैस्त्वक्सुखकारकैः ॥५५७॥
रसाढ्यैर्विविधैर्भोज्यैर्भोजयामास मन्त्रिणम् ।
ताम्बूलादि वितीर्याथ सुशय्यास्थानकं व्यधात् ॥५५८॥
बहुशृङ्गारभङ्गीभिर्भोगामृतप्रदानतः ।
प्रीणयामास तं राज्ञी कर्णाप्यायिकया गिरा ॥५५९॥
भुक्त्वा भोगान् निशाशेषे राज्ञी प्राहेति मन्त्रिणम् ।
विभाता रजनी स्वामिन् ! क्षणवच्चावयोरिह ॥५६०॥
ततोऽवग् मन्त्रिराट् स्वौको यास्यामि साम्प्रतं द्रुतम् ।
कदाचिदेष्यति क्ष्मापस्तदा का गतिरावयोः ॥५६१॥
इति मन्त्रिवचः श्रुत्वा राज्ञी प्राहेति तं प्रति ।
त्वं स्वं चेतोऽत्र मुक्त्वा मे स्वान्तं लात्वा व्रजाधुना ॥५६२॥
यतोऽहमबला तावकीनस्थिरमनोबलात् ।
स्थातुं शक्नोमि नो चेच्च मृताऽहं भवता विना ॥५६३॥

आगम्यागम्य भवता त्वरितं त्वरितं निशि ।
उपशाम्यो ममाङ्गस्थो विप्रयोगविभावसुः ॥५६४॥
त्वया वाच्यः प्रणामो मे लगित्वा पादयोर्दृढम् ।
कोचीकन्दुविकायास्तु कर्त्र्याः सुसुखमावयोः ॥५६५॥
श्रीविक्रमस्तदा चित्ते चिन्तयामासिवानिति ।
अहो मदनमञ्जर्याश्चरितं पापकारकम् ॥५६६॥ उक्तं च–
"न प्रतिष्ठा न सौजन्यं न दानं न च गौरवम् ।
न च स्वान्यहितं वामाः पश्यन्ति मदनान्धलाः ॥५६७॥
निरंकुशा नरे नारी तत्तत् करोत्यसमञ्जसम् ।
यत्क्रुद्धाः सिंहशार्दूला व्याला अपि न कुर्वते ॥५६८॥
दूरतस्ताः परित्याज्याः प्रादुर्भावितदुर्मदाः ।
विश्वोपतापकारिण्यः करिण्य इव योषितः ॥५६९॥
स कोऽपि स्मर्यतां मन्त्रः स कोऽप्युपास्यतां सुरः ।
न येन स्त्रीपिशाचीयं ग्रसते शीलजीवितम् ॥५७०॥

संपिण्डयेवाहिदंष्ट्राग्नियमजिह्वाविषाङ्कुरान् ।
जगज्जिघांसुना नार्यः कृताः क्रूरेण वेधसा ॥५७१॥
यदि स्थिरा भवेद् विद्युत् तिष्ठन्ति यदि वायवः ।
दैवात् तथापि नारीणां न हि स्थेम मनो भवेत् ॥५७२॥
तदा मन्त्रियुतां पत्नीं उत्तिष्ठन् हन्तुमञ्जसा ।
भूपो दध्यौ किमेतौ तु हन्मि पापाशयौ द्रुतम् ॥५७३॥
अनयोर्हतयोर्लोकापवादो मे भविष्यति ।
ततो न सर्वथा पापं करोम्येतन्मनागपि ॥५७४॥
ध्यात्वेति नृपतिः स्वीये स्थाने शनैरुपाविशत् ।
यतो ज्ञाः कुर्वते पापं विमृश्यैव स्वमानसे ॥५७५॥
ततो मन्त्री निजं कार्यं कृत्वा पेटाऽधिरोहणात् ।
कोचीकन्दुविकापार्श्वे समागाद् व्योमवर्त्मना ॥५७६॥
पेटां सलेखनीं दत्त्वा प्रोक्त्वा राज्ञीनतिं पुनः ।
कोचीपादौ प्रणम्याथ मन्त्र्यागान्निजमन्दिरम् ॥५७७॥
कर्षितो भूपतिः पेटामध्यात्तदा तया पुनः ।
कोच्याः पादौ प्रणम्याथ प्रोवाच मधुरस्वरम् ॥५७८॥
त्वत्प्रसादान्मया ज्ञातं राज्ञीवृत्तमशेषतः ।
परं खेदोऽस्ति मे चित्ते स्वपत्नीचरितेक्षणात् ॥५७९॥
कोची प्रोवाच भूप ! स्त्रीचरितं विषमं खलु ।
नरेणैकेन नो नारी सन्तोषं कुरुते क्वचित् ॥५८०॥ यतः–
"विशिष्टसत्त्वेन विभूषिताङ्गी श्वश्रूयुता पञ्चवरैश्च द्रौपदी ।
तृप्तिं परां नैव गता तदानीं श्रीभारतोक्तं शृणु राजशेखर ॥

१ एकदा युधिष्ठिरेण अष्टाशीतिसहस्रऋषीणामिच्छाभोजने दीयमानेऽहकारः कृत. । तेन तैर्मदोत्तारणाय माघे आम्रादि याचितम् । ततश्चिन्तातुरे युधिष्ठिरे नारदेनोक्तम् । 'द्रौपदी पञ्चवाक्यानि' इति । द्रौपद्या एतद् वचनं ऋषितर्पणाय प्रतिपन्नम् ।

पञ्चतुष्टिः १ सती त्वं च २ संबन्धे चातिशुद्धता ३ । पत्यौ प्रीति ४ र्मनस्तुष्टिः सत्यपञ्चकमुच्यताम् ॥

उक्तं च भारते शास्त्रे वाक्यपञ्चकमुत्तमम् ।
नारदेन यथा पृष्टं दुर्वासाह्वऋषेः पुरः ॥५८२॥
द्रौपदी पञ्चवाक्यानि सत्यानि वदते यदा ।
अकाले चाम्रवृक्षोऽयं फलैश्च फलते तदा ॥५८३॥

भर्तारवल्लभत्वं च पञ्चानामुपरि स्थितिः ।
नवनवेच्छासंयोगः सतीत्वं परदर्शनम् ॥५८४॥
वर्षा कष्टतरः कालो जीवानां हेतुवल्लभः ।
तेन नारद ! नारीणां भर्ता भर्तेति वल्लभः ॥५८५॥
पञ्चापि मम रोचन्ते पाण्डवाः स्वादसुन्दराः ।
तथा बलीम नो हन्त षष्ठे चेतः प्रजायते ? ॥५८६॥

दृष्ट्वा परनरं भार्याभोगेच्छा जायते ध्रुवम् ।
गावस्तृणमिवारण्ये जिगीषति (जिघत्सति) नवं नवम् ॥५८७॥
रहो नास्ति क्षणो नास्ति नास्ति प्रार्थयिता नरः ।
तेन नारद ! नारीणां सतीत्वमुपजायते ॥५८८॥

सुरूपं पुरुषं दृष्ट्वा भ्रातरं पितरं सुतम् ।
योनिः क्लिद्यति नारीणामामकुम्भ इवाम्भसा ॥५८९॥

श्रुतकुलपुरुषाणां रक्षणं को विधत्ते,
नृपवनवनितानां रक्षणे कोऽप्युपायः ।
अतिविपुलमतित्वं चेतसः पाण्डुदेव,
कथयत तदशेषं प्राज्ञ ! वः (नः) प्राज्ञकीर्ते ! ॥५९०॥

इदं सत्यपञ्चकं नारदेन पृष्टम् । सा प्राह—सुरूपाः पञ्च योद्धारः पाण्डवाः पतयो मम । षष्ठेऽपि कुरुते वाञ्छां मनः सत्यं हि नारद ! ॥ अनेन श्लोकेन सदस्युप्तं मुशलमाम्रोऽभूत् । 'रहो नास्ति०' अनेन पल्लवितः । "सुन्दरं पुरुष०" अनेन मञ्जरितः । "वर्षा कष्टतरः कालो०" अनेन फलान्यभूवन् । आषाढे तु यथा गावस्तृणं धावति धावति । तथा नारद नारीणां पुमांसं प्रति मानसम् ॥ अनेन फलानि पक्वानि ॥ इत्यधिक. घपुस्तके । १ सदा प्रत्यन्तरे । २ सदा प्रत्यन्तरे ।

श्रुतस्य रक्षा सतताभियोगः कुलस्य रक्षा पुरुषस्य धर्मः ।
दानं नृपाणां कुसुमं वनानां स्त्रीणां तु रक्षा नहि जातु जाने ॥
स्पर्शेन्द्रियमहाव्यालग्रस्ता नार्यो नरा अपि ।
किं न हि कुर्वते कान्तमातृपित्रादिवञ्चकम् ॥५९२॥
स्पर्शेन्द्रियविपव्याप्तो देवः श्रीदेवकीसुतः ।
गोपिकागर्दभीमुख्यस्त्रीपु किं रमते स न ॥५९३॥
ईश्वरोऽपि महादेवः कामेपुविषविह्वलः ।
तपस्विनीं न किं कामं सिपेवे मेदिनीपतिः (ते !) ॥५९४॥
ब्रह्माऽपि कामतीव्रेपुविद्धो विह्वलमानसः ।
ब्राह्मया स्वसुतया सार्धं न किं रमितवान् नृप ! ॥५९५॥
अहल्यां सेवते स्मेन्द्रो न किं मदनविह्वलः ।
पराशराद्यः किं न ग्रस्ताः कामेन तापसाः ॥५९६॥
नारीणां तु विशेपेण कामो नृभ्योऽधिको भवेत् ।
तेन नार्यः कथं पत्यैकेन तिष्ठन्ति भूपते ! ॥५९७॥ यतः—

"आहारो द्विगुणः स्त्रीणां लज्जा तासां चतुर्गुणा ।
षड्गुणो व्यवसायश्च कामश्चाष्टगुणः स्मृतः" ॥५९८॥
कोचीप्रोक्तं निशम्येति शान्तस्वान्तो नृपो जगौ ।
यदि स्त्री कामग्रस्तैव कुरुते क्रियते किमु ॥५९९॥
आवर्तः संशयानामविनयभवनं पत्तनं साहसानाम् ,
दोषाणां सन्निधानं कपटशतगृहं क्षेत्रमप्रत्ययानाम् ।
अग्राह्यं यन्महद्भिर्नरवरवृषभैः सर्वमायाकरण्डं,
स्त्रीयन्त्रं केन लोके विषममृतमयं धर्मनाशाय सृष्टम् ॥
तदा हृष्टमना राजा नत्वा कोचीपदाम्बुजम् ।
आजगाम निजावासं विक्रमार्कमहीपतिः ॥६०१॥
ततस्तां नृपती राज्ञीं मन्त्रीश्वरसमन्विताम् ।
विससर्ज निजाद् देशाद् दूरे भवस्थितिं स्मरन् ॥६०२॥
इति स्त्रीचरित्रवीक्षणसम्बन्धः ॥
प्राप्यते वारिधेः पारं कदाचिद् विबुधैर्जनैः ।
न चेष्टितस्य नारीणां लभ्यते कोविदैः क्वचित् ॥६०३॥

श्रीपुरे छाहडो नाम कौटुम्बिकशिरोमणिः।
परिणीन्ये धरापुर्यां पत्नीं रमां धनाङ्गजाम् ॥६०४॥
एकदा छाहडो वर्यवेषो रुचिरयानयुग्।
आनयनाय गेहिन्या धरापुर्यां समीयिवान् ॥६०५॥

तत्र श्वश्रूर्लसच्छालिदालिपक्वान्नसर्पिषा।
प्रीणयामास सद्भक्त्या पुत्रीपतिं स्वपुत्रवत् ॥६०६॥
सद्वस्त्रभूषणैस्तत्र छाहडो मानितो भृशम्।
प्रियां लात्वा यदा यातुं सज्जोऽभूत् स्वपुरं प्रति ॥६०७॥
परिधाय तदा चारुं वस्त्राभरणसञ्चयम्।
निर्ययौ स्वजनान् मुत्कलापयितुं रमा गृहात् ॥६०८॥

येन सार्धं सदा भोगान् भुङ्क्ते तत्र पुरे रमा।
स जनो मिलितो मार्गे प्राहेति तां प्रियां प्रति ॥६०९॥
त्वं तु यास्यसि कान्तेन सार्धं श्वसुरसद्मनि।
आवयोरेकदा वार्तालापादि स्यात् तदा वरम् ॥६१०॥

रमा प्राह यदीच्छा ते वार्तां कर्तुं मया सह।
तदाऽहं पूरयिष्यामि सद्यस्तव मनोरथम् ॥६११॥
जनो जगौ कथं वाञ्छा मे त्वया पूरयिष्यते।
रमाऽवग् यदि तेऽस्तीच्छा विद्यते मिलितुं मम ॥६१२॥

तदा मित्रयुतोऽह्नायारुह्य स्यन्दनमद्भुतम्।
गच्छ गव्यूतमेकं त्वमसद्गमनवर्त्मनि ॥६१३॥
तत्र तुङ्गपुटीं कृत्वा स्थापयित्वैकतो रथम्।
मित्रं तुङ्गपुटीपार्श्वे स्थापय त्वं सुयुक्तितः ॥६१४॥
त्वं तिष्ठेर्मध्यतस्तस्याः प्रोक्त्वेति सुहृदः पुरः।
तदैत्य छाहडस्तत्र मित्रान्ते प्रक्ष्यति ध्रुवम् ॥६१५॥

कस्मादत्र स्थितस्त्वं तु तदा सुहृद् वदिष्यति।
प्रसूतिसमयोऽकस्मात् पत्न्या ममाभवत् पथि ॥६१६॥
तेनाधुना भृशं शूलमागच्छद् विद्यते खलु।
अहं तु प्रक्रियां तस्य न जानेऽस्थां ततोऽत्र हि ॥६१७॥

इत्यादि शिक्षयित्वा तं रमा स्वजनसद्मसु।
चिरं भ्रान्त्वा पितुर्गेहं समागान्मुदिताशया ॥६१८॥
उपावेश्य प्रियां तस्मिन् स्यन्दने छाहडस्तदा।
प्रणम्य श्वसुरं श्वश्रूं चचाल स्वपुरं प्रति ॥६१९॥
मार्गे तुङ्गपुटीं दृष्ट्वा छाहडो मुग्धधीर्जगौ।
कथमत्र स्थितोऽरण्ये छोटयित्वा रथं वद ॥६२०॥
स प्राहेह प्रियाया मे शूलं प्रसूतिकालजम्।
आगच्छद्विद्यते तेन स्थितोऽहमत्र साम्प्रतम् ॥६२१॥
स्त्रियं विना स्त्रियास्तादृक् शूलं स्फेटयते न हि।
ततोऽवक् छाहडः पत्नीं गच्छात्र योपितोऽन्तिके ॥६२२॥
तस्याः शूलं त्वकं सद्यः स्फेटयाङ्गप्रमर्दनात्।
रमा प्राहाधुना मार्गे न स्थितिः शोभनाऽऽवयोः ॥६२३॥
छाहडोऽवक् कथं मार्गे वनितां शूलपीडिताम्।
विमुच्य गम्यते स्वीयग्रामे जल्प प्रियोत्तमे! ॥६२४॥

तत उत्तीर्य शकटात् तुङ्गपुट्यन्तरे रथात्।
रमा ययौ स्त्रियास्तस्याः पार्श्वे मायानिकेतनम् ॥६२५॥
तस्याशु पूरयित्वाऽऽशां पूर्वोक्तां सुखदानतः।
उत्स्थलं कञ्चुकं शीघ्रं परिधत्ते स्म सा तदा ॥६२६॥
तुङ्गपुट्या बहिः सद्यो निर्गता पूरिताशया।
एत्य प्रियान्तिके वामे भागे रथे उपाविशत् ॥६२७॥
छाहडोऽवक् कथं पत्नि! कञ्चुकस्त्वन्यथाऽजनि।
शाटी म्लाना कथं ह्येषा शरीरं चेदृशं कथम् ॥६२८॥
तयोक्तमिति तदा पत्युः पुरः।
अणखूली परिहरीअ कांचली साडी सल भरिआइं।
हूंतउं पूंछउं प्राणप्रिये! ए नयणां काइं मिलाइं" ॥६२९॥
तया वनितयेदानीमपत्यं जनितं किमु।
वैदग्ध्यगर्विता साऽऽह रमेति रमणाग्रतः ॥६३०॥
"छाहड छइल्ला ते भला जेह नामिइं छइल्ल।
रन्नि सिउं आवइं दीकरा खेडितउं मूढ बइल्ल" ॥६३१॥

ततो मत्वा प्रियावृत्तं तादृग्जल्पनतः स च।
अविश्वासं करन् पत्न्याः स्वकीयपुरमागमत् ॥६३२॥
कुतश्चित्सिद्धपुरुषात् सम्प्राप्यामृतकुम्पिकाम् ।
बहिर्याति प्रियां दग्ध्वा बद्धा पोट्टलके रजः ॥६३३॥
आगतः स्वगृहे कृत्वा जीवन्तीं सुधया स च।
कारयामास गेहस्य कार्याणि छाहडस्तदा ॥६३४॥
गयातीर्थे गमिष्यामि यात्रार्थं पत्नि ! साम्प्रतम् ।
षण्मासान्ते समेष्यामि त्वया स्थेयं समाधिना ॥६३५॥
उक्त्वेति छाहडः पत्नीं दग्ध्वा तद्भस्म पोट्टले।
सुधाकुम्पिकया युक्तां प्रययौ विषमे वने ॥६३६॥
महद्वटस्य शाखाया विवरे पोट्टलं तकम् ।
छन्नं न्यस्य ययौ यात्राकृते स दीपपर्वणि ॥६३७॥
इतस्तत्र छगीपालस्तस्य छायामधिस्थितः ।
शाखायाः शुष्कपत्राणि दृष्ट्वा तत्राययौ स च ॥६३८॥
रक्षापोट्टलकं दृष्ट्वोत्तार्याथ धरणीतले।
तस्य छोटयतो रक्षामध्येऽमृतच्छटैकिका ॥६३९॥
पतिता यावता तावत् सशृङ्गारा मृगेक्षणा ।
बभूव भस्म चालोक्य छगीपश्चकितोऽजनि ॥६४०॥
बिभ्यन्नश्यति यावत्स तावत्साऽऽचष्ट बालिका ।
अत्रागच्छ कुरुष्व त्वं मां प्रियां भोगदानतः ॥६४१॥
ततः पश्चात् समागत्य छगीपोऽवग् मृगेक्षणे ! ।
काऽत्र त्वं हेतुना केन संजातैवंविधा वद ॥६४२॥
रमाऽवग् मे प्रियो भस्म कृत्वाऽत्रैवं विमुच्य माम् ।
यात्रार्थं छाहडो यातो दीपपर्वदिने ध्रुवम् ॥६४३॥
षण्मासान्ते विधायाशु यात्रां स च समेष्यति ।
तेन तावन्मया सार्धं त्वं तिष्ठ पतिवद् ध्रुवम् ॥६४४॥
ततो हृष्टश्छगीपालः कारयन् स्वगृहक्रियाम् ।
तां स्त्रियं तस्थिवान् स्वेच्छं स च छाहडवत् सदा ॥६४५॥

पृष्ठा छगीपतिं दीपोत्सवं घस्रान् गतांश्च सा ।
जगौ कल्येऽद्य वा कान्तो ममात्रैष्यति सत्वरम् ॥६४६॥
तेन मां भस्म कृत्वाऽथ पूर्ववद् वटपादपे ।
मुक्त्वा गच्छ निजे स्थाने प्रीतिं च मयि मा मुचः ॥६४७॥
छगीपो भस्म तां कृत्वा बद्ध्वा पोट्टलके दृढम् ।
पूर्ववद्वटशाखायाः कोटरेऽमुचदञ्जसा ॥६४८॥
ततः स्वस्थानके तस्याश्चरित्रं स्वहृदि स्मरन् ।
छगीपालश्छगीश्चैव चारयामास कानने ॥६४९॥
इतः स छाहडो यात्रां कृत्वा तत्रैत्य पादपे ।
उत्तार्य भस्म तां चक्रे जीवन्तीं सुधया श्रिया ॥६५०॥
तस्या देहेऽम्बरे चापि गन्धं छागादिसम्भवम् ।
मत्वा दध्यौ स किं नारी भुक्तैपा छागपेन तु ॥६५१॥
विमृश्येति हृदि स्थाने तत्र मुक्त्वा वनान्तरे ।
छाहडोऽथ छगीपालमेकं भ्रमन् ददर्श च ॥६५२॥

पप्रच्छ छगीपालं कस्त्वं किमर्थमागतः ।
छगीपोऽवग् भ्रमन् यावद् विपिनेऽत्राहमागमम् ॥६५३॥
तावदेकाऽबलाऽकस्माद् वटवृक्षसमीपतः ।
दृष्टा मया ततो भीतो नंष्ट्वा ह्यत्रागमं द्रुतम् ॥६५४॥
छगीपालो जगौ नारी भुक्तैका मयका घनम् ।
भस्म कृत्वाऽथ शाखायां वटस्य मुमुचे मया ॥६५५॥
ज्ञात्वाऽथ छाहडः पत्नीचरितं विषमं खलु ।
प्रियान्तिके समागत्य प्राहेति मर्मगर्भितम् ॥६५६॥
मई गई पलाइणी छापरि छारघएण ।
छाहड भणइ ते ढाढ नर जे रत्ता तीअगुणेण" ॥६५७॥
रमाऽऽचष्ट कथं कान्त ! भवतैवं प्रजल्प्यते ।
अहं तु त्वद्गुणे रक्ता तिष्ठामि प्रतिवासरम् ॥६५८॥
छाहडोऽवग् मया ज्ञाता रता त्वं नृषु भूरिषु ।
वदस्येवं कथं कान्ते ! ममाग्रे कूटमत्र तु ॥६५९॥

जल्पन्तीमिति तां पत्नीं मुक्त्वा वैराग्यवासितः ।
प्रव्रज्यां तापसीं प्राप तापसस्यान्तिके स च ॥६६०॥
छाहडो निरतिचारं तापसव्रतमादरात् ।
पालयित्वा ययौ स्वर्गं जीवितव्यक्षये क्रमात् ॥६६१॥
सेवमाना कुमार्गं तु रमा शीलविखण्डनात् ।
मृत्वा प्रान्ते ययौ श्वभ्रे भूयिष्ठदुःखदायके ॥६६२॥
एतां कथां बुधोपान्ते निशम्य विक्रमार्यमा ।
ददौ कोटिमितं द्रव्यं भाण्डागारिकपार्श्वतः ॥६६३॥

इति वदान्यत्वे कुशीलिनीस्त्रीविषये छाहडभार्यासम्बन्धः,
विक्रमार्कभूपसम्बन्धश्च ॥

एकदा विक्रमादित्यो यावत्संसदि तस्थिवान् ।
तावत्कश्चिन्नरोऽभ्येत्य प्रोवाचेति प्रगल्भवाक् ॥६६४॥
लोहाभिधे पुरे लोकाः सर्वे धूर्तधुरन्धराः ।
वसन्तो वञ्चयन्त्येव बुधानपि जडानपि ॥६६५॥

श्रुत्वेति विक्रमादित्यो दानं दत्त्वा यथोचितम् ।
तस्मै तां नगरीं द्रष्टुमुत्सुकोऽजनि सत्वरम् ॥६६६॥
ततस्तां नगरीं द्रष्टुं भट्टमात्रं धुरि ध्रुवम् ।
पूर्वस्यां दिशि भूपालः प्रजिघाय शुभेऽहनि ॥६६७॥
स्वयं स्मृतनमस्कारो विक्रमार्कमहीधवः ।
अचालीदुत्तराशायां द्रष्टुं तां नगरीं क्रमात् ॥६६८॥ यतः–
"सीह सउण न चंदबल न वि जोइ धणरिद्धि ।
एकल्लउ लक्खिहिं भिडइ जिहां साहस तिहां सिद्धि" ॥
राजा चलन्वने कुण्डद्वयं शीतोष्णवारिभृत् ।
दृष्ट्वा यावत् स्थितस्तावत् कपियूथं समागमत् ॥६७०॥
कुण्डे शीतजले स्नात्वा भूत्वा विमलविग्रहाः ।
दुकूलान्यन्तिकाद् वृक्षात्कोटरात्प्रललुर्नराः ॥६७१॥
परिधाय दुकूलानि नरास्ते कुसुमैर्वरैः ।
तत्रस्थार्हद्गृहोपान्ते जिनेन्द्रमार्चयन् मुदा ॥६७२॥

स्तुत्वा स्तोत्रैर्जिनेन्द्रं ते ध्यात्वा नत्वा पुनः पुनः ।
चिक्षिपुः पापसंघातमार्जयन् पुण्यमूर्जितम् ॥६७३॥ यतः–
"एकमपि येन कुसुमं भगवत्युपयुज्यते सबहुमानम् ।
तस्य नरामरशिवसुखफलानि करपल्लवस्थानि" ॥६७४॥

तत उष्णपयःपूर्णे कुण्डे स्नात्वा नरा द्रुतम् ।
वानरीभूय सर्वज्ञं नत्वा स्वं स्थानकं ययुः ॥६७५॥
चमत्कृतो नृपः पार्श्वे जिनमभ्यर्च्य सत्सुमैः ।
स्तुत्वाऽपश्यत् चलत् चौरपञ्चकं वादतत्परम् ॥६७६॥
राजा जगौ कथं वादं यूयं कुर्विध्वमीदृशम् ।
विवादेन तु लभ्यन्ते दृपदो न हि मोदकाः ॥६७७॥ यतः–
"वैरं वैश्वानरो व्याधिर्वाद्व्यसनलक्षणाः ।
महानर्थाय जायन्ते वकाराः पञ्च वर्धिताः" ॥६७८॥
चौरा जगुर्वने योगिपार्श्वे वस्तुचतुष्टयम् ।
अपूर्वं दृष्टमस्माभिस्ततो न सुमनोऽभवत् ॥६७९॥ तथाहि–

"खटिकालिखितस्तार्क्ष्यः सजीवो जायते क्षणात् ।
तोत्रेण ताडितो व्योम्नि चलत्येव समीरवत् ॥६८०॥
विक्रीतो लभते द्रव्यं लक्षमेकं तुरङ्गमः ।
खट्वा स्पृष्टा सती व्योम्नि याति दीव्यप्रभावतः ॥६८१॥

प्रातः कन्था हृता दत्ते दीनारशतपञ्चकम् ।
स्थाली धृताऽग्रतो भोज्यं पुंभ्यो दत्ते मनोहितम्" ॥६८२॥
वस्तुचतुष्टयं वर्यं दृष्ट्वा नश्चलितं मनः ।
लोभः किं किं नरं नारीं कारयत्यशुभं न हि ॥६८३॥
शरीरं श्लथते नाशा रूपं याति न पापधीः ।
जरा स्फुरति न ज्ञानं धिग् स्वरूपं शरीरिणः ॥६८४॥
राजाऽऽचष्टार्प्यतां वस्तुचतुष्कं मह्यमेव भोः ।
ततो विचार्य युष्मभ्यं दास्ये कृत्यानुसारतः ॥६८५॥
वस्तुचतुष्टयं तेभ्यः प्राप्य भूमिपतिर्जगौ ।
युष्माभिर्योगिहननात् कृतं पापं फलिष्यति ॥६८६॥

प्रोक्त्वेति नृपतिः खट्वाऽऽरूढो गगनवर्त्मनि ।
ययौ लोहपुरे ऋद्ध्या स्वर्गपुर्या मनोहरे ॥६८७॥
तत्रैकं नैगमं मित्रं कृत्वा स्थालीं सखट्विकाम् ।
दत्त्वा तस्मै ययौ भूपः पुरीचरित्रमीक्षितुम् ॥६८८॥
तत्र कामलतापार्श्वे स एकवासरं नरः ।
तिष्ठेद् यो ददते लक्षमितं द्रव्यं सुभक्तितः ॥६८९॥
कृत्वा खट्विकया तार्क्ष्यं विक्रीय द्रविणेन तु ।
वेश्यायाः सदने तस्थौ विक्रमादित्यभूमिभुक् ॥६९०॥
कन्थातः प्राप्य दीनारान् सद्यः पञ्चशतीं प्रगे ।
वर्यवेषधरो दानं दत्तेऽर्थिभ्यो नृपो बहु ॥६९१॥
ज्ञात्वाऽक्का खट्विकाकन्थे तार्क्ष्यद्रविणदायके ।
छलाज्जग्राह छन्नं सा विक्रमार्कसमीपतः ॥६९२॥
धनाभावात् पुरीनार्या तयाऽऽगच्छन् नृपस्तदा ।
निषिद्धः खिन्नचेतस्को ध्यातवानिति चेतसि ॥६९३॥

यादृशा गणिकाः शास्त्रमध्ये वर्ण्यन्त एव तु ।
तादृशाः साम्प्रतं ज्ञाताः कूटछद्मपरा मया ॥६९४॥
इतस्तत्रागतो भट्टो जज्ञौ भूपमुखोदितम् ।
शीतोष्णजलकुण्डादि वेश्याकृतछलान्तिकम् ॥६९५॥
विचार्य भूपभट्टाभ्यां शीतोष्णजलकुण्डयोः ।
नीरद्वयं समानीय भूपोऽगाद् गणिकालये ॥६९६॥
कुर्वत्याः सवनं पण्याङ्गनाया भूपती रहः ।
उष्णाम्बुक्षेपतः कामलतिकां वानरीं व्यधात् ॥६९७॥
तनयां वानरीभूतां दृष्ट्वाऽक्का हृदयं दृढम् ।
कुट्टयन्ती जनान् भूरीन् रोदयामास सकृपम् ॥६९८॥
वैद्यान् ज्योतिष्किकान् विप्रान् मन्त्रतन्त्रादिकोविदान् ।
ज्ञात्वा दत्त्वा धनं पुत्रीं सज्जीकर्तुं प्रयच्छ(च्छ)ति ॥६९९॥
इतः श्रीविक्रमादित्यं योगिवेषमनोहरम् ।
कारयित्वा वने मुक्त्वा भट्टोऽगाद् गणिकान्तिके ॥७००॥

अक्काऽवग् मे सुताऽकस्माद् वानरी समजायत ।
तेनाहकं म्रिये प्राणत्यागाद् वैदेशिकोत्तम ! ॥७०१॥
वेश्याऽवग् यः सुतां मामकीनां सज्जां करिष्यति ।
तदा तस्मै प्रदास्यामि सुखेन मार्गितं धनम् ॥७०२॥
भट्टोऽवक् क्रियते पुण्यं यादृक् पापं शरीरिभिः ।
आसद्यते फलं तादृक् परत्रामुत्र निश्चितम् ॥७०३॥
ततो भट्टो जगावेको योग्युद्याने मयेक्षितः ।
स वेत्ति सकलां विद्यां नृनार्यादिककारकाम् ॥७०४॥
वेश्याऽवग् योगिनं तं मे यदि त्वं दर्शयिष्यसि ।
तदा तुभ्यं धनं भूरि दास्येऽहं जीविकाकृते ॥७०५॥
ततो भट्टो वने गत्वा योगिनं विष्टरस्थितम् ।
दर्शयामास वेश्यायै ततोऽक्का प्रणनाम तम् ॥७०६॥
अथावक् सकृपं वेश्या योगिनं ध्यानगं प्रति ।
जगद्वन्द्य कृपागार परोपकृतिकारक ॥७०७॥
प्रसद्य योगिराट् ! पुत्रीं सज्जां कुरु मम ध्रुवम् ।
तुभ्यं मुखोदितं दास्ये तव च स्याद् वृषं बहु ॥७०८॥
नाटयित्वा क्षणं ध्यानं धूनयित्वा क्षणं शिरः ।
योग्यवग् वञ्चितो ह्येकः पुमान् वैदेशिकस्त्वया ॥७०९॥
तेन पापेन ते पुत्री वानर्यजनि साम्प्रतम् ।
कृतं पापं लगत्येवामुत्राप्यथ परत्र च ॥७१०॥
यदि त्वं खट्टिकाकन्थे हृते वैदेशिकस्य ये ।
ते ममांह्र्योः पुरो मुञ्चोपदादम्भात्पणाङ्गने ! ॥७११॥
तदाऽत्र ते सुतां सज्जां कुर्वेऽक्के मन्त्रयोगतः ।
अथ त्वं कथितं मे न करिष्यसि तदा मृता ॥७१२॥
ततोऽक्कया भयात् खट्टचादिकं सर्वं सुयोगिने ।
वितीर्य जगदे पुत्रीं सज्जां कुरु मम द्रुतम् ॥७१३॥
शीताम्बुस्नानपानीये क्षिप्ते मन्त्रपुरःसरम् ।
योगिना कारिता स्नानं वानरी सा शुभेऽहनि ॥७१४॥

क्षणात् तदाऽभवन्नारी वानरीत्वं विहाय च ।
योगी जगौ त्वया नैको वञ्चनीयो नरः क्वचित् ॥७१५॥
अनाय्यं(र्घ्यं) भोज्यमप्राज्यं विप्रयोगः प्रियैस्सह ।
अप्रियैः सम्प्रयोगश्च सर्वं पापविजृम्भितम् ॥७१६॥
परस्य वञ्चनं वेश्यां निषिध्य मेदिनीपतिः ।
भट्टमात्रयुतोऽचालीदवन्तीं नगरीं प्रति ॥७१७॥
उपकारं वितन्वानो लोकेभ्यो विक्रमार्यमा ।
पृथक् पृथग् ददौ वस्तुचतुष्कं हेलया ध्रुवम् ॥७१८॥
एवं श्रीविक्रमादित्यः कृत्वोपकृतिमादरात् ।
आययौ स्वपुरे स्वर्गपुरीसहोदरे क्रमात् ॥७१९॥
एकदा विक्रमादित्यो मन्दिराद्ध पुरे ययौ ।
तत्र श्रीदस्य तनयो मृतः क्षिप्तश्चितान्तरे ॥७२०॥
यावद्वह्निं ददात्येव श्रेष्ठी तावत्स नन्दनः ।
मृतेऽपि दिव्यभावेन समेति श्रेष्ठिनो गृहे ॥७२१॥
द्वितीयेऽपि दिने क्षिप्तश्चितायां स सुतः पुनः ।
श्रेष्ठिनः सदनेऽप्यागादेवं जातं दिनाष्टकम् ॥७२२॥
ततो बिभ्यत् स च श्रेष्ठी सूनोः स्वरूपमाग्रहात् ।
जगाद नृपतेः पार्श्वे स्वपुर्योः शुभहेतवे ॥७२३॥
ततः शबस्य वृत्तान्तं पृष्ट्वा गणकपार्श्वतः ।
भाव्यश्रेयः क्रमाद् राजा श्रेष्ठी च जज्ञतुस्तदा ॥७२४॥
ततो भूपेन पटहोऽवादीत्यनुगपार्श्वतः ।
यः कश्चिद्दहते देहं शबस्यास्याग्निदानतः ॥७२५॥
तस्मै कोटिमितं द्रव्यं दास्येऽहं बहुमानतः ।
श्रुत्वेति पटहं वाद्यमानं पस्पर्श विक्रमः ॥७२६॥
ततो भूपतिमापृच्छ्य लात्वा शबं स विक्रमः ।
निशायां प्रथमे यामे श्मशाने समुपागमत् ॥७२७॥
यावदत्र स्थितस्तावद् भूपः स्त्रीरुदितं भृशम् ।
श्रुत्वा गत्वा च पप्रच्छ भो नारि ! रुद्यते किमु ॥७२८॥

नारी जगौ पतिर्मेऽद्य नृपभृत्यैर्विनाऽऽगसा ।
शूलायां रोपितो जीवन् विद्यते साम्प्रतं स च ॥७२९॥
आनीतं भोजनं दातुं मया पत्युरिहाधुना ।
उच्चत्वान्न हि शक्येत तेन रोदिमि भूरिशः ॥७३०॥

ततो भूपो जगौ मेंऽसे चटित्वा भोजनं त्वकम् ।
देहि पत्ये यथा स्वस्थः पतिस्ते स्वर्गभाग् भवेत् ॥७३१॥
भूपस्यांसे ततो दत्त्वा क्रमौ कर्त्रिकया च सा ।
छेदं छेदं तनुं पत्युर्मांसमत्ति निजेच्छया ॥७३२॥
स्कन्धस्योर्ध्वं पतद्रक्तमम्बुभ्रान्त्याऽवगम्य तु ।
दध्यौ भूपोऽगमन्मेघो वर्षितुं साम्प्रतं किमु ॥७३३॥

अकृत्यं तादृशं पापं कुर्वाणां तां नितम्बिनीम् ।
दृष्ट्वा भूमीपतिर्वाढं हक्कयामास निर्दयम् ॥७३४॥
अशक्ता छलितुं भूपं सद्यो नारी तिरोदधे ।
ततो भूपो ययौ यामे द्वितीयेऽन्यत्र कानने ॥७३५॥

मुक्त्वा पार्श्वे शवं यावत्सुप्तो भूमीपतिः सुखम् ।
तावच्छत्रयुतं क्ष्मापं रक्षोऽनैषीद् वनान्तरे ॥७३६॥
तस्मिन् कटाहिकां स्फारां मध्ये ज्वलद्धनंजयाम् ।
कृत्वाऽऽनीय नरान् वाढं चिक्षिपू राक्षसा बहून् ॥७३७॥

भूपं क्षेप्तुं यदा चक्रुरुद्यमं राक्षसाधमाः ।
तावत् श्रीविक्रमादित्यो हन्तुं तानुत्थितो द्रुतम् ॥७३८॥
हताऽस्तथा महीशेन राक्षसा यष्टिमुष्टिभिः ।
यथाऽभ्येत्य नृपोपान्ते जगुर्भृत्या वयं तव ॥७३९॥
राक्षसांस्तान् नृपं जीवदयामूलं नरेश्वरः ।
ग्राहयित्वाऽगमद्यामे तृतीये वापिकान्तिके ॥७४०॥

तत्रस्थो नृपतिर्नारीं रुदतीं करुणस्वरम् ।
श्रुत्वा दूरे च तत्रैत्य प्राह किं नारि ! रोदिषि ॥७४१॥
नारी जगावहं भीमभूपपत्नी मनोरमा ।
हृतासृक्पेन दुष्टेन मच्छीलं छेत्तुमद्य तु ॥७४२॥

अथ को दृश्यते नैव नरोऽत्र जगतीतले ।
मोचयत्यधमात्पुण्यजनान्मां यो जगद्धितः ॥७४३॥
राज्ञोक्तं विद्यते कुत्र सोऽद्याङ्गुल्याः प्रयोगतः ।
कौणपो दर्शितो नार्या स्थितो दूरवने सदा ॥७४४॥
ततस्तां रक्षितुं नारीं साहसी विक्रमार्यमा ।
युद्धव्यतिकरेणाशु जघान राक्षसं तकम् ॥७४५॥
चतुर्थे प्रहरे राजा जगौ शवं प्रति स्फुटम् ।
शवोत्तिष्ठ कुरुष्व त्वं द्यूतं सार्धं मयाऽधुना ॥७४६॥
शवः प्राह नर ! त्वं भो यद्यत्र हारयिष्यसि ।
तदा तव शिरः सद्यो ग्रहीष्येऽम्बुजनालवत् ॥७४७॥
राजाऽऽचष्ट यदि त्वं भो ! हारयिष्यसि साम्प्रतम् ।
तदा त्वया चितामध्ये ज्वलितव्यं तृणौघवत् ॥७४८॥
शवेन रममाणेन हारितं भूपपार्श्वतः ।
ततश्चितान्तरे भस्मीकृतं स्वं तेन सत्वरम् ॥७४९॥

ततः प्राह पुरे गत्वा शवसम्बन्धमादितः ।
विक्रमार्को नृपोपान्ते ततो हृष्टो नृपोऽभवत् ॥७५०॥
भूपालः श्रेष्ठिनः पार्श्वाल्लात्वा पूर्वोदितं धनम् ।
याचकेभ्यो ददौ सद्यो विक्रमः पार्थभूपवत् ॥७५१॥
एकदा विक्रमादित्यो विलोकयन् महीतलम् ।
स्त्रीराज्ये जग्मिवान् सन्ति यत्रातिरुचिराः स्त्रियः ॥७५२॥
शंखिनीपद्मिनीमुख्या नार्यो श्रीतिरतिप्रभाः ।
भोगाय प्रार्थयन्ति स्म हावभावविधानतः ॥७५३॥
राजा जगौ न हि प्राणात्ययेऽप्यहं कदाचन ।
परिणीतां प्रियां मुक्त्वा नेच्छामि वनितां पराम् ॥७५४॥ यतः—
"अलसो होइ अकज्जे पाणिवहे पंगुलो सया होइ ।
परतत्तीसु अ बहिरो जच्चंधो परकलत्तेसु" ॥७५५॥
सुशीलं विक्रमादित्यं मन्वाना योषितस्तदा ।
माहात्म्ययुक्तरत्नानि ददुश्चतुर्दश ध्रुवम् ॥७५६॥

स्यादेकेनानलस्तम्भ एकेन जायते रमा ।
एकेन प्राप्यते नीरमेकेन वाहनं पुनः ॥७५७॥
एकेन खड्गघातो न लगत्यङ्गे मनागपि ।
एकेन वशगा नार्यो नरा भूपा भवन्ति च ॥७५८॥
वर्यां रसवतीं दत्ते रत्नमेकं तु याचितम् ।
एकेन वर्धते सर्वं कुटुम्बं धनसञ्चयम् ॥७५९॥
उत्तीर्यतेऽब्धिरेकेन विद्यैकेन वरा भवेत् ।
एकेन वशगा भूतादयः स्युर्न छलन्ति च ॥७६०॥
दशत्येकेन नो सर्प एकेन शिबिरं भवेत् ।
एकेन गम्यते व्योममार्गे तु सातपूर्वकम् ॥७६१॥
रत्नान्येतानि भूपालो लात्वा चलन् पुरं प्रति ।
ददौ पृथक् पृथग् मार्गे याचकेभ्यो मुदा क्रमात् ॥७६२॥

औदार्ये स्त्रीराज्यगमनसम्बन्धः ॥

स्वोपार्जितश्रियं सप्तक्षेत्रेषु विक्रमार्यमा ।
व्ययन् शश्वन्निजं जन्म सफलीकुरुते स्म सः ॥७६३॥
शतसहस्रलक्षेभ्यो बुद्धिः कोटिमतिस्तथा ।
एतेऽभूवन् भटा अङ्गरक्षका विक्रमोष्णगोः ॥७६४॥
यामे यामे निशीथिन्यामेकैकः सेवकः क्रमात् ।
अङ्गरक्षां व्यधाद् यत्नाद् विक्रमाङ्कस्य सन्ततम् ॥७६५॥यतः–
"हीनमतिः पुरो याति निशि जागर्ति चाटुमान् ।
द्वारे तिष्ठति शूरात्मा खड्गपाणिश्च सेवकः" ॥७६६॥
अन्येद्युर्विक्रमादित्यः सुप्तो रात्रौ पुराद् बहिः ।
रुदतीं स्त्रियमाकर्ण्य जगौ शतमतिं प्रति ॥७६७॥
शतमते ! बहिः पुर्या व्रज रोदनकारणम् ।
पृष्ट्वा स्त्रियं समागच्छेत्युक्ते शतमतिर्जगौ ॥७६८॥
स्वामिन्नेष्यति ते निद्रा भूरिशः सन्ति वैरिणः ।
तेन गन्तुं मनो नैव दत्ते मम मनागपि ॥७६९॥ यतः–
"जेण कुलं आयत्तं तं पुरिसं आयरेण रक्खेह ।
न हु तुम्बंमि विणट्ठे अरया साहारया हुंति ॥७७०॥

राज्यं कुर्वीति भूपाले शिष्टे धर्मपरायणे ।
जायन्ते निखिला लोकाः सुखिनो निर्जरा इव" ॥७७१॥
राजा प्राह व्रज स्वस्थः जागरिष्याम्यहं पुनः ।
त्वं चादेशममुं कृत्वा ममात्रागच्छ वेगतः ॥७७२॥ यतः—
"उद्यमे नास्ति दारिद्र्यं पठने नास्ति मूर्खता ।
मौनेन कलहो नास्ति नास्ति जागरतो भयम्" ॥७७३॥
गते शतमतौ शूरे पत्राणि भक्षयन् क्षणम् ।
नीत्वा पत्न्या समं राजा तत्र सुष्वाप निर्भरम् ॥७७४॥
प्राप्यादेशं शतधिया गत्वा स्त्रीसन्निधौ द्रुतम् ।
रोदने कारणं पृष्टा जगावेवं नितम्बिनी ॥७७५॥
भारपट्टादधः कृष्णसर्प उत्तीर्य वेगतः ।
भूपालं प्रहरस्यान्ते सद्यः सम्प्रति दङ्क्ष्यति ॥७७६॥
अवन्तीभूपते राज्यपद्माधिष्ठायिका सुरी ।
उत्पद्यमानविघ्नौघं भिनद्म्यहं सदा द्रुतम् ॥७७७॥

भेत्तुं विघ्नोच्चयं नैव शक्ताऽस्मि साम्प्रतं मनाक् ।
तेनात्र रुद्यते धीर [1]वीर वीर मया भृशम् ॥७७८॥
शतबुद्धिर्जगौ स्वस्थीभव सम्प्रति देवते ! ।
सर्वं समीहितं तावकीनं च करवाण्यहम् ॥७७९॥
एवमाश्वास्य तां युक्त्या शतधीस्त्वरितं तदा ।
पश्चादेत्य नृपं सुप्तं दृष्ट्वा दध्याविदं हृदि ॥७८०॥
अवसरोऽधुना नास्ति गन्तुं भूपान्तिके मम ।
यान्ति घट्यः क्षणात्सर्पः समेष्यति न संशयः ॥७८१॥
इत्यादि भूरिशः कल्पान् शतबुद्धौ वितन्वति ।
आगाद् भूपोपरि श्यामवर्णाहिर्भारपट्टके ॥७८२॥
तमायान्तमहिं वीक्ष्योत्थाय शतमतिस्तदा ।
द्विधा त्रिधा विधायाशु रहश्चिक्षेप भाजने ॥७८३॥
पतितं गारलं बिन्दुं वीक्ष्य राज्ञ्या हृदि स्फुटम् ।
विघ्नोच्छित्त्यै शतमतिरपासार्षीच्छनैस्तदा ॥७८४॥

१ 'ज्ञापनाय मया भृशम्' इति खपुस्तके ।

राज्ञीहृदि स्थितं हस्तं शतवुद्धेस्तदा नृपः ।
जागरितो निरीक्ष्याधात् प्रकोपं शतवुद्धये ॥७८५॥
दध्यौ भूपोऽधुनाऽहं किं हन्मीमं सेवकं द्रुतम् ।
पुनर्ध्यातं महीशेन कथं हन्मि स्वयं स्फुटम् ॥७८६॥

विद्यतेऽस्य मनः क्रूरं सेवकस्य दुरात्मनः ।
तेनान्यसेवकशयान्मारयिष्याम्यहं रहः ॥७८७॥ यतः—
[पट्कर्णो भिद्यते मन्त्रश्चतुष्कर्णस्तु धार्यते ।
द्विकर्णस्य तु मन्त्रस्य ब्रह्माऽप्यन्तं न गच्छति ॥]
शतबुद्धिं द्रुतं हन्तुकामोऽपि नृपपुङ्गवः ।
गोपयित्वाऽऽकृतिं स्वीयां विससर्ज गृहं प्रति ॥७८८॥

शतबुद्धिर्गृहे गत्वा हृष्ट आकार्य गायनान् ।
नृपशान्त्यै ददद् दानं मण्डयामास नाटकम् ॥७८९॥
द्वितीयप्रहरे पत्नीं विसर्ज्य नृपपुङ्गवः ।
सहस्रबुद्धिमाकार्य जगौ शतमतिं जहि ॥७९०॥

श्रुत्वा सहस्रधीरेतज्जगाद नृपतेः पुरः ।
स्वामिन्नेष्यति ते निद्रा कदाचित्साम्प्रतं ध्रुवम् ॥७९१॥
पूर्वापराधिताः सन्ति भूरिशो विद्विषस्तव ।
तेन गन्तुं मनो नैव दत्ते मम मनागपि ॥७९२॥

राजा प्राह व्रज स्वस्थो जागरिष्याम्यहं स्फुटम् ।
त्वं चादेशमिमं कृत्वा ममात्रागच्छ वेगतः ॥७९३॥ यतः—
"उद्यमे नास्ति दारिद्र्यं जपतो नेति पातकम् ।
मेघवृष्टौ न दुर्भिक्षं नास्ति जागरतो भयम्" ॥७९४॥
सहस्रधीर्नृपादेशं प्राप्य चिन्तातुरो द्रुतम् ।
ययौ शतमतेः पार्श्वे नृत्यं कारयतस्तदा ॥७९५॥

हृष्टं शतमतिं दानपरं वीक्ष्य सहस्रधीः ।
दध्यावस्य न कोऽप्यस्त्यपराधो विस्मितास्यतः ॥७९६॥ यतः—
"विपदि परेषां सन्तः समधिकतरमेव दधति सौजन्यम् ।
ग्रीष्मे भवन्ति तरवो घनकोमलपल्लवच्छायाः" ॥७९७॥

अकार्यकर्तुरन्यस्त्रीरतस्य तस्करस्य च ।
जायते न सुखं हृष्टं भयव्याप्तमनस्त्वतः ॥७९८॥
महतामुदये सन्तो दूरस्थितयोऽपि दधति सन्तोषम् ।
नभसि समुद्गत इन्दौ मुदितं भुवि सिन्धुनाथेन ॥७९९॥
शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे ।
साधवो नहि सर्वत्र चन्दनं न वने वने" ॥८००॥
एवंविधे मुदा गीतनृत्यादि सुन्दरं स्फुटम् ।
निश्छद्मानो नरा धीराः कारयन्ति पुनः परे ॥८०१॥
शतधीः प्राह कस्यार्थं त्वमागा अधुना सुहृत् ।
विमुच्यैकाकिनं भूपं वैरिणः सन्ति भूरिशः ॥८०२॥
विघ्नमद्य महीशस्य दुःशकं हि समागतम् ।
टलितं भाग्ययोगेन लोकानामावयोः पुनः ॥८०३॥
व्रज पश्चाद् द्रुतं तावकीना वेला विनंक्ष्यति ।
पालयन्ति नरा धीराः प्रपन्नमात्मनः सदा ॥८०४॥ यतः—

"चलति कुलाचलचक्रं मर्यादामतिपतन्ति जलनिधयः ।
प्रतिपन्नममलमनसां न चलति पुंसां युगान्तेऽपि ॥८०५॥
पडिवन्नं दिणयरवासराण दोण्हं पि अखंडिअं होइ ।
सूरो न दिणेण विणा दिणो अ न हु सूरविरहंमि ॥८०६॥
अलसंतेण वि सज्जणेण जे अक्खरा समुल्लविआ ।
ते पत्थरटंकुक्कीरिअव्व न अन्नहा हुंति" ॥८०७॥
शतबुद्धेर्मुखाकारक्रियाजल्पादिभिस्तदा ।
मत्वा निर्दोषतां प्राह सहस्रधीरिति स्फुटम् ॥८०८॥
गीतनृत्योत्सवं प्राज्यं निशम्य भवदालये ।
द्रष्टुमागामहं हृष्टोऽधुना शतमते ! द्रुतम् ॥८०९॥ यतः—
"तुष्यन्ति तापसा भोज्यैर्मयूरा घनगर्जितैः ।
साधवः परसम्पत्त्या खलाः परविपत्तितः" ॥८१०॥
ततः सन्मानितस्तेन ताम्बूलेन सहस्रधीः ।
भूपपार्श्वे द्रुतं रक्षां कर्तुं पश्चात्समीयिवान् ॥८११॥

भूपोऽवक् किं ममादेशः कृतः सहस्रधि (धीः) ! त्वया ।
श्रुत्वैतन्मौनमाधाय तस्थौ सहस्रधीस्तदा ॥८१२॥
अजल्पन्तं च तं दृष्ट्वा भूपः प्राह सहस्रधि(धीः) ! ।
त्वमपि शतधीतुल्यो जातोऽसि साम्प्रतं मम ॥८१३॥
ततः स्वस्थं नृपं कर्तुं सद्वाक्येन सहस्रधीः ।
पश्चात्तापोपरि प्राह ब्राह्मणीनकुलं यथा ॥८१४॥तथाहि–
अपरीक्षितं न कर्तव्यं कर्तव्यं सुपरीक्षितम् ।
पश्चाद् भवति सन्तापो ब्राह्मणीनकुलं यथा ॥८१५॥
श्रीपुरे कृष्णविप्रस्य गृहोपान्तेऽन्यदा वरे ।
प्रासूत नकुली पुत्रं वर्याकारं मनोहरम् ॥८१६॥
पुत्रवन्नकुलं पालयन्ती रूपवती क्रमात् ।
सूते स्म तनयं दिव्यरूपं चन्द्राभिधं तदा ॥८१७॥
अन्येद्युर्ब्राह्मणीसूनो रिङ्खतः प्राङ्गणे सतः ।
विमुच्य नकुलं रक्षाकृते प्राहेति रङ्गतः ॥८१८॥

जलाय साम्प्रतं यामि रक्षणीयस्त्वया सुतः ।
एवमुक्त्वा गता नीरानयनार्थं द्विजप्रिया ॥८१९॥
आगच्छन्तमहिं दृष्ट्वा कृष्णं बालकसन्निधौ ।
नकुलः सम्मुखं गत्वा व्यधाद् युद्धं भृशं स्वयम् ॥८२०॥
हत्वाऽहिं बालकोपान्ते खण्डशो नकुलो मुदा ।
रक्तक्लिन्नमुखः प्रोक्तुं जननीसम्मुखोऽचलत् ॥८२१॥
तादृशं नकुलं दृष्ट्वा दध्यावेवं द्विजप्रिया ।
नूनं हत्वा सुतं पापी नकुलोऽयं समागतः ॥८२२॥ यतः–
"जठराग्निः पचत्यन्नं फलं कालेन पच्यते ।
कुमन्त्रैः पच्यते राजा पापी पापेन पच्यते ॥८२३॥
ब्राह्मणी नकुलं हत्वा रुष्टा यावदगाद् गृहम् ।
तावद्ददर्श तनयं रिङ्खन्तं प्राङ्गणेऽभितः ॥८२४॥
पतितानि च सर्पस्य खण्डान्येक्ष्य द्विजप्रिया ।
पश्चात्तापपरा यावज्जीवं पुत्रवधादभूत् ॥८२५॥ यतः–

"प्रमादः परमद्वेषी प्रमादः परमं विषम् ।
प्रमादो मुक्तिपुर्दस्युः प्रमादो नरकायनम् ॥८२६॥
प्रमादस्य महाहेश्च दृश्यते महदन्तरम् ।
आद्याद्भवे भवे मृत्युः परस्माज्जायते न वा" ॥८२७॥

एवं स्वामिन्नविचार्य कार्यकर्तुर्नरस्य हि ।
पश्चात्तापो भवेत्तेन प्रतीक्षस्वाधुना क्षणम् ॥८२८॥
श्रुत्वैतद् भूपतिर्दध्यावयं सहस्रधीः पुनः ।
शतधीसोदरः कार्याकरणादधुनाऽजनि ॥८२९॥
द्वितीयप्रहरस्यान्ते विसृज्य सेवकं च तम् ।
लक्षबुद्धिं समाकार्य पूर्ववन्नृपतिर्जगौ ॥८३०॥

श्रुत्वैतल्लक्षधीरेतज्जगाद नृपतेः पुरः ।
स्वामिन्नेष्यति ते निद्रा कदाचित्साम्प्रतं द्रुतम् ॥८३१॥
पूर्वं विरोधितास्सन्ति भूरिशो विद्विषस्तव ।
तेन गन्तुं मनो नैव दत्ते मम मनागपि ॥८३२॥

राजा प्राह व्रज स्वस्थो जागरिष्याम्यहं स्फुटम् ।
त्वं चादेशमिमं कृत्वा ममात्रागच्छ वेगतः ॥८३३॥ यतः–
"नृणां जागरतां नैव भयं भवति कर्हिचित् ।
सन्नद्धबद्धवसुधाधवस्येव रणाङ्गणे" ॥८३४॥

श्रुत्वैतल्लक्षधीर्दध्यौ नूनमेष महीपतिः ।
विपरीतमतिर्जात ईदृक्षजल्पनात् स्फुटम् ॥८३५॥
प्रतीक्षस्व क्षणं स्वामिन् ! करिष्यामि वचस्तव ।
आदावेकां कथां कथ्यमानां सम्यग् मया शृणु ॥८३६॥
भूपोऽवग् लक्षबुद्धे ! त्वं कथयादौ कथां वराम् ।
ततः समीहितं मे हि भवान् करोतु तत्क्षणम् ॥८३७॥

लक्षबुद्धिस्ततो भूमीनाथस्य पुरतस्तदा ।
स्थिरीकर्तुं नृपं सद्यः कथामेवं जगौ स्फुटम् ॥८३८॥
लक्ष्मीपुरेऽभवद् भीमश्रेष्ठिनः सुन्दरः सुतः ।
रूपलावण्यसौभाग्यविनयादिगुणाम्बुधिः ॥८३९॥

मातापित्रोः स्वजनस्य रिङ्खन् सुन्दरनन्दनः।
प्राङ्गणे तनुते मोदं बालेन्दुरिव वारिधेः ॥८४०॥ यतः—
"उत्पतन् निपतन् रिङ्खन् हसन् लालावलीर्वमन्।
जल्पनव्यक्तमादत्ते मातापित्रोर्मुदं भृशम् ॥८४१॥
वर्धमानः क्रमात् पित्रा पाठितः पण्डितान्तिके।
धर्मकर्मकलाः कल्याः सुन्दरः सुन्दराकृतिः ॥८४२॥ यतः—
"सकलाऽपि कलावतां कला विफला पुण्यकलां विना किल।
सकलावयवा वृथा यथा तनुभाजामकनीनिकं तनुः" ॥८४३॥
मातापित्रोश्च चित्तेन प्रयाति सुन्दरः सदा।
देवगुरुपदाम्भोजं सेवतेऽवसरे पुनः ॥८४४॥
याऽवश्यं पितुरादेशं कुरुते मुदितः सदा।
स एव लभते कीर्तिप्रतिष्ठाकमलाः पुनः ॥८४५॥
एकेन चन्दनक्षोणिरुहेण निखिलं वनम्।
वास्यते सूनुनेवाशु सद्यशो गन्धशालिना ॥८४६॥

अन्येद्युः पितरं पृष्ट्वा क्रयाणकानि भूरिशः।
गृहीत्वा वाहनारूढोऽचालीद् वार्द्धौ शुभेऽहनि ॥८४७॥
शुभवातप्रयोगेण रत्नद्वीपे रमापुरे।
गत्वा वह्वीं रमां सद्योऽर्जयामास स सुन्दरः ॥८४८॥
स्वकीयपुरवास्तव्यं पूर्वायातं धनं श्रिये।
गच्छन्तं स्वपुरे प्राप्तश्रीकं वीक्ष्याह सुन्दरः ॥८४९॥
कोटिमूल्यमिदं रत्नमर्पणीयं पितुर्मम।
गतेन नगरे स्वीये भवता धननैगम! ॥८५०॥
लगिष्यन्ति घना घस्राः कुर्वतः क्रयविक्रयम्।
ममात्र नगरे भूरिक्रियाणाङ्गीकरणतः ॥८५१॥
एवमुक्त्वा मणिं तस्मै दत्त्वाऽस्थात् तत्र सुन्दरः।
धनो भूरिधनोऽम्भोधिपथा स्वपुरमाययौ ॥८५२॥
मिलितोऽपि धनो भीमश्रेष्ठिनोऽभ्येत्य सद्मनि।
माणिक्यं न ददौ लोभपिशाचग्रसितांशयः ॥८५३॥ यतः—

"लोभभूताभिभूतः सन् जनः सुकुलजः पुनः।
कृत्याकृत्यं न जानाति न देवं न गुरुं स्फुटम् ॥८५४॥
लोभमूलानि पापानि रसमूलाश्च व्याधयः।
स्नेहमूलानि दुःखानि त्रीणि त्यक्त्वा सुखी भव ॥८५५॥
धनहीनः शतमेकं सहस्रं शतवानपि।
सहस्राधिपतिर्लक्षं कोटिं लक्षेश्वरोऽपि च"॥ इत्यादि योगशास्त्रे।
अन्येद्युरर्जितासंख्यधनोऽम्भोधिपथा क्रमात्।
आययौ स्वपुरं नानोत्सवं सुन्दरनैगमः ॥८५७॥
क्रयाणकानि सर्वाणि समुत्तार्य शनैः शनैः।
सुन्दरः पितरं रत्नार्पणोदन्तं पप्रच्छ च ॥८५८॥
ममार्पितं न तेनेति पित्रोक्ते सुन्दरस्तदा।
ययाचे च धनं रत्नं कोटिमूल्यं मनोहरम् ॥८५९॥
धनः प्राह मया दत्तं रत्नं पित्रे तव स्फुटम्।
सुन्दरोऽवक् च कः साक्षी विद्यतेऽत्राधुना वद ॥८६०॥

धनो जगौ द्विजः साक्षी ममास्ति श्रीधराभिधः।
पिता तव कथंकारं ह्नुते मदर्पितं मणिम् ॥८६१॥ यतः—
"अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं ज़ातं तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चत्याशा पिण्डम् ॥
दन्तैरुच्चलितं धिया तरलितं पाण्यंह्रिणा कम्पितम्,
दृग्भ्यां कुड्मलितं बलेन गलितं रूपश्रिया प्रोषितम्।
प्राप्ताया यमभूपतेरिह महाधाट्यां जरायामियम्,
तृष्णा केवलमेककैव सुभटी हृत्पत्तने नृत्यति" ॥८६३॥
धनोऽभ्येत्याशु सदने आकार्य श्रीधरद्विजम्।
दत्त्वा दीनारदशकं प्रोवाचेति रहस्तदा ॥८६४॥
सुन्दरेणैकमाणिक्यं पुरा दत्तं ममानघम्।
अवलुप्तं मया लोभात्कूटजल्पनतोऽधुना ॥८६५॥
भीमस्यानेन माणिक्यमर्पितं मम पश्यतः।
भवतेत्यत्र वक्तव्यं भूपतेरग्रतः स्फुटम् ॥८६६॥

पुनर्दीनारदशकं तुभ्यं दास्याम्यहं रहः।
सिद्धे कार्ये मदीयेऽस्मिंश्चिन्तिते श्रीधर द्विज ! ॥८६७॥
अग्रतोऽप्यावयोः प्रीतिर्भविष्यति च निश्चला।
ओमिति श्रीधरेणोक्ते हृष्टोऽभूद् धननैगमः ॥८६८॥
पिता प्राह सुतेदानीं वक्तुं नैव वरं तव।
परस्वहरणे दुःखं भवत्यत्र परत्र च ॥८६९॥ यतः—
"दौर्भाग्यं प्रेष्यतां दास्यमङ्गच्छेदं दरिद्रताम्।
अदत्तात्तफलं ज्ञात्वा स्थूलस्तेयं विवर्जयेत् ॥८७०॥
पतितं विस्मृतं नष्टं स्थितं स्थापितमाहितम्।
अथ तं नाददीत स्वं परकीयं क्वचित् सुधीः ॥८७१॥
अयं लोकः परलोको धर्मो धैर्यं धृतिर्मतिः।
मुष्णता परकीयं स्वं मुषितं सर्वमप्यदः ॥८७२॥
एकस्यैकं क्षणं दुःखं मार्यमाणस्य जायते।
सपुत्रपौत्रस्य पुनर्यावज्जीवं हृते धने ॥८७३॥ इत्यादि योगशास्त्रे

एवमुक्तोऽपि च धनोऽवगणय्य पितुर्वचः।
आकार्य श्रीधरं राज्ञः पार्श्वेऽगात्सुन्दरान्वितः ॥८७४॥
सुन्दरोऽवग् मया स्वामिन्नेकं माणिक्यमर्पितम्।
अनेनापह्नुतं लोभाद् धनेनेह कुबुद्धिना ॥८७५॥
आकार्य भूपतिर्बुद्धिसागरं मतिसागरम्।
प्रोवाचेत्यनयोर्वादं भिन्द्धि बुद्धिविधानतः ॥८७६॥
बुद्धिं विना नरो नैव प्रतिष्ठां लभते तथा।
लक्ष्मीं विना नरो नैव प्रतिष्ठां लभते यथा ॥८७७॥ यतः—
वरं बुद्धिर्न सा विद्या विद्यातो बुद्धिरुत्तमा।
बुद्धिहीना विनङ्क्ष्य(श्य)न्ति यथा ते सिंहकारकाः ॥ तथाहि—
विदेशं प्रति चत्वारश्चेलुर्विज्ञा रमापुरात्।
चलन्तोऽध्वनि जल्पन्ति स्मेति तत्र त्रयः स्फुटम् ॥८७९॥
शेमुषीतोऽधिका विद्या विद्यते नात्र संशयः।
विद्यावान् मान्यते भूपैर्महेभ्यैरपि सर्वतः ॥८८०॥

"विद्वत्त्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन ।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते" ॥८८१॥
एकोऽवग् बुद्धिमान् बुद्धिर्विद्यातो विद्यतेऽधिका ।
बध्यन्ते धीमता भूपाः शूरा दुर्गगता अपि ॥८८२॥ यतः—
"यस्य बुद्धिर्बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम् ।
वने सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः" ॥८८३॥
अत्र शशकस्य कथा ।
मार्गे सिंहं मृतप्रायं दृष्ट्वा शास्त्रधरो जगौ ।
वराकोऽयं श्वसन् सञ्जीक्रियते मांसदानतः ॥८८४॥
"ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः ।
अन्नदानात् सुखी नित्यं निर्व्याधिर्भेषजाद् भवेत्" ॥८८५॥
बुद्धिमान् प्राह सिंहेऽस्मिन् दुष्टे सञ्जीकृते स्फुटम् ।
भविष्यति महानर्थो मरणान्तोऽत्र वो द्रुतम् ॥८८६॥ यतः—
"वेश्याऽक्का नृपतिश्चौरो नीरमार्जारदंष्ट्रिणः ।
जातवेदाः कलादाश्च न विश्वास्या इमे क्वचित्" ॥८८७॥

ततो बुद्धिमता भूयः शास्त्रज्ञा वारितास्त्रयः ।
अस्थिमांसादिना सिंहं सज्जं कुर्वन्ति यावता ॥८८८॥
तावत्पूर्वं महानर्थं विज्ञाय बुद्धिमान् द्रुतम् ।
दूरदेशं ययौ नंष्ट्वा हितं वाञ्छन् निजात्मनः ॥८८९॥
तैश्च सञ्जीकृतः सिंहः क्षुधितः श्राक् चपेटया ।
शास्त्रज्ञांस्त्रींस्तदा हत्वा तृप्तोऽभूद् बहुकालतः ॥८९०॥
मन्त्री धनं प्रति प्राह साक्षी रत्नार्पणेऽस्ति कः ।
स धनोऽवग् द्विजः साक्षी श्रीधरोऽयं पुरो मम ॥८९१॥
मन्त्री मत्यम्बुधिः प्राह भो भो श्रीधर वाडव ! ।
कियत्प्रमाणं माणिक्यं त्वया दृष्टं पुरा वद ॥८९२॥
श्रीधरो वाडवो दध्यौ कोटिमूल्यो मणिः स्फुटम् ।
घटप्रमाण एवेह भविष्यति न संशयः ॥८९३॥
घटप्रमाणमाणिक्यमित्युक्ते श्रीधरेण च ।
मन्त्री प्रोवाच माणिक्यं बध्यते क्व वद द्विज ! ॥८९४॥

विमृश्य वाडवः प्राह बध्यते कर्णकण्ठयोः ।
मन्त्री प्राह त्वया सत्यं मनाग् नैव प्रजल्पितम् ॥८९५॥
घटप्रमाणमाणिक्यं कर्णे कण्ठे कदापि न ।
केनचिद् बध्यते पुंसा ततस्ते कूटसाक्षिता ॥८९६॥
कुट्टापितो द्विजोऽत्यन्तं कशाघातैर्महीभुजा ।
असत्यवचनाद् यावज्जीवं दुःख्यभवद् भृशम् ॥८९७॥ यतः–
"असत्यवचनाद्वैरविपादाप्रत्ययादयः ।
प्रादुःपन्ति न के दोषाः कुपथ्याद् व्याधयो यथा ॥८९८॥
निगोदेष्वथ तिर्यक्षु तथा नरकवासिषु ।
उत्पद्यन्ते मृषावादप्रसादेन शरीरिणः ॥८९९॥
ब्रूयाद् भियोपरोधाद्वा नासत्यं कालिकार्यवत् ।
यस्तु ब्रूते स नरकं प्रयाति वसुराजवत् ॥९००॥
ततो रुष्टो नृपो हृत्वा धनस्य निखिलां श्रियम् ।
माणिक्यं दापयामास सुन्दराय स्फुरद्द्युति ॥९०१॥
ततो धनो वणिक् पश्चात्तापतप्ततनुर्भृशम् ।
मरणावधि दारिद्र्यपूरितोऽजनि दुःखितः ॥९०२॥
एवं कुर्वन्ति येऽकार्यमविमृश्य जना नृप ! ।
ते तावद् दुःखिनो लोके जायन्ते नात्र संशयः ॥९०३॥
प्रतीक्षस्व क्षणं स्वामिन् ! करिष्येऽहं तवोदितम् ।
भूपो दध्यावयमपि सहस्रधीसमोऽजनि ॥९०४॥
तृतीयप्रहरप्रान्ते विसृज्य सेवकं च तम् ।
कोटिबुद्धिं समाकार्य भूपालः प्राह पूर्ववत् ॥९०५॥
श्रुत्वैतत्कोटिधीरेतज्जगाद भूपतेः पुरः ।
स्वामिन्नेष्यति ते निद्रा कदाचित्साम्प्रतं द्रुतम् ॥९०६॥
पूर्वं विरोधिताः सन्ति भूरिशो विद्विषस्तव ।
तेन गन्तुं मनो नैव दत्ते मम मनागपि ॥९०७॥
राजा प्राह व्रज स्वस्थो जागरिष्याम्यहं स्फुटम् ।
त्वं चादेशमिमं कृत्वा ममात्रागच्छ वेगतः ॥९०८॥ यतः–

"एकाकिनोऽपि सिंहस्य कानने विपुले स्फुटम्।
जायते किं भयं विघ्नं परतः श्वापदान्नरात् ॥९०९॥
श्रुत्वैतत्कोटिधीर्दध्यावयं नूनं महीपतिः।
विपरीतमतिर्जात ईदृक्षजल्पनादिह ॥९१०॥

शतबुद्धिर्यतो वर्यगुणमाणिक्यरोहणः।
प्रतिकूलं न कस्यापि कुरुते स्म कदाचन ॥९११॥
प्रतीक्षस्व क्षणं स्वामिन्! करिष्यामि वचस्तव।
आदावेकां कथां कथ्यमानां सम्यग् मया शृणु ॥९१२॥
भूमीपतिर्जगौ जल्प कथां कार्यं ततः कुरु।
कोटिबुद्धिस्ततः सद्यः प्रोवाचेति कथामिमाम् ॥९१३॥

आसील्लक्ष्मीपुरे विप्रः केशवाह्वो रमाकृते।
कुर्वन्नुपक्रमं भूयोऽभवद् दारिद्र्यवान् भृशम् ॥९१४॥
आरोहतु गिरिशिखरं समुद्रमुल्लङ्घ्य यातु पातालम्।
विधिलिखिताक्षरमालं फलति कपालं न भूपालः ॥९१५॥

अन्येद्युर्गृहिणी प्राह-कान्त! धान्यं विना भृशम्।
सीदावस्तेन लक्ष्म्यर्थं गम्यते दूरदेशतः ॥९१६॥ यतः—

"यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः,
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता जनमाननीयः,
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति ॥९१७॥

सुभीताः परदेशस्य बह्वालस्याः प्रमादतः।
स्वदेशे निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः" ॥९१८॥
यो न निर्गत्य निःशेषामवलोकयति मेदिनीम्।
अनेकाश्चर्यसम्पूर्णां स नरः कूपदर्दुरः" ॥९१९॥

विमृश्येति प्रियां पृष्ट्वा वार्द्धिमार्गेण केशवः।
ययौ श्रीनगरे लक्ष्मीकृते कष्टेन पीडितः ॥९२०॥
परगेहेषु कर्माणि कुर्वन् तत्रापि नित्यशः।
पूर्वभाग्योदयाद् दुःखी जातोऽत्यन्तं च केशवः ॥ यतः—

"दुःखं स्त्रीकुक्षिमध्ये प्रथममिह भवे गर्भवासे नराणाम्,
वालत्वे चापि दुःखं मलकलिततनुः स्त्रीपयःपानमिश्रम् ।
तारुण्ये चापि दुःखं भवति विरहजं वृद्धभावेऽपि दुःखम्,
संसारे रे मनुष्या ! वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किञ्चित्" ॥

जाते वर्षत्रये भ्राम्यन् ययौ चण्डीनिकेतने ।
स्फारं पाषाणमादाय जजल्पेति पुनः पुनः ॥९२३॥
मह्यं देहि श्रियं देवि नो हि चेदश्मनाऽमुना ।
मूर्तिं चूर्णीकरिष्येऽहं तावकीनामिमां द्रुतम् ॥९२४॥
बिभ्यती निर्जरी प्राह भाग्यं नास्ति मनाक् तव ।
दत्तं स्थास्यति नो तावकीने हस्ते मनागपि ॥९२५॥
द्विजः प्राह सृतं देवि ! तव चैतैर्वचोभरैः ।
देहि श्रियं न चेन्मूर्तिं करिष्यामि द्विधाऽधुना ॥९२६॥
बिभ्यती निर्जरी तस्मै कोटिमूल्यं मणिं ददौ ।
द्विजोऽपि मुदितोऽम्भोधिमार्गेण वाहनेऽचटत् ॥९२७॥

चञ्चत्प्रभोदयं पूर्णं चन्द्रं वीक्ष्य द्विजस्तदा ।
हस्ते कृत्य मणिं दीप्रदीधितिं ध्यातवानिति ॥९२८॥
माणिक्यचन्द्रयोर्मध्ये कोऽस्ति भास्वरदीप्तिमान् ।
एवं पुनः पुनः कुर्वन् यावत् तिष्ठति वाडवः ॥९२९॥
तावच्छयान्मणिर्वार्द्धौ पपाताभाग्ययोगतः ।
ततस्तावद् द्विजः पश्चात्तापभागजनिष्ट सः ॥९३०॥
एवं कुर्वन्ति ये कार्यमविमृश्य जना मनाग् ।
तेऽतीव दुःखिनो लोके जायन्ते नात्र संशयः ॥९३१॥
प्रतीक्षस्व क्षणं स्वामिन् ! करिष्येऽहं तवोदितम् ।
भूपो दध्यावयमपि लक्षबुद्धिसमोऽजनि ॥९३२॥
प्रगे तलारमाकार्य प्रोवाचेति क्षमापतिः ।
शूलायां क्षेपणं कार्यं त्वया शतमतेर्द्रुतम् ॥९३३॥
सहस्रलक्षकोटिभ्यो मतीनां तत्क्षणात्तदा ।
देशत्यागं ददौ प्रातः क्रुद्धो विक्रमभूपतिः ॥९३४॥ यतः—

"माता यदि विषं दद्यात् पिता विक्रयते सुतम् ।
राजा हरति सर्वस्वं का तत्र परिदेवना ॥९३५॥
दुर्द्धरा भूपतेराज्ञा दुर्धरं वह्निवेशनम् ।
सिंहस्यास्ये करक्षेपो दुर्द्धरो देहिनां भवेत्" ॥९३६॥
शतबुद्धिं तलारक्षः शूलायां क्षेप्तुमञ्जसा ।
राजादेशाद् बहिर्देशं यावद् गच्छति निर्दयः ॥९३७॥
तावच्छतमतिः प्राह भो तलारशिरोमणे ! ।
मया विनाशितं भूमीपतेः किमपि नाधुना ॥९३८॥
अविचार्यायमुर्वीशो यदि मां मारयिष्यति । [सति
तथापि भूपतेः पार्श्वे नेतव्योऽहं त्वयैकशः ॥ तलारेण तथा कृते
शतबुद्धिर्नृपोपान्ते गत्वा खण्डानि भोगिनः ।
आनीय रात्रिवृत्तान्तं निखिलं प्रोक्तवान् स्फुटम् ॥९४०॥
ततः शतमतेर्वीक्ष्य चातुर्यं स्वामिभक्तताम् ।
सद्यो नृपो ददौ देशान् भूरिशस्तोषिताशयः ॥९४१॥

त्रयाणां सहस्रबुद्ध्यादिकानां मन्त्रिणां तदा ।
वर्धयामास भूपालो ग्रासं पुर्यादिदानतः ॥९४२॥ यतः—
"धवलान्यातपत्राणि वाजिनश्च मनोरमाः ।
सदा मत्ताश्च मातङ्गाः प्रसन्ने भूपतौ सति ॥९४३॥
राजा तुष्टोऽपि भृत्यानामर्थमात्रं प्रयच्छति ।
तेऽपि सन्मानमात्रेण प्राणैरप्युपकुर्वते" ॥९४४॥
ततः श्रीविक्रमादित्यो भट्टमात्रादिसेवकैः ।
सेव्यमानो नयाद् भूमिं पालयामास नित्यशः ॥९४५॥
"दुष्टानां दमनं नयानुगमनं स्वीयप्रजापालनम्,
नित्यं देवमहर्षिपादनमनं षड्दर्शनीमाननम् ।
औचित्याचरणं परोपकरणं त्यागं सभोगं श्रियाः,
कुर्वाणो नृपतिः श्रिया निजपतिः सत्यैव सेवा मता" ॥
अन्येद्युर्विक्रमादित्यः सभायां यावदासितः ।
तावत्कोऽपि द्विजोऽभ्येत्य काव्यमेकं जगौ स्फुटम् ॥९४७॥

"मरुत्तटिन्याः किल वालुकानां, सरित्पतेर्वारिपृषन्मणीनाम् ।
नभस्युडूनां च शरीरिणां च, विज्ञायते नैव बुधेन संख्या" ॥
तस्मिन्नवसरे कश्चिदन्यो वा पण्डितो जगौ ।
स्वामिन्नेकं स्फुटं काव्यं श्रूयतां भवताऽधुना ॥९४९॥
विक्रमार्कनृपः प्राह जल्प पण्डितशेखर ! ।
उच्चैः स्वरं जगौ काव्यमिदं संसदि कोविदः ॥९५०॥
"अश्वप्लुतं माधवगर्जितं च, स्त्रीणां चरित्रं भवितव्यता च ।
अवर्षणं चाप्यतिवर्षणं च, देवा न जानन्ति कुतो मनुष्याः" ॥
विक्रमार्को जगौ विद्वन् ! नेदृग् युक्तं वचस्तव ।
नारीणां ज्ञायते पारश्चरित्रस्य हि कोविदैः ॥९५२॥
ततस्तं पण्डितं कारागारे क्षिप्त्वाऽथ विक्रमः ।
उत्तराभिमुखोऽचालीद् ज्ञातुं स्त्रीचरितं तदा ॥९५३॥
क्रामता तेन भूपीठं शिखरे कस्यचिद् गिरेः ।
कायोत्सर्गस्थितो नासान्यस्तदृक् साधुरीक्षितः ॥९५४॥ यतः–

"आयावयंति गिम्हेसु हेमंतेसु अवाउडा ।
वासासु पडिसंलीणा संजया सुसमाहिआ" ॥९५५॥
विक्रमादित्यभूमीशं विज्ञाय ज्ञानतो यतिः ।
तन्नाम्नाऽऽलापयामास स धर्माशीर्वादपूर्वकम् ॥९५६॥
उपदेशे मुनीन्द्रेण दत्ते प्राहेति भूपतिः ।
मह्यं विद्यामपूर्वां त्वं प्रसद्य देहि सत्तम ! ॥९५७॥
मनःकामनया शुद्ध्या रञ्जितः साधुना नृपः ।
नत्वा स्तुत्वाऽग्रतोऽचालीत् तत्परीक्षणहेतवे ॥९५८॥
पश्यन् बहून् पुरग्रामाकरसिन्धुनगान् नृपः ।
जगाम वसुधाभूपामणिं लक्ष्मीपुरं परम् ॥९५९॥
विलोकयन् पुरच्छायां द्यूतकृत्स्थानकेऽगमत् ।
स्थित्वैकं प्रहरं यावदचलदग्रतो नृपः ॥९६०॥
द्यूतकृत् क्षत्रियो ज्ञात्वा सदाकारं च तं नरम् ।
गच्छन्तं स्वबलात् सद्यो भोजनाय न्यमन्त्रयत् ॥९६१॥

अतिथेरात्मनश्चापि भोजनं प्रवरं तदा ।
प्रेष्य स्वं सेवकं गेहे तेन रंधापितं स्फुटम् ॥९६२॥
दीव्यतो द्यूतकृत्पुंसो भोजनं विस्मृतं पुनः ।
भार्यया प्रेषितः प्रेष्यः पत्युः पार्श्वेऽदनाय च ॥९६३॥
रममाणेन तेनाथ प्रेषितोऽभ्यागतो गृहे ।
तत्प्रिया तं नरं प्रेक्ष्य पञ्चबाणेन पीडिता ॥९६४॥ यतः—
"जर्जरिते सति हृदये स्मरकौसुमशरसंघातसन्तापैः ।
जलमिव गलति विवेकः कृत्याकृत्येषु लोकस्य" ॥९६५॥
प्रक्षाल्य चरणौ भोक्तुमुपविष्टोऽतिथिस्तदा ।
शालिदालिघृतं पर्य(रि)वेष्य दध्याविति प्रिया ॥९६६॥
यद्ययं पुरुषो भर्त्ता मम नूनं भविष्यति ।
गोत्रदेव्यै बलिं सद्यः तदा दत्स्येऽहमद्भुतम् ॥९६७॥
तदा तं पुरुषं वीक्ष्य रूपवन्तं च तत्क्षणात् ।
क्षत्रियगृहिणी मोहपिशाचग्रसिताऽभवत् ॥९६८॥ यतः—

"दिवा पश्यति नो घूकः काको नक्तं न पश्यति ।
अपूर्वः कोऽपि कामान्धो दिवा नक्तं न पश्यति ॥९६९॥
धत्तूरितो जनो यद्वत्पश्येत् काञ्चनमञ्जगत् ।
तथा कामान्धितो जीवोऽखिलं नारीमयं जगत् ॥९७०॥
मनःकामनया शुद्ध्या ज्ञात्वा तस्या मनोगतम् ।
प्राहेति भूपतिर्नारि ! कुरुष्व त्वं यथारुचि ॥९७१॥
मां त्रिगोपयिता ह्येष नरो ध्यात्वेति भामिनी ।
बुम्बारवं चकाराशु जल्पन्ती च यथा तथा ॥९७२॥
जातशङ्कोऽथ तं हन्तुं यावदायाति द्यूतकृत् ।
तावच्च तत्प्रिया दध्यावतिथेर्मरणं वृथा ॥९७३॥ यतः—
"क्षणं सक्तः क्षणं मुक्तः क्षणं क्रुद्धः क्षणं क्षमी ।
मोहाद्यैः क्रीडयेवाहं कारितः कपिचापलम्" ॥९७४॥
चुल्लीतोऽलातमादाय नीव्रं प्रज्वालितं तया ।
ततो जजल्प भो लोका गृहं ज्वलति धावत ॥९७५॥

ज्वलन्तं सदनं विध्यापयन्तमतिथिं तदा ।
निरीक्ष्य द्यूतकृत् खड्गं कोशमध्येऽक्षिपत्तदा ॥९७६॥
तथेति हक्कितो भर्ता यद्ययं पुरुषोत्तमः ।
नागमिष्यत् तदा सर्वं गृहं भस्म्यभवन्ननु ॥९७७॥
ततः स्त्रीचरितं ज्ञात्वा गत्वा निजनिकेतने ।
भूरिद्रव्यप्रदानेन मानयामास पण्डितम् ॥९७८॥
एकां कोटिं सुवर्णस्य कोपाध्यक्षसमीपतः ।
दापयामास भूपालस्तस्मै विक्रमभानुमान् ॥९७९॥
विक्रमादित्यभूमीशस्तं काव्यार्थं हृदि स्मरन् ।
सुखेन गमयामास कालं दानं ददन्नृणाम् ॥९८०॥
इतोऽजनि प्रतिष्ठानपुरे श्रीशालवाहनः ।
बलिष्ठेभतुरङ्गादिवर्यलक्ष्म्या बली क्रमात् ॥९८१॥
द्विपञ्चाशच्छयस्फारशिलोत्पाटयिता बली ।
भूपस्य सेवकोऽनघ्यों वभूव शूद्रकाभिधः ॥९८२॥
अन्येऽप्येवंविधाः शूरा बलिनः सेवकाः क्रमात् ।
जाता एकोनपञ्चाशत् तस्य भूमीपतेः पुनः ॥९८३॥

अत्र शालवाहनसम्बन्धः कियान् वाच्यः ।

अन्यदा विक्रमार्कस्य शालवाहनभूपतिः ।
ग्रामाणि कतिचिद् हत्वा जगाम नगरं निजम् ॥९८४॥
भट्टमात्रो जगौ स्वामिन् ! शालवाहनभूपतिः ।
निहत्यात्मीयग्रामाणि याति यत् तन्न सुन्दरम् ॥९८५॥
चल्यते कटकं कृत्वा विजेतुं शालवाहनम् ।
सामर्थ्ये सति को मर्त्यः सहतेऽन्यपराभवम् ॥९८६॥
न्यत्कारं सहते सिंहोऽन्येषां नैव कदाचन ।
पराभवं सहन्ते हि शृगालाः कातराशयाः ॥९८७॥
भूपः प्राह त्वया सत्यं प्रोक्तं मन्त्रीश ! साम्प्रतम् ।
उपायानां चतुष्केण कार्यं कुर्वन्ति भूभुजः ॥९८८॥
साम्ना च यदि सिद्ध्येत कार्यं भूमीपतेर्द्रुतम् ।
तदा किं क्रियते दामो जीवकष्टविधायकः ॥९८९॥

दामेन यदि सिद्ध्येत कार्यं भेदेन किं तदा ।
भेदेन यदि सिद्ध्येत कार्यं दण्डेन किं तदा ॥९९०॥
ततोऽवग् मन्त्रिराड् दूतः प्रेष्यते प्रथमं वरः ।
न मन्यते यदा दूतवचनं सालवाहनः ॥९९१॥

तदा च क्रियते सद्यस्तं विजेतुमुपक्रमः ।
विमृश्येति महीशेन दूतोऽचालि रिपुं प्रति ॥९९२॥
प्रतिष्ठानपुरे गत्वा सालवाहनसंसदि ।
दूतः स्फुटं जगादेति विक्रमार्कनृपोदितम् ॥९९३॥
विक्रमार्कनृपग्रामा भग्नाश्च यत्त्वयाऽधुना ।
वरं तन्न कृतं सालवाहनक्षोणिनायक ! ॥९९४॥

आगत्य तस्य भूपस्य विक्रमार्कस्य साम्प्रतम् ।
मिलित्वा क्षम्यतां सौवापराधं विमृशं विना ॥९९५॥
नो चेत् श्रीविक्रमादित्यः सन्नह्य कटकं द्रुतम् ।
एष्यत्यत्र भवन्तं च विजेतुं सालवाहन ! ॥९९६॥

श्रुत्वैतद् भृकुटीं कृत्वा सालवाहनभूपतिः ।
प्राह दूत ! किमुक्तेनानेनैव भवतोऽधुना ॥९९७॥
भवतः सपदि स्वामी समागच्छतु सम्मुखम् ।
युद्धाय कटकं लात्वाऽहकमेष्यामि वेगतः ॥९९८॥

ततो दूतो द्रुतं गत्वा विक्रमार्कनृपान्तिके ।
प्राहेति कटकं कृत्वा चल्यतां साम्प्रतं प्रभो ! ॥९९९॥
सालवाहनभूपालस्तृणंमन्यो जगत्त्रयम् ।
न मन्यते तृणाय त्वां विक्रमार्कनृपाधुना ॥१०००॥
श्रुत्वैतद् विक्रमादित्यः सन्नह्य तत्क्षणात् तदा ।
भूरिसैन्ययुतोऽचालीत् प्रतिष्ठानपुरं प्रति ॥१००१॥

सेवकेभ्यो महीशेन दत्ता लक्ष्मीश्च भूयसी ।
भृत्या भूपतिसन्मानं लब्ध्वाऽभूवन् प्रमोदिताः ॥ यतः-
"विग्रहमिच्छन्ति भटा वैद्याश्च व्याधिपीडितं लोकम् ।
मृतकबहुलं च विप्राः क्षेमसुभिक्षं च निर्ग्रन्थाः" ॥१००२॥

अनेकमत्तमातङ्गवाजिवीरविराजितम् ।
अन्तरा मिलितं सैन्यं द्वयोर्भूमीभुजोस्तदा ॥१००४॥
रथी च रथिना सार्धं सादी च सादिना सह ।
पदिकाः पदिकैः सार्धं निपादी च निषादिना ॥१००५॥
खड्गी च खड्गिना सार्धं कुन्ती च कुन्तिना सह ।
वर्मिता वर्मितैः सार्धं तूणी च तूणिना समम् ॥१००६॥
शाक्तिकेन च शाक्तिकः पत्री च पत्रिणा समम् ।
वाणिको वाणिना सार्धं दण्डिकेन च दण्डिकः ॥१००७॥
इत्यादि विग्रहो बाढं बभूव बलयोर्द्वयोः ।
दारुणश्च तदा देवा अपि द्रष्टुं समागमन् ॥१००८॥
एवं च कुर्वतोर्युद्धं विक्रमार्कस्य वक्षसि ।
तीक्ष्णो लग्नः शरो मुक्तः सालवाहनभूभुजा ॥१००९॥
तदानीं च चमूमध्ये श्रीविक्रमार्कनरेश्वरम् ।
भट्टमात्रादयः प्रोचुर्मन्त्रीशा इति तत्क्षणम् ॥१०१०॥

आर्तध्यानं न कर्तव्यं स्वामिन्नत्र त्वया मनाग् ।
दुर्ध्यानेन यतो जीवा लभन्ते कुगतिं द्रुतम् ॥१०११॥उक्तं च–
"आर्ते तिर्यग्गतिस्तथा गतिरधो० [सर्ग ८ श्लो० ६६०] ॥
श्रीविक्रमचरित्रं तु भवन्तमिव सन्ततम् ।
वयं हि वरिवस्यामः कल्याणीभक्तिपूर्वकम् ॥१०१३॥
ततः श्रीविक्रमादित्यः शुभध्यानपरायणः ।
ध्यायन् पञ्चनमस्कारं प्राप स्वर्गसुखं तदा ॥१०१४॥ यतः–
"तावच्चन्द्रबलं ततो ग्रहबलं० [सर्ग ८ श्लो० ८३६] ॥१०१५॥
श्रीविक्रमचरित्रोऽथ द्वितीयवासरे प्रगे ।
सालवाहनभूपेन रणं कर्तुं प्रवर्तितः ॥१०१६॥
श्रीविक्रमचरित्रेण सालवाहनभूपतेः ।
क्षणमात्राच्चमूर्भग्ना नष्टा सर्वा दिशोदिशम् ॥१०१७॥
मेलं कृत्वा ततः सालवाहनो मेदिनीपतिः ।
जगाम नगरं सौवं विक्रमादित्यसूनुना ॥१०१८॥

श्रीविक्रमचरित्रोऽथ निजपुर्यां समागतः।
न मुञ्चति मनाक् शोकं पितुर्मरणदुःखितः ॥१०१९॥
सिद्धसेनगुरुस्तत्रागत्य शोकच्छिदे तदा।
उपदेशं ददावेवं विक्रमार्कसुतं प्रति ॥१०२०॥ तथाहि–
धर्मशोकभयाहारनिद्राकामकलिक्रुधः।
यावन्मात्रा विधीयन्ते तावन्मात्रा भवन्त्यमी ॥१०२१॥
"तित्थयरा गणहारी सुरवइणो चक्किकेसवा रामा।
संहरिआ हयविहिणा सेसेसु जीएसु का गणणा" ॥१०२२॥
शत्रुञ्जयादितीर्थेषु येन यात्रा कृता घनाः।
अनृणा विहिता भूश्च तस्य शोकः कथं भवेत् ॥१०२३॥
भुक्त्वा स्वर्गसुखं च्युत्वा ततो विक्रमभानुमान्।
स्तोकैरेव भवैर्मोक्षसौख्यमादर्शयिष्यति ॥१०२४॥ पाठान्तरम्–
अन्येद्युर्विक्रमादित्यः समं सालमहीभुजा।
कुर्वाणः समरं भग्नः खिन्नः स्वपुरमीयिवान् ॥१०२५॥

विषादेनोदरव्याधिर्विक्रमस्य तथाऽजनि।
यया(यथा) नैकं क्षणं स्वास्थ्यं लभते कर्मयोगतः ॥१०२६॥
स्मृतेऽपि वह्निवेताले नागते भिषजो जगुः।
यद्यत्सि काकमांसं त्वं तदा रोगः प्रयात्यरम् ॥१०२७॥
भक्षिते काकमांसेऽपि जीवितव्यकृते तदा।
नागाद्रोगः क्षयं भूमीपतेर्दुष्कर्मयोगतः ॥ उक्तं च लोकैः–
"खद्धो काओ मुक्कं च साहसं विनडिअं अप्पाणं।
अजरामरं न हूअं हा विक्कम! हारिओ जम्मो" ॥१०२९॥
सिद्धसेनगुरुस्तत्राभ्येत्य भूपान्तिके जगौ।
राजन्न क्रियते खेद उत्तमैरापदि स्थितैः ॥१०३०॥
धनेषु जीवितव्येषु स्त्रीषु चाहारकर्मसु।
अतृप्ताः प्राणिनः सर्वे याता यास्यन्ति यान्ति च ॥१०३१॥
श्रुत्वेति विक्रमादित्यः सिद्धसेनार्यसंनिधौ।
आराधनां विधायान्ते मृत्वा स्वर्गं समीयिवान् ॥१०३२॥

श्रीविक्रमचरित्रस्य पितृमृत्युसमुद्भवम् ।
शोकं धर्मोपदेशेनोत्तारयामास सूरिराट् ॥१०३३॥
श्रुत्वेत्यादि गुरोर्वाक्यं विक्रमचरितस्तदा ।
मुक्त्वा शोकं द्रुतं मृत्यकृत्यं तस्य पितुर्व्यधात् ॥१०३४॥

इति श्रीमत्तपागच्छनायक–श्रीसोमसुन्दरसूरिपट्टालंकरणश्रीमुनिसुन्दरसूरिशिष्य–प०शुभशीलगणिविरचिते विक्रमादित्य-विक्रमचरित्रचरिते श्रीविक्रमादित्यस्वर्गगमनो नामैकादशः सर्गः समाप्तः ॥

द्वादशः सर्गः ।

श्रीविक्रमचरित्रं तु मन्त्रिणो भूपविष्टरे ।
न्यस्यन्ति यावता तावत् प्रोचुस्ताः पुत्रिका इति ॥१॥
अस्यास्मिन् योग्यता नास्त्युपवेष्टुं सिंहविष्टरे ।
विक्रमादित्यभूपालतुल्यत्वाभावतः खलु ॥२॥
श्रुत्वा तासां वचः प्रोचुरिति मन्त्रीश्वरा मिथः ।
एताः सिंहासनाधिष्ठायिका देव्यो वदन्ति च ॥३॥
तैः पृष्टं पुत्रिका ! ब्रूत विष्टरस्य च का गतिः ।
ताः प्रोचुरधुना भूमौ विष्टरं स्थापयन्तु च ॥४॥
देवताधिष्ठितं वाक्यं श्रुत्वा मन्त्रीश्वरास्तदा ।
पुत्रिकासहितं सिंहासनमस्थापयन् क्षितौ ॥५॥
ततोऽन्यस्मिन् महासिंहविष्टरे न्यस्य मन्त्रिणः ।
श्रीविक्रमचरित्रं तु नमश्चक्रुः [१]प्रमोदिताः ॥६॥
[*विक्रमादित्यभगिनी समेत्य भ्रातृजं तदा ।
लाजैर्वर्धाप्य मुदिता प्रोवाचेति च मंगलम्] ॥७॥

---

१ प्रमोदत. घ । * अयं श्लोक. कपुस्तके नास्ति ।

विक्रमादित्यभूपालतुल्यस्त्वं भवताच्चिरम् ।
औदार्यधैर्यगाम्भीर्यस्थैर्यप्रमुखसद्गुणैः ॥८॥
श्रुत्वैतच्चामरधराश्चतस्रो जहसुस्तदा[1] ।
राजा प्राह भवन्तीभिर्[2]ब्रूत किं हसितं मनाक् ॥९॥
आद्याऽवग् विक्रमार्कस्यैकैकं चरितमद्भुतम् ।
वर्णितुं शक्यते नैव तत्तुल्यस्त्वं कथं भवेः ॥१०॥
राज्ञोक्तं विक्रमार्कस्य चरित्रं ब्रूत[3] किञ्चन ।
सा प्रोवाचैकदा यावद् विक्रमः पर्षदि स्थितः ॥११॥
तावत् शुकयुगं तस्यास्तोरणे समुपागमत्[4] ।
नृभाषया शुकी प्राह स्वामिन्नेषा पुरी वरा ॥१२॥
शुकोऽवग् यत्र यास्याव आवां तत्र पुरे गृहम् ।
रण्डाया अपि भूपस्यास्य गेहादस्ति सुन्दरम् ॥१३॥
एवमुक्त्वा शुकद्वन्द्वमुड्डीयाशु गतं क्वचित् ।
श्रुत्वैतद् भूपतिर्द्रष्टुं तत्पुरं त्वरितोऽजनि ॥१४॥

भट्टमात्राग्निवेतालादीनामग्रे नृपो जगौ ।
शुकोक्तं नगरं मत्वा भवद्भ्यां कथ्यतां मम ॥१५॥
भट्टमात्राग्निवेतालौ प्राप्यादेशं महीपतेः ।
भ्रमन्तौ सर्वतः शश्वद् गतौ तिलङ्गनीवृति ॥१६॥
तिलङ्गदेशभूभागभालैकभूषणेऽनघे ।
श्रीपुरे सप्तमासान्ते भ्रमन्तौ ययतुः क्रमात् ॥१७॥
तत्रासीद् भूपतिर्भीमनामा न्यायपरो बली ।
पत्नी पद्माऽभिधा पुत्री तस्याभूत् सुरसुन्दरी ॥१८॥
सर्वकलाब्धिपारीणा चतुरा शीलशालिनी ।
चारुबुद्धिर्लसद्रूपजितस्वर्गिपुराङ्गना ॥१९॥
स्वर्गतुल्ये पुरे तस्मिन् स्थाने स्थाने पुरश्रियम् ।
पश्यन्तौ तोरणासीनं शुकयुग्मं ददर्शतुः ॥२०॥
शुकोऽवग् भोः प्रियेऽवन्त्यां या पुरी वर्णिता मया ।
सैवेयं नगरी स्वर्गिविमानादतिसुन्दरा ॥२१॥

१—च्चामरधरायुगलं जेहसुस्तदा घ। २ भवन्तीभ्या घ॥ ३ ब्रूहि घ। ४ समुपाविशत् घ। 'भूनेतुरस्यास्ति सदनाद् वरम्' इति प्रत्यन्तरे।

श्रुत्वैतन्मुदितौ भट्टमात्राग्निकौ द्रुतं तदा।
दृष्ट्वा पुरीं गतौ चक्रेश्वर्या देव्या निकेतने ॥२२॥
क्षणैकेन कनी काचिद् रूपाजितसुराङ्गना।
सुखासनसमासीना सखीजनयुता ययौ ॥२३॥
तत्रागत्य सुरीं नत्वा यान्ती सख्यन्तिकात् कनी।
भट्टमात्राग्निवेतालावानिन्ये स्वगृहे च तौ ॥२४॥
सखीभिः स्नपयामास भोजयामास चादरात्।
भट्टमात्राग्निवेतालौ सा कन्या सुरसुन्दरी ॥२५॥
गृहापवरकस्यान्तः शय्यायां कन्यका निशि।
उपविष्टा कृतोपान्तदीपिका पत्रभक्षिका ॥२६॥
तस्या उभयतः पार्श्वे बद्धावेडकघोटकौ।
अग्रे भद्रासनं मुक्तं रूप्यस्वर्णमणिमयम् ॥२७॥
उपविष्टस्तदा द्वारे भट्टः प्राहाग्निकं प्रति।
सर्वं समीहितं सिद्धं विक्रमार्कमिहानय ॥२८॥

ततोऽगादग्निवेताल आनेतुं विक्रमं द्रुतम्।
भट्टो दध्यावहं जात एकाकी करवै किमु ॥२९॥
एडकः प्राह भो भट्ट! किमर्थमागतो वद।
अस्मिन् स्थाने विना शक्तिं कोऽप्युपैति नरो न हि ॥३०॥
शङ्कितो भट्टमात्रो न यावद् वक्ति च तं प्रति।
एडकेनांह्रिणा बाढमाहतस्तावता तथा ॥३१॥
क्षणेनोज्जयिनीपुर्या गोपुरे पतितो यथा।
दध्यावादौ मया मौढ्याद् वेतालः प्रेषितः पुरि ॥३२॥
क्षणेन सुस्थितो भूत्वा यावत् पश्यति सर्वतः।
तावदुज्जयिनीं जज्ञौ गोपुरद्वारवीक्षणात्[1] ॥३३॥
चमत्कृतस्ततो गत्वा विक्रमार्कस्य संनिधौ।
एडकादिकृतोदन्तं भट्टमात्रो जगौ तदा ॥३४॥
तावताऽग्निकोऽप्याययौ, संजातविस्मयो राजेति ॥

१ गोपुर वीक्ष्य तत्क्षणात् घ ।

विमृश्य भूपतिर्भट्टमात्रं रक्षाकृते पुरः ।
मुक्त्वा दहनवेतालयुक्तस्तां नगरीं ययौ ॥३५॥
विलोक्य नगरीं भूयोऽदृश्यरूपोऽग्निकान्वितः ।
चक्रेश्वर्यालये गत्वा नत्वा देवीं स्थितः क्षणम् ॥३६॥
आकाशे श्यामलां छायां वीक्ष्य प्रोवाच विक्रमः ।
वर्षाकालोऽधुना यातो चल्यते तेन शीघ्रतः ॥३७॥
वेतालोऽवक् ततः सैव कन्यकेति च पद्मिनी ।
तत्सच्छरीरसौरभ्याकर्षिता भ्रमरावली ॥३८॥
श्यामलं कुर्वती व्योममण्डलं सर्वतोऽभितः ।
समागताऽस्ति कस्तूरीकज्जलोज्ज्वलविग्रहा ॥३९॥
श्रुत्वैतद् विक्रमादित्यः तां कन्यां प्राप्तुकामकः ।
उत्सुकोऽभून्मयूरौघ इव वर्षाम्बुदावलीम् ॥४०॥
क्षणेनैकेन सा कन्या रूपश्रीजितनिर्जरी ।
सुखासनसमासीना तत्रायाता सखीयुता ॥४१॥

विमानादुत्तरन्ती सा वीक्ष्य विक्रमभूपतिम् ।
शून्यचित्ता तदा पद्भ्यां स्खलिता सुरसुन्दरी ॥४२॥ यतः—
"अक्खाणसणी कम्माण मोहणी तह वयाण बंभवयं ।
गुत्तीण य मणगुत्ती चउरो दुक्खेण जिप्पंति" ॥४३॥
दध्यौ चेति स्वचित्ते सा किमेष वासवः सुरः ।
नागेशः किन्नरः किं वा किं वा विद्याधरो ह्ययम् ॥४४॥
भक्तिपूर्वं सुरीं नत्वा प्राहेति सुरसुन्दरी ।
एष चेन्मानवो भर्ता भविष्यति ममानघः ॥४५॥
तदा सपादलक्षस्य वसोर्वर्द्धापनं मया ।
कर्तव्यमिति जल्पित्वा गृहेऽगात् सुरसुन्दरी ॥४६॥
विक्रमार्कनृपस्तस्या रूपं देवाङ्गनाधिकम् ।
निरीक्ष्य तां तदा प्राप्तुकामोऽजनि भृशं हृदि ॥४७॥
मध्येदेवकुलं गत्वा विक्रमार्कनृपो द्रुतम् ।
भक्तिपूर्वं सुरीं नत्वा जगादेति कृताञ्जलिः ॥४८॥

एषा चेत् कन्यका मे हि भविष्यति प्रिया प्रिया ।
पूजा सपादलक्षस्य कर्तव्या मयका तदा ॥४९॥
भक्तिपूर्वं सुरीं नत्वा गत्वौकः सुरसुन्दरी ।
मोहिता स्वसखीं प्रेष्यानिनाय भूपतिं गृहम् ॥५०॥
सखीभिः स्नपयामास भोजयामास चादरात् ।
विक्रमार्कं नृपं कन्या सदन्नपानदानतः ॥५१॥ यतः—
"पानीयस्य रसः शैत्यं परान्नस्यादरो रसः ।
आनुकूल्यं रसः स्त्रीणां मित्राणां वचनं रसः" ॥५२॥
आदरेण च यद्दत्तं भोजनं तत्सुधायते ।
अनादरेण यद्दत्तं भोजनं तद्विपायते ॥५३॥
कन्या दध्याववयं कीदृक् सत्त्वौदार्यगुणान्वितः ।
विद्यते च पुमानेष परीक्षामिति सा व्यधात् ॥५४॥
गृहोपवरकस्यान्तः शय्यायाः कन्यका निशि ।
उपविष्टा कृतोपान्तदीपिका पत्रभक्षिका ॥५५॥
तस्या उभयतः पार्श्वे वद्धावेडकघोटकौ ।
अग्रे भद्रासनं रत्नमयं च स्थापितं तया ॥५६॥
उपविष्टो नृपो द्वारे साहसी विक्रमार्यमा ।
एडकः प्राह भो कस्त्वमागाः कस्य बलादिह ॥५७॥
राजाऽवक् स्वबलेनेति श्रुत्वा प्राहैडकस्तदा ।
एवं चेत्स्वामिनीं मेऽत्र पल्यंके संस्थितामिमाम् ॥५८॥
जल्पयिष्यति यो वार्ताॅश्चतुरस्तं वरिष्यति ।
×ततो राजा जगौ दीपमधिष्ठायाग्निकाधुना ॥५९॥

---

१ सुरोत्तमे घ। × "राजा प्राहैडक ! ब्रूहि कथामस्त्यधुना निशि(शा)। अजल्पत्येडके राजा प्राह वेतालकं प्रति ॥
दीपेऽवतीर्य वदतो कथां देहि त्वमुत्तरम्। अवतार्य ततो दीपेऽग्निकं विक्रमभानुमान् ॥
जगौ प्रदीप ! किं दत्से उत्तरं मम संप्रति। दीपः प्राह कथां नैव वक्तुं जानामि भूपते ! ॥
उत्तरं तु प्रदास्यामि भवतोऽहं प्रयत्नतः" ॥ × इति गपुस्तकेऽधिक. पाठ. ॥

कथां मे जल्पतो देहि त्वकं प्रत्युत्तरं स्फुटम् ।
अग्निकोऽवक् तव स्वामिन् ! प्रमाणं वचनं मम ॥६०॥
अवतीर्णेऽग्निके दीपे प्रददत्युत्तरं तदा ।
शृण्वत्यां राजनन्दिन्यां विक्रमार्को जगाविति ॥६१॥
कौशाम्ब्यां वामनो विप्रः सावित्री तस्य गेहिनी ।
पुत्रो नारायणः पुत्री गावित्री मातुलोऽच्युतः ॥६२॥
वरयोग्यां सुतां वीक्ष्य चत्वारो जनकादयः ।
आशासु चतसृष्वाशु गत्वा दृष्ट्वा वरान् वरान् ॥६३॥
विवाहं मेलयित्वा च मुहूर्ते शोभने तथा ।
लग्नं लात्वाऽऽनयामासुः वरान् स्वस्वजनान्वितान् ॥ [युग्मम्]
आगता युगपत्तत्र गावित्रीं वरितुं कनीम् ।
वदन्त्येवं वराः सर्वे क्रोधाध्माताः पृथक् पृथक् ॥६५॥
अहमेनां ग्रहिष्यामीत्येवं वादं द्विजन्मसु ।
कुर्वत्सु तेषु सर्पेण दष्टा कन्या मृता क्षणात् ॥६६॥
एको वरस्तया सार्धं चितायां मृत्युमीयिवान् ।
द्वितीयोऽस्थीनि लात्वाऽगात् तीर्थे क्षेप्तुं तदा द्रुतम् ॥६७॥
कुलोटजं तृतीयस्तु श्मशानस्योपरि स्फुटम् ।
भिक्षान्नतत्परः पिण्डं दत्त्वा तस्मै च खादति ॥६८॥
चतुर्थो भूतले भ्राम्यन् वसन्तपत्तने गतः ।
मुकुन्दद्विजगेहिन्या भोजनार्थं निमन्त्रितः ॥६९॥
भोजनायोपविष्टाय द्विजाय द्विजयोषितः ।
तस्याः सूनू रुदन् दत्ते न कर्तुं परिवेषणम् ॥७०॥
मात्राऽग्नौ तनयं क्षिप्त्वा विहितं परिवेषणम् ।
द्विजो दध्यौ पुरा कन्याहत्या लग्ना मम स्फुटम् ॥७१॥
अधुना बालकस्यास्य हत्या लग्ना पुनर्मम ।
तेन मे नरकं मुक्त्वाऽन्यत्र स्थानं न विद्यते ॥७२॥

१ "धिग् मां यस्याः कृतेऽमीषां महानर्थोऽयमुत्थितः । मृतायां मयि सर्वेषां श्रेयो भवति नान्यथा ॥
निश्चित्यैवं चितां बाह्ये रचयित्वैकमानसा । सा वह्निं साधयामास सदुःखं वीक्षिता जनैः" ॥ इत्यादि शब्दार्थसंदर्भे भेदो घपुस्तके ॥

धिग् धिग् मे जीवितं भूरि मेदिनीभ्रमणं तथा ।
धिग् भोजनमिदं कुक्षिपूर्तये बालहत्यया ॥७३॥
स्वार्थी जीवो न किं पापं कुरुते दुर्गतिप्रदम् ।
मातृपितृसुतापुत्रमित्रादिकवधादिह ॥७४॥ यतः–
"किं किं न कयं को को न पत्थिओ कह कहवि न नामियं सीसं ।
दुब्भरपिट्टस्स कए किं न कयं किं न कायव्वं ॥७५॥
विलक्षास्यं द्विजं वीक्ष्य ब्राह्मणी प्राह भो द्विज !
भोजनं कुरु मा खेदं गच्छ जीवन् सुतोऽस्ति मे ॥७६॥
भोजनानन्तरं किञ्चिच्चूर्णं लात्वा गृहान्तरात् ।
प्रक्षिप्याशौ सुतो जीवन् कृतो मात्रा तदा क्षणात् ॥७७॥यतः–
"मन्त्रतन्त्रमणिचूर्णमहौषध्यादिवस्तुनः ।
अचिन्त्यो विद्यते लोके प्रभावोऽभीष्टदायकः ॥७८॥
तस्याः पार्श्वाच्च याचित्वा चूर्णं तद्वाडवस्तदा ।
आगत्य स्थण्डिले कन्यां जीवयामास चूर्णतः ॥७९॥

कन्यासहमृतो विप्रो जीवितः सोऽपि तत्क्षणात् ।
तीर्थंगतोऽपि तत्रागात् तदानीं वाडवो द्रुतम् ॥८०॥
कन्यकां जीवितां दृष्ट्वा दिव्यरूपां तदा क्षणात् ।
अजनिष्ट कलिस्तेषां वराणां पूर्ववद् भृशम् ॥८१॥
भो दीप ! कथय त्वं सा कन्या कस्य भविष्यति ।
दीपः प्राह न जानेऽहं कस्य कन्या भविष्यति ॥८२॥
विक्रमार्को जगौ योऽत्र जानन्नापि वदिष्यति ।
तस्य हत्या भवेत्सप्तग्रामज्वालनिका द्रुतम् ॥८३॥
हत्याभयात् तया नार्या सुप्तया कथितं द्रुतम् ।
तीर्थेऽस्थिक्षेपकः सूनुर्जीवनाज्जनकः स च ॥८४॥
साद्धोंत्पन्नः स्मृतो भ्राता पिण्डदस्तु पतिः स्मृतः ।
एवं कन्यैकवारं सा विक्रमार्केण जल्पिता ॥८५॥
अवतार्य ततस्तार्क्ष्येऽग्निकं विक्रमभानुमान् ।
जगौ घोटक ! किं दत्से उत्तरं मम सम्प्रति ॥८६॥

ताक्ष्र्यः प्राह कथां नैव वक्तुं जानामि भूपते ! ।
उत्तरं तु प्रदास्यामि भवतोऽहं प्रयत्नतः ॥८७॥
ततोऽवतीर्णे वेताले ताक्ष्र्ये ददति ह्युत्तरम् ।
शृण्वत्यां भूपनन्दिन्यां विक्रमार्को जगाविति ॥८८॥
शङ्खात् पुरात् पुरा[1] तक्षदौसिकस्वर्णकृद्द्विजाः ।
स्निग्धा देशान्तरे यान्तो महाटव्यां ययुर्निशि ॥८९॥
वने जागरतो भीतिः पुंसो नो जायते मनाग् ।
ध्यात्वेति तेऽखिलाः स्वस्ववारे जाग्रति यामतः ॥९०॥ यतः—
"उद्यमे नास्ति दारिद्र्यं पठने नास्ति मूर्खता ।
मौनेन कलहो नास्ति नास्ति जागरतो भयम्" ॥९१॥
प्रथमप्रहरे सूत्रधारेण[3] जाग्रता सता ।
काष्ठैः षोडशवर्षीया घटिता कन्यकाऽद्भुता ॥९२॥
द्वितीयप्रहरे दौसिकेन जागरता निशि ।
वस्त्रैः शृङ्गारिता सद्यः चारुभिः पुत्रिका च सा ॥९३॥

तृतीयप्रहरे स्वर्णकृता जागरता निशि ।
घटित्वाऽऽभरणैर्वर्यैर्भूषिता पुत्रिका तदा ॥९४॥
चतुर्थप्रहरे मन्त्रैरुन्निद्रेण द्विजन्मना ।
सजीवा विहिता सद्यः पुत्रिका चारुरूपभृत् ॥९५॥
प्रातः सर्वेऽपि तां चारुरूपां सूत्रकृतादयः ।
वीक्ष्य कन्याकृते वादं मिथश्चक्रुस्तदाऽरिवत् ॥९६॥
भो वक्षि घोटक ! त्वं सा कन्या कस्य भविष्यति ।
घोटकोऽवग् न जानेऽहं कस्य कन्या भविष्यति ॥९७॥
विक्रमार्को जगौ योऽत्र जानन् नैव वदिष्यति ।
तस्य हत्या भवेत्सप्तग्रामज्वालनिका द्रुतम् ॥९८॥
हत्याभयात् तया शय्यास्थितया कथितं द्रुतम् ।
स पिता घटिता येनानीय काष्ठानि पुत्रिका ॥९९॥
वसनैर्भूषिता येन जायते मातुलः स च ।
सजीवा विहिता येन स गुरुर्भवति द्रुतम् ॥१००॥

१ सूत्रधार-दौसिक-घ । २ मित्रा क-ख । ३ सूत्रकृता जागरता क-ख । ४ सता घ ।

भूपिता भूपणैर्येन भर्ता सैव भविष्यति ।
एवं द्वितीयवारं सा जल्पिता विक्रमांशुना ॥१०१॥
अवतार्याग्रिकं भद्रासने विक्रमभानुमान् ।
जगौ विष्टर ! किं दत्से उत्तरं मम सम्प्रति ॥१०२॥
भद्रासनं जगौ वक्तुं नैव जानामि किंचन ।
उत्तरं तु प्रदास्यामि भवतोऽहं प्रयत्नतः ॥१०३॥
ततोऽवतीर्य वेताले विष्टरे हुं च कुर्वति ।
शृण्वत्यां राजनन्दिन्यां विक्रमार्को जगावदः ॥१०४॥
विक्रमाह्वपुरे सोमभीमाह्वौ द्वौ सुहृद्वरौ ।
वसतः सोऽन्यदा सोमः परिणीतो ध्वरापुरे[1] ॥१०५॥
आनेतुं बहुशः सोमः प्रियां श्वसुरसद्मनि ।
प्रययौ सा प्रिया नैव समायाति स मुग्धधीः ॥१०६॥
स्त्री पीहर नरसासरउ संयमियां सहवास ।
ए त्रिणिइं असोभणा जु थिरमंडइवास ॥१०७॥

दूतेन तेन सोमेन मित्राग्रे कथितं तदा ।
प्रिया मे नैति मद्गेहे ब्रूहि किं क्रियतेऽधुना ॥१०८॥ यतः—
"ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति ।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम्" ॥१०९॥
आकारणाय मित्रस्य पत्न्या भीमोऽन्यदा स्वयम् ।
सोमयुक्तश्चलन्मार्गे ययौ भट्टारिकालये ॥११०॥
भीमो मुक्त्वा रथे मित्रं देवीप्रणतिदम्भतः ।
गत्वा सुरीनिकाय्यान्तर्देव्यग्रे प्रोक्तवानिति ॥१११॥
यदि मद्वचनान्मित्रप्रियैष्यति सुहृद्गृहे ।
तदा पूजाकृते तुभ्यमहं दास्ये निजं शिरः ॥११२॥
यदा तौ च गतौ तत्र हृष्टा मित्रप्रिया तदा ।
भीमस्य वचनान्मित्रपत्न्या मानितमानकम् ॥११३॥
कृत्वाऽऽनकं ततस्तस्याः सोमभीमौ तदा द्रुतम् ।
चलन्तौ हृष्टचेतस्कौ स्वकीयनगरं प्रति ॥११४॥

---

१ घरापुरे घ ।

रज्जुं मित्रशये दत्त्वा भीमो देवीनतिच्छलात् ।
गत्वा देव्याः पुरः शीर्षं छित्त्वा पूजामचीकरत् ॥११५॥
रज्जुं सोमोऽपि भार्याया दत्त्वा देवीगृहे ययौ ।
मित्रं वीक्ष्य शिरश्छेदाद्देव्याः पूजामचीकरत् ॥११६॥

क्षणाद्गत्वा वधूस्तत्र दृष्ट्वाऽग्रे पतिदेवरौ ।
पतितौ छिन्नशीर्षौ च दध्यावेवं हता हृदि ॥११७॥
श्वसुरस्य गृहे यामि यद्यहं मृतभर्तृका ।
तदा लोका वदिष्यन्ति हत्वाऽऽगात्पतिदेवरौ ॥११८॥
गतायां पितृसदने गदिष्यन्ति जना इति ।
तस्मान्मृत्युर्वरं देव्याः पुरतो भर्तृवन्मम ॥११९॥

ध्यात्वेति क्षुरिकां यावद्दत्ते कण्ठे निजे च सा ।
तावद्देवी जगौ माऽत्र साहसं कुरु भामिनि ! ॥१२०॥
साऽवक् तर्हि इमौ देवि ! जीवय त्वं स्वसेवकौ ।
देवी प्राह गले शीर्षौ योजयाशु मिलिष्यतः ॥१२१॥

तयोत्सुकतया शीर्षौ परावर्तेन योजितौ ।
भो विष्टर ! वद त्वं सा कस्य कन्या भविष्यति ॥१२२॥
विष्टरः प्राह जानेऽहं न सा कस्य भविष्यति ।
विक्रमार्को जगौ योऽत्र जानन् नैव गदिष्यति ॥१२३॥

तस्य हत्या भवेत्सप्तग्रामज्वालनिका द्रुतम् ।
हत्याभयात्तया शय्यास्थितया कथितं द्रुतम् ॥१२४॥
यस्मिन्गले शिरो भर्तुर्योजितं प्रियया तया ।
घटः(धटः) स एव कान्तोऽभूत् तस्याः शीर्षप्रधानतः ॥१२५॥
बुद्धिप्रपञ्चतः श्रीमद्विक्रमार्कमहीभुजा ।
जल्पापिता तदा सद्यस्तृतीयं वारमेव सा ॥१२६॥

अवतार्याग्निकं शय्यासने विक्रमभानुमान् ।
जगौ शय्येऽधुना दत्से ममेह किं त्वमुत्तरम् ॥१२७॥
शय्यासनं जगौ वक्तुं नैव जानामि किञ्चन ।
उत्तरं तु प्रदास्यामि भवतोऽहं प्रयत्नतः ॥१२८॥

वेतालाधिष्ठिता शय्या हुंकारं ददते ततः ।
शृण्वत्यां राजनन्दिन्यां विक्रमार्को जगाविदः ॥१२९॥
वेन्नाटनगरे विश्वरूपाभिधमहीपतेः ।
शूरो भृत्यः प्रिया तस्य कमला शीलशालिनी ॥१३०॥
वीरनारायणो नाम्ना पुत्रः शौर्यगुणान्वितः ।
तस्याभूद् गेहिनी पद्मावती विनयशालिनी ॥१३१॥
विशिष्टं सुभटं वीरनारायणमिलापतिः ।
ज्ञात्वा तस्मै ददौ द्रव्यलक्षोत्पत्तिपुरं मुदा ॥१३२॥
वीरनारायणो देहरक्षां कुर्वन् महीशितुः ।
रात्रौ तस्थौ गृहद्वारे जाग्रत् खड्गसहायकः ॥१३३॥ यतः—
"इङ्गिताकारतत्त्वज्ञः प्रियवाक् प्रियदर्शनः ।
सकृदुक्तग्रही दक्षः प्रतीहारः प्रशस्यते" ॥१३४॥
राज्ञा स्त्रीरुदनं श्रुत्वा रात्रौ करुणनिःस्वनम् ।
वीरनारायणो ज्ञातुं प्रेपितो नगराद्बहिः ॥१३५॥

फालया वप्रमुल्लङ्घ्य वीरः खड्गसखा द्रुतम् ।
रुदत्या योषितः पार्श्वे श्मशाने निर्भयो ययौ ॥१३६॥
राजाऽपि वप्रमुल्लङ्घ्य कौतुकी हेलया तदा ।
श्मशानमेत्य भृत्यस्य वचः शृण्वन् रहः स्थितः ॥१३७॥
वीरः प्राहाबले माता ! रुद्यते केन हेतुना ।
तयोक्तमस्य राज्यस्याधिष्ठात्री देवताऽस्म्यहम् ॥१३८॥
अस्मिन् कुण्डे ज्वलद्वह्निमये आनीय भूपतिम् ।
प्रक्षेप्स्यन्ति चतुःषष्टियोगिन्योऽद्य स्वतृप्तये ॥१३९॥
तस्मिन् भूपे हुते तामी राज्यं शून्यं भविष्यति ।
ततोऽहं च निराधारा दुःखिता भविताऽस्मि हा ॥१४०॥
अस्य भूमीपतेः कोऽपि साहसी सेवको न हि ।
यो रक्षां निजदेहस्य दानेन कुरुते द्रुतम् ॥१४१॥
वीरः प्राहाहमेवास्य भूपस्य सेवकाग्रणीः ।
भूपरक्षाविधिं वक्षि देवि ! कुर्वे त्वयोदितम् ॥१४२॥

---

१ तदा क । २ दक्षोऽज्ञाता घ ।

देवी प्राह च तत्कार्यं केन कर्तुं न शक्यते ।
वीरो जगौ वदाशक्यशक्याभ्यां किं प्रयोजनम् ॥१४३॥ यतः
"प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः,
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैः सहस्रगुणितैरपि हन्यमानाः,
प्रारब्धमुत्तमनरा न परित्यजन्ति" ॥१४४॥
देवी प्रोवाच भो वीर ! द्वात्रिंशल्लक्षणं नरम् ।
विना कार्यं न सिद्ध्येत योगिनीनां मनागपि ॥१४५॥
द्वात्रिंशल्लक्षणौ राजा त्वं च स्थः पुरुषोत्तमौ ।
वीरः प्राह नृपो विश्वविश्वाधारोऽस्ति भूतले ॥१४६॥ यतः—
"येन पुंसा कुलं सौख्यभाग् जायेत धराऽथवा ।
रक्षितव्यो नरः सोऽपि शरीरेण श्रियाऽपि वा ॥१४७॥
भग्ने च तुम्बके चक्रे न तिष्ठन्त्यरका यथा ।
तथा कुलाधिपे वर्ये नरेऽन्ये मनुजाः स्मृताः" ॥उक्तं चागमे—
"जेण कुलं आयत्तं तं पुरिसं आयरेण रक्खिज्जा ।
न हु तुंबंमि विणट्ठे अरया साहारया हुंति" ॥१४९॥
अहं भृत्योऽस्मि तस्यैव मया मृतेन किं भवेत् ।
तेन तिष्ठ क्षणं देवि ! क्षिपाम्यग्नौ निजां तनुम् ॥१५०॥
इत्युदीर्य द्रुतं गत्वा मातापित्रोश्च सन्निधौ ।
देव्युक्तमखिलं प्रोक्त्वा चलितः सुभटस्तदा ॥१५१॥
पुत्रं विनेह जीवन्तावप्यावां च मृतौ ननु ।
ध्यात्वेति तत्प्रियायुक्तौ पुत्रपृष्ठौ दधावतुः ॥१५२॥
तत्रैत्य देवता पृष्टा वीरेण किं करोम्यहम् ।
देव्योक्तं स्नानं कृत्वा वह्निकुण्डे तनुं क्षिप ॥१५३॥
इति तस्या वचः प्राप्य चिक्षेपाग्नौ तनुं भटः ।
अम्बाजनकगेहिन्यस्तत्पृष्ठौ च तथा व्यधुः ॥१५४॥
एतत्सर्वं नृपो दृष्ट्वा दध्यौ मे जीवितेन किम् ।
झम्पां दातुं बृहद्भानुकुण्डकण्ठे समागमत् ॥१५५॥

१ मुत्तमगुणा क–ख । २ लक्षणौ नरौ क । ३ शुध्येत क ।

ददानो भूपतिर्झम्पां देव्या दोर्भ्यां धृतस्तदा ।
उक्तं च साहसं माऽत्र कुरु झम्पाप्रदानतः ॥१५६॥
राजा पप्रच्छ काऽसि त्वमन्तरायीभवात्र मा ।
सा प्रोवाचास्य राज्यस्याधिष्ठायिका देवताऽस्म्यहम् ॥१५७॥
राजाऽवग् देवि ! यद्येतान् मनुष्यान् जीवयिष्यसि ।
तदाऽहं जीवयिष्यामि नान्यथा विद्धि कर्हिचित् ॥१५८॥
देव्या क्षिप्त्वा छटां सर्वे सजीवा विहिताः क्षणात् ।
राजाऽप्राक्षीत् त्वया देवि ! शक्रजालं कृतं बहु ॥१५९॥
देवी प्रोवाच सर्वेषां त्वदादीनां नृणामिह ।
परीक्षायाः कृते सर्वं विहितं भूपते ! मया ॥१६०॥
ततश्चमत्कृतो राजा देवीं नत्वाऽगमत् गृहम् ।
ग्रामपुर्यादिदानेन मानयामास सेवकम् ॥१६१॥
विक्रमार्को जगौ शय्ये ! तेषु राजादिषु ध्रुवम् ।
साहसी विद्यते को हि विश्वोत्तरगुणाग्रणीः ॥१६२॥

शय्या प्राह न जानेऽहं साहसी विद्यतेऽत्र कः ।
विक्रमार्को जगौ यो न जानन्नेव गदिष्यति ॥१६३॥
तस्य हत्या भवेत्सप्तग्रामज्वालनिका द्रुतम् ।
हत्याभयात् तया तत्र सुप्तयेति प्रजल्पितम् ॥१६४॥
सेवकेभ्यो नृपः सत्त्वाधिकोऽत्र विद्यते ननु ।
यतो राजा धराऽऽधारः सेवकाश्च तथा न हि ॥१६५॥
एवं कन्यां चतुर्वारं जल्पयित्वा नृपो निशि ।
परिणिन्ये प्रगे चारुमहोत्सवपुरस्सरम् ॥१६६॥
ततस्तिलङ्गभूपालः प्राहेत्युत्थीयतां वर ! ।
कुरुष्व भोजनं भूपो जगौ च विक्रमार्यमा ॥१६७॥
चक्रेश्वर्या मयाऽमानि सपादलक्षवैभवः ।
तद्दानं न विना भोक्ष्ये कन्यकैवं जगौ तदा ॥१६८॥
भेरीप्रमुखवादित्रस्वानपूरितदिङ्मुखः ।
विक्रमार्कः प्रियायुक्तश्चक्रेश्वर्यालयं ययौ ॥१६९॥

१ भूतः क्षणात् क–घ । २ सुभटान् क–ख–ग ।

सपादलक्षद्रविणं विक्रमार्कः प्रियाऽपि च ।
पृथक् पृथक् डुढौके च कल्याणीभक्तिपूर्वकम् ॥१७०॥
स्तुत्वा नत्वा गुरून् भक्त्या नानोत्सवपुरस्सरम् ।
पश्चादेत्य निजे स्थाने बुभुजे सप्रियः स च ॥१७१॥
कन्यामादाय भूपालो विक्रमार्कः पुरीं निजाम् ।
आययावग्निवेतालसहितः समहोत्सवम् ॥१७२॥
कारयित्वा महावासं तस्या वासकृते नृपः ।
सुखेन नयते कालं न्यायमार्गस्थितोऽनिशम् ॥१७३॥
एवं श्रीविक्रमार्कस्य वृत्तं चामरधारिणी ।
प्रोक्त्वाऽऽद्याऽवक् कथं तस्य तुल्योऽसि विक्रमाङ्गज ! ॥१७४॥
श्रीविक्रमचरित्रस्य पुरश्चामरधारिणी ।
वृत्तं श्रीविक्रमार्कस्य तस्थौ (जगौ) चाद्या सुभाषया ॥१७५॥

इति प्रथमचामरहारिणीप्रोक्त कथाचतुष्टयम् ॥

श्रीविक्रमचरित्रस्य पुरश्चामरहारिणी ।
द्वितीयाऽमृतसध्रीच्या वाचा वक्तीति संसदि ॥१७६॥

अन्यदा विक्रमादित्यसभायां कोऽपि पण्डितः ।
वक्तुं प्रवर्तितोऽपूर्वां कथां भूपप्रजल्पतः ॥१७७॥ तथाहि–
चम्पकाह्वपुरे राजाऽभवच्चम्पकनामतः ।
चम्पका गृहिणी शीलशालिनी वनितोत्तमा ॥१७८॥
देवशर्माह्वविप्रस्य प्रिया प्रीतिमती प्रिया ।
असूत तनयां चारुरूपां पूर्वेव रोहिणीम् ॥१७९॥
रुक्मिणीति कृता तस्या आह्वा पित्रादिभिस्तदा ।
ददते च मुदं पित्रोर्लल्लादिशब्दजल्पनैः ॥१८०॥
वर्धमाना क्रमाद्यावदभूदष्टाब्दिका सुता ।
तावद्दैवान्मृतिं प्रीतिमती माता (याता) तदा क्षणात् ॥१८१॥
देवशर्मा द्विजस्तस्या मृत्युकृत्यमशेषतः ।
चकार विधिवत् तत्राकार्य निखिलसज्जनान् ॥१८२॥
भक्तिमन्नादिदानेनावसरे तन्वती पितुः ।
अतीव वल्लभा जाता विनयादिगुणैः सदा ॥१८३॥

विधवैका द्विजा पार्श्वगृहस्था कमलाऽभिधा।
वक्तीति देवशर्माणं पतिं कर्तुमनाः स्थिता ॥१८४॥
भो विप्र ! ब्राह्मणी मृत्युमेता त्वं तु सुखादभुग्।
लघ्वीयं तनया व्यक्ता राद्धुं जानाति नो मनाक् ॥१८५॥

तेन पाणिग्रहं कस्याश्चित्स्त्रियाः कुरु साम्प्रतम्।
भविष्यति ततस्ते शं नव्यपत्नीसमीपतः ॥१८६॥
लघुत्वादधुना तुभ्यं दत्ते कश्चिद् द्विजः सुताम्।
वृद्धत्वे तव को दाता तनयामात्मनो मनाग् ॥१८७॥
यदा वराय कस्मैचित् पुत्री विश्राणिता त्वया।
भविष्यति तदा ते का गतिरत्र वद द्विज ! ॥१८८॥

मदीयं वचनं ह्येतदग्रे सुखकरं तव।
भविष्यति द्विजातीव जानीहीति स्वयं स्फुटम् ॥१८९॥ यतः–
"हितं मितं च सुखदं वचो ग्राह्यं स्त्रियामपि।
त्याज्यं दुःखप्रदं वाक्यं बान्धवानामपि द्रुतम् ॥१९०॥

विप्रः प्रोवाच गेहिन्या अन्यस्याः संग्रहात् सृतम्।
पूर्वप्रियासमा पत्नी न भविष्यति कर्हिचित् ॥१९१॥
अतीवेयं सुता भक्तिं कुरुतेऽन्नादिदानतः।
तथा मम यथा पूर्वप्रियाऽपि विस्मृताऽभवत् ॥१९२॥

ततः सा कमला दध्यावहं कुर्वे तथा यथा।
पुत्र्या उपरि विप्रस्यानुराग उत्तरिष्यति ॥१९३॥
अन्नमध्ये रहोऽभ्येत्य लवणं भूरि नित्यशः।
प्रक्षिप्य कमला याति छलादात्मनिकेतने ॥१९४॥
कदाचित् कच्चरं क्षारं क्षिप्त्वा याति रहः पुनः।
विप्रः प्रोवाच भो पुत्रि ! क्षारमन्नं कथं कुरु ॥१९५॥

पुत्री प्राह पितः ! क्षारमन्नं कुर्वे मनाग् न हि।
एवंविधं सदैवान्नं दुःखी भुञ्जन् द्विजोऽभवत् ॥१९६॥
उत्ततार द्विजस्यानुरागः पुत्र्यां तदा स्फुटम्।
ब्राह्मण्यग्रे जगौ विप्रो दत्तेऽन्नं क्षारमञ्जसा ॥१९७॥

कमलाऽवग् मया पूर्वं भवतः कथितं पुरा ।
द्विजोऽवग् गृहिणीमन्यां त्वं विलोकय मत्कृते ॥१९८॥
विलोकिता तया कन्या घटिता नैव कुत्रचित् ।
ततोऽतिदूनचित्तोऽभूद् विप्रो गृहिण्यलब्धितः ॥१९९॥
ब्राह्मणी प्राह भो विप्र ! रोचते तव चेद्यदि ।
तदाऽहं च भविष्यामि भवतो गृहिणी द्रुतम् ॥२००॥
द्विजोऽवक् त्वं प्रिया चेन्मे भविष्यसि तदा वरम् ।
इष्टं वैद्योपदिष्टं च वाञ्छ्यते किं न रोगिणा ॥२०१॥
ततस्तस्याः कृतस्तेन द्विजेन संग्रहस्तदा ।
स्नानान्नपानदानेन विप्रोऽपि रञ्जितस्तया ॥२०२॥ यतः–
"हत्थी दम्मइ संवच्छरेण मासेण दम्मए तुरओ ।
महिलाए किर पुरिसो दम्मइ एगेण दिवसेण" ॥२०३॥
कमलाऽवक् पतेऽन्येषामपत्यादि बहिः सदा ।
याति चारयितुं धेनूर्नात्मीया तनया पुनः ॥२०४॥

ततः कान्तावचःसक्तो देवशर्मा द्विजस्तदा ।
बहिश्चारयितुं धेनूः प्रेषयामास नन्दिनीम् ॥२०५॥
ददते भोजनं यत्तद् रुक्मिण्या द्विजगेहिनी ।
कठोरवचसाऽत्यन्तं दत्ते दुःखं च भूरिशः ॥२०६॥
सहमाना वचस्तस्यास्तादृग् दुःखप्रदं सदा ।
चारयन्ती भृशं धेनूर्दुःखिन्यजनि रुक्मिणी ॥२०७॥ यतः–
"बालस्स मायमरणं भज्जामरणं च जुव्वणासमए ।
थेरस्स पुत्तमरणं तिन्निवि दुक्खाइं गरूआइं" ॥२०८॥
चारयन्ती सदा धेनू रुक्मिणी खिन्नमानसा ।
लाति विश्राममेकस्य करीरस्य तरोरधः ॥२०९॥
इतः स्वर्गे हरेः सूनोर्मेघनादस्य गेहिनी ।
मेघवती व्यधात् तत्राभ्युत्थानं नारदस्य न ॥२१०॥
रुष्टश्च नारदो दध्याविंयं गर्वं वहत्यलम् ।
उत्तार्यतेऽभिमानोऽस्याः कथं बुद्ध्या मयाऽधुना ॥२११॥

ये भवन्ति शठाचारा मानवा अभिमानिनः ।
ते पात्यन्ते महानर्थे कर्मभिः स्वकृतैर्ननु ॥२१२॥
ध्यायन्निति महीपीठमेत्य दृष्ट्वा च रुक्मिणीम् ।
करीरस्थां ययौ स्वर्गे कथितं हरिसूनवे ॥२१३॥

नारदः प्राह भो मेघनाद ! भूमीतले मया ।
दृष्टैका कन्यकाऽतीव सुरूपा द्विजनन्दिनी ॥२१४॥
तस्यास्तुल्याऽस्ति नो देवाङ्गनाऽपि त्रिदशालये ।
रोचते यदि चेत् ते सा तदा तत्रैव गम्यते ॥२१५॥
मेघनादो जगौ तत्र गम्यते कन्यकाकृते ।
विचार्येति ययौ मर्त्यलोके च नारदान्वितः ॥२१६॥

गान्धर्वेण विवाहेन परिणीता च रुक्मिणी ।
आनीय च पृथक् स्थानेऽमुञ्चत् स्वर्गे हरेः सुतः ॥२१७॥
नारदो मेघनादेन मानितः प्रीणितः पुनः ।
मर्त्यलोके ययौ सद्यस्तपस्तप्तुं नभोऽध्वना ॥२१८॥

मेघनादोऽनिशं सौख्यं चानुभवंस्तया समम् ।
प्रियां मेघवतीं चित्ते न सस्मार मनागपि ॥२१९॥
सखीं प्रति जगौ मेघवतीति रमणोऽधुना ।
नायात्यत्र कदा कुत्र तिष्ठति ज्ञायते न हि ॥२२०॥

विलोक्यतां पतिः कुत्र तिष्ठतीत्युदिते तया ।
सखी शक्रसुतं नारीयुतं वीक्ष्यागता जगौ ॥२२१॥
स्वामिनि ! त्वत्पतिः सारिपाशक्रीडापरः सुखम् ।
विमानेऽन्यत्र निर्जर्या सार्धं तिष्ठति सन्ततम् ॥२२२॥
मेघवत्या ततः कान्तः स्वयमाकारितो भृशम् ।
नायाति स्वगृहे यावत् तावत् तयेति चिन्तितम् ॥२२३॥

अयं नूनं पतिर्मे हि नारदेन क्रुधा पुरा ।
ग्राहितो वनितामन्यां ज्ञायते इति बुद्धितः ॥२२४॥ यतः–
"कलिकारओ वि जणमारओ वि सावज्जजोगनिरओ वि ।
जं नारओ वि सिज्झइ तं खलु सीलस्स माहप्पं" ॥२२५॥

मया पूर्वं समायातो नारदो ह्यपमानितः ।
तेनेदं विहितं सर्वं मम दुःखकृते ननु ॥२२६॥
नारदो मान्यते चेद्धि तदा सोऽपि ऋषिस्तथा ।
करोति स्म यथा कान्तं वशगं चापि सन्ततम् ॥२२७॥
आगतो नारदोऽन्येद्युः सादरं स्वागतादिना ।
अपृच्छय रञ्जितो मेघवत्या प्राहेति तां प्रति ॥२२८॥
मानितो न त्वया पूर्वं मनाग् लोचनवीक्षणात् ।
विधीयतेऽधुना कस्मादादरश्च मयि त्वया ॥२२९॥
मेघवती जगौ किञ्चित्कार्यसंसक्तया मया ।
उपास्तिर्न कृता यत्ते क्षम्यतां तत्प्रसद्य मे ॥२३०॥
नारदः प्राह सर्वत्र पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ।
कृतो भवति दुःखाय परत्रामुत्र देहिनाम् ॥२३१॥ यतः–
"देवानां प्रतिमाभङ्गे गुरूणामवहीलने ।
लभन्ते दुर्गतौ दुःखसन्ततिं देहिनो भृशम् ॥२३२॥
सिया हु सीसेण गिरिं पि भिंदे सिया हु सीहो कुविओ न भक्खे०"
जगौ मेघवती चक्रे मयाऽवज्ञा तव प्रभो ! ।
मयि प्रसादमाधाय तत्त्वं क्षमस्व साम्प्रतम् ॥२३३॥
नारदः प्राह ते कार्यं विद्यते चेद् यथा मनाक् ।
कथनीयं तदा मह्यं तत्करोमि यथा द्रुतम् ॥२३४॥
प्राह मेघवती कान्तं सपत्नीं त्याजय द्रुतम् ।
ओमित्युक्त्वा गतो मेघनादपार्श्वे जगावृषिः ॥२३५॥
मानुष्या मरुतां भोगो युज्यते न मनागपि ।
रसासृग्मांसमेदोस्थिमज्जादिमयदेहतः ॥२३६॥
इत्यादि बहुशो युक्त्या मानुष्यां विमुखीकृतः ।
मेघनादो जगौ कुत्र मुच्यते भामिनी ऋषे ! ॥२३७॥
नारदोऽवक् तरोर्यस्मादानीतेयं नितम्बिनी ।
तत्रैव मोचनं युक्तमस्या एव तवानघ ! ॥२३८॥
नारदेनोदिते मेघनादस्तां गृहिणीं तदा ।

गत्वा तस्मिंस्तरौ सद्योऽमुञ्चद् भूषणसंयुताम् ॥२३९॥
मेघनादस्ततः स्वर्गे गत्वा पूर्वप्रियायुतः ।
सौख्यमनुभवन् कालं नयते सन्ततं मुदा ॥२४०॥

इति एकवारपरिणयनस्वरूपम् ॥

रुक्मिण्याः पाणितोऽकस्मात्पतितं कङ्कणं क्षितौ ।
तादृग्वेषयुतोत्थाय ययौ गेहे पितुश्च सा ॥२४१॥
ब्राह्मण्यवक् सुते ! कालमियन्तं कुत्र तस्थुषी ।
पुत्री जगौ न जानेऽहं स्थाननामादिकं मनाक् ॥२४२॥
सूर्यविमानवद्दीप्रे गेहे मानसमोददे ।
स्थिताऽहं क्षणवन्मातरियत्कालं सुखान्विता ॥२४३॥
तत्र सन्ति नरा दिव्यदेहरूपश्रियोऽनघाः ।
चञ्चद्वस्त्रधरा हारिहारकेयूरशालिनः ॥२४४॥
ब्राह्मणी प्राह लोभेन भूषणानामिति स्फुटम् ।
भो पुत्रि ! त्वं समायाता यदत्र तदभूद्वरम् ॥२४५॥

विलोकिता मया भूरिस्थानेषु दुःखपूर्णया ।
अद्य जातं वरं भाग्यान्मम त्वं यत्समागता ॥२४६॥
दध्यौ विप्रप्रिया लक्ष्म्या मम पुत्र्याः कृते ननु ।
भूषणानि छलादस्या अहं लास्यामि मायया ॥२४७॥
कमला प्राह भो पुत्रि ! भूषणानि तवानघे ! ।
भूपः पश्यति चेत्को वाऽन्यस्तदा स हरिष्यति ॥२४८॥
भूषणान्यङ्गजादेहादुत्तार्य द्विजगेहिनी ।
स्वपुत्र्यर्थं रहःस्थाने स्थापयामास दुष्टधीः ॥२४९॥
राजाऽन्यदा बहिर्ग्रामात् खेलयँस्तुरगान् वरान् ।
प्रादुर्भूतं खुराघाताद् ददर्श दिव्यनूपुरम् ॥२५०॥
तदादाय ददौ पट्टराज्ञ्यै भूमीपतिस्ततः ।
राज्ञी प्रोवाच भो कान्त ! द्वितीयं त्वं समानय ॥२५१॥
राजाऽऽहैकं प्रिये ! लब्धं ततः पत्नी जगावदः ।
द्वितीयमन्यगेहिन्यै दत्तं संभाव्यते मया ॥२५२॥

द्वितीयं नूपुरं कान्त ! यद्यानयसि साम्प्रतम् ।
तदा जीवाम्यहं नो चेत्प्रवेशोऽग्नेर्भवेन्मम ॥२५३॥ यतः-
"वज्रलेपस्य मूर्खस्य नारीणां मर्कटस्य च ।
एको ग्रहस्तु मीनानां नीलीमद्यपयोस्तथा" ॥२५४॥
गदितं मन्त्रिभी राजन्नीदृशं दिव्यनूपुरम् ।
द्वितीयं विद्यते ह्यस्यां पुर्यां कस्यापि सद्मनि ॥२५५॥
प्रियाकदाग्रहं मत्वा विचार्य मन्त्रिभिस्समम् ।
भूपालो मण्डयामास सत्रागारं महत्पुरे ॥२५६॥
कथितं च नरा नार्यः स्वस्वाभरणभूषिताः ।
आगच्छन्ति यके भोक्तुं सत्रेऽस्मिन् सकुटुम्बकाः ॥२५७॥
भूरिद्रव्यप्रदानेन नृपस्तान् मानयिष्यति ।
तथा कृते जनाश्चारुवेषा भोक्तुमुपागमन् ॥२५८॥[युग्मम्]
ब्राह्मणी स्वां सुतां लक्ष्मीं नूपुरादिविभूषिताम् ।
विधाय लोभतो भोक्तुमागात्सत्रालये द्रुतम् ॥२५९॥
ब्राह्मणीतनयां काणां तां दृष्ट्वा मन्त्रिणो जगुः ।
भूषणानीदृशान्यस्या घटन्ते न हि कर्हिचित् ॥२६०॥
ध्यात्वेति मन्त्रिभिर्यावच्छिक्षा दत्ता कशादिभिः ।
उक्तं च कस्य विद्यन्ते भूषणानि वदाधुना ॥२६१॥
सत्यं चेद् वक्षि नो बाले ! तदा त्वं हन्यसे भृशम् ।
बिभ्यती सा जगौ सन्ति भगिन्या भूषणानि मे ॥२६२॥
आकार्य रुक्मिणीं दृष्ट्वा भूपतिर्मोहितो भृशम् ।
सन्मान्य पितरं तस्याः परिणीन्ये सदुत्सवम् ॥२६३॥
[इति द्वितीयवारपरिणयनस्वरूपम्]
द्वितीयं नूपुरं पूर्वगृहिणीपार्श्वतश्छलात् ।
समानीयार्पयामास नव्यपत्न्या महीपतिः ॥२६४॥
तस्यां सक्तो नृपोऽन्यस्या नाम लाति कदापि न ।
नूपुरे मार्गिते पूर्वराज्ञ्या भूपो जगावदः ॥२६५॥
विनाऽन्यनूपुरं काष्ठभक्षणं त्वं करिष्यसि ।
ततः किं विद्यते तत्र नूपुरेण प्रयोजनम् ॥२६६॥

ज्ञात्वा तन्नूपुराप्राप्तिं पूर्वराज्ञी तदा ततः ।
तस्थौ त्यक्त्वा द्रुतं काष्ठभक्षणोदन्तमात्मनः ॥२६७॥
सत्स्वप्नसूचिते पुत्रे रुक्मिण्या जनिते सति ।
जन्मोत्सवं नृपश्चक्रे सन्मान्य सज्जनान् निजान् ॥२६८॥
इतोऽवग् ब्राह्मणी कान्तानीयते तनयाऽधुना ।
जातोऽस्ति तनयः पुत्र्याः क्रियते स्वसूवासकः ॥२६९॥
यदा न कुरुते पुत्र्या आनकं जनको गृहे ।
तदा च दूषणं लोका ददन्ते सततं पितुः ॥२७०॥
आनेतुं तनयां कान्तो ब्राह्मण्या प्रेषितस्तदा ।
गत्वा भूपान्तिके सद्यः प्रोवाचेति स्फुटाक्षरम् ॥२७१॥
जातपुत्रां प्रियां राजन् ! प्रेषय स्वालये मम ।
राजा न मन्यते यावत् तावन्मर्तुं समुद्यतः ॥२७२॥
कुर्वाणं मरणं विप्रं दृष्ट्वा भूपेन गेहिनीम् ।
प्रेषितां ब्राह्मणः पुत्रीमानिनाय निजं गृहम् ॥२७३॥

अपमाता छलात्प्राह भो पुत्रि ! या सुता सुतम् ।
सूते स सा जलं कूपे जीर्णवस्त्रा प्रपश्यति ॥२७४॥
तदा पुनः सुतं सूते श्रुतमेतन्मया पुरा ।
ततो जीर्णाम्बरां पुत्रीं कृत्वा कूपान्तिके ययौ ॥२७५॥
प्रपश्यन्तीं जलं कूपे चिक्षेप ब्राह्मणी सुताम् ।
प्रपतन्तीं रुक्मिणीं प्रेक्ष्याकस्माज्जग्राह तक्षकः ॥२७६॥
गत्वा स्वस्थानके पत्नीं कृत्वा तां रुक्मिणीं क्षणात् ।
चिक्रीड तक्षकः कूपतटाकोपवनादिषु ॥२७७॥

इति द्वितीय(तृतीय)वारपरिणयनसम्बन्धः ॥

इतश्च क्रूरया विप्रपत्न्या पुत्री निजा तदा ।
रुक्मिण्या भूषणैर्वस्त्रैर्भूषिता विहिता रहः ॥२७८॥
धात्र्येका तनयं स्तन्यं कारयितुं कृता पुनः ।
यतो राज्ञां सुतं स्तन्यं कारयन्ति स न प्रियाः ॥२७९॥
प्रेषिता सदने पत्युर्ब्राह्मण्या तनया ततः ।
तादृक्षां वीक्ष्य भूपालो दध्यौ जातमिदं किमु ॥२८०॥

पृष्टा च भूभुजा प्राह स्वामिन्! विषमस्थानके।
पतिताऽहमभूत् तेन नयने फुल्लकं मम ॥२८१॥
राजा दध्याविदं मायाविनी मम प्रिया न हि।
केन त्वं प्रेषितेत्युक्ते भूभुजा वक्ति नो कनी ॥२८२॥
ततः सा कुट्टिताऽत्यन्तं कशाघातैर्महीभुजा।
प्राह मातुः कृतं सर्वं भूपतेः पुरतस्तदा ॥२८३॥
ततो भूपो जगौ कूपे तस्मिन्नेव पताम्यहम्।
प्रोचुर्मन्त्रीश्वरा मासान् षट् प्रतीक्षस्व भूपते! ॥२८४॥
ततो विप्रप्रिया देशात् कर्षिता भूभुजा तदा।
राजा जन्मोत्सवं सूनोः कारयामास तत्क्षणात् ॥२८५॥
सूनोर्जन्मोत्सवं श्रुत्वा तक्षकस्य मुखात् तदा।
प्रोवाच रुक्मिणी कान्त! द्रष्टुमीहेऽहमङ्गजम् ॥२८६॥
साऽथ तक्षकसान्निध्याद् रात्रावेव नृपालये।
कारयित्वा सुतं स्तन्यं भूषणान्यमुचद्रहः ॥२८७॥
प्रातर्भूपः सुतोपान्ते ज्ञात्वा पत्न्याः समागमम्।
सावधानः प्रियां धर्तुं तिष्ठति स रहो निशि ॥२८८॥
कारयित्वा सुतं स्तन्यपानं पत्नीं महीपतिः।
दृष्ट्वा धर्तुं न शक्नोति गच्छन्तीं लघुलाघवात् ॥२८९॥
नृपोऽन्यदा स्थितः सावधानीभूय विशेषतः।
कारयन्तीं सुतं स्तन्यपानं पत्नीं स पश्यति ॥२९०॥
उपलक्ष्य प्रियां सम्यक् चलन्तीमञ्चले नृपः।
धृत्वा तस्थौ च शय्यायां यावन्मुदितमानसः ॥२९१॥
अवधिज्ञानतो ज्ञात्वा स्वपत्नीगमनं स्फुटम्।
तक्षकः स्वां प्रियां नेतुमागात् तावन्नृपालये ॥२९२॥
रोषेण नृपतिं पृष्ठौ दृष्ट्वा निर्याति यावता।
तावताऽऽस्फालितो भित्तौ भूभुजा तक्षको मृतः ॥२९३॥

१ याता प्रिया नृप. क, यान्ती प्रिया नृपः ग। २–मञ्चलं क।

विपन्यासतनुर्भूपः क्षणेन मरणं गतः ।
मृतौ द्वौ रमणौ दृष्ट्वा रुक्मिणी दुःखिताऽभवत् ॥२९४॥
प्रातः पती समादाय रुक्मिणी काष्ठभक्षणम् ।
कर्तुं यावद् ययौ प्रेतगृहे दुःखेन पूरिता ॥२९५॥
मेघनादो दिवोऽकस्मात् तावत् तत्रागतो जगौ ।
पत्यौ जीवति भो पत्नि ! पावके किं प्रवेक्ष्यसि ॥२९६॥
तया पृष्टो जगौ मेघनादः सम्बन्धमात्मनः ।
रुक्मिण्यवग् यदि त्वं मे रमणौ जीवयिष्यसि ॥२९७॥
तदाऽहं जीवयिष्यामि मरिष्याम्यन्यथा पुनः ।
क्षिप्त्वाऽमृतच्छटां मेघनादस्तावुदजीवयत् ॥२९८॥
ममेयं गृहिणीत्येवं जल्पन्तस्ते त्रयो नराः ।
विवादं कुर्वते स्म प्राग् मरणान्तं परस्परम् ॥२९९॥
कस्यैषा मध्यतः कन्या पुरुषस्याभवत् तदा ।
सभासद्याः (दः) प्रजल्पन्तु विचार्य निजबुद्धिना ॥३००॥

यदा कोऽपि न जानाति कस्य कन्याऽभवत् स्फुटम् ।
तदा भूपो जगौ पत्नी मनुष्यत्वाच्च भूपतेः ॥३०१॥
कथामेनां तदा श्रुत्वा तस्मै पण्डितमौलये ।
दशकोटीर्ददौ हेम्नो विक्रमार्कमहीपतिः ॥३०२॥
अन्योऽपि यो नरो वार्तां महाश्चर्यविधायिनीम् ।
जगौ श्रीविक्रमार्कस्य पुरतः कोविदोऽनघाम् ॥३०३॥
विक्रमार्कमहीपालः सद्यः कौतुकिताशयः ।
एकां कोटिं ददौ हेम्नः पण्डिताय न संशयः ॥३०४॥
एवं श्रीविक्रमार्कस्यौदार्यं चामरहारिणी ।
प्रोक्त्वा प्राह कथं तस्य तुल्योऽसि विक्रमाङ्गज ! ॥३०५॥
बुद्ध्यौदार्ये भवेतां ते ईदृशे विक्रमाङ्गज ! ।
न दृश्यतेऽधुना कस्य तेनैवं जहसे मया ॥३०६॥
श्रीविक्रमचरित्रस्य पुरश्चामरहारिणी ।
द्वितीया विक्रमार्कस्य वृत्तमेवं जगौ तदा ॥३०७॥

तृतीयाऽवग् नृपादिष्टा तत्र चामरहारिणी ।
श्रीविक्रमचरित्रस्य पुरो गीर्वाणभाषया ॥३०८॥
अनेकमन्त्रिसामन्तपूर्णायामन्यदा प्रगे ।
सभायां विक्रमादित्यमहीपतिरुपाविशत् ॥३०९॥
वैतालिकस्तदा कोऽपि प्रतीहारनिवेदितः ।
ब्रह्मायुर्भवताद्देवेत्युच्चरन्नागतो जगौ ॥३१०॥
राजन् ! किञ्चित्कलाश्चर्यं दर्शयिष्याम्यहं तव ।
भवान् यदि स्वयं सावधानीभूयेह पश्यति ॥३११॥
भूपोऽवग् दर्शय त्वं भो कलाशालिन् ! निजाः कलाः ।
ततः स्मेरमुखाः सर्वे पश्यन्ति पर्षिज्जनाः ॥३१२॥
ततो वैतालिकोऽदृश्यीभूतरूपः क्वचिद् ययौ ।
यावच्चमत्कृता लोका बभूवुः स्वस्वमानसे ॥३१३॥
तावत्कोऽपि पुमान् हस्ते वामे नारीं वरां दधद् ।
दक्षिणे करवालं च सभायां समुपाययौ ॥३१४॥

प्रणम्यात्रग् नृपं स्वामिन् ! असारेऽस्मिन् भवे स्फुटम् ।
सारद्वयमहं मन्ये कमलावनिते शुभे ॥३१५॥ यतः—
"आलस्यं स्थिरतामुपैति भजते चापल्यमुद्योगिताम्,
मूकत्वं मितभाषितां वितनुते मौग्ध्यं भवेदार्जवम् ।
पात्रापात्रविचारभावविरहो यच्छत्युदारात्मताम्,
मातर्लक्ष्मि ! तव प्रसादवशतो दोषा अपि स्युर्गुणाः ॥
सा सद्धर्मरता विवेककलिता शान्ता सती सार्जवा,
सोत्साहा प्रियभाषिणी सुनिपुणा सल्लक्षणा सद्गुणा ।
सद्वृत्ता गृहनीतिविस्मितमुखी दानोन्मुखी सन्मतिः,
सन्तुष्टा विनयान्विताऽतिसुभगा श्रीरेव सा स्त्रीर्ननु ॥
केऽपि सरस्वतीं सारां मन्यन्ते विबुधा जनाः ।
प्रतिभाति परं सा मे मानसे नो मनागपि ॥३१८॥ यतः—
"सोहइ सुहावेइ उवभुंजंतो लवोवि लच्छीए ।
एसा सरस्सई पुण असमग्गा किं न विनडेइ" ॥३१९॥

अतः सत्पुरुषैरन्यवनिताविषये सदा।
दातव्ये न दृशौ रागाश्चिते स्वहितमिच्छुभिः ॥३२०॥
परनारीपरद्रव्यापहारे मानसं निजम्।
कर्तव्यं न मनाग् स्वस्य हितैषिभिर्विचक्षणैः ॥३२१॥

परोपकारः कर्तव्यः प्राणैः कण्ठगतैरपि।
परोपकृतितोऽमुत्र परत्र च सुखी भवेत् ॥३२२॥ यतः—
"विरला जाणंति गुणा विरला पालंति निद्धणे नेहा।
विरल च्चिअ निअदोसे पिच्छंति सभावगुणकलिआ ॥३२३॥
हुंति परकज्जनिरया निअकज्जपरम्मुहा फुडं सुअणा।
चंदो धवलेइ महीं न कलंकं अत्तणो फुसइ" ॥३२४॥

देवदानवयोरद्य स्वर्गे युद्धं भविष्यति।
अहमिन्द्रस्य भृत्योऽस्मि तत्र यास्यामि तेन च ॥३२५॥
इयं मम प्रिया स्वर्गे गतस्य समराङ्गणे।
संग्रामं कुर्वतो विघ्नकारिणी भवति द्रुतम् ॥३२६॥

अन्यस्य संनिधौ पुंसो मुच्यते चेदियं यदि।
ततो मम मनो नैव मन्यते विघ्नहेतुतः ॥३२७॥
मुक्त्वेमां गृहिणीं भूप! तवोपान्तेऽधुना द्रुतम्।
गच्छन्नस्मि द्युलोकेऽहं युद्धार्थमिन्द्रसन्निधौ ॥३२८॥

यावत्कार्यं सुरेन्द्रस्य कृत्वैष्याम्यहकं द्रुतम्।
तावत्त्वया नृप! स्वान्तःपुरे रक्ष्या सुयत्नतः ॥३२९॥
उक्त्वा वैतालिको ह्येवं सभ्यानां पश्यतां तदा।
खड्गमादाय शक्रस्य कार्यं कर्तुं ययौ दिवि ॥३३०॥
क्षणाद् व्योम्नि रणध्वानं रौद्रं श्रुत्वा सभाजनाः।
प्रोचुर्मिथोऽधुना देवदैत्ययोर्जायते रणः ॥३३१॥

तदा वैतालिकस्याशु करांह्री शिरो वपुः।
क्रमात्पेतुर्नृपास्थायां वीक्ष्य सभ्याश्चमत्कृताः ॥३३२॥
पत्नी पत्युः शरीरस्यावयवान् पतितान् तदा।
सभायां निखिलान् वीक्ष्य प्रोवाचेति नृपं प्रति ॥३३३॥

राजन्! त्वमसि मे भ्राता हतः स्वर्गे पतिर्मम।
तथा कुरु यथा वह्नौ पत्या सह विशाम्यहम् ॥३३४॥
निवारिताऽपि भूपेन सा भृशं हेतुयुक्तिभिः।
साश्चर्यमथ लोकेषु पश्यत्सु प्रकटं तदा ॥३३५॥

लात्वा पत्युः शरीरस्यावयवान् निखिलानपि।
वैतालिकप्रिया वह्नौ प्रविवेश कृतत्वरा ॥३३६॥ [युग्मम्]
तच्छोकसंकुलो राजा यावत् तिष्ठति संसदि।
तावद् वैतालिको व्योम्न एत्य प्राह नृपं प्रति ॥३३७॥
राजन्! तव प्रसादेन मया स्वर्गे जितं क्षणात्।
हारितं दानवैर्देवैर्जितं युद्धाङ्गणे क्षणात् ॥३३८॥

ततोऽहं मानितः स्वर्गिनाथेन प्रेषितः पुनः।
मोदं प्रकुरु मे पत्नीप्रदानेन महीपते! ॥३३९॥
राजा स्मयविषादाभ्यां विवशो दीनमानसः।
तद्भार्याऽग्निप्रवेशादिवृत्तान्तं निखिलं जगौ ॥३४०॥

प्राह वैतालिको राजन्! कूटं किं जल्प्यते त्वया।
मम प्राणप्रिया भार्याऽन्तःपुरेऽस्ति तवाधुना ॥३४१॥
भूपामात्ययुतो राज्ञोऽन्तःपुरात् तां नितम्बिनीम्।
वैतालिकः समानीय जगादेति नृपं प्रति ॥३४२॥

राजन्! पुरा मयाऽन्यस्त्रीपराङ्मुखः श्रुतो भुवि।
अधुनैवंविधं कृत्यं त्वयाऽकार्यल्पकृते कथम् ॥३४३॥
भूपालोऽधोमुखो भूत्वा यावद्दैन्यं स्थितस्तदा।
तावद् वैतालिकेनाशु संहृता सा नितम्बिनी ॥३४४॥
सोऽवग् मा कुरु भूपाल! विषादं मानसेऽधुना।
मयेदं निखिलं चक्रे इन्द्रजालं पुरस्तव ॥३४५॥

ततस्तुष्टेन भूपेन पाण्ड्यदेशागतं तदा।
प्राभृतं दापितं तस्मै इदं वैतालिकाय वै ॥३४६॥
अष्टौ हाटककोटयस्त्रिनवतिर्मुक्ताफलानां तुलाः,
पञ्चाशन्मधुगन्धलुब्धमधुपक्रोधोद्धुराः सिन्धुराः।

लावण्योपचयप्रपञ्चितदृशां वाराङ्गनानां शतम्,
दण्डे पाण्ड्यनृपेन ढौकितमिदं वैतालिकस्यार्पितम् ॥३४७॥
प्रोक्त्वैवं विक्रमार्कस्य वृत्तं चामरहारिणी।
तृतीयाऽवक् कथं तस्य तुल्यस्त्वं च भविष्यसि ॥३४८॥

चतुर्थ्यऽवग् नृपादिष्टा तत्र चामरहारिणी।
सभायां विक्रमार्कोर्वीपालोऽन्येद्युरुपाविशत् ॥३४९॥
राज्यं कुर्वन् नृपोऽन्येद्युर्विदेशादागतं द्विजम्।
पप्रच्छ किं त्वया दृष्टं कौतुकं वसुधातले ! ॥३५०॥
द्विजोऽवक् श्रीगिरावासीदेको योगी हराभिधः।
परकायप्रवेशाह्वविद्यावान् विशदाशयः ॥३५१॥

तस्य सेवा मयाऽकारि षण्मासावधि भक्तितः।
विद्या दत्ता न मे तेन योगिना तत्र पर्वते ॥३५२॥
तत्रैत्य योगिनः पार्श्वाद् विद्यां दापय मे त्वकम्।
उपकारपरोऽशेषलोकानां त्वं श्रुतो मया ॥३५३॥

कृपया विक्रमादित्यो गत्वा श्रीपर्वते रयात्।
ननाम योगिनं सद्यो भक्त्या विप्रसमन्वितः ॥३५४॥
विनयेन महीशेन प्रीणितो योगिराड् जगौ।
परकायप्रवेशाह्वां विद्यां लाहि नरोत्तम ! ॥३५५॥

राजा प्राहास्य विप्रस्य देहि विद्यां त्वमुत्तमः।
भवतश्चरणाम्भोजप्रसादात् सर्वमस्ति मे ॥३५६॥
योगी प्राहास्त्ययोग्योऽयं कृतघ्नः स्वामिवञ्चकः।
अनर्थो जायते विद्यादापनादस्य ते नृप ! ॥३५७॥ यतः–
"यथा गजपतिः श्रान्तः छायार्थी वृक्षमाश्रितः।
विश्रम्य तं गजो हन्ति तथा नीचः स्वमाश्रयम्" ॥३५८॥

ततो राजोपरोधेन विप्राय योगिराट् तदा।
परकायप्रवेशाह्वां ददौ विद्यां नृपाय च ॥३५९॥
विद्यां भूपद्विजौ लात्वा नत्वा योगिपदाम्बुजम्।
अवन्त्या बहिरुद्याने देशे यावत् समीयतुः ॥३६०॥

इतो दृष्ट्वा मृतं पट्टगजं मन्त्रीश्वरादयः।
कारयन्ति तदा गर्तां गजक्षेपणहेतवे ॥३६१॥
ज्ञात्वैतद् विक्रमादित्यः प्रोवाचेति द्विजं प्रति।
रक्षणीयं त्वया मेऽङ्गं जीवयिष्याम्यहं गजम् ॥३६२॥
द्विजायत्तं वपुः कृत्वा गत्वा पुर्यां नरेश्वरः।
प्रविश्य मृतनागाङ्गे जीवयामास कुञ्जरम् ॥३६३॥
मङ्गलानि पुरीमध्ये स्थाने स्थाने व्यधुर्जनाः।
इतो द्विजो निजं देहं मुक्त्वा भूपतनुं ललौ ॥३६४॥
विक्रमार्कवपूरूपो विप्रो मध्येपुरं ततः।
अभ्येत्य मिलितोऽशेषान्तःपुराणां च मन्त्रिणाम् ॥३६५॥
अलसं सत्त्वरहितमन्यादृग्जल्पनापरम्।
भूपं निरीक्ष्य मन्त्रीशा दध्युरेवं परस्परम् ॥३६६॥
अयं न घटते भूपो विक्रमार्कः कदाचन।
एवं च पट्टराज्ञ्यादिजना दध्युः स्फुटं हृदि ॥३६७॥

गत्वा पुर्या बहिर्यावद् राजा स्वाङ्गं निरीक्षते।
तावद्विप्रतनुं पक्षिभक्षितं वीक्ष्य ध्यातवान् ॥३६८॥
नूनं विप्रः कृतघ्नः सोऽधिष्ठायाशु तनुं मम।
ललौ राज्यं मदीयं च क्रियते साम्प्रतं किमु ॥३६९॥ यतः–
"कोऽर्थान् प्राप्य न गर्वितो विषयिणः कस्यापदोऽस्तं गताः,
स्त्रीभिः कस्य न खण्डितं भुवि मनः को नाम राज्ञां प्रियः।
कः कालस्य न गोचरान्तरगतः कोऽर्थी गतो गौरवम्,
को वा दुर्जनवागुरासु पतितः क्षेमेण यातः पुमान्" ॥३७०॥
भ्राम्यन् वने मृतं कीरं दृष्ट्वा भूपगजस्तदा।
प्रविवेश शुकस्याङ्गे सद्यो मुदितमानसः ॥३७१॥
आगत्य कस्यचिद्धस्ते पुंसः कीरो जगौ वने।
गच्छ त्वं मां समादायोज्जयिन्यां पुरि वेगतः ॥३७२॥
तत्र भूपगृहोपान्ते स्थित्वा त्वं क्रयहेतवे।
देहि मां कमलादेव्या लप्स्ये (लब्ध्वा) दीनारषट्शतम् ॥३७३॥

लात्वा शुकं नरः सोऽपि देव्यै दीनारषट्शतैः ।
अर्पयामास पश्यन्ती तं राज्ञी मुमुदेतराम् ॥३७४॥
पप्रच्छ कमलादेवी शुकं यद्यत् तदा स्फुटम् ।
प्रश्नोत्तरादिकं तत्तत् कीरो जल्पति नित्यशः ॥३७५॥
कीरो दध्यावहं ज्ञापयिष्ये देव्यै यदि स्वकम् ।
तदाऽविचार्य राज्येषा मारयिष्यति भूपतिम् ॥३७६॥
यद्यनेन महीशेन ज्ञातोऽहं कीरदेहगः ।
तदाऽसौ मां प्रपञ्चेन मारयिष्यति दुष्टधीः ॥३७७॥
सौभाग्यवान् शुको देव्या पोष्यते भोजनादिभिः ।
शुकं विना क्षणं नास्या रतिर्भवति कर्हिचित् ॥३७८॥
शुकोऽवग् यदि मे मृत्युरेति देवि ! च किं तदा ।
देवी प्रोवाच मर्तव्यं मया च काष्ठभक्षणात् ॥३७९॥
प्रेक्ष्यान्येद्युः शुकोऽकस्मान्मरन्तीं गृहगोधिकाम् ।
अधिष्ठाय स्थितो भूपजीवो भित्तौ निकेतने ॥३८०॥

राज्ञी मृतं शुकं वीक्ष्य प्रोवाचेति नृपं प्रति ।
मृतोऽभीष्टः शुकस्तेन करिष्ये काष्ठभक्षणम् ॥३८१॥
राज्ञी सज्ज्यभवत्काष्ठभक्षणाय च यावता ।
तावद् विप्रो जगौ कीरं जीवयिष्याम्यहं द्रुतम् ॥३८२॥
स्वजीवक्षेपणात् कीरं यावज्जीवयति द्विजः ।
तावद् राजा निजं देहं ललौ विक्रमभानुमान् ॥३८३॥
सत्त्वसाहससङ्केतजल्पनक्रमणादिभिः ।
विक्रमार्कं नृपं जज्ञुर्मन्त्रिसिद्धान्तसेवकाः ॥३८४॥
राज्ञाऽऽत्मीयं स्वरूपं च सर्वं तेभ्यो निवेदितम् ।
राज्ञा धृत्वा शुकं हस्ते प्राह पापिन् दुराशय ! ॥३८५॥
त्वया स्वसदृशं चक्रे धिग्जातित्वान्ममेदृशम् ।
मया तु विहिता विद्यादानादुपकृतिस्तव ॥३८६॥
शुकेदानीं मया मुक्तः कृपावासितचेतसा ।
गच्छ स्वस्थानके सद्यः साम्प्रतं जीविकाकृते ॥३८७॥

तवेदृग् जनको जातः कृपाकत्रचिताशयः।
तत्तुल्याभावतोऽहं चाहसं चामरहारिणी ॥३८८॥
इति चतुश्चामरहारिणीस्वरूपम् ॥
श्रुत्वैतद् वसुधां न्यायमार्गेण पालयन् सदा।
श्रीविक्रमचरित्रोर्वीपती राज्यमचीकरत् ॥३८९॥
श्रीसिद्धसेनसूरीशपार्श्वे शृण्वन् जिनोदितम्।
श्रीविक्रमचरित्रोर्वीपतिर्धर्मपरोऽभवत् ॥३९०॥
अत्रान्तरे जावडस्य शत्रुञ्जये विम्बोद्धारस्वरूपं वाच्यम् ॥
शत्रुञ्जये महातीर्थे श्रीविक्रमार्कभूभुजा।
कारिते श्रीयुगादीशप्रासादे शैलसंनिभे ॥३९१॥
श्रीविक्रमचरित्रोर्वीपतिर्विमलपर्वते।
गत्वा श्रीऋषभं नत्वा जगाम नगरं निजम् ॥३९२॥
श्रीविक्रमचरित्रोर्वीपतिर्न्यायैकमन्दिरम्।
प्रपाल्य सुचिरं राज्यं जगाम त्रिदशालयम् ॥३९३॥
एवं ये मनुजा दानं शुद्धं ददति भावतः।
स्थाने स्थाने लभन्ते ते शश्वत्सौख्यपरंपराम् ॥३९४॥
†लघुपोषधशालाया भूषणे श्रीतपागणे।
मुनिसुन्दरसूरीशो बभूवाद्भुतभाग्यवान् ॥३९५॥

† "लसत्क्रियावारिविशिष्टसाधु-मणिं तपागच्छमहाम्बुराशिम्। श्रीमान् जगच्चन्द्रगुरुर्नवीनो, निशाकरोऽजीजनदेव वर्यः ॥१॥
चक्रे द्वादश वर्षाणि येनाचाम्लतपोऽन्वहम्। जगच्चन्द्रगुरुः सोऽस्तु तपागच्छकरः श्रिये ॥२॥
तत्पट्टेऽजनि देवेन्द्रसूरिरद्भुतचित्रकृत्। अवक्री कविसंसेव्योऽतिचाररहितः सदा ॥३॥
सत्तत्पट्टाखण्डलाशाद्रिशृङ्गे, श्रीमान् विद्यानन्दसूरिर्विवस्वान्। पापध्वान्तं ध्वंसयन् गोविलासै-रासीत् प्राणिस्वान्तभूमितलस्थम् ॥४॥
तत्सत्पट्टव्यूढपाथोदमार्गे, तेजोराशिः ध्वस्तदोषाकरश्रीः। आसीत् श्रीमान् धर्मघोषाह्वसूरि-श्चन्द्रो नव्यो भ्रान्तिरिक्तोऽक्षयी च ॥५॥
तत्पट्टेऽजनि सर्वशास्त्रविद् श्रीसोमप्रभसूरिशेखरः। भव्याम्भोजवनं विबोधयन् गोभिर्भानुरिवावनीतले ॥६॥

*श्रीसूरेस्तस्य शिष्येण शुभशीलेन साधुना।
विदधे चरितं ह्येतद् विक्रमार्कस्य भूपतेः ॥२९६॥

निधाननिधिसिन्धिन्दुवत्सराद् विक्रमार्कतः।
शुभशीलयतिश्चक्रे चरित्रं विक्रमोष्णगोः ॥२९७॥

इति श्रीमत्तपागच्छनायकपरमगुरुश्रीसोमसुन्दरसूरिपट्टालंकरणश्रीमुनिसुन्दरसूरिशिष्यपण्डितशुभशीलगणि
विरचिते विक्रमादित्य–विक्रमचरित्रचरित्रे चतुश्चामरहारिणीवर्णन–विक्रमचरित्रराज्योपवेशन–
यात्राकरण–स्वर्गगमनो नाम द्वादशः प्रक्रमः समाप्तः ॥

तत्पट्टगगनतरणिः, श्रीसोमतिलकगुरुरजनि महिमनिधिः। येनानेके भव्याः, प्रबोधिताः सदुपदेशेन ॥७॥
तत्पट्टपूर्वदसुधाधरतुङ्गशृङ्गे, श्रीदेवसुन्दरगुरुर्गरिमाभिरामः। सूर्यायमानवदनो, नवकायकान्तिः गोभिः प्रबोधितजनाब्जहृदन्तरालः ॥
तत्पट्टवासवककुब्गिरिभूषणोऽभूत्, श्रीसोमसुन्दरगुरुस्तरणिः प्रतापी।
तारंगशैलशिखरे जिनतीर्थनाथम्, प्रातिष्ठपत् वरतमोत्सवपूर्वकं यः ॥९॥
तस्याद्योऽजनि शिष्यः श्रीमुनिसुन्दरसूरिरमलमतिविभवः। येनानेके ग्रन्था गुर्वावल्यादयो विहिताः ॥१०॥
कृष्णसरस्वतीत्येवं दधानो विरुदं भुवि। तच्छिष्योऽभूत् द्वितीयश्च जयचन्द्राभिधो गुरुः ॥११॥
मुनिसुन्दरसूरीशविनेयः शुभशीलभाक्। चकार विक्रमादित्यचरित्रं मन्दधीरपि ॥१२॥
प्रसादं विबुधैः कृत्वा ममोपरि निरन्तरम्। यत्नेन शोधनीयोऽयं ग्रन्थः कूटापसारतः" ॥१३॥

– अयमुपरितन पाठ क–खपुस्तके नास्ति, पर गपुस्तके समुपलभ्यते ॥

·* तेषां पादप्रसादेन मया मूर्खेण निर्मितः। ग्रन्थो विद्वज्जनैः शोध्यः कृपां कृत्वा ममोपरि। श्रीमद्विक्रमकालाच्च खनिधिरत्नसंख्यके

वर्षे माघे सिते पक्षे शुक्लचतुर्दशीदिने। पुष्ये रवौ स्तम्भतीर्थे शुभशीलेन पंडिता (साधुना)। विदधे त्वरितं ह्येतद् विक्रमार्कस्य भूपतेः॥ यावद् भूधरसागरा रविशशी खं भूर्ध्रुवस्तारकाः, धर्माधर्मविचारणैकनिपुणं यावद् जगद् राजते। तावद् विक्रमभूपराज-विलसत्कीर्तिप्रभामिश्रितो, ग्रन्थोऽयं जिनशासने सुहृदयां(दां) चित्ते चिरं नन्दतात्॥ इत्यधिकः पाठो ग्रपुस्तके।

श्रीविक्रमचरित्रं समाप्तम् ॥